मोहन राकेश
रचनावली
संपादक जयदेव तनेजा
Hindi Premi

मोहन राकेश रचनावली का यह पाँचवाँ खंड उनकी कहानियों पर केन्द्रित है। इसमें 'इंसान के खँडहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'फ़ौलाद का आकाश' नामक राकेश के मूल कहानी-संग्रहों को प्रकाशन-क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इनके बाद लिखी गईं 'ख़ाली', 'पहचान' और 'क्वार्टर' नामक अन्य कहानियों को उक्त संग्रहों के बाद 'और अंत में...' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। इस खंड में उनकी कुल 53 कहानियाँ संकलित हैं।

कहानी के आरम्भिक प्रारूप को किस प्रकार विकसित-संशोधित करके मोहन राकेश उसके अन्तिम प्रारूप तक पहुँचाते थे—इस प्रक्रिया को जानने-समझने के उद्‌देश्य से 'फटा हुआ जूता' और 'उलझते धागे' के पूर्व प्रकाशित आलेख 'रूप रस गन्ध' तथा 'पहाड़ी रास्तों पर' को भी इस खंड के परिशिष्ट में प्रस्तुत किया गया है।

मोहन राकेश के संग्रह 'मेरी श्रेष्ठ कहानियाँ' की भूमिका 'मेरी कथा यात्रा', किंचित सम्पादित रूप में, इस खंड के आरम्भ में समग्र भूमिका के रूप में दी गई है। आशा है, इससे पाठकों को नई कहानी आन्दोलन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में राकेश और उनकी कहानियों के समय के साथ बदलते मिज़ाज, तेवर, मुहावरे और कथ्य एवं शिल्प से संघर्ष का सीधा साक्षात्कार करने में सहायता मिलेगी।

मोहन राकेश रचनावली-5
[कहानियाँ]
Hindi Premi

मोहन राकेश रचनावली

खंड : पाँच

सम्पादक

जयदेव तनेजा

राधाकृष्ण

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

ISBN : 978-81-8361-427-6

मोहन राकेश रचनावली-5

पहला संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 10400
(तेरह खंड)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001
वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-5
Edited by Jaidev Taneja

महाबलेश्वर में मोहन राकेश

मेरे हमदम मेरे दोस्त
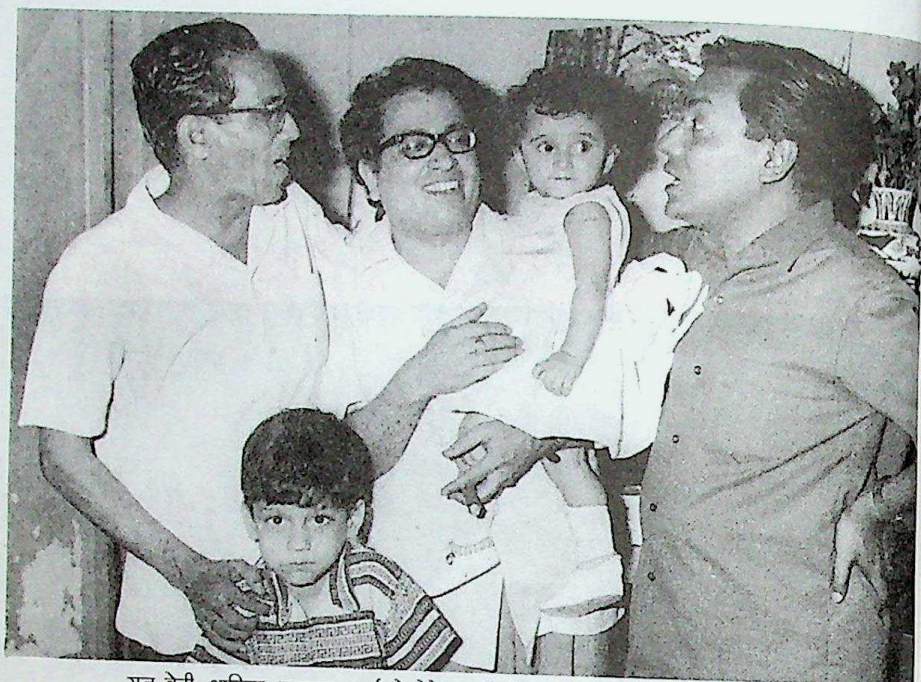
राज बेदी, आदित्य (बासुभट्टाचार्य के बेटे), पुर्वा और कमलेश्वर के साथ, मुम्बई, 1968

लक्ष्मी नारायण लाल, नेमिचन्द्र जैन, सुरेश अवस्थी, हबीब तनवीर व अन्य साथियों के साथ

महाबलेश्वर में गिरधारी लाल वैद, उर्मिला वैद और उनके बच्चों के साथ
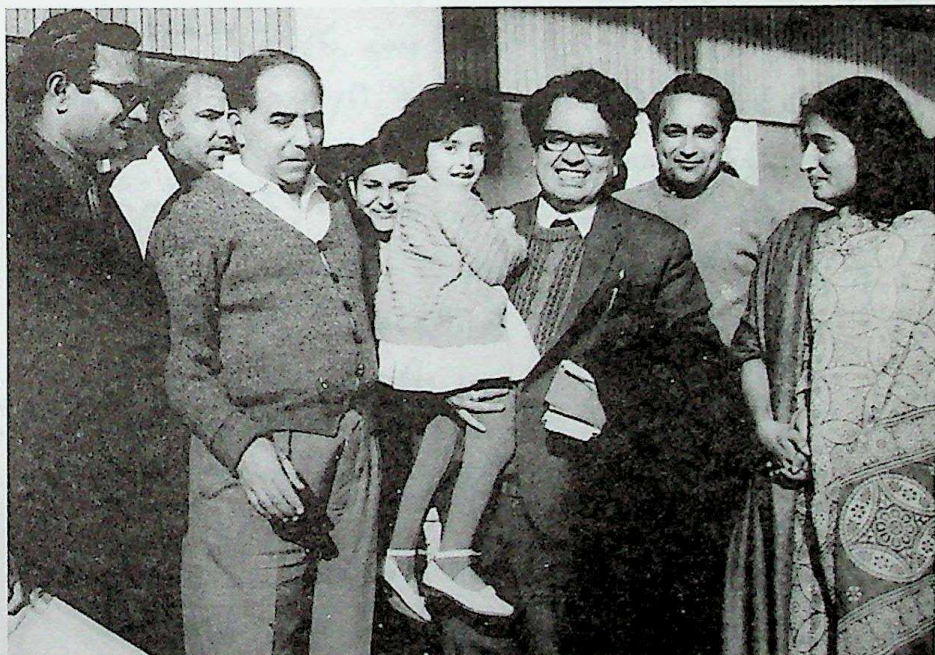
मॉस्को रवानगी के दौरान एयरपोर्ट पर राजेन्द्र अवस्थी, ओम शिवपुरी, ओंप्रकाश, सुनीता पॉल (अनीता जी की बहन), पुर्वा (गोद में), रजिन्द्र पॉल और अनीता जी के साथ

हस्तलेख में 'सुहागिनें' का एक पृष्ठ

अनुक्रम

जानवर और जानवर

एक और ज़िन्दगी

फ़ौलाद का आकाश

और अंत में...

परिशिष्ट

भूमिका

मोहन राकेश रचनावली के इस खंड पाँच में उनकी कहानियाँ संकलित हैं। 1950 में प्रकाशित उनके पहले कहानी संग्रह 'इंसान के खँडहर' के बाद 1957 में 'नये बादल', 1958 में 'जानवर और जानवर,' 1961 में 'एक और ज़िन्दगी' तथा 1966 में 'फ़ौलाद का आकाश' नामक कहानी-संग्रह छपे। इन पाँच मूल संग्रहों में कुल पचास कहानियाँ थीं। इनके बाद इन सभी कहानियों को पुनर्नियोजित करके राकेश ने इन्हें 'आज के साए' (1967), 'रोयें रेशे' (1968), 'एक-एक दुनिया' (1969) तथा 'मिले-जुले चेहरे' (1969) नामक संग्रहों में पुनःप्रकाशित कराया। इस बार 'एक-एक दुनिया' में 'ख़ाली' तथा 'मिले-जुले चेहरे' में 'पहचान' नामक दो नई कहानियाँ और जोड़ दी गईं। 1972 में 'क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ,' 'पहचान तथा अन्य कहानियाँ' और 'वारिस तथा अन्य कहानियाँ' शीर्षक उक्त सभी कहानियों को 'समग्र कहानियाँ सीरीज़' के अन्तर्गत एकसाथ छापा गया। इनमें 'क्वार्टर' तथा 'गुंझल' नामक दो और नई कहानियाँ भी जोड़ी गईं। इसी वर्ष कहानियों को भिन्न क्रम देकर 'मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियाँ' शीर्षक से उनकी कुल 54 कहानियाँ एक जिल्द में प्रकाशित हुईं। इनके अतिरिक्त मोहन राकेश की 'प्रिय' 'श्रेष्ठ' और 'प्रतिनिधि' कहानियों के भी कई संग्रह छपे हैं।

राकेश के मरणोपरान्त उनके मित्र और 'सारिका' के सम्पादक कमलेश्वर ने जब मार्च 1973 में 'सारिका' का 'मोहन राकेश स्मृति अंक' निकाला तो उसमें उन्होंने राकेश की फ़ाइलों से ढूँढ़कर उनकी नौ आरम्भिक/अप्रकाशित कहानियाँ पहली बार प्रस्तुत कीं। 1974 में कमलेश्वर ने पुरानी पत्र-पत्रिकाओं से कुछ और आरम्भिक कहानियाँ खोजकर 'एक घटना' शीर्षक से राकेश की बारह कहानियों का एक संग्रह छपवाया। कालान्तर में इन कहानियों को भी मोहन राकेश की 'समग्र

कहानियाँ' सीरीज़ और 'सम्पूर्ण कहानियाँ' में भी सम्मिलित कर लिया गया। परन्तु पता नहीं कैसे 'सारिका' के स्मृति अंक में छपी कहानी 'पम्प' संग्रह में जाने से छूट गई। यदि इसे जोड़ लें तो राकेश की अब तक प्रकाशित कुल कहानियों की संख्या 67 हो जाती है। शोध करने पर ज्ञात हुआ कि 'गुंझल' नामक कहानी वास्तव में राकेश के अप्रकाशित-अनुपलब्ध प्रथम उपन्यास 'स्याह और सफ़ेद' का एक अंश है जिसे लेखक ने कहानी के रूप में 'कल्पना' में छपवाया था और बाद में अपने कहानी-संग्रह में शामिल कर लिया। इसी उपन्यास का एक आरम्भिक अंश 'स्याह और सफ़ेद' शीर्षक से ही राकेश के स्मृति अंक में छापा गया था। इसलिए मैंने 'गुंझल' को मूलतः उपन्यास-अंश मानते हुए इसे कहानी-खंड से निकालकर 'स्याह और सफ़ेद' के साथ रचनावली के दूसरे खंड 'पहले पहल' में रखा है। आरम्भिक कहानियों के संग्रह 'एक घटना' (पम्प सहित) को भी उसी खंड में स्थान मिला है।

रचनावली में प्रकाशन-काल के क्रम में 'इंसान के खँडहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'फ़ौलाद का आकाश' नामक संग्रहों को उनकी भूमिकाओं सहित क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। 'ख़ाली,' 'क्वार्टर' एवं 'पहचान' नामक बाद की कहानियों को उक्त संग्रहों की कहानियों के पश्चात् 'और अन्त में...' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार इस खंड में राकेश की कुल 53 कहानियाँ संकलित हैं।

संग्रहों की तरह ही राकेश की कुछ कहानियों के नामों को लेकर भी प्रायः भ्रम की स्थिति बनी रही है। उदाहरण के तौर पर 'रूप रस गन्ध' नामक कहानी 'फटा हुआ जूता' का आरम्भिक-अपरिपक्व रूप है। 'काला घोड़ा' ही बाद में 'काला रोज़गार' और फिर 'रोज़गार' बनी। लेखक की डायरी में घसीटकर लिखी गई रचना 'पहलगाँव के घोड़े' संशोधन-परिमार्जन के बाद 'सौदा' के रूप में छपी, जिसे राकेश अपनी पहली उल्लेखनीय कहानी मानते थे। ख़्वाजा अहमद अब्बास की पत्रिका 'सरगम' में 1951 में प्रकाशित कहानी 'पहाड़ी रास्तों में' लगभग छः साल बाद परिवर्द्धित होकर 'उलझते धागे' बनकर छपी। 'कल्पना' में कहानी के रूप में प्रकाशित 'गुंझल' मूलतः राकेश के अप्रकाशित अधूरे उपन्यास 'स्याह और सफ़ेद' का एक अंश है।

मोहन राकेश की रचना-प्रक्रिया और समय के साथ परिपक्व होते उनके कथाकार को तुलनात्मक दृष्टि से जानने-समझने के लिए, आरम्भ

में कच्चे-पक्के रूप में छपीं 'रूप रस गन्ध' और 'पहाड़ी रास्तों पर' नामक दो कहानियाँ परिशिष्ट में दी गई हैं।

मोहन राकेश के संग्रह 'मेरी श्रेष्ठ कहानियाँ' की भूमिका 'मेरी कथा यात्रा', किंचित सम्पादित रूप में, इस खंड के आरम्भ में समग्र भूमिका के रूप में दी गई है। आशा है इससे पाठकों को नई कहानी आन्दोलन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में राकेश और उनकी कहानियों के समय के साथ बदलते मिज़ाज, तेवर, मुहावरे और कथ्य एवं शिल्प से संघर्ष का सीधा साक्षात्कार करने में सहायता मिलेगी।

—जयदेव तनेजा

मेरी कथा-यात्रा

[अपनी कहानियों और उनके संकलनों की रचना-भूमि और इस विकास-यात्रा के प्रमुख पड़ावों एवं समय के साथ-साथ उनके अपने जीवन तथा कहानियों के कथ्य और शिल्प में आए बदलावों का सम्यक् आकलन प्रस्तुत करनेवाला यह महत्त्वपूर्ण आलेख मोहन राकेश ने 'मेरी प्रिय कहानियाँ' नामक संग्रह की 'भूमिका' के रूप में लिखा था। उसी के सम्पादित रूप को हम यहाँ 'मेरी कथा-यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं। –सं.]

इंसान के खँडहर की कहानियाँ कई दृष्टियों से मेरे बाद के प्रयोगों के साथ एक कड़ी के रूप में ठीक से जुड़ नहीं पातीं। उनके शिल्प और कथ्य दोनों में एक तरह की 'कोशिश' है, एक अनिश्चित तलाश का कच्चापन। यूँ पाठकों का एक वर्ग ऐसा भी है जिसे आज भी मेरी वही कहानियाँ सबसे अधिक पसन्द हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक लेखक के साथ-साथ उसके सभी पाठक उसकी बदलती मानसिकता के सब पड़ावों से गुज़रते रहें। हर पड़ाव पर किन्हीं पाठकों के साथ एक लेखक का सम्बन्ध टूट जाता है, और वहीं से एक नए वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध की शुरुआत हो जाती है। ऐसा न होना एक लेखक की जड़ता का प्रमाण होगा। जीवन भर एक ही मानसिक भूमि पर रहकर रचना करते जाना केवल शब्दों का व्यवसाय है, और कुछ नहीं। लेकिन इस स्थिति के विपरीत पाठकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो न केवल एक लेखक की पूरी रचना-यात्रा में उसके साथ रहता है, बल्कि कई बार अपनी नई अपेक्षाएँ सामने लाकर उसे प्रयोग की नई दिशा में अग्रसर होने के लिए बाध्य भी करता है। एक लेखक और उसके पाठक-वर्ग की यह सह-यात्रा यदि जीवन भर बनी रहे, तो काफ़ी सुखद हो सकती है। परन्तु सम्भावना यह भी है कि एक मुकाम ऐसा आ जाए जहाँ मनोवेगों की प्रक्रिया बिलकुल अलग हो जाने से लेखक एकदम अकेला पड़ जाए। यह अकेलापन आगे चलकर उसे नए पाठक-समुदाय से जोड़ भी सकता है और अपने तक सीमित रहकर टूट जाने के लिए विवश भी कर सकता है। परन्तु रचना के समय इस इतिहास-सन्दर्भ की बात सोचना ग़लत है।

मैंने अपनी शुरू-शुरू की कहानियाँ जिन दिनों लिखीं—उनमें से कई एक **इंसान के खँडहर** में भी संकलित नहीं हैं—उन दिनों कई कारणों से मैं अपने को अपने तब तक के परिवेश से बहुत कटा हुआ महसूस करता था। जिन व्यक्तियों और संस्कारों के बीच पलकर बड़ा हुआ था, उनके खोखलेपन को लेकर मन में गहरी कटुता और वितृष्णा भर गई थी। घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मजबूरी से मन छटपटाता रहता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत में मिले सब सम्बन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परन्तु उस मुक्ति का कोई उपाय नज़र नहीं आता था। छोटा भाई इतना छोटा था, बड़ी बहन इतनी संस्कार-ग्रस्त और माँ इतनी बेसहारा कि मेरी 'स्वतन्त्रता' की भूख कोरी मानसिक ऐयाशी के सिवा कुछ नहीं थी। मेरी शुरू की कहानियाँ इसी भूख की उपज थीं। एक छोटा-सा दायरा था, तीन-चार दोस्तों का। वे सब भी किसी-न-किसी रूप में अपने-अपने परिवेश से ऊबे या उखड़े हुए लोग थे। किसी भी रचना की सार्थकता इसी में थी कि कहाँ तक उससे उस दायरे की मानसिक अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। हममें से दो आदमी, मैं और मेरा एक और साथी, संस्कृत में एम.ए. कर चुके थे, एक अंग्रेज़ी में एम.ए. कर रहा था और दो-एक लोग पत्रकारिता में थे। मेरे संस्कृत के सहपाठी को छोड़कर हम सबके लिए लाहौर की ज़िन्दगी एक नई चीज़ थी और हम लोग ज़्यादा-से-ज़्यादा समय घर से बाहर रहने के लिए पूरा-पूरा दिन वहाँ माल पर कॉफ़ी हाउस और चैनीज़ लंच होम से लेकर स्टैंडर्ड और लोरेंग्ज़ बार के बीच बिताया करते थे। हमें इस 'जीवन-बोध' में दीक्षित करनेवाला व्यक्ति मेरा सहपाठी ही था जो पंजाब-मन्त्रिमंडल के एक सदस्य का दत्तक पुत्र होने के नाते हम सबसे अधिक साधन-सम्पन्न था और बहुत पहले से माल रोड की बार-रेस्तराँ दुनिया से घनिष्ठता रखता था। क्योंकि जुमलेबाज़ी उसकी बहुत बड़ी विशेषता थी, इसलिए हम सब, उससे प्रभावित होने के कारण, कॉफ़ी हाउस से लेकर साहित्य तक हर जगह को सिर्फ़ जुमलेबाज़ी का अखाड़ा मानते थे। 'एक अच्छे जुमले के सामने दोस्ती भी बहुत छोटी चीज़ है,' इस दृष्टि को लेकर चलनेवाले हम चार-पाँच 'जीनियस' एक तो हर मिलनेवाले पर अपनी कला आज़माते रहते थे, दूसरे उस सारे साहित्य को बेकार समझते थे जिसमें जुमलेबाज़ी का चटख़ारा न हो। फिर हमें मंटो जैसे लेखक की कहानियाँ पसन्द आती थीं, तो अपने शिल्प या कथ्य के कारण नहीं, बल्कि उस जुमलेबाज़ी की वजह से जो कि मंटो की भी ख़ासी कमज़ोरी थी। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं था कि अपने ढंग से हम भी अपनी कहानियों में जुमलेबाज़ी का अभ्यास करते। पर उन्हीं शब्दों के अतिरिक्त मोह के कारण आज उस समय की रचनाएँ इतनी बेगाना लगती हैं कि उनमें से किसी एक को यहाँ केवल उदाहरण के रूप में रख लेने को भी मन नहीं हुआ।

—

इंसान के खँडहर के बाद मेरा दूसरा कहानी-संग्रह था **नये बादल**। दोनों के प्रकाशन में सात साल का अन्तर है। **इंसान के खँडहर** सन् पचास में प्रगति प्रकाशन से प्रकाशित हुआ था, नया संस्करण सात वर्ष बाद सन् सत्तावन में भारतीय ज्ञानपीठ से। उसके कुछ ही महीने बाद, सन् अट्ठावन के आरम्भ में, राजकमल प्रकाशन से **जानवर और जानवर** शीर्षक संग्रह का प्रकाशन हुआ। **नये बादल** और **जानवर और जानवर** की कहानियाँ दो अलग-अलग जिल्दों में संकलित होने पर भी मेरे कहानी-लेखन के एक ही दौर की कहानियाँ हैं जिसका आरम्भ सन् चौवन से होता है। सन् पचास से सन् चौवन के बीच एक लम्बे अरसे तक मैंने कहानियाँ लगभग लिखी ही नहीं। केवल दो कहानियाँ लिखी थीं शायद—'एक पंखयुक्त ट्रेजेडी' और एक 'छोटी-सी चीज़' जो दोनों 'प्रतीक' में प्रकाशित हुई थीं। एक और कहानी जो उस बीच 'सरगम' में छपी, वह सन् पचास में ही लिखी जा चुकी थी।

सन् पचास से सन् चौवन के बीच का समय मेरे लिए काफ़ी उथल-पुथल का समय था। विभाजन के बाद काफ़ी दिनों तक बेकारी की मार सहने के बाद बम्बई के शिक्षा-विभाग में जो लेक्चररशिप मिली थी, वह सन् उनचास में छिन गई थी। कारण था आई-साइट का निर्धारित सीमा से अधिक कमज़ोर होना। उसके बाद बेरोज़गारी के कुछ दिन दिल्ली में कटे और फिर जालन्धर के डी.ए.वी. कॉलेज में लेक्चररशिप मिल गई। लेकिन छह महीने बाद, सन् पचास के शुरू में, बिना कन्फ़र्म किए उस नौकरी से भी हटा दिया गया। इस बार कारण था टीचर्ज़ यूनियन की गतिविधि में सक्रिय भाग लेना। जिन साथियों के भरोसे अधिकारियों की दमन-नीति का विरोध किया था, उनके बिदक जाने से ख़ासा मोह-भंग हुआ। बेरोज़गारी का आतंक नए सिरे से सिर पर आ जाने से काफ़ी दौड़-धूप करके शिमला के बिशप काटन स्कूल में नौकरी कर ली, परन्तु उत्तरोत्तर मोह-भंग की प्रक्रिया उसके बाद कई वर्षों तक चलती रही। जीवन के उखड़ेपन को समेटने के इरादे से सन् पचास के अन्त में विवाह कर लिया, पर वह भी एक और स्तर पर मोह-भंग की ही शुरुआत थी। सन् बावन तक आते-आते परिस्थितियों पर पकड़ इतनी ढीली पड़ चुकी थी कि आख़िर नौकरी छोड़ दी और तय किया कि जैसे भी हो अपनी 'स्वतन्त्रता' बनाए रखते हुए केवल लेखन पर निर्भर रहकर कम-से-कम पैसे में गुज़ारा करने की कोशिश करूँगा। लेकिन यह अभियान भी ज़्यादा दिन नहीं चल सका। सन् तिरेपन के शुरू के कुछ महीने तो किसी तरह निकल गए, पर उसके बाद नए सिरे से नौकरी की तलाश में जुट जाना पड़ा। कई जगह कोशिश कर चुकने के बाद जब मन लगभग हारने लगा, तो एक व्यंग्यात्मक स्थिति सामने आई। जालन्धर के डी.ए.वी. कॉलेज में, जहाँ तीन साल पहले हिन्दी विभाग में पाँचवीं जगह पर कन्फ़र्म नहीं किया गया था, वहीं पर अब विभागाध्यक्ष के रूप में बुला लिया गया। जिन साथियों के बीच

से गया था, उनमें से कई एक अब भी वहाँ थे। मुझे नौकरी तो मिल गई, जो कि उस वक़्त के लिहाज़ से काफ़ी अच्छी नौकरी भी थी, पर मोहभंग की वह प्रक्रिया जो वहाँ से जाने के समय शुरू हुई थी, वह तब तक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कई-कई स्तरों पर अपने चरम तक पहुँच चुकी थी।

दूसरी बार जालन्धर में नौकरी करने से पहले ख़ानाबदोशी के दौर में कहानियाँ नहीं लिखी गईं। बिशप काटन स्कूल से नौकरी छोड़ने और डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर में वापस आने के बीच केवल पश्चिमी समुद्र-तट का एक यात्रा-विवरण लिखा जो **आख़िरी चट्टान तक** शीर्षक से प्रगति प्रकाशन से ही प्रकाशित हुआ। लम्बे अरसे के बाद जो पहली कहानी लिखी, उसका शीर्षक था 'सौदा'। यह कहानी जो कि 'कहानी' में प्रकाशित हुई, मेरी पहले की कहानियों से इतनी अलग थी कि एक तरह से उसे मेरे लेखन के उस दौर की शुरुआत माना जा सकता है जिसमें आगे चलकर 'उसकी रोटी,' 'मन्दी,' 'मलबे का मालिक' और 'जानवर और जानवर' जैसी कहानियाँ लिखी गईं। **इंसान के खँडहर** से इस दौर तक आते-आते ओढ़ी हुई बौद्धिकता के कोने काफ़ी झड़ गए थे। जुमलेबाज़ी से इतनी चिढ़ हो गई थी कि अपने जुमलेबाज़ दोस्त से बारह साल पुरानी दोस्ती लगभग टूटने को आ गई। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन बहुत-से तनावों के बीच जिया जा रहा था, फिर भी अपने परिवेश से कटे होने की अनुभूति का स्थान एक सर्वथा दूसरी अनुभूति ने ले लिया था और वह थी जुड़े होने की अनिवार्यता की अनुभूति। एक तरह की कड़ुआहट इस अनुभूति में भी थी, पर वह कड़ुआहट निरर्थक और आरोपित नहीं थी। उसका उद्देश्य भी जुड़े होने की स्थिति से मुक्ति पाना नहीं, उसकी तात्कालिक शर्तों को अस्वीकार करते हुए जुड़े रहने के सार्थक सन्दर्भों को खोजना था। जिन स्थितियों को लेकर असन्तोष था, उनकी विसंगतियों के प्रति मन में ह्यूमर का भाव भी था। **नये बादल** और **जानवर और जानवर** की अधिकांश कहानियाँ इसी मानसिकता से लिखी गई हैं। डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर में इस बार की नौकरी मेरी ज़िन्दगी की सबसे लम्बी नौकरी थी। चार साल चार महीने उस नौकरी में काटने के बाद सन् सत्तावन के अन्त में मैंने वहाँ से भी त्यागपत्र दे दिया। उससे पहले सन् सत्तावन के अगस्त महीने में सम्बन्ध-विच्छेद के काग़ज़ पर हस्ताक्षर करके अपने असफल विवाह-सम्बन्ध से भी मुक्त हो चुका था। इस बार यह पक्का निश्चय था कि चाहे जो कुछ झेलना पड़े, इसके बाद कहीं नौकरी नहीं करूँगा। मगर यह निश्चय फिर दो बार टूटा। एक बार दो महीने के लिए और दूसरी बार लगभग एक साल के लिए। पहली बार कोरे आर्थिक दबाव के कारण जबकि दिल्ली विश्वविद्यालय में लेक्चररशिप स्वीकार की,

सन् साठ में, पर ज़्यादा दिन निभा नहीं सका। दूसरी बार एक नए क्षेत्र में अपने को आज़माने के आकर्षण से जबकि सन् बासठ में 'सारिका' का सम्पादन-भार सँभाला। डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर से त्यागपत्र देने और 'सारिका' सम्पादक के केबिन में जा बैठने के बीच एक साल जालन्धर में ही रहा और लगभग तीन साल दिल्ली में। इन चार सालों में पहला बड़ा नाटक लिखा, **आषाढ़ का एक दिन,** और पहला उपन्यास, **अँधेरे बन्द कमरे**। इन दो रचनाओं के अतिरिक्त कई-एक कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें प्रमुख कहानियाँ थीं—'सुहागिनें', 'मिस पाल' और 'एक और ज़िन्दगी'। इस दौर की अधिकांश कहानियाँ सम्बन्धों की यन्त्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियाँ हैं, जिनमें हर इकाई के माध्यम से उसके पूरे परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है। यह अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है और उसकी परिणति भी किसी तरह के सिनिसिज़्म में नहीं, झेलने की निष्ठा में है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से भिन्न, एक-दूसरे की विरोधी और एक-दूसरे से कटी हुई इकाइयाँ न मानकर यहाँ उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयत्न है, जहाँ व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आईना है। सन् इकसठ के अन्त में राजपाल एंड सन्ज़ से प्रकाशित **एक और ज़िन्दगी** शीर्षक संग्रह में अधिकांश कहानियाँ इसी दौर की हैं, यद्यपि दो-एक पहले की लिखी कहानियाँ भी उसमें संकलित हैं।

एक और ज़िन्दगी के लगभग पाँच साल बाद **फ़ौलाद का आकाश** शीर्षक संग्रह प्रकाशित होने तक केवल लेखन पर निर्भर रहकर जीवनयापन का निर्णय अन्तिम रूप ग्रहण कर चुका था। सन् तिरेसठ के शुरू में 'सारिका' छोड़ने के बाद से तब तक, और उसके बाद आज तक, फिर से किसी नौकरी में जाने की नौबत नहीं आई। 'सारिका' छोड़ने के बाद जो पहली कहानी लिखी, वह थी 'ग्लास टैंक'। 'ग्लास टैंक' से 'एक ठहरा हुआ चाकू' तक जितनी कहानियाँ इस नए दौर में लिखी गईं, उसमें दो-तीन कहानियों को छोड़कर, प्रायः सभी बड़े शहर की ज़िन्दगी की भयावहता की कहानियाँ हैं। हालाँकि भयावहता के संकेत इनमें भी व्यक्ति के माध्यम से ही सामने आते हैं, फिर भी इनका केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति न होकर उसके चारों ओर का सन्त्रास ही है। 'ज़ख़्म' और 'एक ठहरा हुआ चाकू' शीर्षक कहानियों में यह सन्त्रास अधिक मुखर है। इस दौर की कहानियों में मेरी एक और दृष्टि भी रही है। समय की मानसिकता के अनुकूल कहानी की भाषा और शिल्प की खोज के लिए इनमें अलग-अलग तरह के प्रयोग किए गए हैं। 'ज़ख़्म' के अतिरिक्त 'सेफ़्टी पिन' और 'सोया हुआ शहर' जैसी कहानियाँ इन प्रयोगों के उदाहरण हैं, हालाँकि इस प्रयोगशीलता [illegible] ंड की एक रात' जैसी कहानियों में देखे जा [illegible] 'पाँचवें माले का फ़्लैट', 'ज़ख़्म'

और 'एक ठहरा हुआ चाकू' बड़े शहर के जीवन की कहानियाँ हैं। 'ग्लास टैंक' और 'जंगला' अपनी मानसिकता की दृष्टि से 'एक और ज़िन्दगी' की कहानियों के अधिक निकट पड़ती हैं, परन्तु भाषा और शिल्प की दृष्टि से वे भी इस नए दौर की कहानियों में ही आती हैं।

किसी एक वर्ष में तीन-चार से अधिक कहानियाँ कभी नहीं लिख पाया। आज तो यह संख्या एक या दो कहानियों तक ही सीमित रह गई है।

—मोहन राकेश
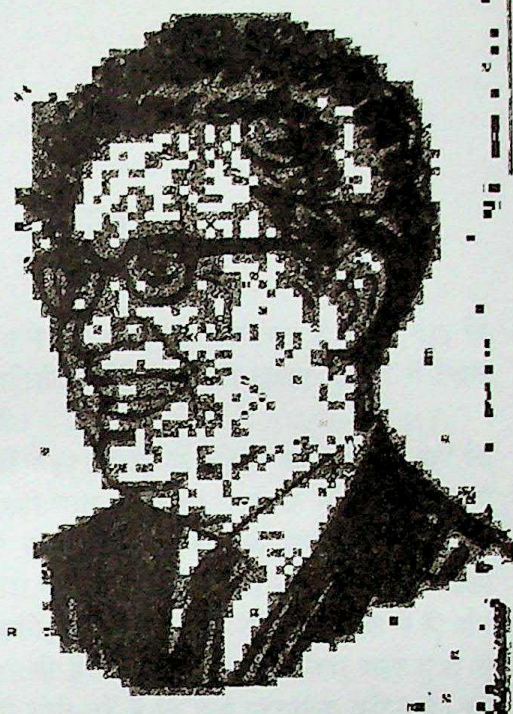
इंसान के खँडहर (1950)
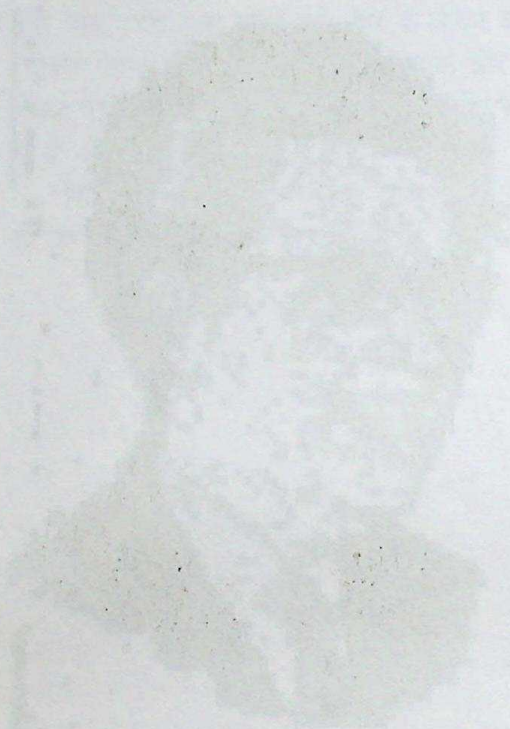
आमुख

उस दिन की बात है। मेरे एक मित्र ने, जो स्वयं एक नाटककार हैं, मुझसे कहा कि 'इंसान के खँडहर' यह टाइटल प्रगतिशील नहीं—इंसान को खंडहर के रूप में देखना पराजयवादी मनोवृत्ति का द्योतक है।

मैं अपने मित्र से सहमत न हो सका। इंसान के खंडहर का यह अर्थ नहीं कि पूरी मानवता का ढाँचा ही मुझे खंडहर नज़र आता है। मगर यह मैं ज़रूर देखता हूँ कि इस ढाँचे में कई चलते-फिरते खंडहर हैं। जिनकी यदि अन्दर और बाहर से मरम्मत न की जा सके, तो इन्हें मिटा देने के सिवा कोई चारा नहीं। मेरा संकेत उन्हीं खंडहरों की ओर है। कई खंडहर अपने पुरानेपन की वजह से जर्जर हालत में हैं, और ऐसे नज़र आते हैं। दूसरे वे खंडहर भी हैं जिनकी नींव और कलेवर गला हुआ है, पर जिन पर ताज़ा रोगन की इतनी मोटी तहें हैं कि इन्हें पहचानना कठिन है। हमें इन सब खंडहरों को टटोलना और ज़रूरत हुई तो तोड़ना है।

इस संग्रह की कहानियाँ कुछ ऐसे ही खंडहरों को और उनकी छायाओं को पास से देखती हैं। इन खंडहरों में अभिजातवर्ग की कुलबुलाती हुई आत्मा भी है, और मध्यम वर्ग की घुटी हुई चेतना भी। मेरा अब तक का सारा जीवन इन्हीं खंडहरों में बीता है।

मुझे लगता है कि मैंने आज तक जितनी कहानियाँ लिखी हैं उससे कहीं अधिक—बल्कि कई गुना अधिक—कहानियाँ नष्ट की हैं।

जीवन के हर पहर में और हर पहलू में कहानियाँ मेरे साथ आती रही हैं। अमृतसर की मंडियों में जो अपने-अपने सौदे की गन्ध से बेहोश रहती हैं, लाहौर के होटलों में जहाँ रंगीन उत्तेजना का व्यापार हुआ करता था, राजपूताने के मछलीमारों में जो रेत में थिरकती हुई जवान मछलियों का शिकार किया करते हैं, बम्बई के महासागर में जहाँ क़लम की स्याही सुनहरी होने लगती है, दिल्ली के बाबूस्तान में जहाँ हर आँख का रंग एक नज़र आता है और जलसों की वीरान धूल में जहाँ केवल मक्खियाँ ही आज़ादी के साथ उड़ती हैं, मुझे कई तरह की कहानियाँ मिलीं, पर खेद है कि मैं उन सब कहानियों को लिख नहीं सका। बहुत-सी कहानियाँ तो रोटी के

साथ खा ली गईं, और कुछ कोरी असावधानी के कारण बिखर गईं। अब जब मैं यह सोचता हूँ तो मुझे खेद होता है।

कई-कई चेहरों में देखने के लिए बहुत कुछ होता है, पर फिर भी उन पर कहानी नहीं लिखी जाती। मेरे नाना के चेहरे पर इतनी झुरियाँ हैं, और हर झुर्री की करवट में इतना विषाद है कि मैं मजबूर होकर घंटों उनके बारे में सोचता रहता हूँ। पर अपने नाना की खाल में छिपे हुए विषाद को लेकर मुझसे एक भी कहानी नहीं लिखी गई। इस तरह कई चरित्र, कई भाव और कई अवस्थाएँ हैं, जिन्होंने मुझे प्रभावित किया है। मैं अभी तक इस आशा में हूँ कि मैं उन सब पर कहानियाँ लिखूँगा।

कहानियाँ लिखने के सिलसिले में कभी-कभी बड़ी दिलचस्प बात हो जाती है।

दिल्ली यूनीवर्सिटी की एक छात्रा है जिसका जीवन किसी मोड़ पर अचानक मेरे एक मित्र के जीवन से टकरा गया था, और जिसने साहसपूर्वक अपने पति को छोड़ कर टॉलस्टॉय की 'अन्ना कैरेनिना' की तरह कुछ दिन मेरे मित्र के सहवास में बिताए थे। अपने पहले परिचय के दिन ही जब मैंने उससे कहा कि मैं उसके चरित्र पर एक कहानी बुन रहा हूँ, तो वह सहसा चौंक उठी और बोली, 'क्या मैं भी कोई कहानी का विषय हूँ?'

और जब मैंने यह स्पष्ट किया कि अपने साधारणतर (असाधारण) साहस के कारण वह सचमुच ही एक अच्छी कहानी का विषय बन गई है, और मुझे उससे कुछ बातें जाननी हैं, तो वह मुस्कुराकर बोली, 'अगले कुछ महीने तो वह इतनी व्यस्त है कि उसके पास ज़रा भी अवकाश नहीं; उसके बाद हो सका तो वह कहानी लिखने में मेरी सहायता करेगी।'

फिर कुछ देर सोचकर वह बोली, 'देखिए, आप किसी और पर कहानी लिख डालिए। मैं अपने ऊपर कहानी नहीं लिखवा सकूँगी।'

इसी तरह अपने एक मित्र से जब मैंने कहा कि अमुक कहानी में मैंने उसका चरित्र चित्रण किया है, तो वह गम्भीरतापूर्वक मुस्कुराकर चुप रहा। कुछ दिन बाद उसने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया और खाना खिला चुकने के बाद संरक्षणात्मक ढंग से बतलाया कि इस निमन्त्रण का कारण यह है कि वह मुझे एक और कहानी (का मसाला) देना चाहता है।

इसके बाद अपनी सफ़ेद मुर्गी के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने थोड़ी देर के लिए रुककर सोचा था कि कहीं यह भी तो पंख फैलाकर या अपनी टाँग उठाकर मुझसे नहीं कहेगी—लो, एक कहानी हमारे अंडों पर भी लिखो!

मुझे बहुत-सी बातों पर असन्तोष है। यह असन्तोष न केवल उस वातावरण से है, जिसमें मैं पला हूँ, बल्कि अपने से भी है जो पलकर ऐसा हो गया हूँ। मुझे उन साहित्यिक साथियों से भी असन्तोष है, जो आज जिस रूप में हैं, अपने उस रूप को स्वीकार नहीं करना चाहते। जिस किसी भी माध्यम से (बिना उस माध्यम का उद्देश्य देखे) कमाकर जिस किसी भी ढंग से (बिना उसका परिणाम सोचे) करना, और केवल नारे मात्र के लिए एक उद्देश्य को सामने रखकर लिखना यह लगन नहीं फ़ैशन है। इस फ़ैशन ने कइयों को अपनी चकाचौंध से खींचा है। मगर यदि इसे कोरा फ़ैशन नहीं रहना तो जन-जीवन के साथ ईमानदारी करने से पहले हमें अपने-आपके साथ ईमानदार होना चाहिए। कोरी शब्दों की बाजीगरी काफ़ी नहीं।

इस संग्रह की कहानियों में कोई सूत्र है तो वह है मेरा मानसिक असन्तोष। स्थितियों के अनुसार जीवन तेज़ी के साथ नया रूप लेता जा रहा है, कहानियाँ भी उसी तेज़ी के साथ बदलती जा रही हैं।

—मोहन राकेश

बिशप कॉटन स्कूल
शिमला
20.5.50

इंसान के खँडहर (खंडहर)

सड़क की बत्तियाँ बुझ गईं।

बर्फ़ के कारखाने का भोंपू स्वर में सुबह की चेतावनी देकर चुप हो गया।

अभी पहला कौआ भी नहीं बोला था कि किला भंगियाँ के चौराहे पर तिल कूटनेवालों का शब्द अपने निश्चित स्वर-ताल में गूँजने लगा—हियँः अः-अः! हियँः अः-अः! हियँ अः-अः!

छह गठे हुए गन्दुमी शरीर, उनकी उभरी हुई पेशियाँ और चमकती हुई त्वचाएँ, हाथों में उठते-गिरते मूसल, बीच में कुटते तिलों का अम्बार—ये सब और चारों तरफ़ की घुटी हुई हवा, सारा वातावरण ही बोल रहा था—हियँ अः-अः! हियँ अः-अः!

और तिलों का अम्बार पसीज रहा था। वह कूटनेवालों को रोटी देगा। आधी चाहे सूखी, चने की या छिलके की। रोटी उन्हें ताकत देगी। ताकत पाकर वे फिर अन्नदाता को कूटेंगे। अन्नदाता उन्हें फिर रोटी देगा। वे उसे फिर कूटेंगे और सिलसिला चलता रहेगा।

उधर सड़क पर लेटा हुआ साँड़, जिसकी आजीविका भक्तों के खिलाए गोग्रासों से चलती थी, और जिसे इसके लिए सुबह-शाम नमक मंडी तक के घरों का चक्कर काटना होता था, धीरे से अपनी टाँगों पर खड़ा हुआ, और पूँछ हिलाकर चलने के लिए तैयार हो गया।

तभी एक हरिकीर्तन करता वृद्ध गंडानवाले बाज़ार की तरफ़ से आया। गोपुत्र को कान हिलाते देखकर उसने उसे प्रणाम किया। फिर बिना तिल कूटनेवालों की तरफ़ देखे बिना उनकी जाँघों की मछलियाँ लक्ष्य किए, खाँसता, थूकता, खँखारता और साँस आने पर हरिकीर्तन करता बाबा बाँके बिहारी के मन्दिर में चला गया।

उस सँकरी गली से, जिसका कोई नाम नहीं और जिसकी नालियों की बदबू बाबा बाँके बिहारी के मन्दिर के धूप-गुग्गुल की गन्ध में मिलकर एक नया संगम बनाया करती है, एक स्याही रँगे कपड़ेवाली प्रौढ़ा अपनी हरे दोपट्टेवाली कन्या के साथ निकली। दोनों नंगे पाँव वहाँ से गुज़रीं जहाँ एक अन्नदाता छिल रहा था, पिट रहा था और प्रसन्न हो रहा था। प्रौढ़ा ने देखा तो छह हिलते हुए शरीर थे और पसीना ही

पसीना था। उसे घृणा हुई। युवती ने देखा तो युवा लहू चिकनी देहों से उबल रहा था। उसे सिहरन हुई। माँ-बेटी जल्दी-जल्दी बाबा बाँके बिहारी के मन्दिर में चली गईं।

शहर अमृतसर रात की नींद से जाग रहा था।

सत्तू हलवाई की दुकान अभी आधी खुली थी। उसका नौकर नगीना अपनी स्लेट जैसी कमीज़ से, जो जब सिली तब सफ़ेद थी, और जब उसे मिली तब भूरी गन्दमी या ठीक-ठीक उस रंग की थी जो इंसान की मैल और बू से तैयार होता है, रात की मँजी हुई बाटियों को मटके के पानी से धो-धोकर पोंछ रहा था। राख मिला पानी लकड़ी के गले हुए फट्टे पर से फिसलकर धार के या बूँदों के रूप में गिरता हुआ उस बेंच को भिगो रहा था, जो सड़क पर ग्राहकों की सेवा और सुविधा के लिए रखी गई थी।

हलवाई के सामने की दुकान का भोलूशाह दस दिन की उसी सफ़ेद दाढ़ी के नीचे पिचके हुए झुर्रीदार गालों को फैलाकर घंटा-भर चबाई दातुन से अन्दर गले तक की झाग निकालने की कोशिश में परेशान होकर ज़ोर-ज़ोर से उबकार रहा था—आऽऽक्! आऽऽक्! आऽऽक्!

आऽऽक्! आऽऽक्! आऽऽक्! में वह गले, छाती और आसन का ज़ोर लगा रहा था। उसका बाप भी इसी तरह करता था। बाप का बाप भी इसी तरह करता था। अमृतसर वह शहर है, जहाँ दातुन करने की ही नहीं, थूकने-खुजलाने की भी विशेष शैली है और उस शैली का उस शहर जितना ही पुराना इतिहास है।

भोलूशाह के मुँह से लार निकल रही थी और सड़क पर झाड़ू देते हुए भंगी की उड़ाई धूल उसके नासा-रंध्रों में जा रही थी। फिर भी भोलूशाह एकचित्त होकर जीभ और तालू का व्यायाम किए जा रहा था। उसकी कला कला के लिए थी।

धूल भोलूशाह के वक़्त-खाए शरीर को ढककर आगे बढ़ी और भक्तों के उस समुदाय में पहुँच गई जो मंगला-दर्शन के लिए बाबा बाँके बिहारी के मन्दिर की दहलीज़ के पास जमा हो रहा था। वृद्ध का शरीर मारे खाँसी के दोहरा हो गया। हरे दोपट्टेवाली लड़की ने मुँह एक तरफ़ हटाकर धूल से बचने की चेष्टा की। उधर से उसे वृद्ध के मुखामृत का छींटा मिला। उसने मुँह दोपट्टे में छिपा लिया।

उधर सामने कुएँ की चर्खी पर एक लाल लंगोटवाले की गागर ने उषा का पहला राग छेड़ दिया।

पर अभी भगवान के दर्शन खुलने में देर थी। भगवान के पुजारी गोस्वामी नृसिंहदत्त ने छत की पिछली कोठरी में शरीर से कम्बल उतारा ही था। अस्त-व्यस्त अंगोछे को, जो सोने के समय उसका एकमात्र परिधान था, कसकर कमर से लपेटते हुए उसने मंगला का पहला मन्त्र पढ़ा, "चेतू, कहाँ मरा है रे?"

चेतू, जो नीचे लंगोट लगाए और ऊपर खादी की कमीज़ पहने साथ की कोठरी की दीवार के सहारे ऊँघ रहा था, गुरु की कर्कश आवाज़ सुनते ही अपने को झटककर सचेत हो गया और झुक-झुककर संस्कृत व्याकरण का पाठ करने लगा—"इको यणचि इकः स्थाने यण् क्यादचि परे सहितायां विषये...।"

"इधर आ रे यणचि के यण्!" गोस्वामी नृसिंहदत्त ने मन्त्र पूरा किया, "हुक्का भर जल्दी दे।"

बारह साल का चेतू तत्परता से उठ पड़ा। उसे मन्दिर में रहते कई महीने हो चुके थे। वह पुजारी की गालियों से ही नहीं, उसकी मार से भी पूरी तरह परिचित था। गोस्वामी जब भी कोई धमकी देता, चेतू के दिमाग़ में एक भँवर-सा घूमने लगता। उसके मन में आता था कि गोस्वामी की नाक को पकड़कर इतना खींचे, इतना खींचे कि गोस्वामी का गणेश बन जाए, मगर उसका साहस नहीं पड़ता था क्योंकि गोस्वामी उसे रोटी देता था, कपड़ा देता था और सबसे बड़ी चीज़ विद्या देता था। रात को गोस्वामी उसे बड़ी रुचि के साथ अलंकार पढ़ाया करता था और हाथ से आकार बना-बनाकर बतलाया करता था कि इतने-इतने स्तनोंवाली नारी को 'श्यामा' कहते हैं, और इतने-इतने स्तनोंवाली नारी को 'पद्मिनी' कहते हैं। चेतू अभ्यास के तौर पर मन्दिर में आनेवाली युवतियों की छातियों की तरफ़ देखा करता था कि उनमें से कौन-सी 'श्यामा' है और कौन-सी 'पद्मिनी'। फिर वह कापी पर उन स्तनों की तस्वीरें बनाया करता था।

चेतू, जिसका असली नाम चेतनराम था, मोगा तहसील के एक छोटे-से गाँव का रहनेवाला था। कुछ महीने पहले तक वह सतलुज के किनारे खड़ा होकर उस पार से आनेवाले कबूतरों के झुंडों को देखा करता था। उसे गहरे पानी की हलकी लहरों पर बादलों की घनी छायाएँ बहुत अच्छी लगा करती थीं। पर उसके चाचा ने एक दिन 'लघु' सिद्धान्त कौमुदी' हाथ में देकर उसे शास्त्री प्रीतमदेव के पास पढ़ाई के लिए अमृतसर भेज दिया। यहाँ आकर उसने जो दुनिया देखी, उसमें कबूतर बिजली के तारों पर बैठे रहते थे और बादल कभी आ जाते, तो पक्की छतों के ऊपर गरज-बरसकर और काले छातों को भिगोकर चले जाते थे। हाँ, गाँव में वह सिर्फ़ रात को ही 'हीर' और 'माहिया' के गीत सुना करता था, पर यहाँ दोपहर को भी, जब लाला लोग भल्ले पकौड़ी और तले हुए बेसन के साथ रोटी खाकर विश्राम के लिए लेटते, तो चारों तरफ़ से रेडियो पर दर्द-भरे फसाने सुनाई देते रहते थे।

चेतू ने जब तक हुक्का भरकर गोस्वामी को दिया, तब तक शास्त्री प्रीतमदेव की आँख भी खुल गई थी। शास्त्री प्रीतमदेव का मन्दिर में वही स्थान था जो घरों में उस पुराने बर्तन का होता है जिसमें कई साल तक पानी पिया जा चुका हो और जिसकी सतह में अब जगह-जगह सूराख हो गए हों। उसने लगातार बारह साल तक मन्दिर

में रहकर ज्योतिष और मीमांसा का अध्ययन किया था और उसका वह सारा ज्ञान इस काम आता था कि दोनों समय ठाकुरजी के सामने शंख और घंटी बजाया करे।

गोस्वामी हुक्का गुड़गुड़ाता और विष्णु-सहस्त्र-नाम का पाठ करता हुआ अपनी कोठरी से बाहर निकला। उसे आते देखकर शास्त्री प्रीतमदेव भी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा :

"जय हनुमान ज्ञान गुन सागर।
जय कपीश तिहुँ लोक उजागर।"

गोस्वामी अपना पाठ अधूरा छोड़कर, हुक्का ज़मीन पर रखता हुआ शास्त्री प्रीतमदेव के पास आकर बैठ गया। उसके पास आ बैठने से शास्त्री की आवाज़ बन्द हो गई, सिर्फ़ उसके होंठों का हिलना जारी रहा।

मिनट-दो मिनट चुप रहने के बाद गोस्वामी ने मुलायम आत्मीयता-भरे स्वर में पूछ लिया, "रात कितने बजे लौटकर आए थे?"

शास्त्री के होंठ कुछ देर और चुपचाप हिलते रहे। पाठ पूरा करने के बहाने थोड़ा अवकाश लेकर उसने हवा को माथा नवाया, और गोस्वामी की घूरती आँखों से बिना आँखें मिलाए उत्तर दिया, "नौ बजे, गुरुजी!"

शास्त्री प्रीतमदेव गोस्वामी को 'गुरुजी' कहा करता था क्योंकि किताबी विद्या चाहे उसने गागरमल विद्यालय में पाई थी, पर असली विद्या उसे भी गोस्वामी से ही मिली थी।

"दस-ग्यारह बजे तक तो मैं ही जाग रहा था।" गोस्वामी ने सहज स्वर में कहा जिसका मतलब था कि जा, एक झूठ माफ किया, अब और झूठ बोलने की कोशिश मत करना।

"तो ज़रा देर हो गई होगी!" अब भी शास्त्री ने गोस्वामी से आँखें मिलाने का साहस नहीं किया।

"रंगवाला सेठ भगत आदमी है।" गोस्वामी असली बात पर आ गया। "खिलाया-पिलाया तो उसका पूछना ही क्या है!"

और गोस्वामी ने उसे सीधी नज़र से देखा। रात को रंगवाले सेठ बिशनदास की लड़की का ब्याह था। जाना वहाँ गोस्वामी को खुद ही था क्योंकि वह रंगवाले सेठों का कुलपुरोहित था, पर कल शाम को उसके शरीर में हवा का दौरा बढ़ गया था जिस वजह से ही उसे रात को ग्यारह बजे नींद की गोली खाकर सो जाना पड़ा था, नहीं तो ये सवाल-जवाब वह रात को ही कर चुका होता।

शास्त्री प्रीतमदेव अभी तक उससे आँखें चुरा रहा था। उसने गोस्वामी के सवाल का छोटा-सा जवाब दिया, "बड़ा सुन्दर भोजन बना था!" फिर उसने दरवाज़े की तरफ़ देखते हुए कहा, "गुरुजी, मंगला-दर्शन कितनी देर में खोलने हैं?"

"अरे, खुल जाएँगे मंगला-दर्शन," गोस्वामी ने अपनी अधीरता दबाने की चेष्टा करते हुए कहा, "यह बता कि सेठ ने दिया क्या-क्या है?"

शास्त्री प्रीतमदेव थोड़ा हिचकिचाया। मगर, गोस्वामी की ब्रह्मतेज-भरी आँखों ने उसे झूठ नहीं बोलने दिया। उसने होंठों पर ज़बान फेरकर कहा, "इक्कीस रुपए...।"

"और?"

"और..." शास्त्री ने शब्दों को ज़रा लम्बा करते हुए कहा, "...एक कपड़ा।"

"क्या कपड़ा?"

"धो...दोशाला।"

"और कुछ नहीं?"

"नहीं।"

"देखूँ, कहाँ है?"

"अभी दिखाऊँ?"

"और कोई मुहूर्त निकलवाना है?"

शास्त्री न चाहता हुआ भी उठा, और पिछले कोने में रखे घिसे-पुराने सन्दूक की घिसी-पुरानी ताली को उसने ठोंक-पीटकर खोला। सन्दूक के अन्दर से अपना अँगोछा निकालकर उसने माथे का पसीना पोंछा, फिर सन्दूक के अन्दर ही हाथों से कुछ कारसाज़ी करने लगा, जब गोस्वामी उसके सिर पर आ खड़ा हुआ। गोस्वामी के सिर पर आ जाने से वह दोशाले की तह में रखी धोती और धोती की तह में रखे रेशमी रूमाल को छिपा नहीं सका।

"साले, झूठ बोलता था?" गोस्वामी ने शास्त्री की खोपड़ी पर धौल जमाकर कहा, और कपड़े उससे लेकर बोला, "ला, रुपए भी निकाल।"

"रुपए भी क्या मेरे नहीं हैं, गुरुजी?" शास्त्री का नपुंसक साहस पहली बार बोला।

"तेरे नहीं, तेरी..." और वाक्य को अधूरा छोड़कर गोस्वामी आगे बोला, "तू रंगवाले सेठों का जमाई है न! वे भगवान के जीव हैं, सो भगवान के निमित्त दे देते हैं। तू साले, रोज़ भगवान के घर में नारंगियाँ-केले खाता है, दूध-दही भक्षण करता है, फिर भी तेरी तृष्णा नहीं मरती? यहाँ अब देनेवाले रहे कितने हैं? जो आता है, मुफ़्त में ही भगवान के दर्शन करके चला जाता है। ला निकाल, रुपए कहाँ हैं!"

शास्त्री प्रीतमदेव ने सन्दूक में रखे अपने एकमात्र कोट की ज़ेब में हाथ डालते हुए कहा, "दो रुपए तो मुझसे गुरुजी ख़र्च हो गए हैं।"

"ख़र्च हो गए हैं? कहाँ ख़र्च हो गए हैं?"

शास्त्री ने ज़ेब से उन्नीस रुपए दो आने निकालकर गोस्वामी की तरफ़ बढ़ा दिए, और ज़मीन की तरफ़ देखते हुए कहा, "सिनीमा चला गया था।"

"सिनीमा चला गया था!" गोस्वामी ने रुपए उससे लेते हुए कहा, और उसकी खोपड़ी पर एक और धौल जमाकर दोहराया, "सिनीमा चला गया था।"

गोस्वामी अब अपनी कोठरी की ओर जाने के लिए मुड़ा, तो शास्त्री ने पीछे से दीन स्वर में कहा, "मेरे पास एक भी धोती नहीं है, गुरुजी!"

"यह जो पहने है, यह धोती नहीं है?" गोस्वामी ने उसे कुत्ते की तरह दुतकारा।

"यह तो बिलकुल फट गई है, गुरुजी! यह आज वाली नहीं, तो वह पारो वाली धोती ही दे दीजिए।"

गोस्वामी रुक गया। पारो का नाम लेकर शास्त्री ने जैसे उसे चुनौती दे दी थी कि एक धोती दे दो, हाँ, वरना...।

"कौन-सी पारो वाली धोती?" गोस्वामी ने फीकी पड़ती उग्रता के साथ पूछा।

शास्त्री की नाभि के पास से मुस्कुराहट उठी जिससे उसकी छाती फूल गई। पर उसका गला इतना खुश्क हो रहा था कि मुस्कुराहट होंठों तक नहीं आ पाई।

"पता नहीं...उस दिन पारो कह रही थी...।"

"क्या कह रही थी तुझसे पारो?"

शास्त्री को गोस्वामी का फीकापन देखकर फिर मज़ा आया। पर मज़े का स्वाद उसके होंठों पर नहीं फैला, उसकी आँखों में भर गया।

"कहती थी, वह मेरे लिए एक धोती लाई थी, पर आपने वह पहले देख ली, इसलिए..."

"तो वह राँड़ तेरे साथ भी...!" और यह 'भी' कहकर गोस्वामी ने महसूस किया कि उसने लीद कर दी है। बिना बात को आगे बढ़ाए उसने हाथ की धोती शास्त्री को दे दी और कहा, "तुझे धोती चाहिए, सो ले ले। पर पारो ठगनी की बातों पर तू विश्वास मत किया कर।"

धोती लेकर शास्त्री के मन में इतना आनन्द उमड़ा कि विभोर होकर वह फटे स्वर में गाने लगा, "प्रभुजी मोरे अवगुन चित न धरो।"

नीचे मन्दिर की दहलीज़ के पास भक्तों की भीड़ काफ़ी बढ़ गई थी। कुछ धोती-कुर्ते और पगड़ीवाले सज्जन थे, कुछ धोती और दोपट्टेवाली देवियाँ थीं, दो-एक तिल्ले-किनारे की साड़ीवाली नई ब्याहताएँ थीं, दो-एक खुले आम और काली गोल टोपीवाले नौजवान थे, एक खुली शिखावाला ब्रह्मचारी था, एक सोने के बटनोंवाला पहलवान था, और आठ-दस–'भगवान के अपने ही रूप'–छोटे-छोटे बच्चे।

बाहर सड़क पर अखबार बेचनेवाले चिल्ला रहे थे–"मिलाप, प्रताप, ट्रिब्यून अखबार। अजीत पढ़िए, वीरभारत–ताज़ा-ताज़ा खबरें!"

"अमरीका में हाइड्रोजन बम बनने शुरू हो गए!"

"सरहिन्द के नज़दीक गाड़ी उलट गई!"

"पाकिस्तान ने लड़कर कश्मीर लेने की धमकी दे दी!"

और मन्दिर के बाहर सत्तू हलवाई की दुकान पर लस्सी पीनेवालों का जमघट लस्सी के साथ-साथ सत्तू की बातों का मज़ा ले रहा था! सत्तू मोटे किशनचन्द से, जो इस समय अपने मोटे होंठों से लस्सी अन्दर खींच रहा था, और मन्दिर के अन्दर जानेवाली हर आकृति को घूर रहा था, कह रहा था, ''रौनकें देख रहे हो, लालाजी? देखो, देखो, बाहर से ही भगवान के दर्शन करो। भगवान कोई न कोई फल ज़रूर देगा।''

बिशनदास को मुस्कुराते छोड़कर सत्तू ठिगने क़द के मुनीम गुराँदित्तामल से बोला, ''लाला गुरांदित्ताजी! दूर क्यों खड़े हो? इधर आओ बादशाहो! आज बीवी ने कितनी लस्सी पीने को कहा है? आधा सेर की या तीन पाव की?''

और गुराँदित्तामल को खीस निपोरते छोड़ वह मोटे मोहनलाल से बोला, ''क्यों मोहनलालजी, मछलियाँ गिन रहे हो भगवान के तालाब की? कितनी हैं? तुम जाल फेंकोगे तो उसे मगरमच्छ ही ले जाएँगे। अरे यार, कुछ तो भगवान की शरम करो। इधर आओ, लस्सी पियो।''

सामने भोलूशाह 'किटकिट' रेवड़ियाँ काट रहा था। उसके साथ का नत्थू पंसारी मिर्चें कूट रहा था। चौराहे की दुकान पर तिल कूटनेवाले अब भी उसी तरह तिल कूट रहे थे—हियँः अः-अः! हियँ अः-अः!

नत्थू पंसारी मिर्चों की गन्ध से दो-एक बार छींका। भोलूशाह ने चाकू से अपनी उँगली काट ली। लाला बिशनदास लस्सी का गिलास आधा पीकर और आधा दुम हिलाती बिल्ली के लिए छोड़कर जल्दी-जल्दी मन्दिर के अन्दर चला गया, क्योंकि दो सुन्दर लड़कियाँ उस समय अन्दर जा रही थीं।

मुनीम गुराँदित्तामल भी जल्दी-जल्दी लस्सी गले में उँड़लने लगा, क्योंकि उसकी धर्मपत्नी बंसो घर से तैयार होकर आ गई थी, और बंसो का आदेश था कि वह दोनों समय नहीं तो कम-से-कम एक समय ठाकुरजी के दर्शन ज़रूर किया करे।

जब गुराँदित्तामल अपनी धर्मपत्नी के साथ मन्दिर के अन्दर चला गया तो सत्तू और मोहनलाल एक-दूसरे की आँखों में देखकर मुस्कुराए।

''भगवान बड़ा कारसाज़ है,'' सत्तू ने कहा। मोहनलाल ने पलकें झपककर इसका अनुमोदन किया।

मोहनलाल भी चलने को हुआ तो सत्तू ने स्वर दबाकर कहा ''विलायती लट्ठा, दस थान मिला है—भेज दूँ?''

मोहनलाल ने पलकें झपकाकर स्वीकृति दी।

''भाव वही पिछला ही है!'' सत्तू ने उसी तरह कहा।

मोहनलाल ने फिर उसी तरह पलकें झपकाकर स्वीकृति दी। फिर वह भी किसी तरह अपने शरीर को धकेलता और काले माथे के नीचे जड़ी लाल आँखों से नाक की सीध में देखता हुआ मन्दिर के अन्दर चला गया, क्योंकि पुजारी ने किवाड़ खोल दिए थे और ठाकुरजी के जागने की घंटी बजा दी थी।

धुँधला द्वीप

जीवन के कई दिन कितने लम्बे हो जाते हैं। घर बैठे केसरी का दिल भारी होने लगा। पर अकेला जाए भी कहाँ? किसी रेस्तराँ में? अपने को छलने का यह अच्छा रास्ता है। घड़ी-दो घड़ी के लिए उदासियाँ खो जाती हैं। देखने, सुनने और चखने में आत्मा मूढ़ हो रहती है। पर घर लौटो, तो फिर वही उदासियाँ। चलो, इतना ही सही। कुछ तो समय बीतेगा ही।

बालों को ठीक करके कोट पहना। बटुए में पैसों की गिनती की। साइकिल उठाई और चल पड़ा।

खचाखच भरे रेस्तराँ में प्रवेश करके उसने चारों ओर देखा। मीठा शोर, हलके कहकहे, पतला धुआँ और झीनी ख़ुशबू। चेहरे प्रायः सभी नए थे। आत्मीयता थी, तो हरे रंग की दीवारों में ही।

कोने की मेज़ के पास बैठकर वह आसपास के वातावरण में ताज़गी खोजने की चेष्टा करने लगा। आगे गोरे लोग बैठे थे। तीन लड़कियाँ सुन्दर रंगों के स्कर्ट पहने थीं। फीका हरा, बादामी और सफ़ेद। एक युवक था, एक अधेड़ और दो बच्चे। दाईं ओर दो नवयुवतियाँ दस पुरुषों के घेरे में बैठी चाय की चुस्कियाँ ले रही थीं।

बैरा आया। उसने बियर के लिए कह दिया। आँखें पल-भर एक सरदारजी की दाढ़ी में उलझे धागे पर रुकीं। फिर उसने सिगरेट निकाली। ज़ेब से अखबार का पन्ना भी निकला। कई दिनों से यह पन्ना ज़ेब में है। पन्ने पर चित्र है—युवक और युवती। नया विवाहित जोड़ा, जिसे हर कोण से वह देख चुका है।

राधा ने नरेन्द्र से विवाह कर लिया। वही नरेन्द्र जिसे वह अपना भाई बतलाती थी।

मन झुँझलाया। हो गया विवाह, तो हुआ करे। रोज़ ही होते हैं विवाह। रद्दी लिपियों को ढकने के लिए चमकीले मोहरबन्द लिफाफे।

प्रेम विवाह। लड़के के सिर पर सेहरा, लड़की के हाथों में चूड़ियाँ! माथे में सिन्दूर। युवक और युवती। परिचय और प्रेम। हरे नीले पत्रों पर शेक्सपियर व शेली के वाक्य। रूमाल। सेंट। अमेरिकन चित्र। उद्यान विहार। कविता। और अन्त में माँ-पिता की सत्ता का आविष्कार।

प्रेम की बेल फूटने से पहले, पंडितों की सहायता से, वेदी के नीचे, वेदमन्त्र पढ़कर शुभ विवाह।

बैरे ने बोतल खोलकर बियर गिलास में डाल दी। केसरी ने दो-चार घूँट पिए। फिर चाहा उस गिलास को चूम ले। लोगों को देखकर निराशा हुई। वे उसे पागल समझेंगे।

वाद्य संगीत आरम्भ हुआ। स्वर लहरों की तरह शरीर में हिलोरें लेने लगे। नई बोतल आई। एक गिलास पी लिया। लगा, शीघ्र ही पंख निकलेंगे। पंखों से वह ऊपर तैरेगा। पंख फड़फड़ाएँगे–इसी लय में, इसी स्वर में।

बोतल ख़ाली कर दी। और मँगवाई। वह भी पी डाली। फिर और आई। वह भी उँड़ेल ली।

अनुभव हुआ कि पंख निकल आए हैं। पंखों में सुन्दर-सुन्दर रंग हैं। फीका हरा, बादामी और सफ़ेद। रंग झिलमिला रहे हैं। वह ऊपर उठ रहा है। छत के हंडे झूम रहे हैं। वाद्य स्वर तेज़ है। लोग सब मौन हैं। ऊपर और ऊपर। अभी वह छत को छू लेगा...

अचानक पंख टूट गए। वह कुर्सी पर आ रहा। गिलास में से बियर छलक गई।

वाद्य संगीत रुक गया था। गोरे लोग उठकर जा रहे थे। बियर की धार अखबार के पन्ने पर अफ्रीका का चित्र बना रही थी। पन्ने पर विवाहित जोड़े को उसने ध्यान से देखा। फिर बियर का गिलास ठीक चित्र के ऊपर रख दिया। हृदय से जैसे एक ज्वार निकल गया।

उठकर केसरी ने एक नज़र चारों ओर देख लिया। सबके प्रति उदासीनता का परिचय देता वह काउंटर तक आया। पाँच-पाँच के तीन नोट दे दिए। न तो बिल लिया, न हिसाब ही पूछा। फिर उस वातावरण को जैसे तिरस्कृत करके वहाँ से बाहर निकल आया।

बाहर धूप भी थी, धूल भी। वह निरुद्देश्य फुटपाथ पर चलने लगा। चलते-चलते रुककर एक कोमल पौधे की टहनी तोड़ ली। टहनी के कोर पर दूध सिमसिमाया देखा। पल-भर सोचा। फिर उसे फेंक दिया। कोई पास से मुस्कुराता हुआ निकल गया।

साँझ उतर रही थी। लॉरेंस बाग़ में लोग बिखरे हुए थे। केसरी ने सामने से कृत्रिम पहाड़ी को देखा। देखकर मुस्कुराया। मनुष्य का बचपना नहीं जाता। लोग लॉरेंस की पहाड़ियों पर घूमकर जी बहला लेते हैं, जैसे बच्चे मिट्टी की रानी से खेलकर। लॉरेंस की पहाड़ियाँ। मई में तापमान एक सौ सत्रह, जून में हरियाली गायब, जुलाई में ईंटों के भट्टे...डारविन ठीक कह गया है–मनुष्य बन्दर की ही सन्तान है।

वह पहाड़ी पर चढ़ने लगा। कमीज़ शरीर से चिपक रही थी। शिमले की पहाड़ियों पर घूमना याद आया। खेद हुआ कि क्यों यह सम्भव नहीं कि शिमले के बर्फ़ानी बादल

पैक करके लाहौर लाए जाएँ, और लाहौर की लू बन्द डब्बों में शिमले भेजी जाए? पर असम्भव ही क्या है? आज नहीं, तो कुछ वर्ष बाद सही। ऐसा युग कभी तो आएगा ही।

कितना अच्छा हो, जो मानवीय भावनाओं को भी स्थूल रूप दिया जा सके। पागलपन की गोलियाँ। प्रेम की टिकियाँ। कविता का पाउडर। तब तो अपने सब मित्रों को वह यही उपहार भेजा करे। कविता की पुड़िया, पानी के साथ खाओ और छन्द लिखो।

टीन के डब्बे पर से उसका जूता फिसल गया। वह अपने-आप पर हँसा। उस पर तो बिना गोली खाए ही पागलपन सवार हो गया। किसी दिन अवश्य कोई दुर्घटना हो जाएगी। सँभलकर चलता हुआ वह पहाड़ी के ऊपर पहुँच गया।

पहाड़ी पर से उसने देखा—नीचे सड़कों पर लोग अनजाने चले जा रहे हैं। कोई बात करता है, कोई हँसता है, और कोई छड़ी घुमाता हुआ केवल सैर करता है। उन सबके बीच में घिरकर भी वह अकेला है।

अकेला तो है, पर घिरने की बात क्या? संसार में अपने को ही केन्द्र मानकर क्यों चलना? लोगों को उसके अस्तित्व से क्या मतलब? फिर उसे ही लोगों की क्या चिन्ता? उसे केवल एक जीवन जीना है—अपना जीवन। अच्छा बुरा, जो भी है, वह स्वयं ही तो है। पर राधा क्या कहती थी? वह भावना को नहीं समझता? अपने-आप को धोखा देता है? नहीं, यह सब झूठ था। केवल दम्भ।

फिर वही राधा की बात? क्यों नहीं! राधा ने उसे एक बार स्निग्ध आँखों से नहीं देखा था? फिर वही आँखें बुझी-बुझी होकर क्यों रह गईं?

उसके अन्दर कौन-सा पाप है? संसार को अपना वास्तविक परिचय दे देना—इतना ही?

हृदय उदास भी होने लगा, अशान्त भी। उसने घर चलकर लेटे रहने की सोची। अब साइकिल का ध्यान आया। वह तो रेस्तराँ के बाहर ही छूट गई थी। वह लौटकर साइकिल लाने चला। कुछ देर के लिए मस्तिष्क से निकलकर वह शरीर में स्थित हो गया।

"केसरी!" किसी ने रेस्तराँ के बाहर उसे पुकारा। घूमकर देखा। मोहन था। पास आकर मोहन ने उसके कन्धे को छुआ। कहा, "ठीक समय पर मिले, यार। अकेले पीने को दिल नहीं करता था। चल, अन्दर बैठें अन्दर।"

केसरी ने पहले मना कर देना चाहा। पर तुरन्त ही उसने अपना विरोध कर लिया। उसने जैसे अनुनय स्वीकार करने के ढंग से कहा, "एक घंटे से अधिक नहीं बैठ सकता। फिर मुझे किसी से मिलने जाना है।"

"जब मन में आए, चले जाना, यार। अभी अन्दर तो चलो।" मोहन उसे बाँह से पकड़कर अन्दर ले चला।

केसरी ने पुनः उसी वातावरण को देखा। पहले लोग जा चुके थे, और नए लोग वहाँ आ गए थे। इस बार उसने बीच की एक मेज़ चुन ली।

मोहन ने बैठकर पूछा, "स्कॉच?"

केसरी ने सिर हिला दिया।

स्कॉच के कुछ घूँट भर लेने पर केसरी की आँखों के आगे कुछ चित्र गहरे धुँधले होने लगे। तीसरा पैग ख़ाली कर चुका, तो मोहन के शब्द ध्वनित होते तो सुनाई दे रहे थे, पर उनका अर्थ समझ में आने से पहले ही फिसल जाता था। वर्मा वहाँ आया, तो केसरी अभिवादन भी नहीं कर पाया। हाथ मिलाते हुए यही शब्द बोलता रहा, "ओ माई डियर, ओ माई डियर!" शेष जो कहने को था, वह जैसे कहीं खो गया था। प्रयत्न करने पर भी शब्द पकड़ में नहीं आए। वह ख़ामोश हो गया।

वर्मा और मोहन जब कला-प्रदर्शनी की रूपरेखा बनाने लगे, तो वह ऐसा प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा करता रहा कि विषय में रुचि न रहने के कारण वह ख़ामोश है। वास्तव में उसकी शक्तियाँ पूरी तरह शिथिल हो चुकी थीं। कला और सेक्स की गूँज में से निकलकर वह देख रहा था एक स्त्री रूप—अस्पष्ट। चित्रमय, शरीरमय, प्राणमय।

राधा, जब उसे पहली बार देखा था, बँगले के बरामदे में बैठी कोई किताब पढ़ रही थी। सैंडल से दुपट्टे तक सफ़ेद। मुख पर टैंजी की ख़ुशबू। नाख़ूनों पर क्यूटैक्स का रंग। सुन्दर गठन। आकर्षक आँखें।

फिर ड्राइंग रूम। बिजली ख़राब होने से, मिट्टी के तेल का टेबल लैम्प जल रहा था। बाबू मोतीलाल ने परिचय कराया और काम से बाहर चले गए। राधा बोली, "आप हमारे यहाँ बिलकुल अपरिचित नहीं। पिताजी प्रायः आपकी तारीफ किया करते हैं।"

"मेरी तारीफ?" उत्तर दिया उसने, आभारी हूँ उनका। लोग तो प्रायः मेरी निन्दा ही करते हैं।"

सुनकर वह मौन रही। देखने में वह सोलह-सत्रह की लगती थी। मुख की गम्भीर रेखाओं से दो-तीन वर्ष और बड़ी। दृष्टि उसकी पारदर्शिनी-सी घूमती थी। देखती थी, अपनी उँगलियों को, लैम्प को, फिर उसकी आँखों को। पुनः उँगलियों को, लैम्प को, आँखों को। काजल की ताज़गी के नीचे आँखों की उत्सुकता ताज़ी थी। गहरी भी। जैसे नया तैराक डुबकी लगाकर तैरना सीख गया हो। वह मुस्कुराया।

राधा बोली, "आप लॉ के पहले वर्ष में हैं न?"

"हूँ तो सही, पर कभी दूसरे वर्ष में जाने की आशा नहीं।"

"क्यों? एम.ए. में तो आप प्रथम रहे थे—पिताजी कहते थे।"

"रह गया था, पर औरों के दोष से। शेष साथी मेरे सबके सब रईसज़ादे थे, जो मेरे जितने नम्बर भी नहीं ले सके।"

"तो ऐसे ही रईसज़ादे लॉ में भी होंगे।" वह मुस्कुराई।

"लॉ में प्रायः सभी वकीलों की सन्तान हैं। बहस करके अपनी योग्यता का प्रमाण दे लेते हैं।"

इससे वह हँस पड़ी। बोली, "बातें करना तो आप खूब जानते हैं।"

फिर जैसे उसे याद आया। कहा, "पहले कुछ पीजिए।"

"पानी।"

"चाय या लैमन?"

"नहीं।"

पानी आया। पानी पीकर कोई बात करने को नहीं सूझी। सोचा, बच्ची-सी युवती से क्या बात करे। हारकर पूछ लिया, "आपको गाने का तो शौक होगा?"

इस पर भी वह मुस्कुराई। वह बोली, "शौक क्या, कभी-कभी गुनगुना लिया करती हूँ।" वही साधारण उत्तर, जो प्रायः सभी लड़कियाँ देती हैं।

उसने भी परम्परा आगे तक निभा दी। कहा, "कभी कोई चीज़ सुनाइए।"

"अवश्य," वह बोली, "रविवार को आइए। नरेन्द्र भाई भी आएँगे। खूब अच्छा गाते हैं वे। मैं उन्हीं से सीखती हूँ।"

'भाई' शब्द के उच्चारण में भ्रातृत्व की गन्ध नहीं मिली। साधारणतः वह यूँ बोल गई, जैसे यह भी कोई 'जी' की तरह का शब्द हो। उसने महत्त्व नहीं दिया। बात आगे सरक गई।

बाबू मोतीलाल आए। तब क्या बात चल रही थी? हाँ, वह कह रही थी, "तुलसीदास की क्या कविता है। मैं आज तक नहीं समझ सकी कि क्या रस है तुलसीदास में?"

बाबू मोतीलाल बोले, "चल पड़ीं कवियों और लेखकों की बातें! केसरी हिन्दी में बहुत लेक्चर झाड़ा करता है। नरेन्द्र की तरह झटपट हार नहीं मानेगा।" और अपने कथन से सन्तुष्ट होकर हँस पड़े।

कमरे से निकलते हुए राधा की कुहनी उससे छू गई। बाहर आकर वह बोली, "आपका भक्ति-दर्शन मेरी समझ में नहीं आया। रविवार को फिर उलझूँगी। आइएगा न?"

बाबू मोतीलाल बीच में ही बोले, "आएगा क्यों नहीं? होटल के बिल भरने से घर में चाय-पानी क्या बुरा है। क्यों?"

सिर हिलाकर वह चल पड़ा। मन में उत्सुकता जाग गई। यह नई-सी घनिष्ठता क्यों? बाबू मोतीलाल कब से तो जानते हैं। पर परिचय दूर से अभिवादन तक का ही रहा है। आज कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ गया। पहेली में पुरस्कार नहीं पाया, लाटरी नहीं निकली, वसीयत नहीं मिली, घुड़दौड़ नहीं जीती। फिर? ऐसा क्यों?

कन्धे से पकड़कर मोहन ने हिलाया। कहा, ''यह गिलास रखा है—पी इसे। और मँगाएँ? किस दुनिया की सैर कर रहा है तू?''

केसरी चेतन हुआ। मोहन को देखकर आश्चर्य हुआ। आँखें ज़रा उघाड़कर बोला, ''तू यहाँ कैसे आ गया?''

मोहन थोड़ा हँसा। बोला, ''तो आप सचमुच ही स्वर्ग में हैं!" फिर वर्मा की ओर मुड़कर वह बोला, ''यह तो होशहवास खो बैठा।''

इन शब्दों ने केसरी को कुछ उत्तेजित किया। पर तुरन्त ही वह उत्तेजना दूसरे किसी प्रवाह में बह गई। व्हिस्की के गिलास के चारों ओर नया मनोजाल बुना जाने लगा।

नरेन्द्र! महत्त्वाकांक्षी नरेन्द्र! नरेन्द्र के साथ उसकी ख़ासी बहस हो गई थी। शराब पीने न पीने को लेकर राधा नरेन्द्र का समर्थन करती रही थी। बहस के बाद एक लम्बी चुप्पी...।

राधा एकटक उसे देख रही थी। इससे नरेन्द्र की आँखों का खिसियानापन वह देख रहा था। उपन्यास के पृष्ठों में नरेन्द्र की दिलचस्पी झूठी थी।

राधा ने नरेन्द्र की ओर जो नहीं देखा, उससे वह कुछ बचा रहा।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद राधा ने पूछा, ''आपके लिए पानी लाऊँ?''

'नहीं,'' उसने उत्तर दिया, ''मैं कहीं जाकर बियर पिऊँगा।''

इसने राधा की आँखों की चमक को पल-भर में पोंछ दिया।

देर के बाद नरेन्द्र ने राधा की ओर देखा और राधा ने नरेन्द्र की ओर। फिर नरेन्द्र ने अभिभावक की-सी मुद्रा में राधा से कहा, ''पाँच बजे संगीत सभा में भी तो चलना है। तुम अपनी तैयारी कब करोगी?''

यह शायद उसे जाने के लिए संकेत था। कुर्सी की बाँहों पर हाथ रखकर वह बोला, ''आप लोगों को बाहर कहीं जाना है, यह मुझे नहीं मालूम था...''

''मुझे आज वहाँ नहीं जाना है,'' राधा ने निश्चित स्वर में नरेन्द्र की ओर देखकर बीच में ही कहा।

''पर मेरा वहाँ प्रोग्राम जो है,'' नरेन्द्र उसके निश्चय को प्रभावित करने के लिए बोला।

''हाँ, हाँ, तुम्हारा नाम है, तुम चले जाओ। मेरा जाने का मूड नहीं।'' फिर उससे बोली, ''आप शाम को खाना खाकर ही जाइएगा। पिताजी ने आपको बिठाए रखने को कहा था।''

''नहीं, नहीं, मुझे भी एक जगह थोड़ा काम है,'' उसने छुटकारा चाहा।

''ऐसा क्या ज़रूरी जाना है? आपको तो कल तक याद भी नहीं था। बैठिए, अभी थोड़ी देर।''

''पर...''

"पर क्या? कुछ देर के लिए जाना टाला नहीं जा सकता?"

उसने नरेन्द्र की ओर देखा, जिसके मुख पर संध्या उतर आई थी। उससे आँख मिलते ही नरेन्द्र उठ खड़ा हुआ। कोट पहनते हुए ज़रा विमर्शपूर्वक उससे बोला, "मुझे जाना पड़ेगा। चलिएगा संगीत सभा में?"

"कैसे चल सकता हूँ!" उसने राधा की ओर देखकर कहा।

चलने को उद्यत होकर नरेन्द्र दरवाज़े के पास पुनः रुका। मुड़कर बोला "बर्ड्स क्लब में आप जाया करते हैं?"

"हाँ, कभी-कभी। क्यों?"

"कुछ नहीं, यों ही पूछा। एक दिन आपको वहाँ किसी के साथ देखा था।"

कहकर नरेन्द्र ने अर्थपूर्ण दृष्टि से राधा की ओर देखा। फिर जाता हुआ बोला, "अच्छा, गुड नाइट!"

नरेन्द्र के चले जाने से बीच की कड़ी निकल गई। कुछ समय तक दोनों बातचीत के लिए किसी आरम्भ को नहीं पा सके। वह राधा के असमंजस को छू रहा था और राधा अपनी उलझन को बचा रही थी। पहला प्रश्न उसने स्वयं ही किया, "मेरी किसी बात से दुख हुआ?"

"नहीं तो। हर व्यक्ति को अपने ढंग से जीने का अधिकार है। फिर भी मैं कहती थी..."

क्या कहती थी, यही ठीक वह स्पष्ट नहीं कर पा रही थी। कुछ संकोच था, कुछ अनिश्चय। वह बोला, "अपने विचार प्रकट न करने को मैं पाप समझता हूँ। आप निःसंकोच कहिए।"

"आप शराब पीना छोड़ नहीं सकते?" राधा ने तर्क का आश्रय छोड़कर आग्रह की शरण ली।

वह ऐसे सीधे-से प्रश्न के लिए तैयार नहीं था। कुछ क्षण उसकी आँखों में देखता रहा। फिर गम्भीर होकर बोला, "नहीं!"

"नहीं! क्यों नहीं?"

इन शब्दों में ऐसी याचना थी कि उसके मन ने चाहा कि उसे किसी प्रकार का आश्वासन देकर सन्तुष्ट कर सके। पर वह चुप रहकर देखता रहा।

"मान लीजिए, आपके सामने कोई बहुत बड़ा प्रलोभन हो, फिर भी नहीं छोड़ सकते?"

"नहीं, किसी प्रलोभन के कारण नहीं। हो सकता है किसी दिन मेरी अपनी रुचि बदल जाए। पर ऐसी सम्भावना नज़र नहीं आती।"

वह ख़ामोश हो गई। कमरे में केवल घड़ी की टिक-टिक सुनाई दे रही थी।

वह देख रहा था। जब राधा बोलना चाहती, तब एक कंपन गले में होता, दूसरा होंठों पर। जब वह बात को पी जाती तब नासिका काँपती और भौंहें हिलतीं। अचानक

उसका चेहरा आरक्त होने लगा। कुछ कहने के लिए वह तैयार हुई। पर उसके साथ आँखें मिलते ही पुनः मुरझा गईं। शब्दों के प्रभाव का विश्वास जैसे खो गया।

वह उसे सहारा देने के लिए बोला, "मैं आपकी भावना को समझता हूँ। पर क्या करूँ, किसी की भी इच्छा के अनुकूल अपने को मैं नहीं ढाल पाता। मुझे लगता है मैं केवल अपने ही लिए जीता हूँ।"

अब वह बोली, "आपको अपनेपन का बहुत मान है शायद। किसी की भावना क्या चीज़ है, इसे समझते हैं आप—मुझे आश्चर्य है।"

"सम्भव है, मैं ठीक नहीं समझता। फिर भी मुझे थोड़ा खेद अवश्य होता है। मैं किसी को खुश नहीं कर सकता।"

"किसी की खुशी की बात छोड़िए—आपकी अपनी खुशी क्या है? इस तरह की उदासीनता से केवल आप अपने को धोखे में रख सकते हैं। मैं जानती हूँ आप इसे स्वीकार नहीं करेंगे। यह भी उसी प्रवृत्ति का एक अंश है।"

"आपका अध्ययन गलत भी हो सकता है।"

"यह बात टालने का ढंग है। आपको अपने को बदलना चाहिए। मैं कहती हूँ, आपको अपने को बदलना पड़ेगा।"

राधा की उत्तेजना में भी इतनी आत्मीयता आ गई थी कि वह सहसा उसका प्रतिवाद नहीं कर सका। थोड़ी देर टाई से खेलता रहा। फिर एक सिगरेट सुलगा लिया। तब धीमे स्वर में बोला, "मेरे लिए परिवर्तन वही है, जो स्वयं हो जाता है। शेष जीवन की धारा है। उसके लिए पहले से काट-छाँट करने का अवकाश ही कहाँ है?"

फिर घड़ी की ओर देखकर वह बोला, "अच्छा, अब तो मुझे जाना ही पड़ेगा। एक कवि मित्र से मिलने का वायदा है।"

"जाइए। आप किसी का अपने पर अधिकार क्यों मानें? परसों दोपहर को आइएगा?"

"चेष्टा करूँगा।"

"चेष्टा नहीं, अवश्य आइएगा।"

"अच्छा।"

दो रातें कानों में राधा के शब्दों की गूँज रही—आपको अपने को बदलना चाहिए। जीने के लिए? पर जीना कौन नहीं चाहता? पर चाहकर भी सबसे जिया नहीं जाता। वह अपने ढंग से जी रहा है? इतना ही सही। राधा उसे सिखाएगी? फिर भी, राधा की बात सुनकर मान जाने को क्यों मन चाहता है? आत्मीयता का एक आवरण क्यों ढक लेता है? कमज़ोरी है। ऐसी कमज़ोरी दूर करनी चाहिए। तृतीय वर्ष की एक छात्रा उसे बदल देगी। अभी वह नहीं समझती। पर वह स्वयं क्या सभी कुछ समझता है?

विचार अधिक भारी हो जाते, तो वह टेबल लैम्प जलाकर नीत्शे के जीवन-दर्शन में से अपने लिए खोज निकालने में व्यस्त हो जाता। ऐसा कोई वाक्य मिल जाता कि 'स्त्रियों के सम्पर्क में आओ, तो अपने चाबुक को मत भूलो,' तो वह एक आश्वासन-सा पाकर सो जाता।

फिर भी उन रातों में कोई भी आश्वासन उसे शान्ति नहीं दे सका। वह उलझा रहा, व्यस्त रहा, सोचता रहा।

पर उस दिन निश्चित समय पर राधा के सामने जाकर क्या देखा? भावहीन अभिवादन से उसने उसे बिठाया। नरेन्द्र भी वहीं था, जिसने अधिक घनिष्ठता और सौजन्य का परिचय देने की चेष्टा की। पैराशूट के टुकड़ों से लेकर एल्सेशियन कुत्तों तक की बातें। वह तकता रहा। नरेन्द्र उस उकताहट को निर्वाचनों की चर्चा से और भी भड़काकर एक पुस्तक निकालने स्टडी रूम में चला गया।

राधा की बदली हुई भंगिमा की उपेक्षा करके उसने उतार फेंकने के ढंग से कहा, "आपको उस दिन कुछ कहना बाक़ी था न? अच्छा हो, पहले वही बात समाप्त कर लें।"

"नहीं, वह ऐसी कोई विशेष बात नहीं," राधा ने उसी भावहीन ढंग से कहा। फिर ज़रा और गम्भीर स्वर में बोली, "एक और बात बताइएगा? यदि अधिक व्यक्तिगत हो, तो चाहे रहने दीजिएगा।"

"पूछिए।"

वह कुछ क्षण रुकी। अपनी जिज्ञासा के साथ शब्दों को शायद तौला। फिर कठिनता से पूछा, "इतना जान सकती हूँ, श्यामा कौन है?"

प्रश्न के पीछे किसी और का छिपा आघात था! वह पचा लेने के लिए रुका। राह चलते अचानक धक्का खाकर जो चोट लगती है; वैसी ही चोट उसे लगी। पर वह शीघ्र ही सँभल गया। सीधी दृष्टि से देखता बोला, "एक परिचित लड़की है। उसके विषय में आपको और क्या जानना है?"

"एक ऐसी बात है जो शायद आप बताना नहीं चाहेंगे।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं। श्यामा के साथ मेरी मित्रता रही है। फिर वह अपने प्रेमी शील के साथ कराची चली गई थी। बाद में मुझे बताया गया कि मैं उसके माँ बनने के लिए उत्तरदायी हूँ। मैं ठीक नहीं जानता।"

इतने स्पष्ट शब्दों में बात सुनने की आशा राधा को नहीं थी। वह पल-भर अवाक् उसे देखती रही। फिर आँखें हटाकर उसने धीरे-से कहा, "तब तो ठीक ही है।"

"क्या ठीक है?" उसने पूछा।

"कुछ नहीं," वह अचानक कृत्रिम होकर बोली, "मैं एक और ही बात सोच रही थी।"

"यह झूठ है," वह तीव्र हो उठा, "मैं जानता हूँ, यह सब जान लेने के बाद आपके पास अपनी भावना और ज़बान कुछ भी नहीं रहा। आप बुराई को पी सकती हैं, सच्चाई को नहीं। ठीक है न?"

ख़ामोशी से टाला जा सकना सम्भव होता, तो वह उत्तर न देती। पर शब्द इतने आक्रामक थे कि उसे बोलना पड़ा। कहा, "आप गुस्सा मत कीजिए। आप जो कुछ भी हैं, अपने लिए हैं। मैं उस दिन ख़ामख़ाह आपसे इतनी बातें कहती रही। मुझे कहनी नहीं चाहिए थीं।"

नरेन्द्र स्टडी रूम से किताब लेकर आया, जैसे क्यू के अनुसार रंगमंच पर प्रवेश कर रहा हो। अपनी भूमिका का वांछित परिणाम देखकर भी अनभिज्ञ-सा बोला, "आज कोई वाद-विवाद नहीं चल रहा?"

तभी वह उठ खड़ा हुआ। कहा, "मैं अब चलूँगा।"

राधा ने कुछ भी नहीं कहा। नरेन्द्र अभिनेता की-सी आश्चर्य की मुद्रा से बोला, "इतनी जल्दी?"

"हाँ, ज़रा घूमने की तबीयत है।"

"फिर कब आ रहे हो?" नरेन्द्र के शब्दों में व्यंग्य स्पष्ट था।

"देखो, शायद कभी आ सकूँ।"

इतना कहा और चल पड़ा। चलते-चलते राधा पर दृष्टि पड़ी। वह दूसरी ओर देख रही थी।

केसरी ने सिर उठाया। गिलास में व्हिस्की अब भी शेष थी। वर्मा मोहन के कानों के पास कोई शेर गुनगुना रहा था। केसरी ने गिलास मुँह से लगाया और ख़ाली कर दिया। फिर असंयत स्वर में बोला, "एक और...बड़ा।"

रात के बारह बज चुके थे जब मोहन के साथ वह रेस्तराँ से बाहर निकला। मोहन ने कहा, "अरे तू गया नहीं...तुझे कहीं जाना था न!"

केसरी बात भूल चुका था।

मोहन ने फिर पूछा, "किसी लड़की से तो मिलना नहीं था?"

केसरी झूलते स्वर में बोला, "लड़की? कौन लड़की? कोई लड़की नहीं। पत्नी।"

"क्या बकता है?" मोहन ने कहा, जैसे उसकी बेमतलब बहक का सब मतलब समझ रहा हो।

केसरी फिर बड़बड़ाया, "वह उस एक की पत्नी है। उसकी पत्नी जिसने उसे..."

मोहन उसे खींचकर कार में ले चला। केसरी उसी तरह बड़बड़ाता रहा।

मरुस्थल

मरुस्थल अर्थात् रेत और गुबार का देश। मगर उससे रूखा एक और भी मरुस्थल है।

मेरे कमरे का वातावरण बहुत रूखा और बोझिल है। घड़ी में केवल घंटे की सूई है और जीवन उसी के हिसाब से चलता है। हर चीज़ जैसे अँगड़ाइयाँ ले रही है। किताबें शेल्फ़ में सो जाना चाहती हैं, दरी फ़र्श पर बेसुध-सी ऊँघ रही है। बाहर जहाँ तक आँख जाती है, रेत-ही-रेत फैली है। रेत के बवंडर बार-बार खिड़की के किवाड़ों में आ टकराते हैं। हवा हू-हू आवाज़ करती हुई बार-बार किवाड़ों को हिला जाती है।

उधर साथ के कमरे में इन्दु बेताब करवटें ले रही है।

रतनाडा रोड का यह बँगला जोधपुर शहर से दो मील के फासले पर है। बँगले में हम दस व्यक्ति रहते हैं और सबका परिचय अपने इस दायरे तक ही सीमित है। काम अलग-अलग होते हुए भी हम सबका पेशा एक है—सब राजस्थान फ़िल्म कार्पोरेशन में नौकर हैं। नसीम और सकीना कभी वेश्याएँ थीं, अब अभिनेत्रियाँ कहलाती हैं। धनपतराय कभी थियेटर में पर्दे खींचता था, आज फ़िल्म कार्पोरेशन का मैनेजिंग डायरेक्टर है। शंकर, शर्मा और लतीफ तीनों ऐक्टर हैं। इन्दु नसीम की बेटी है। धनपतराय उसका बाप है। सकीना उसकी छोटी माँ अर्थात् माँ की बहन है।

इन्दु छटपटा रही है, नसीम अपने कमरे में घुटकर रो रही है, सकीना उसे दिलासा दे रही है और धनपतराय अपने कमरे में शराब पी रहा है। बाक़ी लोग बड़े कमरे में बैठकर ताश खेल रहे हैं।

जब मैं पहले-पहल आया तो यह सारा घर नसीम और सकीना के कहकहों से गूँजा करता था। वे दोनों मिलकर ऐसे हँसती थीं, जैसे खोटी चाँदी के बहुत-से सिक्के एकसाथ खनकाए जा रहे हों। दोनों बहनें दिन-भर बरामदे में आवारा घूमती रहती थीं। अब कई दिनों से अपने कमरे के बाहर उनकी सूरत भी नज़र नहीं आती।

इन्दु बिल्कुल मेरे साथ के कमरे में है, इसलिए उसकी हर कराहट मुझे सुनाई दे जाती है। शुरू-शुरू में वह सारा दिन मेरे कमरे में आकर चहकती रहती थी। इस

बँगले में आने पर, पहले दिन से वह मुझसे बहुत हिलमिल गई थी। हर रोज़ चार-छह बार आकर वह मेरा दरवाज़ा खटखटाती—'इन्दु बाई अन्दर आ सकती है?'

और अपने-आप 'हाँ, आ सकती है' कहकर वह अन्दर आ जाती। फिर वह बैठकर देर-देर तक बताती रहती थी कि दिल्ली और कलकत्ते में उसकी कौन-कौन सहेलियाँ हैं, उसे दिल्ली शहर और शहरों की अपेक्षा क्यों ज़्यादा अच्छा लगता है और जब वह बड़ी होगी तो अपनी कोठी किस ढंग की बनवाएगी। वह कभी मुझे अपने साथ खेलने के लिए मजबूर करती। कभी मुझे नाचकर दिखाती और कभी मेरे गले में बाँहें डालकर सौ-सौ तरह के सवाल पूछती। बँगले के लोगों में उसे ही मुझमें सबसे ज़्यादा दिलचस्पी थी और मेरा ज़्यादातर समय उसी के साथ बीतता था।

उस दिन बाहर बहुत ज़ोर के बवंडर उठ रहे थे, जब इन्दु ने रोज़ की तरह दरवाज़ा खटखटाया, "इन्दु बाई अन्दर आ सकती है?" और दरवाज़ा खोलकर वह अन्दर आ गई। उसके पीछे-पीछे एक अपरिचित युवक भी कमरे में आ गया। इन्दु ने उसका परिचय दिया, "ये गोपाल बाबू हैं, आपसे मिलने आए हैं।"

गोपाल ने पहले सारे कमरे में नज़र दौड़ाकर देखा, फिर अनुगृहीत करने के ढंग से मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया। मेरे कहने पर वह पल-भर के लिए कुर्सी पर बैठ गया और बड़े आदमियों की तरह दो बातें करके, समय कम होने की शिकायत करता हुआ चला गया। उसके चले जाने पर इन्दु मेरी गोद में आ बैठी और बोली, "इस आदमी से हमको डर लगता है। यह हमको बहुत घूर-घूरकर देखता है।"

"मैं भी तो तुझे घूर-घूरकर देखता हूँ, तुझे मुझसे डर नहीं लगता?" मैंने मुस्कुराकर पूछा।

"तुम इसकी तरह थोड़े ही देखते हो?" वह बोली, "यह तो ऐसे देखता है जैसे मैं कोई तस्वीर हूँ। यह बाबूजी का दोस्त है और अम्मी के साथ आजकल बहुत घुलकर बातें किया करता है। आज यह अम्मी से एक बहुत बुरी बात कहता था।"

पहले उसने वह बात नहीं बताई। मेरे बहुत पूछने पर बहुत धीरे-से बोली, "अम्मी से कहता था कि तू क्यों धनपतराय के साथ ज़िन्दगी ख़राब करती है? मैं होटल खोलता हूँ, तू मेरे साथ चलकर काम कर, हम लाखों रुपया कमाएँगे। फिर हमारी तरफ़ देखकर बोला—अच्छा, तू इन्दु को मेरे हवाले कर दे, उसका जो तू चाहे ले़ ले। मैं तो ऐसी बात पर उसे थप्पड़ मारती, मगर अम्मी चुपचाप सुनकर हँसती रही।"

मैंने उसके सिर को थपथपाया और कहा, "पगली, वह मज़ाक करता होगा।"

"नहीं जी, मज़ाक की बात और होती है, हमको सब पता है," और फिर आवाज़ और भी धीमी करके बोली, "अम्मी वैसे तो हमको पीटती है, पर उसके सामने ऐसे तारीफ करती थी जैसे सचमुच हमको बेचना ही हो।"

नौ बरस की इन्दु सचमुच बहुत कुछ जानती थी। गोपाल वाकई नसीम पर डोरे डाल रहा था और नसीम उनमें उलझ रही थी। गोपाल के वायल के कुर्ते की ज़ेब में सौ-सौ के नोट चमकते रहते थे जिनके बल पर उसे लखपती होने का दावा था। नसीम के सौदे में उसकी आँख ज़्यादा इन्दु पर ही थी। एक दिन वह खूब पिए हुए मेरे कमरे में आ गया। नशे की बहक में उसने सारी बात मेरे सामने उगल दी। वह बम्बई में होटल खोलने की सोच रहा था, जिससे उसे लाखों की आमदनी की आशा थी। उसने उल्लास से झूमते हुए कहा, ''देखना, चार दिन में वह धनपतराय के मुँह पर थूककर मेरे साथ चली जाएगी। उसने मेरे साथ पक्का वायदा कर लिया है।''

फिर वह काफ़ी देर मिले और कारखाने चलाने के प्रोग्राम बनाता रहा, और अन्त में ठंडे पानी का गिलास पीकर चला गया।

धनपतराय गोपाल की चाल न समझता हो, ऐसा नहीं था। वह बहुत खुर्राट आदमी है और अपने-आपको बहुत कुछ समझता भी है। वैसे उसके हाथ-पैर भी काफ़ी मजबूत हैं। पचपन बरस का होकर भी वह बात-बात में जवानी की कसम खाकर पुरुषत्व की डींग मारता है। गोपाल से उसने कुछ नहीं कहा, लेकिन एक दिन नसीम की लगामें खींच दीं। नसीम दो-चार दिन गोपाल से दूर-दूर रही। मगर वास्तव में इसमें भी गोपाल की योजना ही काम कर रही थी।

एक दिन इन्दु ताश का एक पैकेट मुझे दिखाने के लिए लाई। मेरे कन्धे के साथ सटकर वह धीरे-से बोली, ''बाबूजी, आज बाहर गए हुए हैं न, अम्मी ने गोपाल को आज फिर बुलाया है। आज वो कमरे में बैठे धीरे-धीरे बात कर रहे हैं।''

''तू यह ताश कहाँ से लाई है?'' मैंने बात बदलने के लिए पूछा।

''वही गोपाल लेकर आया है। हमने पहले नहीं लिये तो अम्मी हमको डाँटने लगी। फिर हमने ले लिये तो हमसे कहा कि बाहर जाकर खेलो। गोपाल कहता था कि तेरे लिए छोटा पियानो लेकर आऊँगा।''

''अच्छा?'' मैंने कहा, ''यह ताश तो वह बहुत बढ़िया लाया...''

''बढ़िया हो चाहे कैसा हो, हम यह ताश नहीं खेलेंगे,'' इन्दु हठ और तिरस्कार के साथ बोली, ''वह पियानो लाएगा तो हम उसका पियानो भी नहीं बजाएँगे।''

''क्यों, उससे लड़ाई हो गई है?''

''अम्मी आज फिर उसके साथ बम्बई जाने की सलाह बना रही हैं।''

''सच?''

''सच नहीं तो क्या? अम्मी कहती थीं कि बाबूजी हमें पैसा नहीं देते। वह बोला "कि चलकर दो-चार साल तू आप कमा ले, फिर तेरी इन्दु लाखों की हो जाएगी।''

मैं उसे बाँहों में लिये हुए चुपचाप उसके बालों के साथ खेलता रहा। कुछ रुककर वह फिर बोली, ''मैं बड़ी होकर डॉक्टरी पढ़ूँगी। मेरी सहेली की बड़ी बहन डॉक्टरी पढ़ती है।''

मैंने उस समय लक्षित किया कि उसका चेहरा पहले से कुछ पीला पड़ गया है और उसके गोरे गालों पर बारीक नीली धारियाँ उभर आई हैं। वह उस दिन काफ़ी देर तक मेरे पास बैठकर मुझसे बातें करती रही। मैं उसे बाहर-बाहर से बहलाने के लिए अपना एलबम दिखाने लगा। एलबम में मेरे एक मित्र के ब्याह के समय की तस्वीर को वह देर तक देखती रही। फिर उसने पूछा, "ये कौन हैं?"

"यह मेरा दोस्त है और यह उसी की बीवी है," मैंने कहा।

"आप भी अपने ब्याह के दिन ऐसी फोटो खिंचवाएँगे?" उसने फिर पूछा।

मैं पल-भर उसके मासूम चेहरे को देखता रहा। फिर मैंने कहा, "मेरा ब्याह पता नहीं होगा कि नहीं, पर जिस दिन तेरा ब्याह होगा, उस दिन तेरी ज़रूर ऐसी तस्वीर खिंचेगी।"

"हिश्!" वह बोली, "हम तो डॉक्टरी पढ़ेंगे, हम ब्याह थोड़े ही करवाएँगे?"

कुछ देर वह चुपचाप एलबम के पन्ने उलटती रही। फिर उसने पूछा, "अच्छा आप बताइए मैं हिन्दू हूँ कि मुसलमान?"

"तेरा नाम क्या है?" मैं उसे बहलाने लगा।

"इन्दु।"

"तो तू हिन्दू है।"

"नाम से क्या होता है?" वह बोली, "बाबूजी हिन्दू हैं और अम्मी मुसलमान हैं। मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान।"

"नहीं है तो न सही। हिन्दू-मुसलमान होने से क्या होता है?"

"अब तो नहीं होता, पर जब मैं बड़ी हो जाऊँगी, तब तो होगा।"

"क्या होगा?"

"यह आप अपने-आप समझ लें। हम नहीं बताएँगे।"

मैंने उसे अपने साथ सटा लिया और कहा, "क्या होगा? कुछ नहीं होगा। तू तो बिलकुल पागल लड़की है।"

और मैं देर तक उसके बालों में हाथ फेरता रहा।

मगर उसी रात नंगी वास्तविकता पर्दे से बाहर आ गई।

रात के साढ़े ग्यारह या बारह बजे थे। मुझे अभी नींद नहीं आई थी। मैं बरामदे में अपनी चारपाई पर करवटें ले रहा था। पास के कमरे में घड़ी की टिक-टिक लगातार सुनाई दे रही थी। अचानक नीरवता की छाती में एक नश्तर-सा चुभा। नसीम की एक लम्बी चीख़ वातावरण में फैल गई। साथ धनपतराय की कर्कश आवाज़ सुनाई देने लगी, "इन्दु को लेकर बम्बई जाने की तैयारियाँ कर रही है? तेरी खाल न उधेड़ दूँ, हरामज़ादी! नौ बरस से उसे पाल रहा हूँ, हज़ारों रुपये उस पर ख़र्च किए हैं, अब कमाई के दिन आए तो उसे तेरे साथ

भेज दूँ? तुझे जाना है, जा, अभी निकल जा। उसे हाथ भी लगाया तो तेरा ख़ून पी लूँगा।''

फिर एक घूँसा, एक थप्पड़ और नसीम के रोने की आवाज़ और धनपतराय की ज़ोर-ज़ोर की गालियाँ...

बरामदे में सोए हुए प्रायः सभी लोग जाग गए थे पर सब दम साधे चारपाइयों पर ही पड़े रहे। धनपतराय बड़बड़ाता रहा, ''कहती है अपनी बेटी को लेकर जा रही हूँ। बेटी तू बाप के घर से लेकर आई थी? आज से उसे हाथ लगाएगी तो तेरे हाथ न चीर दूँ तो कहना। बड़ी बेटीवाली आई है।''

सारी रात नसीम सुबक-सुबककर रोती रही। इन्दु सहमी हुई रात-भर अपनी चारपाई पर सीधी लेटी रही। शंकर शर्मा और लतीफ ऐसे सिर-मुँह ओढ़कर पड़े रहे जैसे वे इस घटना से बिलकुल बेखबर हों। मैं सुबह तक न जाने कितनी बार सोया और कितनी बार जागा।

मगर सुबह सब लोग दबे-दबे उसी विषय को लेकर बात करते रहे। हरएक को धनपतराय से किसी न किसी तरह की शिकायत थी, इसलिए नसीम के साथ सबको सहानुभुति थी। शंकर ने मुझे बतलाया था कि थियेटर में धनपतराय इसी तरह थप्पड़ मार-मारकर अपने कलाकारों को संवाद याद कराया करता था। मगर नसीम पर उसका हाथ कल पहली बार ही उठा था।

इस घटना के बाद गोपाल को सख़्त निराशावाद ने घेर लिया। वह दूसरे दिन थोड़ी देर के लिए आया और मेरे पास बैठकर अध्यात्मवाद से लेकर साम्यवाद तक की चर्चा करता रहा। उस निराशा की बहक में वह नसीम और सकीना के विषय में न जाने क्या-क्या कह गया। अन्त में बेमतलब बकते रहने के लिए क्षमा माँगकर वह जाता हुआ उस घर में कभी न आने की कसम खा गया।

उस रात की घटना के बाद से ही नसीम का लापरवाही से घूमना बन्द हो गया। तब से वह बहुत तत्परता के साथ धनपतराय के हर आदेश का पालन करने लगी। आप उसका खाना लगाती, और जब उसकी बुलाहट होती तो शराब की बोतल लेकर चुपचाप उसके कमरे में चली जाती। उसका चेहरा भी पहले से बदलने लगा। चेहरे की सुर्खी धोने पर ऐसा लगता जैसे उसे यरकान हो रहा हो। लिपस्टिक के नीचे उसके होंठों की पपड़ियाँ छिप नहीं पातीं। वह दिन-भर कमरे में बन्द रहती और शाम को कभी-कभी बँगले से दूर टहलने चली जाती।

उस घटना के कुछ ही दिन बाद एक दिन धनपतराय ने दो बड़े-बड़े सेठों को चाय पर बुलाया। चाय की टेबल पर नसीम और सकीना मेज़बान थीं। दोनों सेठ सफ़ेद खद्दर में सजे हुए, पान चबाते हुए बैठे थे। इन्दु भड़कीली फ्राक पहने धनपतराय की गोद में बैठी हुई गुड़िया की तरह उन लोगों की तरफ़ देख रही थी। सुना गया था कि वे सेठ कम्पनी में दो लाख रुपया लगाएँगे।

बात चलते-चलते इन्दु पर आ गई और धनपतराय सेठों को उसकी मार्केट वैल्यू समझाने लगा। वह इन्दु का इस तरह बखान करने लगा जैसे एक जीवित बच्ची की नहीं, एक पुतली की बात कर रहा हो और कह रहा हो कि मैं इस पुतली को जैसे चाहूँ नचा सकता हूँ; इसे नचाने के लिए किसी तार की ज़रूरत नहीं, मेरे हाथ में तजुर्बा है, चौबीस साल का तजुर्बा। सेठ लोग इन्दु को देखते हुए सिर हिलाते रहे। धनपतराय ने उन्हें विदा करते समय शीघ्र ही एक दिन वेरायटी शो रखने और उन्हें इन्दु की कला दिखाने का वायदा किया।

सेठों की सुविधा को देखते हुए इसके लिए इतवार का दिन निश्चित हुआ। बँगले के वातावरण में उस एक दिन के लिए काफ़ी हलचल भर गई।

इन्दु पैर में घुँघरू बाँधे हुए बरामदे में घूम रही थी। मैं उसकी बाँह पकड़कर उसे बरामदे से अपने कमरे में ले आया। वह ख़ुशबू से महक रही थी। आसमानी रंग के रेशमी फ्राक के साथ उसके बालों में बँधा हुआ सुनहरा रिबन बहुत खिल रहा था। मगर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जैसे बरसने को हो रही थीं। मैंने उसे हाथों में उठा लिया और कहा, ''इन्दु, आज तो तू बिलकुल परी लग रही है!''

दो आँसू ढुलककर इन्दु के गालों पर आ गए। मैं उसे सोफे पर बिठाकर उसके पास बैठ गया। वह सोफे की बाँह पर सिर रखकर सुबकने लगी। मैंने उसे थपथपाकर कहा, ''क्या बात है पगली, रोती क्यों है?''

इन्दु ने सोफे की बाँह से सिर हटाकर मेरी छाती में मुँह छिपा लिया और उसी तरह सुबकती हुई बोली, ''आप आज मुझे दिल्ली ले चलिए। मेरी वहाँ एक सहेली है, मुझे उसके घर छोड़ आइए।''

''कौन सहेली है तेरी वहाँ?''

''कमला का घर वहाँ है। मैं कमला के घर रहूँगी। मैं यहाँ नहीं नाचूँगी।''

''क्यों, नाचने में क्या है?'' मैंने चुमकारकर उसके गालों को थपथपाया और कहा, ''तुझे इतना अच्छा तो नाचना आता है। आज इतने बड़े-बड़े लोग तेरा नाच देखने आएँगे। आज तो तुझे कितने ही इनाम मिलेंगे।''

इन्दु ने सिर उठाकर मेरी ओर देखा और बोली, ''हमने लोगों से इनाम लेने के लिए थोड़े ही नाचना सीखा है? कमला को भी नाचना आता है। पर वह तो अपने घर में ही नाचती है। मैं कोई तमाशा हूँ?''

उसके होंठ काँपने लगे और आँखें जल्दी-जल्दी झपकती रहीं।

''तू आज अकेली थोड़े ही नाचेगी।'' मैंने रूमाल से उसकी आँखें पोंछते हुए कहा, ''तेरी अम्मी भी तो नाचेगी।''

''अम्मी तो थियेटर में भी नाचती थीं,'' वह बोली, ''पता है, लोग उनको क्या-क्या कहते हैं? मैं नाचूँगी तो वही बातें मुझको भी कहेंगे।''

"नहीं, नहीं, तुझको कैसे कहेंगे? इन्दु रानी को भला कोई कुछ कह सकता है?"

"क्यों नहीं कह सकता?" वह उसी तरह काँपते हुए होंठों से बोली, "शंकर अभी-अभी शर्मा से कह रहा था कि यह लड़की बड़ी होकर अपनी माँ को भी मात करेगी।"

"शंकर, यह कह रहा था?"

"हाँ, शंकर शर्मा से कह रहा था और शर्मा उससे बोला कि हाँ, रंडी की औलाद है, रंडियों के तो ख़ून में नखरा होता है।"

और कुछ क्षण चुपचाप आँखें झपकाकर उसने पूछा, "आप बताइए, मैं रंडी हूँ?"

मैंने उसकी ठुड्डी हाथ से उठाकर उसका माथा चूम लिया और कहा, "जो ऐसी बात कहता है, उसकी अपनी ज़बान गन्दी होती है। तू ऐसी बात सुनती ही क्यों है?" और फिर मैंने रूमाल से उसकी आँखें पोंछ दीं।

उस रात काफ़ी देर तक चहल-पहल रही। खाना हो चुकने पर पहले धनपतराय ने एक गीत गाया। फिर नसीम और सकीना के गीत और नसीम का एक नाच हुआ। उसके बाद इन्दु ने बादल में चमकती हुई बिजली का नृत्य किया था। वह थिरकती हुई जब बाँहें फैलाती तो नेपथ्य में बादल का गर्जन सुनाई देता। फिर वह सहमी-सी सिमटने लगती। जब उसने वह नृत्य समाप्त किया तो बहुत देर तक तालियों का शोर सुनाई देता रहा।

मैंने मेकअप के कमरे में जाकर उसे शाबाशी दी और पूछा, "बता, तुझे इसके लिए क्या इनाम दूँ?"

"कुछ नहीं, तुम यहाँ हमारे पास बैठो, बस!" वह बोली, "हमसे कहीं कुछ ख़राब तो नहीं हुआ?"

"नहीं। क्यों?" मैंने देखा कि उसकी आँखों का भाव कुछ और-सा हो रहा है।

"हमसे रिहर्सल में थोड़ा बिगड़ गया था तो बाबूजी ने थप्पड़ मारा था।" उसने पुतलियों को फैलाकर और पलकें जल्दी-जल्दी झपकाकर उमड़ते हुए आँसुओं को वापस लौटा देने की चेष्टा की और उस चेष्टा को कामयाब बनाने के लिए हँसने लगी।

दूसरी बार वह फूलों की रानी बनकर आई। उसे सिर से पैर तक फूलों से लादा गया था। वह एक हाथ में एक फूलों से भरी हुई डाली लिये थी और दूसरे हाथ में फूलों के गजरे। उसे उस रूप में देखकर सेठ लोगों के सिर ज़रा-ज़रा हिले। धनपतराय के चेहरे पर चमक आ गई। इन्दु ने नाचना आरम्भ किया।

धीरे-धीरे तबले के साथ उसके पैरों की तेज़ी बढ़ने लगी। उसके पैर ताल के अनुसार ठीक पड़ तो रहे थे, मगर शायद उससे फूलों का बोझ सँभाला नहीं जा रहा

था, शायद उसका ध्यान कहीं और हट गया था। ...मैंने लक्षित किया कि वह दो-एक जगह बीच में उखड़ गई है! अगले ही क्षण यह निश्चय करना कठिन हो गया कि वह डगमगा रही है या नाच रही है... बस उसकी बाँहें हिल रही थीं और कदम चल रहे थे! आखिर उसके पैर उखड़ गए और फूलों की डाली और गजरे उसके हाथ से गिर गए। इन्दु गिरने को हुई लेकिन सँभल गई, मगर सँभलती-सँभलती फिसलकर गिर गई।

साज़ रुक गए। पल-भर के लिए ख़ामोशी छाई रही।

ऐसे अवसर पर धनपतराय का तजुर्बा काम आ गया। वह उसी क्षण मंच पर पहुँच गया और गिरी हुई इन्दु को बाँहों में उठाकर मुस्कुराता हुआ उपस्थित लोगों को सलाम देने लगा। साज़ बजने लगे और लोग ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ पीटने लगे, जैसे इन्दु का गिरना भी तमाशा ही था। जैसे तालियों के शोर से गुदगुदाई जाकर भी वह धनपतराय की बाँहों पर पड़ी हुई अपना अभिनय ही पूरा कर रही थी। धनपतराय बाँहें हिला-हिलाकर सलाम देता रहा और लोग तालियाँ पीट-पीटकर उसका अभिनन्दन करते रहे...।

आज उस बात को आठ दिन हो गए हैं। इन्दु की बेहोशी तो दूसरे दिन दूर हो गई थी, मगर उसका बुख़ार अभी तक नहीं उतरा। सात दिन में उसके शरीर की हड्डियाँ निकल आई हैं। बुख़ार के दबाव में जब वह आँखें उघाड़कर देखती है तो उसकी आँखें देखी नहीं जातीं। उसके सामने से हट जाने पर भी वे आँखें बार-बार सामने आकर यह सवाल पूछती हैं, ''मैं रंडी हूँ? आप बताइए, मैं रंडी हूँ?''

धनपतराय के कमरे में उसका दौर अभी तक चल रहा है... सकीना नसीम के पास से उठकर धनपतराय के कमरे में चली गई है।

उधर बड़े कमरे में शंकर और लतीफ ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहे हैं। उन्होंने शायद ताश की बाजी जीत ली है।

उर्मिल जीवन

कल नीरा सात बरस की थी, आज वह सत्रह बरस की है। दस बरस का समय एक लहर की तरह उसे साथ बहा लाया। हवा ने पानी के रुख बदल दिए, समय ने जीवन के।

दस बरस में कितना परिवर्तन हो गया। दस बरस पहले नन्हीं टाँगे जिन परिधियों को लाँघ लेती थीं, आज उनके बाहर झाँकना भी उसके लिए सम्भव नहीं। पहले वह नासमझ बालिका थी आज समझदार नवयुवती है। जीवन यही है। व्यंग्य भी यही है।

उसकी चंचलता गम्भीरता में बदल गई है। उसकी मूखरता ने ख़ामोश रहना सीख लिया है। सोचने लगती है तो वर्तमान से बहुत पीछे रह जाती है। वहाँ से लौटे तो बहुत आगे निकल जाती है। वर्तमान के केन्द्र पर विचारधारा भ्रान्त होकर घूमती है।

नीरा ने अपने को देखा। शारीरिक विकास उसके और नन्ही नीरा के अस्तित्व में एक युग का अन्तर बतलाता है। तब चाहती थी जल्दी-जल्दी बड़ा होना। आज चाहती है पहले की तरह बालिका बन जाना। शैशव की चाह पूरी हो चुकी है। आज की चाह कभी पूरी नहीं होने की। वह यह सब समझती है, फिर भी विचार वश से बाहर होकर चलते हैं।

नीरा कमरे में टहलने लगी। उसे अनुभव हो रहा था कि सारा वातावरण ही विषैला हो गया है। एक-एक चीज़ में तर्जना है। सजावट का सामान सूनेपन की विडम्बना को महत्त्व देता है। वह कमरे में अकेली थी और अकेलापन धीरे-धीरे विश्वमय होता जा रहा था।

कल रात को उसका विवाह हुआ था। वह रात, जो जीवन की मधुरतम कल्पना थी, एक विभीषिका बनकर छाई रही। सुहागरात आज होगी। इस समय संध्या है। संध्या के बाद तारे निकलेंगे। फिर रात आ जाएगी।

उसे लगा जैसे जीवन-तत्त्व ही निःशेष हो रहा है। आज की रात जीवन में घातक कटुता घोल देगी। सम्भव हो, तो वह रात-दिन के मनकों से बनी जीवन-माला का यह काला मनका तोड़कर फेंक दे। मगर जानती है एक मनका तोड़ने से माला ही टूट जाएगी। उसमें इतना साहस नहीं है...।

पलंग पर बैठकर नीरा ने चारों ओर देखा। दस बरस में आँखें इस घर की दीवारों से परिचित हो गई हैं। रंग कई बार बदले गए। पलंग से चादरें भी उतरती रहीं। उसकी आशा जीजी घर की रानी थीं। एक महीना पहले जीजी ने भी आँखें मूँद लीं और उनके स्थान पर आज स्वयं वहाँ आ गई है।

देह काँप उठी। दस बरस पहले एक अपरिचित व्यक्ति को जीजा के रूप में देखा था। आज से उसी को पति के रूप में पहचानना है और जीजा का वह प्यार-भरा सम्बोधन, "नीरो रानी!"

'नीरो रानी' का आज से तात्पर्य बदल जाएगा। नया अर्थ होगा और नई ही व्याख्या होगी। उसके साथ-साथ...

हृदय भारी होता गया। विवाह हो चुका। आग की साक्षी में वाग्दान करके माँ ने आँसू पोंछ लिए। घर का गाछ जला तो उसकी राख में नया अंकुर रोप दिया गया। पानी के कुछ छींटों में राख सदा के लिए दब गई।

बाहर आकाश फैला है। शून्य! शून्य पर अन्तर्वेदना की छाप नहीं पड़ती। शैशव के चित्र कहीं इस आकाश में अंकित होते, तो उन पर काली तूलिका से दाग कर देती।

चररमरर बैलगाड़ी सड़क पर चल रही थी। नीरा को बहुत पुरानी बात याद आई। पिता ने कभी कहा था, "जीवन एक बैलगाड़ी है। एक हिचकोले से इसके तख्ते हिल जाते हैं। एक कील टूट जाए तो पहिए निकल जाते हैं।" तब केवल सुना था। आज ठीक समझ रही है। पिता की मृत्यु हुई। कील टूट गई, पहिए निकल गए, गाड़ी बैठ गई।

नन्ही कृष्णा ने उसका दुपट्टा खींचा। नीरा एकदम सचेत हुई। पल-भर कृष्णा की भोली आँखों को देखती रही। फिर गोदी में लेकर उसका मुँह निहारा। उसके बालों को सहलाया। फिर गोदी से उतार दिया।

कल तक वह कृष्णा की मौसी थी। आज से उसकी सौतेली माँ है।

"मौछी," कृष्णा ने कहा, "तू माँ को लेकल क्यों नईं आई?"

नीरा मन-ही-मन रो दी। कृष्णा आज भी अपनी माँ की प्रतीक्षा करती है। क्या वह कभी उसे माँ के रूप में स्वीकार करेगी? 'नीरो रानी' का अर्थ बदल सकता है, पर कृष्णा का कोश बहुत छोटा है। वह अपने शब्दों का एक ही अर्थ जानती है। वह उसे कहती है, "मौछी"।

कृष्णा के लिए वह मौसी ही रहेगी। उसका शैशव जानता है—लहू और पानी का विवेक।

बच्ची के प्रश्न का उत्तर न देकर नीरा ने कहा, "जा उधर जाकर खेल मुन्नी! मीरा वहाँ अकेली होगी।"

"नईं, मौछी, पैले बता माँ कल बी आएगी कि नईं?"

नीरा ने उसे अपने साथ सटा लिया। स्वर को सहेजकर कहा, "तू मीरा को जिस दिन नहीं मारेगी, उसी दिन आएगी, अच्छा! जा, मीरा के साथ खेल बाहर।"

कृष्णा सन्तुष्ट हो गई। नीरा के गले में बाँहें डालकर नाचने लगी। फिर उसे छोड़कर भाग गई।

नीरा ने सामने देखा। आँखें दीवार पर लगे हुए चित्र पर अटक गईं। कसाई मरी हुई बकरी को भून रहा है। हरी घास के पास बँधी हुई दूसरी बकरी घास में मुँह मार रही है। कसाई देख रहा है। घास की ओट में वह छुरी है जिस पर अब भी लहू के दाग हैं।

नीरा की आँखों के आगे श्मशान का वह दृश्य आया, जब आशा जीजी की चिता से चिनगारियाँ निकली थीं। चिनगारियों की ओट में कितना रोई थी वह? कितना सिसके थे वे—उसके जीजा?

और महीना-भर बाद?

वैसी ही आग के चारों ओर जीजा ने उसके साथ फेरे लिए। उसे लगा जैसे बहन चिता के चारों ओर घूम रही है। चटकती हुई चिनगारियाँ और बोले जा रहे वेद-मन्त्र—दोनों एक-से ही थे। विवाह हो गया। बिना सजधज और चहल-पहल के। समय के संकेत ने उसे सौभाग्यवती बना दिया। लाल चूड़ियाँ और लाल सिन्दूर...।

नीरा ने फिर देखा। छुरी पर लहू गीला-सा लगता था। कसाई, आग, बकरी और घास—यह एक परम्परा है। वह भी इसी परम्परा को निबाह रही है। उसने आँखें मूँदने की चेष्टा की। मन का भारीपन धीरे-धीरे पलकों पर फैल गया।

नन्ही-नन्ही नीरा। छोटा-सा घर। माता और पिता। साधारण चहल-पहल। बाजे-बारात और जीजी का विवाह। किनारीदार कपड़े पहनकर जीजी कैसे बदल गई? मिठाइयाँ और बताशे। केले के खम्भे, रोली और हवनकुंड। सेहरा बाँधे एक अपरिचित व्यक्ति। सहज आत्मीयता। माँ ने कहा, "नीरो, तेरे जीजा, जा जीजा के पास।"

जीजा ने बाँहें फैलाईं। कहा, "आ, नीरो रानी, तुझे खिलौना देंगे, मेले ले जाएँगे।" नीरा पास नहीं गई। दूर भाग गई।

रोती हुई जीजी डोली में बैठीं। माँ ने कच्ची लस्सी में पैर डाले। फिर जीजी लौटकर आई—गुड़िया जैसे लाल होंठ और झाँकियों की सीता जैसे कपड़े। नीरा हँसी और तालियाँ पीटने लगी।

फिर वही अपरिचित व्यक्ति...जीजा। माँ ने कहा, "जा पूछ, दूध कब पिएँगे?"

नीरा पास गई, सिमटी और संकुचित-सी। जीजा ने उसे दोनों बाँहों से पकड़ लिया और खींचा।

दो मोटे-मोटे होंठ, नाक के लम्बे बाल और विचित्र-सी गन्ध। नीरा हिचकिचाई, पीछे हटी और फिर उसने उस व्यक्ति के गाल पर एक थप्पड़ लगा दिया...।

चौंककर नीरा ने आँखें खोलीं। वही शून्य आकाश! दूर-दूर तक कालिमा में ओझल होते हुए धरती के चित्र। शैशव कहाँ है? पीछे, बहुत पीछे। बीच में दस बरस की दीवार है।

झींगुर बोलने लगे। अभी रात होनेवाली है। गोधूलि के गहर पृष्ठ-पट पर एक तारा झिलमिलाने लगा।

नीरा की आँखों से दो आँसू टपक पड़े। उसने झट से आँखें पोंछ लीं। यह कैसा अपशकुन है? आज तो सुहागरात है। पहले इसी कमरे में जीजी की सुहागरात हुई थी। और वह साथ का कमरा? उस कमरे में जीजी के प्राण निकले थे। वहाँ का वातावरण अब भी जैसे कराह रहा है। अव्यक्त और मद्धम-सा स्वर—"नीरा! ओ माँ! हाय! ओ माँ!"

विचारों को उसने झटक दिया। उठकर फिर टहलने लगी। फूलदान के फूल ठीक किए। सिंगार-मेज़ के पास जाकर शीशे में चेहरा देखा। बाँहों में मांसलता है और गालों पर गुलाबीपन...

जीजी के गाल पिचक गए थे। बाँहें सूखकर कैसी हो गई थीं—पतली हड्डियों जैसी? रूखे-से मुँह में दाँत कैसे लगते थे? बड़ी-बड़ी आँखें कितनी डरावनी थीं? और वे उसे देखकर अन्तिम दिन भी कहती रहीं, 'नीरा' तेरा ब्याह तो देख लेती। बाबूजी की तरह मैं भी तेरे ब्याह से पहले ही...

नीरा की आत्मा चीख़ उठी, "देखो जीजी, देखो! तुम्हारी नीरा का ब्याह हो गया! आज उसकी सुहागरात है! देखो..."

और उस पर शिथिलता छा गई। निढाल-सी वह पलंग पर बैठ रही। फिर लेट गई। छत की कड़ियों में मकड़ी का जाला था। जाला धीरे-धीरे फैलने लगा। फैलकर इतना बड़ा हो गया कि नीरा उसमें उलझ गई—बिलकुल अवसन्न और निश्चेष्ट...

पृथ्वी की धुँधली रेखाएँ आकाश की कालिमा में खो गईं। तारे निकल आए। रात हो गई।

गरम साँस के स्पर्श ने नीरा की पलकों को खोल दिया। दो उत्सुक होंठ उसके होंठों के बहुत निकट आ रहे थे। नीरा सहमी और सिमटने लगी। दो हाथों ने उसकी बाँहों को पकड़ लिया। बाहर अन्धकार था। उसे मन में लगा कि आकाश ने भी आँखें मूँद ली हैं...

दो मोटे-मोटे होंठ, नाक के लम्बे बाल और विचित्र-सी गन्ध! निकट और निकट! आँखों के दो गहरे गड्ढे! नीरा हिचकिचाई। चाहा बाँहें झटक दे और ज़ोर से तमाचा लगाए, जिससे सारा वातावरण झन्ना उठे...

मगर हाथ नहीं उठ सका। आज वह नासमझ बालिका नहीं, समझदार युवती है।

एक आलोचना

चाय गरम है। धुआँ उठ रहा है। हलका-हलका और लच्छेदार। मेरी प्याली पर नटराज नाच रहा है। धुआँ उलझ गया। नटराज विलीन हो गया। प्याली से नाग-कन्या निकली। वह गई। वह एक नेता निकला। हाथ हिलाकर भाषण देने लगा। वह भी गया।

धुआँ बल खा रहा है। हवा में आकार बन रहे हैं—धुएँ का पहाड़, धुएँ का वृक्ष, धुएँ का बादल।

मेरे सामने नाश्ता रखा है। हाथ में भाई कैलाश की पुस्तक है। पुस्तक का शीर्षक है—'संघर्ष के सात वर्ष'।

पुस्तक में पहले बीस पृष्ठ की भूमिका है। उसके आगे सात अध्याय हैं। पहले अध्याय का शीर्षक है—'मेरी गरीबी।'

रामा बर्तन मलता है, वह गरीब है। रूपा पानी भरती है, दाल पीसती है, उपले थापती है, वह गरीब है। उसका नन्हा बिज्जू नंग-धड़ंग कीचड़ में लोटता है, गइया के बदन से बदन रगड़ता है, पाँचों उँगलियाँ मुँह में चूसता हुआ अकालनृत्य नाचता है। वह गरीब है।

मगर गरीबी के दावेदार भाई कैलाश भी हैं जो रेशमी खादी का कुर्ता पहनकर अमरीकन कट के सुनहरे चश्मे के पीछे से झाँकते हैं, अनन्नास के रस से अपने दिमाग़ को तर रखते हैं, और मोटे गद्दे पर बैठकर पार्कर 51 के कलम से लिखते हैं—'मेरी गरीबी'।

यह ठीक है, भाई कैलाश कभी गरीब थे। पर वह पुरानी बात है। आजकल उनके जीवन का विकास-खंड चल रहा है। भाई कैलाश शब्दों पर व्यापार करते हैं। नकद माल लेते हैं, आकाश-चित्र बेचते हैं।

मेरी चाय की प्याली से धुआँ कैनिबाल बनकर निकल रहा है। कैनिबाल एक पुरुष में बदल रहा है। मुझे भाई कैलाश का वह रूप याद आ रहा है जिस रूप में मैं उन्हें सात साल पहले जानता था।

एक धुँधली संध्या थी। लगता था रात समय से पहले उतर आएगी। कैलाश अपनी पत्नी तारा का शवदाह करके थोड़ी ही देर पहले श्मशान से लौटे थे। उनके साँवले मुख पर पीड़ा, उग्रता और जलन के भाव थे।

मैं पास बैठा लालटेन की रोशनी में दीवार पर बनती छायाओं को देख रहा था। मटके की छाया का असुर बन रहा था, छाते की छाया का अजगर। खिड़की के किवाड़ की छाया वामन के चरण की तरह तिरछी ऊपर की ओर जा रही थी। सामने की दीवार को एक बड़े गोलक ने घेर रखा था। यह मेरे सिर की छाया थी।

मुझे तारा की मृत्यु की सूचना अचानक ही मिली थी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था मैं उनसे किस तरह मृत्यु के सम्बन्ध में कोई बात पूछूँ। बहुत देर तक ख़ामोश बैठे रहने के बाद मैंने किसी तरह पूछा, "भाई साहब, भाभी को हुआ क्या था जो इस तरह अचानक...?"

उनकी आँखें कुछ इस तरह से हिलीं जैसे उनका मन आँखों में से झाँककर कहना चाहता हो कि यही सवाल तो मैं भी पूछता हूँ।

उनकी आँखों में यह भाव तारे की एक झिलमिल से अधिक नहीं रहा। उनकी मुद्रा बदल गई और उन्होंने घायल स्वर में कहा, "होना क्या था शैलेन। जीनेवाली के प्राण निकल गए, मौत हो गई।"

"फिर भी, रोग क्या था?"

"रोग यह था कि वह मनुष्य थी। उसका शरीर रक्त, मांस और मेदा से बना था। उसे भूख लगती थी।"

मैं चुप हो गया। कैलाश भी कुछ देर चुप रहे। फिर लालटेन की लौ की ओर देखते हुए अचानक उन्होंने पूछा, "शैलेन, तुमने जंगल की आग देखी है?"

"नहीं," मैंने उत्तर दिया।

"एक चिनगारी, अगर वह ठीक जगह जा लगे, तो मीलों में फैले जंगल को जला देती है। पुराने सूखे जटाधारी पेड़ देखते-देखते कोयला हो जाते हैं।"

मैंने उनका ख़ामोश समर्थन किया। उन्होंने नाख़ून से फटे लिहाफ के अन्दर से रुई निकाल ली, और उसका गोला बनाते हुए बोले, "हमारा समाज भी एक पुराना जंगल है। इसके जलने के दिन आ गए हैं, पर आग की चिनगारी अभी ठीक जगह नहीं लग रही। मुझे खेद उन लोगों के लिए है जो कच्ची लताओं की तरह पुराने पेड़ों से लिपटे हैं। वे डरपोक, कायर और नपुंसक सबसे पहले स्वाहा होंगे।"

उधर चारपाई पर नन्हा लाली रो उठा जिसे तारा पीछे छोड़ गई थी। उसे भूख लग आई थी। माँ की बीमारी में भी उसे शायद ठीक समय पर दूध नहीं मिला था

जिससे उसका शरीर सूखकर हड्डियों की एक मूठ रह गया था। मांस एक हलके छिलके जितना ही था। लाली की आँखें तारा की आँखों से मिलती थीं। बाक़ी चेहरा कैलाश पर था। कैलाश उठे और उसे गोदी में लेकर पुचकारने लगे। मैंने भी पास जाकर बच्चे के सिर पर हाथ फेरा। मुझे उसके बाल खरगोश की तरह ठंडे और मुलायम लगे।

'संघर्ष के सात वर्ष' की कहानी तारा की मौत के दिन से ही शुरू होती है। इन सात सालों में कैलाश अब भाई कैलाश बन गए हैं। उन्होंने चार पुस्तकें पहले भी लिखी हैं। 'नई दुनिया और नई चेतना', 'हमारी समस्याएँ', 'धरती रो रही है' और 'वे जो इंसान नहीं'। पहली पुस्तक के बाद ही स्थानीय महापुरुषों ने, अर्थात् जूते, कपड़े, लोहे और लकड़ी के उन व्यापारियों ने जिन्हें राष्ट्र की चिन्ता थी, कैलाश के नए ख़ून को अपने मंच पर जगह दे दी थी। शेष पुस्तकें उन्होंने उसी मंच की प्रेरणा से लिखी थीं। उस मंच पर रहकर उन्होंने जल्दी ही सीख लिया था कि इस दुनिया का एक ही देवता है और वह है अवसर; और उस देवता की उपासना का एक ही ढंग है—गीत गाना, फूल चढ़ाना और देवता के कन्धों पर सवार होकर अपनी ही आरती उतारना।

'संघर्ष के सात वर्ष' भाई कैलाश की पाँचवीं पुस्तक है। इस पुस्तक को प्रकाशित हुए दो ही महीने हुए हैं। संघर्ष के सातवें वर्ष में भाई कैलाश के जीवन में कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। पहली घटना थी, उनकी रेणु से मुलाक़ात। यह उन दिनों की बात है जिन दिनों देश के आर्थिक संकट का हल निकालने के लिए सरकार ने अर्थशास्त्र के पंडितों का सम्मेलन बुलाया था।

एक जगमगाते पंडाल में भाई कैलाश ने आर्थिक संकट पर भाषण दिया। बोलकर वे मंच से उतरे ही थे कि एक युवती उनके पास आई, और उनसे कापी में हस्ताक्षर देने के लिए कहा। फिर वह आर्थिक संकट पर बातचीत करती उन्हें अपने साथ एक रेस्तराँ में ले गई। रेस्तराँ में भाई कैलाश की पनपती कीर्ति ने उसे कुछ समझाया। सुन्दरी रेणु के सौन्दर्य ने कुछ समझा। इससे दोनों में प्रेम हो गया। कुछ दिन बाद महाशय कैलाश ने रेणु से विवाह कर लिया।

रेणु की सुन्दरता से मिलकर महाशय कैलाश की योग्यता और भी निखर गई। सम्भ्रान्त मंडलियों में इस जोड़ी की शिष्टता और प्रतिभा का बखान होने लगा। जल्दी ही भाई कैलाश को एक ख़ास मिशन पर विदेश भेजने के लिए चुन लिया गया।

विदेश जाने से पहले भाई कैलाश ने अपने परिचितों और मित्रों को चाय पर बुलाया। मुझे इस अवसर पर दोहरा निमन्त्रण मिला। एक तो व्यक्ति रूप में, और दूसरे 'भारतीय जीवन' के सम्पादक के रूप में।

चाय पर कोई सौ के लगभग व्यक्ति बुलाए गए थे। साज़-सामान और वेशभूषा में खादी और नाइलन का सुन्दर सम्मिश्रण था जो बतला रहा था कि उन सब लोगों की मंज़िल एक है, और खादी और नाइलन उस तक पहुँचने के दो अलग-अलग रास्ते हैं।

वहाँ काफ़ी चहल-पहल थी। रेणु अपने हाथों से लोगों की प्यालियाँ भर रही थी। ग्रामोफ़ोन पर रिकार्ड बजाए जा रहे थे। कैलाश दूधिया खादी पहने थे और रेणु दूधिया ज़्यॉर्जेट। प्रेस के फोटोग्राफर ने दोनों को पोज़ देकर उनकी फोटो उतारी। एक मित्र ने कविता पढ़नी शुरू की जिसके तुकान्त थे–'प्यार हो,' 'हार हो,' और 'अधिकार हो।'।

उसी समय कैलाश मेरे पास आए और मेरे कन्धे को छूकर बोले, ''क्या सोच रहे हो?''

''सोच कुछ नहीं रहा, केवल देख रहा हूँ,'' मैंने कहा।

''दो मिनट के लिए ज़रा साथ के कमरे में चलो।''

और कैलाश, मैं, और नारंगी रस के दो गिलास साथ के कमरे में चले गए। वहाँ अपनी घूमनेवाली कुर्सी पर बैठकर उन्होंने पूछा, ''मेरी नई पुस्तक देखी है?''

''नहीं। कौन-सी लिखी है?'' मैंने पूछा।

''संघर्ष के सात वर्ष।''

और पुस्तक की एक प्रति शेल्फ़ से निकालकर उन्होंने मेरे हाथ में दे दी। फिर बोले, ''यह पुस्तक मेरे सात साल के अनुभवों का निचोड़ है।'' कहकर उन्होंने नारंगी रस का एक घूँट भरा और बोले, ''तुमने पिछले महीने की 'आधुनिक आलोचना' देखी है?''

''नहीं,'' मैंने कहा।

''उसमें इसकी आलोचना निकली है। उसने तो इसे एक हृदय की आत्मकथा कहा है।''

''पुस्तक देखने में बहुत आकर्षक लगती है,'' मैंने कवर के छायापुरुष पर हाथ फेरते हुए कहा।

कैलाश 'आधुनिक आलोचना' का वह अंक ढूँढ़ने लगे। मैंने पुस्तक का कवर पलटा। सामने लिखा देखा–अपनी ही आत्मा प्रिय रेणु को।

पुस्तक के साथ-साथ संघर्ष के सात वर्ष भी समर्पित–मेरे मन ने कहा।

कैलाश को 'आधुनिक आलोचना' का अंक नहीं मिला। वे इलायची छीलते हुए बोले, ''संघर्ष की यह प्रति तुम्हारे लिए है। हो सके तो इस पर अपनी पत्रिका में कुछ पंक्तियाँ लिख देना और यदि झंझट न करना हो तो मैं ही लिखवाकर भेज दूँगा।''

मैंने आँख भरकर उनकी ओर देखा। ढूँढ़ना चाहा कि वह आग कहाँ है जो कभी जंगल जलाने की बात करती थी। मुझे लगा कि वह आग उनके पेट में चली गई है। उस आग में ऊपर से आहुतियाँ दी जा रही हैं और महाविश्वमेध यज्ञ हो रहा है।

"आलोचना मैं लिख दूँगा," मैंने पुस्तक के पन्ने पलटते हुए कहा। उन्होंने इलायची आगे की। मैंने मना कर दिया।

वे दूसरे शेल्फ़ की ओर जाकर 'आधुनिक आलोचना' का अंक ढूँढ़ने लगे। मैं पुस्तक की भूमिका पढ़ने लगा। शुरू-शुरू की पंक्तियाँ थीं—

'जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो सबसे पहले मुझे वह घर याद आता है जिसकी छत में चूहों ने सूराख कर रखे थे, जिसकी खिड़कियों के किवाड़ टूटे हुए थे, और जिसकी दरारों में से बिच्छू और केंचुए सिर निकाला करते थे...।'

मुझे पल-भर के लिए लगा कि मैं उसी घर में हूँ, तारा आज ही मरी है, नन्हा लाली दूध के लिए रो रहा है और मेरी उँगलियाँ खरगोश के नरम-नरम बालों में से गुज़र रही हैं।

"लाली आजकल यहीं है?" मैंने सहसा पुस्तक पर से आँखें उठाकर पूछ लिया।

"तुम्हें लाली का पता नहीं?" उन्होंने ऐसे ठंडे लहज़े से कहा कि मुझे मौत की याद हो आई। मैंने प्रश्न-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"उसे गुज़रे साल हो गया।" उन्होंने कुछ ऐसा भाव बनाया कि यह संसार ही नश्वर है, इस पर आदमी का क्या वश है?

मेरे हाथों में से खरगोश निकल गया।

'संघर्ष के सात वर्ष'—वह एक हृदय की आत्मकथा मेरे हाथों में भारी हो गई।

"हुआ क्या था, जो इतनी-सी उम्र में...?"

ठीक ऐसा ही प्रश्न सात साल पहले भी तारा की मृत्यु के दिन मैंने उनसे पूछा था। उस दिन उन्होंने जो उत्तर दिया था वह मुझे याद था। आज भी याद है। मगर उस स[illegible] मेरा सवाल सुनकर वे कुछ देर ख़ामोश रहे। टेबल लैंप के हरे शेड में मुझे उनका चेहरा तराशे हुए पत्थर के बुत-जैसा लगा। आखिर उनके होंठ हिले और उनमें से ठंडे-ठंडे शब्द निकले, "ईश्वर की इच्छा ही समझो। और क्या कारण कह सकते हैं?"

मेरी आँखें नारंगी-रस के गिलास से टकराकर लौट आईं। ध्यान आया कि नारंगी का रस अन्दर जाकर लहू बनाता है। लहू आदमी की रग-रग में दौड़ता है। जो उनके बुतनुमा शरीर के अन्दर दौड़ रहा है, वह यही रस है। जो बोल रहा है, वह यही पानी है।

उसी समय दरवाज़ा खुला और रेणु ने अन्दर झाँककर उनसे कहा, "मेहता साहब आपको बाहर बुला रहे हैं।"

और साथ ही बाहर की बहुत-सी आवाज़ें एकसाथ उस कमरे में चली आईं। उधर कुछ लड़कियाँ खिलखिला रही थीं, एक कुत्ता भौंक रहा था, दो युवक बहस कर रहे थे, और ग्रामोफ़ोन पर रिकार्ड चल रहा था–

न हाथ रोक साकिया
पिलाए जा, पिलाए जा
अभी तो मैं जवान हूँ,
अभी तो मैं जवान हूँ।

'संघर्ष के सात वर्ष' में कुल तीन सौ पचीस पृष्ठ हैं। हर पृष्ठ पर पंक्तियाँ हैं: हर पंक्ति में शब्द हैं। और शब्दों के पीछे एक स्त्री रो रही है, एक बच्चा सिसक रहा है, और एक पुरुष गुनगुना रहा है–

अभी तो मैं जवान हूँ,
अभी तो मैं जवान हूँ।

लक्ष्यहीन

आधी रात जा चुकी थी। केसरी अभी जाग रहा था। चाहता था सो जाए, पर नींद आए तब न। हारकर उसने टेबल लैम्प जला लिया। फिर तकिए के सहारे बैठकर बाहर की ओर देखने लगा।

काली अँधेरी रात। सोते या जागते इसे बिता देना है। फिर सफ़ेद दिन निकलेगा। हँसी या खेद में उसे भी काट देना है। फिर ऐसी ही रात आएगी। वह भी सोकर या जागकर...

ऐसा ही जीवन है। युगों से एक ही तरह सूर्योदय होता है और एक ही तरह सूर्यास्त। जीना-मरना सब एक-सा चलता है। इस सबकी आवश्यकता ही क्या है?

रोशनी बुरी लगने लगी। टेबल लैम्प बुझा दिया। बेचैनी दूर नहीं हुई। नींद लाने की चेष्टा की, तो दिन की बातें मस्तिष्क में उभरने लगीं। पलकें मूँद लीं, तो आँखें झाँककर अन्दर की ओर देखने लगीं।

बात छोटी-सी थी, पर बिलकुल छोटी नहीं थी। कितनी ही बातें पहले हो चुकी हैं। कौन जानता है, कितनी बातें अभी और होनी हैं? कब तक जीवन की ऐसी धारा चलती रहेगी?

पहले वह मंजुला को नहीं जानता था। आज ही दूर से वह दिखाई दी, और आज ही यह लम्बी काली छाया हृदय पर आ पड़ी।

यूनिवर्सिटी के मैदान में लड़कियों के खेल हो रहे थे। दर्शकों में वह सतीश और खन्ना के बीच में बैठा था। सतीश से परिचय खन्ना ने कराया था। कुछ ही मिनटों में वह काफ़ी घनिष्ठता से बातें करने लगा था। सतीश के बड़े-बड़े बाल बार-बार फिसलते थे और छोटी-छोटी आँखें लगातार घूमती थीं।

"चन्द्रहास के क्या माने हैं?" सतीश ने पूछा।

"चाँद की तरह हँसनेवाला," उसने उत्तर दिया।

"तब तो सचमुच ही तुम्हारे बँगले का बहुत अच्छा नाम है। ऐसा ही कोई नाम मुझे बताओ।"

उसी समय उसने दूर आधे ब्लाउज और अधकटे बालोंवाली प्रौढ़ा स्त्री को देखा, जो कुर्सियाँ लाँघकर उसी की ओर आ रही थी। अपने ढले हुए यौवन को सँभालने का उसका उत्साह देखकर हँसी भी आ सकती थी और सहानुभूति भी हो सकती थी।

"कोई नाम नहीं बता रहे?" सतीश ने फिर उससे पूछा।

स्त्री निकट आती गई। सतीश के पास आकर उसने उसे कन्धे से हिलाया और हँस पड़ी। सतीश ने पहचाना और अभिवादन किया। स्त्री ने पूछा, "मंजुला से नहीं मिले?"

"नहीं, अभी नहीं मिला," सतीश ने कहा।

"वह चाटी-रेस में भाग ले रही है," स्त्री ने अपना कन्धा खुजलाते हुए कहा, "मुझे तो विश्वास है, इस बार अवश्य जीत लेगी। पिछले साल दूसरी रही थी।"

वह बात तो सतीश से कर रही थी, और बार-बार देख उनकी ओर रही थी। उसकी अधेड़ शोखी में भी एक तरह का रस था। वह एक-दो बार ऐसा अनुभव करके रह गया जैसे कोई फ़ीता लेकर उसे इंचों के हिसाब से नाप रहा हो।

चाटी-रेस के आरम्भ की सूचना दी गई। स्त्री वहीं उसके पास रुकी रही। भाग लेनेवाली बीस लड़कियाँ थीं। वे पंक्ति में खड़ी हो गईं। सीटी के साथ उन्होंने पैर बढ़ाए। सभी ओर हलचल हुई। साँवले रंग की लम्बी लड़की उनमें आगे निकलने लगी।

"निकल आई मंजुल!" स्त्री ने सतीश के कन्धे को झकझोरकर कहा। फिर उत्तेजित स्वर में बोली, "शाबाश, मंजुल! शाबाश!"

मंजुला आगे निकलती आई। दौड़ उसने जीत ली। स्त्री प्रसन्नता के आवेश में सतीश को खींचकर साथ ले गई।

तब वह चारों ओर की भीड़ पर दृष्टि घुमाने लगा। पुरुष थे, जिनमें व्यक्तित्वहीन गम्भीरता थी। स्त्रियाँ थीं, जिनमें सौन्दर्यहीन प्रदर्शन था। कटे-छटे शब्द। लिपी-पुती सजीवता।

थोड़ी देर में सतीश लौटकर आया और रुचिपूर्ण बात करने लगा। उसकी टाई हाथ में लेकर उसने रंग की प्रशंसा की और दाम भी पूछे। सतीश के कृत्रिम लहजे से प्रकट था कि वह कोई विशेष बात छेड़ने के लिए मानसिक भूमिका तैयार कर रहा है। अनुमान ठीक था। सतीश ने आखिर पुतलियाँ स्थिर करके कहा, "मंजुला बहुत ही चुस्त लड़की है; तुम्हारा क्या ख़याल है?"

वह चुप रहा। मंजुला को दौड़ते देखकर जो विचार हृदय में आया था, उसे उसने खुलते होंठों के नीचे दबाए रखा।

"अभी-अभी जो यहाँ मुझसे बात कर रही थी, वह उसकी ममी है," सतीश ने फिर कहा और एक तरह की मुस्कुराहट खींचकर बोला, "वह तुम्हारे विषय में पूछ रही थी।"

"क्यों?" उसने अनायास कहा। वह स्त्री सुरमे से लदी आँखों की कालिमा बार-बार जो उस पर छिटकाती रही थी, उसका अर्थ अब उसकी समझ में आने लगा।

सतीश यथासम्भव स्वाभाविकता के साथ बोला, "कारण तुम जान लोगे। मैंने तुम्हारा परिचय दे दिया है, पता भी बता दिया है और सिफारिश भी कर दी है।"

"तो कल मैं अपने प्रमाणपत्र लेता आऊँगा, वे भी उन्हें दिखा देना," उसने व्यंग्य किया। साथ ही उसकी कल्पना में वह चित्र आया–सिर पर मटका रखे लम्बी-लम्बी टाँगों से शुतुरमुर्ग की तरह दौड़ती मंजुला!

सतीश ने उसका व्यंग्य या तो छुआ नहीं या पी लिया। अपनी बात जारी रखते हुए उसने खन्ना से पूछा, "क्यों, खन्ना, मंजुला के विषय में तुम्हारी क्या राय है?"

"बहुत अच्छी लड़की है!" खन्ना ने दूर रहने के ढंग से कहा।

सतीश की आँखें फिर उससे आ मिलीं। वह मुस्कुराकर बोला, "लड़की अच्छी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। दूर से लगता है कि उसके शरीर में हर तरह के विटामिन हैं।"

सतीश की आँखों का घूमना बन्द हो गया। वह नाख़ून से नाख़ून को छीलने लगा। अन्दर से उबलते शब्दों को थोड़ा चबाकर बोला, "इस तरह की बातें करना भद्र समाज का व्यवहार नहीं, मिस्टर केसरी।"

एक साधारण व्यंग्य से इतना छिल जाने का कोई कारण नहीं था। उसने सतीश की ओर बिना देखे कहा, "यह सम्भव है। मुझे छुरी-काँटे से खाना खाते अभी बहुत दिन नहीं हुए।"

यहीं तक विनोद रहा। इसके बाद बातें गम्भीर हो गईं। केवल सतीश ने ही नहीं खन्ना ने भी उसका तिरस्कार किया। यहाँ तक कहा कि वह किसी भली लड़की से परिचय कराए जाने का अधिकारी नहीं।

खिड़की से हवा का झोंका आया। केसरी ने करवट बदली। अन्दर-बाहर अन्धकार था। रात ख़ामोश थी। झींगुर बोल रहे थे।

लम्बा जीवन काटना है। आज की बात ही एक बात नहीं। मनोहर, महेन्द्र, पूर्णिमा और राधा–इन सबकी बदली हुई मुद्राएँ सामने आती हैं। यूँ लांछन और तिरस्कार सहकर जिए जाना भी क्या सम्भव है? यदि नहीं, तो उसे सचमुच बदलना चाहिए।

वह पलंग पर सीधा होकर बैठ गया।

धुएँ का गोला छोटे से बड़ा हुआ, फिर बिखर गया और विलीन हो गया। केसरी ने मुँह से दूसरा गोला छोड़ा। वह भी कुछ पल लचकता रहा, फिर ओझल हो गया। घंटे-भर से वह ऐसे ही गोले बना रहा था। उसके विचार गोलों के साथ-ही-साथ बन रहे थे और साथ-ही-साथ बिखरते जा रहे थे।

रात को वह देर से सोया था, और सवेरे देर से जागा था। खाना खाने के बाद वह सोफे पर लेट गया था। उसके मन में संघर्ष चल रहा था।

वह क्या है? कैसा है? क्यों ऐसा है? ऐसा तो नहीं है। फिर कैसा है?

और जैसे संध्या का बादल कभी अप्सरा और कभी दैत्य बनकर दिखाई देता है, वैसे ही वह बदलते हुए रूपों में अपने-आपको देख रहा था। समझने के लिए रुकता था, तो रूप और बदल जाता था, फिर बदल जाता था, फिर बदल जाता था, फिर बदल जाता था।

कबीरा आकर दो चिट्ठियाँ दे गया। चिट्ठियाँ लेकर उसने ज़ेब में रख लीं और सिगरेट पीता रहा। तीन बजे, चार बजे, साढ़े चार बजे। साढ़े चार बजे कबीरा ने चाय लाकर रखी। सिगरेट छोड़कर वह चाय पीने लगा। एक प्याला, फिर दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा। शीशे में देखा बाल बिगड़ रहे हैं। उठकर बाल ठीक करने लगा।

रात को एक पुस्तक निकालकर मेज़ पर रखी थी। वह उसे पढ़ने के लिए सोफे पर ले आया। पहले पृष्ठ पर केवल दो ही पंक्तियाँ थीं–

'जीना एक कला है। इस बात को जाननेवाला एक सफल कलाकार है।'

पन्ने पलटते-पलटते पुस्तक हाथ से फिसलकर गिर पड़ी। वह उसे उठाने के लिए झुका। ज़ेब में से दो चिट्ठियाँ नीचे आ रहीं। तो ये चिट्ठियाँ अभी पढ़ी ही नहीं।

एक तो निमन्त्रण का कार्ड था। छपी हुई पंक्तियों के नीचे हाथ से लिखी गई एक पंक्ति भी थी। आज 'सोनाकुटी' में रात्रिभोज है। सरोज ने आने का अनुरोध किया है।

सरोज का हँसमुख चेहरा आँखों के सामने आ गया। वह कॉलेज में उसकी सहपाठिनी थी। उसकी पुस्तकों पर गोल-गोल अक्षरों में हस्ताक्षर किया करती थी। विवाह के बाद वह पति के साथ लन्दन चली गई थी। आज वहाँ से लौटकर रात्रिभोज दे रही है।

उसने दूसरा पत्र खोला। पढ़कर आश्चर्य हुआ। अस्थिरता के क्षण में कभी कोयले की खानों के प्रबन्धक-पद के लिए प्रार्थना पत्र भेजा था। कलकत्ते से उसे नियुक्ति पत्र आया था। लिखा था, 'आप आगामी मास के प्रथम सप्ताह में कलकत्ते आकर अधिकार ग्रहण कर सकते हैं।''

••

'सोनाकुटी' को बाहर से सजाया जा रहा था। केसरी वहाँ पहुँचा, तो बिखरी हुई झंडियों का ढेर उसके लिए हटाया गया। ज़मीन पर लेटे रंगीन 'स्वागतम्' के ऊपर से कूदकर उसने सरोज को देखा, जो बड़ी व्यस्तता से नौकरों को आदेश दे रही थी। उसे देखते ही वह बोली, ''हलो शर्मा, आओ। मैं सपना तो नहीं देख रही?''

''मुझे डर है कि मैं सपना देख रहा हूँ,'' केसरी ने उसके निकट पहुँचते हुए कहा। फिर इधर-उधर देखकर बोला, ''मैं समय से पहले ही चला आया। सोचा, तुमसे

लन्दन के जीवन की चर्चा सुनूँगा। यह विचार ही नहीं आया कि तुम प्रबन्ध करने में व्यस्त होगी।''

''अरे! नहीं, नहीं, मुझे क्या करना है। इन लोगों को थोड़ा समझा रही थी,'' सरोज ने गृहिणी के स्वर में कहा, ''चलो, अन्दर चलकर बैठें।''

केसरी ने अनुभव किया कि आज की सरोज भंडारी उस ज़माने की सरोज मेहरा से कहीं भिन्न है। वह प्राचीन भारत के शिलालेखों से उलझनेवाली लड़की विलायत से वहाँ की-सी वाणी सीखकर आई है। उसके शब्द एक बनावटी कोमलता लिये हुए व्यक्त होते हैं, और उनकी ध्वनि में से भी अर्थ निकलता है—मैं हूँ! मैं हूँ! मैं हूँ!

गोल कमरे में आकर सरोज ने कहा, ''तुम तो बिलकुल वैसे ही हो शर्मा, जैसे, दो वर्ष पहले थे। एक मिलीमीटर का भी अन्तर नहीं आया।''

''तुम मुझे बदली-सी लगती हो,'' केसरी ने कहा।

''कैसी लगती हूँ?''

''लगती हो, जैसे नया खिलौना एक रात बरसात में भीग गया हो।''

सरोज हँस पड़ी। अपने बालों को झटककर बोली, ''तुम वही हो शर्मा, बिलकुल वही। इन्हीं बातों के लिए तुम्हारी याद आया करती थी। आज मैंने सौ व्यक्तियों को निमन्त्रित किया है। उनमें से निन्यानवे मिलकर एक बनते हैं, और तुम अकेले एक हो। तुमने लॉ कर लिया?''

''नहीं छोड़ दिया।''

''तो आजकल क्या कर रहे हो?''

''स्वतन्त्र अध्ययन अर्थात् कुछ भी नहीं।''

''सो मैं समझ सकती हूँ,'' सरोज ने मुस्कुराकर कहा, ''तुम्हारे लिए जीवन-मार्ग का निश्चय कर लेना उतना आसान नहीं, जितना और लोगों के लिए। मैं तो समझती हूँ कि तुम केवल एक आवारा ही बन सकते हो।'' उसके स्वर में भारतीयता आती जा रही थी। ''आवारा या राजनीतिज्ञ।''

''ठीक है! तो मैं लम्बे-लम्बे बाल रख लूँ और भूख और आज़ादी की बातें किया करूँ?''

सरोज फिर हँस दी। बोली, ''मैं जानती हूँ तुम सदा राजनीतिज्ञों पर व्यंग्य कसा करते हो। पर फिर भी उस रूप में तुम बहुत कुछ कर सकते हो। क्या मैं कल्पना करूँ कि तुम किसी इंश्योरेंस कम्पनी के मैनेजर बन जाओगे या माल पर होटल खोलकर ग्राहकों की सेवा किया करोगे?''

बाहर कुछ प्लेटें टूटने की आवाज़ आई। सरोज बीच में ही उठती हुई बोली, ''ठहरो, मैं देखूँ यह लोग क्या कर रहे हैं।'' और तत्परता से बाहर चली गई।

सामने बँगले की छत पर एक हवामुर्ग घूम रहा था। केसरी उसे देखने लगा। उसका मन भी हवामुर्ग की तरह घूम रहा था। अनुभव हो रहा था कि वह स्वयं ही एक तरह का असमंजस है। अपने-आप में उलझ जाता है और सुलझने के लिए हाथ-पैर मारता है। पर गाँठें मजबूत हो जाती हैं। प्रयत्न छोड़ देता है, तो धागे ढीले होने लगते हैं। इसमें कोई रहस्य है। और जब वह रहस्य की बात सोचता है, तो उलझन फिर बढ़ने लगती है; अन्तर फिर दुखने लगता है।

धीरे-धीरे उसने ज़ेब में हाथ डाला। कलकत्ते से आया हुआ नियुक्ति पत्र निकाला और पढ़ने लगा।

दूर कहीं से मिल का भोंपू सुनाई दिया। केसरी के मस्तिष्क में उतरी कोयले की खानें साँसों में कोयला भरके मशीनों की तरह चलनेवाले मज़दूर! सूर्योदय और सूर्यास्त। लेख, व्याख्यान, सभाएँ! निर्वाचन और तालियाँ! पद प्राप्ति और शान! फिर रिश्वत, कालाबाज़ार, फूलों के हार और अभिनन्दन-पत्र!

उसने हाथ के कागज़ को देखा। उँगलियों ने कागज़ को एक ही आकार के सोलह टुकड़ों में फाड़ दिया। वह टुकड़े उसने ज़ेब में डाल लिये।

मिसेज़ वर्मा चम्मच से सूप पी रही थीं। केसरी मोटे-मोटे होंठों से चम्मच का आना-जाना देख रहा था।

दोनों एक ही मेज़ पर बैठे थे। सरोज उनका परिचय कराके दूसरे मेहमानों के पास चली गई।

मिसेज़ वर्मा ने चम्मच रखकर होंठ पोंछते हुए कहा, ''आपने 'सदाचार' में मेरे लेख पढ़े हैं?''

''एक-दो लेख मैंने पढ़े हैं। आपकी भाषा बहुत जानदार होती है, इसमें सन्देह नहीं।'' केसरी ने कहा।

मिसेज़ वर्मा के होंठ फैल गए। बोलीं, ''मैं समाज का पूरा सुधार चाहती हूँ। जो बातें मैंने लिखी हैं, उनकी सभी ने प्रशंसा की है।''

''भाषा की प्रशंसा मैं भी करता हूँ, पर आपके विचारों से मैं सहमत नहीं,'' वह बोला।

मिसेज़ वर्मा ने रूमाल से माथा पोंछा और अपनी प्रौढ़ता को तराजू में डालकर भारी होने की चेष्टा करती बोली, ''तुम अभी नौजवान हो भाई। मैंने तुमसे बीस-वर्ष अधिक जीकर देखा है।''

''ठीक है, पर आपके विचार में समाज का अर्थ एक विशेष वर्ग है। सुधार का अर्थ एक विशेष तरह का व्यवहार है, जो उस वर्ग को अपना लेना चाहिए। वाद से आपका अभिप्राय है उस विषय में टीका-टिप्पणी। ये बहुत संकुचित धारणाएँ हैं।''

मिसेज़ वर्मा जैसे अस्त्र चढ़ाती बोलीं, ''पहले अपने वर्ग का ही सुधार होना चाहिए। उसके बाद ही कोई दूसरा कदम उठाया जा सकता है।''

केसरी बात नहीं सुन रहा था। उसकी आँखें कोने की मेज़ के पास जाकर रुक गई थीं। वहाँ सरोज हरी साड़ीवाली नवयुवती से हँसकर बातें कर रही थी। वह नवयुवती थी मंजुला, जिसे कल चाटी-रेस में दौड़ते देखा था। उधर से ध्यान हटाकर उसने मिसेज़ वर्मा की ओर देखा, फिर प्लेट बढ़ाता बोला, ''केक लीजिए!''

''नहीं धन्यवाद,'' मिसेज़ वर्मा ने बड़प्पन बिखेरते हुए कहा। फिर कुछ रुककर बोलीं, ''आप समाजवादी हैं?''

पर वह फिर दूसरी ओर देखने लगा था। सरोज उसकी ओर संकेत करके मंजुला से कुछ कह रही थी। मंजुला ने सीधी नज़र से उसे देखा। वह फिर मिसेज़ वर्मा से बात करने लगा। बोला, ''आपने कोई पुस्तक भी लिखी है?''

''शर्मा!'' सरोज ने उसे दूर से पुकारा। उसने देखा सरोज उसे हाथ के संकेत से अपने पास बुला रही है। यह भी देखा कि मंजुला की आँखों में एक तरह का कुतूहल है। वह गम्भीर मुद्रा धारण किए उठा और मिसेज़ वर्मा से बोला, ''क्षमा कीजिएगा, मैं अभी आता हूँ।''

''क्यों उलझ रहे थे मिसेज़ वर्मा से?'' सरोज ने पूछा।

''कुछ नहीं, उन्हें उनके हित की एक बात बतलाने जा रहा था,'' उसने बैठते हुए कहा।

''कौन-सी बात?''

''यही कि एक तो उन्हें सवेरे सिर की मालिश करवानी चाहिए और दूसरे रात को सोते समय गरम दूध के साथ एक चम्मच फ्रूट-साल्ट ले लेना चाहिए।''

''तुम तो नरमेध करते हो, शर्मा!'' सरोज खिलती हुई बोली, ''पहले मैं तुम्हारा परिचय कराऊँ। मंजुला देवल–एम.ए. करके ऑक्सफोर्ड जानेवाली हैं। यह शर्मा। परिचय मैं पहले ही दे चुकी हूँ।''

''मुझे आपसे मिलकर प्रसन्नता हुई,'' मंजुला ने उसकी आँखों में देखते हुए कहा।

''मुझे आपसे यह जानकर प्रसन्नता हुई,'' उसने उत्तर में कहा। मंजुला मुस्कुराई। बोली, ''सरोज कह रही थी कि मैं ऑक्सफोर्ड जाने से पहले आपसे कुछ सीख सकती हूँ।''

''मुझसे?''

''क्यों नहीं?'' सरोज बीच में ही बोली, ''मंजुला वहाँ के सामाजिक जीवन की बात पूछ रही थी। मैंने वहाँ अपनी लोकप्रियता का रहस्य इसे बतला दिया है।''

''कोई गुप्त रहस्य है?''

''गुप्त रहस्य नहीं, चलता-फिरता रहस्य है, और वह तुम हो।''

"मैं?"

"हाँ, तुम!"

केसरी ने आश्चर्य से सरोज को देखा! सरोज के स्वर में व्यंग्य नहीं था। मंजुला उसे ध्यान से देख रही थी। जैसे किसी रोचक कहानी का अन्तिम पृष्ठ पढ़ रही हो। मंजुला के भरे हुए चेहरे पर उत्सुकता भी थी, लापरवाही भी। वह कल की बात सोचने लगा।

'सोनाकुटी' से बाहर आकर मंजुला ने पूछा, "आपके साथ गाड़ी है?"

"नहीं, मुझे अधिक दूर नहीं जाना है, मैं पैदल जा सकता हूँ," केसरी ने कहा।

"मेरी गाड़ी में बैठ जाइए। मैं रास्ते में छोड़ दूँगी।"

गाड़ी सड़क पर लाकर मंजुला बोली, "आज का भोजन तो बहुत ही सफल रहा। कम-से-कम मैं इसे नहीं भूल सकती।"

"मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ," उसने कहा।

"मैं समझती हूँ हमारा परिचय यहीं समाप्त नहीं हो जाएगा। क्यों?"

"नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता," उसके शब्दों की ध्वनि से दोनों अर्थ निकल सकते थे।

"सरोज आपकी बहुत तारीफ करती है।"

वह चुप रहा। गाड़ी चली जा रही थी। वह अँधेरे में पीछे हटते वृक्षों को देखने लगा। शरीर हलका हो रहा था। चालीस पर चलती गाड़ी की रफ़्तार उसे सुस्त मालूम दे रही थी। उसे लग रहा था कि वह मंजुला के साथ रेस में दौड़ रहा है। हाथ कोट की ज़ेब में चला गया। कुछ कागज़ के टुकड़े हाथ लगे। वह उसने निकाल लिए और हवा में उड़ जाने दिए।

मंजुला के बाल उड़कर होंठों पर गिर रहे थे। वह जैसे तेज़ी से किसी पहाड़ से फिसल रही थी।

केसरी अपना रास्ता देख रहा था। चौड़ी सड़क पर आते ही उसने कहा, "मुझे दोराहे पर उतार देना। मैं वहाँ से लॉरेंस रोड पर पैदल चला जाऊँगा।"

"आप लॉरेंस रोड-पर रहते हैं?" मंजुला ने गाड़ी की गति धीमी करते हुए पूछा।

केसरी ने सिर हिला दिया।

"कौन-सा बँगला है आपका?"

केसरी ने दो क्षण मौन रहकर कुछ सोचा। फिर बोला, "चन्द्रहास।"

"चन्द्रहास?" मंजुला को जैसे शतरंज के तख्ते पर शह दे दी गई हो।

"वहाँ कोई और भी रहता है?" उसने सँभलते हुए पूछा।

"किस भाग में? बँगले के कई भाग हैं।"

"यह मैं नहीं जानती। पर केसरी नाम का कोई आदमी है?"

केसरी के मस्तिष्क में कल की घटना घूम गई—यूनिवर्सिटी का मैदान। खन्ना, सतीश, मंजुला की माँ और मंजुला। फिर मंजुला की ओर देखकर बोला, "आप उसे जानती हैं?"

मंजुला का रंग थोड़ा लाल हुआ, लाल से पीला, फिर ठीक हो गया। लापरवाही से वह बोली, "जानती तो नहीं, पर उसके विषय में कुछ सुना ज़रूर था कल।"

"क्या सुना था?"

"वह काफ़ी सनकी है, काफ़ी बददिमाग़ और व्यवहार-शून्य। आप तो जानते होंगे।"

"नहीं, इतना नहीं जानता।"

गाड़ी दोराहे पर रुकी। केसरी बाहर निकला। मंजुला बोली, "वह आपका मित्र तो नहीं?"

"क्यों?"

"सोचती हूँ कहीं आपने मेरी बात का बुरा न माना हो।"

"नहीं, वह मेरा मित्र नहीं है।"

"इतना सुन्दर समय बिताने के लिए धन्यवाद," मंजुला ने उसकी आँखों में मुस्कुराकर कहा।

"गाड़ी में साथ लाने के लिए धन्यवाद," केसरी ने कहा।

"गुड नाइट!"

"गुड नाइट!"

गाड़ी आगे चली गई। केसरी पैदल चलने लगा। निर्जन और एकान्त। फैली हुई सड़क और दूर-दूर बत्तियाँ! रोशनी और छाया, रोशनी और छाया, रोशनी और छाया...।

सीमाएँ

इतना बड़ा घर था, खाने-पहनने और हर तरह की सुविधा थी, फिर भी उमा के जीवन में बहुत बड़ा अभाव था जिसे कोई चीज़ नहीं भर सकती थी।

उसे लगता था वह देखने में सुन्दर नहीं है। वह जब भी शीशे के सामने खड़ी होती तो उसके मन में झुँझलाहट भर आती। उसका मन होता कि उसकी नाक लम्बी हो, गाल ज़रा हल्के हों, ठोड़ी आगे की ओर निकली हो और आँखें थोड़ा और बड़ी हों। परन्तु अब यह परिवर्तन कैसे होता? उसे लगता कि उसके प्राण एक गलत. शरीर में फँस गए हैं जिससे निस्तार का कोई चारा नहीं, और वह खीझकर शीशे के सामने से हट जाती।

उसकी माँ हर रोज़ गीता का पाठ करती थी। वह बैठकर गीता सुना करती थी। कभी माँ कथा सुनने जाती तो वह साथ चली जाती थी। रोज़-रोज़ पंडित की एक ही तरह की कथा होती थी—'नाना प्रकार कर-करके नारद जी कहते भये हे राजन्...' पंडित जो कुछ सुनाता था, उसमें उसकी ज़रा भी रुचि नहीं रहती थी। उसकी माँ कथा सुनते-सुनते ऊँघने लगती थी। वह दरी पर बिखरे हुए फूलों को हाथों में लेकर मसलती रहती थी।

घर में माँ ने ठाकुरजी की मूर्ति रखी थी जिसकी दोनों समय आरती होती थी। उसके पिता रात को रोटी खाने के बाद चौरासी वैष्णवों की वार्ता में से कोई वार्ता सुनाया करते थे। वार्ता के अतिरिक्त जो चर्चा होती, उसमें सतियों के चरित्र और दाल-आटे का हिसाब, निराकार की महिमा और सोने-चाँदी के भाव, सभी तरह के विषय आ जाते। वह पिता द्वारा दी गई जानकारी पर कई बार आश्चर्य प्रकट करती, पर उस आश्चर्य में उत्साह नहीं होता।

उसे मिडिल पास किए चार साल हो गए थे। तब से अब तक वह उस सन्धिकाल में से गुज़र रही थी जब सिवा विवाह की प्रतीक्षा करने के जीवन का और कोई ध्येय नहीं होता। माता-पिता जिस दिन भी विवाह कर दें, उस दिन उसे पत्नी बनकर दूसरे घर में चली जाना था। यह महीने-दो महीने में भी सम्भव हो सकता था, और दो-तीन साल और भी प्रतीक्षा में निकल जा सकते थे।

उमा कुछ कर नहीं रही थी, फिर भी अपने में व्यस्त थी। बैठी थी, लेट गई। फिर उठकर कमरे में टहलने लगी। फिर खिड़की के पास खड़ी होकर गली की ओर देखने लगी और काफ़ी देर तक देखती रही।

सवेरे रक्षा उसे सरला के ब्याह का बुलावा दे गई थी। वह कह गई थी कि वह साढ़े पाँच बजे तैयार रहे, वह उसे आकर ले जाएगी। पहले रक्षा ने उसे बताया था कि सरला का किसी लड़के से प्रेम चल रहा है जो उसे चिट्ठियों में कविता लिखकर भेजता है और जलती दोपहर में कॉलेज के गेट के पास उसकी प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। आज वह प्रेम फलीभूत होने जा रहा था।

प्रेम...यह शब्द उसे गुदगुदा देता था। राधा और कृष्ण के प्रेम की चर्चा तो रोज़ ही घर में हुआ करती थी। परन्तु उस दिव्य और अलौकिक प्रेम के बखान से वह विभोर नहीं होती थी। परन्तु यह प्रेम...उसकी सहेली का किसी लड़के से प्रेम...यह और चीज़ थी। इस प्रेम की चर्चा होने पर मलमल के जामे-सा हलका आवरण स्नायुओं को छू लेता था।

''उम्मी!'' माँ खिड़की में उसके पास आकर खड़ी हो गई।

उमा ने ज़रा चौंककर माँ की ओर देखा।

''तुझे अभी तैयार नहीं होना?'' माँ ने पूछा।

''अभी तैयार हो जाऊँगी, ऐसी क्या जल्दी है?'' और उमा की आँखें गली की ओर ही लगी रहीं।

''जाना है तो अब कपड़े-अपड़े बदल ले'', माँ ने कहा, ''बता, साड़ी निकाल दूँ कि सूट?''

''जो चाहे, निकाल दो...'' उमा अन्यमनस्क भाव से बोली।

''तेरी अपनी कोई मर्ज़ी नहीं?''

''उसमें मर्ज़ी का क्या है? जो निकाल दोगी, पहन लूँगी।''

उसे अपने शरीर पर साड़ी और सूट दोनों में से कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती थी। कीमती-से-कीमती कपड़े उसके अंगों को छूकर जैसे मुरझा जाते थे। रक्षा सवेरे साधारण खादी के कपड़े पहनकर आई थी, फिर भी बहुत सुन्दर लग रही थी। उमा खिड़की से हटकर शीशे के सामने चली गई। मन में फिर वही झुँझलाहट उठी। आज वह इतने लोगों के बीच जाकर कैसी लगेगी? माँ ने सुबह मना कर दिया होता तो कितना अच्छा था? अब भी यदि वह रक्षा से ज्वर या सिरदर्द का बहाना कर दे...?

वह अपने मन की दुर्बलता को तरह-तरह से सहारा दे रही थी। कभी चाहती कि रक्षा उसे लेने आना ही भूल जाए। कभी सोचती कि शायद यह सपना ही हो और आँख खुलने पर उसे लगे कि वह यूँ ही डर रही थी। मगर सपना होता तो कहीं से टूटता या बदलता। सुबह से अब तक इतना एकतार सपना कैसे हो सकता था?

माँ ने सफ़ेद साटिन का सूट लाकर उसके हाथ में दे दिया। उमा ने उसे शरीर से लगाकर देखा। उसे अच्छा नहीं लगा। मगर उसका नया सूट वही था। उसने सोचा कि एक बार पहनकर देख ले, पहनने में क्या हर्ज़ है?

सूट की फिटिंग बिलकुल ठीक थी। उसे लगा कि उससे उसके अंगों का भद्दापन और व्यक्त हो आया है। यदि उसकी कमर कुछ पतली और नीचे का हिस्सा ज़रा भारी होता तो ठीक था। यदि उसकी होश में ही उसका पुनर्जन्म हो जाए और उसे रक्षा जैसा शरीर मिले, तो वह इस सूट में कितनी अच्छी लगे?

माँ वह लकड़ी का डब्बा ले आई जो कभी उसकी फूफी ने उपहार में दिया था। उसमें पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक और नेलपालिश, कितनी ही चीज़ें थीं। उसने उन्हें कई बार सूँघा तो था पर अपने शरीर पर उनके प्रयोग की कल्पना नहीं की थी। उसने माँ की ओर देखा। माँ मुस्कुरा रही थी।

"यह किसके लिए लाई हो?" उमा ने पूछा।

"तेरे लिए और किसके लिए?" माँ बोली, "ब्याहवाले घर नहीं जाएगी?"

"तो उसके लिए इस सबकी क्या ज़रूरत है?"

"वैसे जाना लोगों में बुरा लगेगा। घड़ी-दो घड़ी की ही तो बात है।"

"लालाजी ने देख लिया तो...?"

"वे देर से घर आएँगे। तू लौटकर साबुन से मुँह धो लेना।"

"परन्तु...!"

उसके मन का 'परन्तु' नहीं निकला। पर वह मना भी नहीं कर सकी। उसकी इच्छा न हो, ऐसी बात नहीं थी, पर मन में आशंका भी थी। वह उन चीज़ों को अनिश्चित-सी देखती रही। माँ दूसरे कमरे में चली गई।

लिपस्टिक उसने होंठों के पास रखकर देखी। फिर मन हुआ कि हलका-सा रंग चढ़ाकर देख ले। चाहेगी तो पल-भर में तौलिये से पोंछ देगी।

ज्यों-ज्यों होंठों का रंग बदलने लगा, उसके मन की उत्सुकता बढ़ने लगी। तौलिये से होंठ छिपाए हुए वह जाकर खिड़की के किवाड़ बन्द कर आई। फिर शीशे के सामने आकर वह तौलिये से होंठों को रगड़ने लगी। उससे रंग कुछ फीका तो हो गया पर पूरी तरह नहीं उतरा। फिर तौलिया रखकर उसने पाउडर की डिबिया उठा ली। मन ने प्रेरणा दी कि तौलिया है, पानी है, एक मिनट में चेहरा साफ़ हो सकता है, और वह पफ से चेहरे पर पाउडर लगाने लगी।

पफ रखकर जब उसने चेहरे को हाथ से मलना आरम्भ किया तभी सीढ़ियों पर पैरों की खट्-खट् सुनाई दी। इससे पहले कि वह तौलिये में मुँह छिपा पाती, रक्षा दरवाज़ा खोलकर कमरे में आ गई। उमा के लिए अपना आप भारी हो गया।

"तैयार हो गई, परी रानी?" रक्षा ने मुस्कुराकर पूछा।

परी रानी शब्द उमा को खटक गया। उसे लगा कि उस शब्द में चुभती हुई चोट है।

"साढ़े पाँच बज गए?" उसने कुंठित स्वर में पूछा।

"अभी दस-बारह मिनट बाक़ी हैं", रक्षा ने कहा।

"मैं समझ रही थी अभी पाँच भी नहीं बजे", उमा ने किसी तरह मुस्कुराकर कहा। उसकी आँखें रक्षा के शरीर पर स्थिर हो रही थीं। आसमानी साड़ी के साथ हीरे के टॉप्स और सोने की चूड़ियाँ पहनकर रक्षा बहुत सुन्दर लग रही थी।

माँ ने अन्दर से पुकारा तो उमा को जैसे वहाँ से हटने का बहाना मिल गया। अन्दर गई तो माँ वह मखमली डिबिया लिये खड़ी थी जिसमें सोने की ज़ंजीर रखी रहती थी। वह ज़ंजीर माँ के ब्याह में आई थी और उमा के ब्याह में दी जाने के लिए सन्दूक में सँभालकर रखी हुई थी। माँ ने ज़ंजीर उसके गले में पहना दी तो उमा को बहुत अजीब लगने लगा। रक्षा उधर आवाज़ दे रही थी इसलिए वह माँ के साथ बाहर कमरे में आ गई। उसके बाहर आते ही रक्षा ने चलने की जल्दी मचा दी।

जब वह चलने लगी तो माँ ने पीछे से कहा, "रात को मन्दिर में उत्सव भी है। हो सके तो आती हुई दर्शन करती आना।"

वह सीढ़ियों से उतरकर रक्षा के साथ गली में चलने लगी।

ब्याहवाले घर में पहुँचकर रक्षा बहुत जल्दी इधर-उधर लोगों में उलझ गई। वह यहाँ से वहाँ जाती, वहाँ से उसके पास और उसके पास से और किसी के पास। उमा सोफे के एक कोने में सिमटकर बैठ रही। जब उसकी रक्षा से आँख मिल जाती तो रक्षा मुस्कुराकर उसे उत्साहित कर देती। जब रक्षा दूर चली जाती तो उमा बहुत अकेली पड़ने लगती। वह बत्तियों से जगमगाता हुआ घर उसके लिए बहुत पराया था। वहाँ फैली हुई महक अपनी दीवारों की गन्ध से बहुत भिन्न थी। ख़ामोश अकेलेपन के स्थान पर चारों ओर खिलखिलाता हुआ शोर सुनाई दे रहा था। वह एक प्रवाह था जिसमें निरन्तर लहरें उठ रही थीं। पर वह लहरों में लहर नहीं, एक तिनके की तरह थी—अकेली और एक ओर को हटी हुई।

रक्षा कुछ और लड़कियों को लिये हुए बाहर से आई और उसने उन्हें उसका परिचय दिया, "यह हमारी उमा रानी है, तुम लोगों की तरह चंट नहीं है, बहुत सीधी लड़की है।"

उमा को इस तरह अपना परिचय दिया जाना अच्छा नहीं लगा, फिर भी वह मुस्कुरा दी। रक्षा दूसरी लड़कियों का परिचय कराने लगी, "यह कान्ता है, इंटर में पढ़ती है। अभी-अभी इसने कॉलेज के नाटक में जूलिएट का अभिनय किया था, बहुत अच्छा अभिनय रहा।...यह कंचन है, आजकल कला भवन में नृत्य सीख रही है।...और मनोरमा...यह कॉलेज के किसी भी लड़के को मात दे सकती है..."

परिचय पाकर उमा अपने को उनसे और भी दूर अनुभव करने लगी। उन सबके पास करने के लिए अपनी बातें थीं। 'वह', 'उस दिन', 'वह बात', आदि संकेतों से वे बरबस हँस देती थीं। उमा के विचार कभी फ़र्श पर अटक जाते, कभी छत से टकराने लगते और कभी सफ़ेद सूट पर आकर सिमट जाते।

रक्षा कान्ता को एक फोटो दिखा रही थी। और कह रही थी कि इस लड़के से ललिता की शादी हो रही है।

"अच्छी लाटरी है!" कान्ता तस्वीर हाथ में लेकर बोली, "एक दिन की भी जान-पहचान नहीं, और कल को ये पतिदेव होंगे और ललिताजी 'हमारे वे' कहकर इनकी बात करेंगी—धन्य पतिदेव!"

कान्ता की बात पर और सबके साथ उमा भी हँस दी। पर वह बेमतलब की हँसी थी, उसे हँसने के लिए आन्तरिक गुदगुदी का ज़रा भी अनुभव नहीं हुआ था। उसके स्नायु जैसे जकड़ गए थे। खुलना चाहते थे, लेकिन खुल नहीं पा रहे थे।

बात में से बात निकल रही थी। कभी कोई बात स्पष्ट कही जाती और कभी सांकेतिक भाषा में। सहसा बात बीच में ही छोड़कर रक्षा एक नवयुवक को लक्षित करके बोली, "आइए, भाई साहब! लाए हैं आप हमारी चीज़?"

"भई, माफ कर दो", नवयुवक पास आता हुआ बोला, "तुम्हारी चीज़ मुझसे गुम हो गई।"

"हाँ, गुम हो गई! साथ आप नहीं गुम हो गए?" रक्षा धृष्टता के साथ बोली।

"अपना भी क्या पता है?" नवयुवक ने कहा, "इंसान को गुम होते देर लगती है?"

नवयुवक लम्बा और दुबला-पतला था और देखने में काफ़ी अच्छा लग रहा था। उमा ने एक नज़र में देखकर आँखें हटा लीं।

"चलो उधर, सरला बुला रही है", नवयुवक ने फिर रक्षा से कहा।

"उससे कहो, मैं अभी आती हूँ", रक्षा बोली।

"चलो भी, अभी आती हूँ।" कहकर उसने रक्षा का हाथ पकड़कर खींचा। रक्षा उसके साथ चली गई। कान्ता कंचन को बताने लगी कि उस लड़के का नाम मोहन है और वह सरला का चचेरा भाई है। एम.ए. फाइनल में पढ़ रहा है। उमा ने इससे अधिक कुछ सुनने की आशा की। पर कान्ता वह बात छोड़कर मनो के फीते की प्रशंसा करने लगी।

मनो का फ़ीता बहुत सुन्दर था। उसके बालों में सोने का क्लिप और नीले रंग के फूल भी बहुत अच्छे लग रहे थे। उसके ब्लाउज़ का पारदर्शक कपड़ा बिजली के प्रकाश में किरणें छोड़ रहा था। कंचन मनो के कन्धे पर झुककर उसके कान में कुछ फुसफुसाने लगी। उमा की आँखें झट दूसरी ओर को हट गईं।

उसके सामने जो दो स्त्रियाँ बैठी थीं, वे उसी की ओर देखकर कोई बात कर रही थीं। उमा को लगा कि वे उसी की बात कर रही हैं—शायद उसके कपड़ों की आलोचना कर रही हैं। उसने बाँहें समेट लीं और हाथ से गले की ज़ंजीर को सहलाने लगी।

"बाहर चल रही हो?" मनो ने उससे पूछा।

"रक्षा किधर गई है?" यह पूछकर उमा और संकुचित हो गई।

"बाहर ही गई है, अभी देखकर भेजती हूँ", कहकर मनो कंचन और कान्ता के साथ उठ खड़ी हुई और वे सब बाहर चली गईं।

उमा फिर बिलकुल अकेली पड़ गई तो उसके मन का बोझ बढ़ने लगा। वहाँ इतने अपरिचित लोगों की उपस्थिति, चहल-पहल और सजावट, सबकुछ उसे बेगाना लग रहा था। यदि सहसा उसे सुनसान अँधेरे जंगल में पहुँचा दिया जाता, जहाँ चारों ओर बिलकुल नीरवता होती तो उसे निश्चय ही अब से अच्छा लगता। परन्तु वहाँ उस चुलाबुलाहट, छेड़छाड़ और दौड़-धूप में उसकी तबीयत उखड़ रही थी...।

सहसा कमरा कहकहों से गूँज उठा। उमा चौंक गई। कोई ऐसी बात हुई थी जिस पर सब लोग हँस रहे थे। उसने सोचा कि वह भी हँस दे परन्तु वह चुप रही कि हो सकता है उसी के बारे में कोई बात हुई हो...। लेकिन जब हँसी का स्वर बैठ गया तो उसे अपने चुप रहने के लिए खेद हुआ क्योंकि उसकी चुप्पी सबने लक्षित की थी। वह पश्चात्ताप से भर गई।

बाजों का स्वर दूर से पास आ रहा था, इससे लोगों ने अनुमान लगाया कि बारात आ रही है। कमरे की हलचल बढ़ गई। उमा को उस समय बहुत ही व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा। उसके कानों में बाजे का स्वर गूँज रहा था और आसपास कुछ वाक्यों के टुकड़े मँडरा रहे थे।

—आओ बाहर।

—माधवी, ओ माधवी!

—हाय, मेरा लाल रूमाल!

—रोती है तो रोने दे।

—नीना रानी, ले बिस्कुट।

—मौली मिल गई, पंडितजी?

—देख, पीछे कितने लोग हैं?

—रूई, फूल, धूप, मेवा।

—मोहनलाल! मोहनलाल।

—देखा, कैसा है?

—कुछ लम्बा लगता है।

—आ मिट्ठू, आ बेटा।

—जान ले ले तू बाबूजी की!

एक-एक करके सब लोग कमरे से बाहर चले गए। कुछ अपने-आप आग्रह से चले गए और कुछ को दूसरे आकर अनुरोध के साथ ले गए। केवल उमा अपने अकेलेपन में घिरी हुई वहाँ बैठी रह गई।

पहले क्षण तो उसे अकेली रह जाने में अच्छा लगा। दूसरे क्षण उपेक्षित होने की टीस का अनुभव हुआ। फिर आत्मीयता दीप्त हुई कि उसे भी बाहर जाना चाहिए। परन्तु अगले क्षण वह इस अनुभूति से मुरझा गई कि बाहर जाकर भी वह अकेली होगी...उस भीड़ में उसके होने-न-होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

बैंड का स्वर बहुत पास आ गया था और बाहर कोलाहल बढ़ रहा था। अन्दर उमा के लिए समय के क्षण लम्बे होते जा रहे थे और उसके हृदय की धड़कन मद्धम पड़ रही थी। तभी अचानक रक्षा बाहर से वहाँ आ गई।

"क्यों रानी, रूठ गई है क्या?" रक्षा ने आते ही पूछा।

"नहीं, मैं..." उमा ने सिरदर्द का बहाना करना चाहा, लेकिन उसकी बात पूरी होने से पहले ही रक्षा ने उसका हाथ पकड़कर उठा दिया।

"बाहर चल, यहाँ क्यों बैठी है?" वह बोली, "बाहर अभी हम लोग दूल्हा के साथ एक तमाशा करने जा रही हैं।"

और कुछ कह सकने से पहले ही उमा बाहर भीड़ में पहुँच गई। यहाँ कंचन, मनो और कान्ता मिल गईं। वे सब उसे साथ सरला के कमरे में ले गईं। सरला दुल्हिन के वेश में बिलकुल और ही लग रही थी। फूलदार जारजेट की साड़ी के साथ मोतियों के गहने उसकी गुलाब-सी त्वचा पर बहुत खिल रहे थे। सरला उसकी ओर देखकर मुस्कुराई तो वह उसके होंठों की सलवटें देखती रह गई। सरला ने साथ कुछ शब्द भी कहे, परन्तु वे शब्द कोलाहल में उसे सुनाई नहीं दिए। वह उत्तर में यूँ ही मुस्कुरा दी हालाँकि अपनी वह व्यर्थ की मुस्कुराहट उसके हृदय में चुभ-सी गई...

दो घंट बाद जब रक्षा उसे उसके घर की गली के बाहर छोड़कर आगे चली गई तब भी उमा के हृदय में वह चुभता हुआ अनुभव उसी तरह था, जैसे कोई काँटा अन्दर टूटकर रह गया हो। वह अपनी स्थिति का निर्णय नहीं कर पा रही थी। एक तरफ़ जैसे रक्षा, सरला, कान्ता, कंचन और मनोरमा खिलखिलाकर हँस रही थीं। दूसरी तरफ़ वे दीवारें थीं, जिनमें सटी हुई खिड़की के पास सवेरे धूप आती थी और दोपहर ढलते ही अँधेरा होने लगता था और जिनके साये में पूर्णिमा और एकादशी के व्रत रखने होते थे। वह जैसे दोनों ओर से दब रही थी और टूट रही थी।

गली में आकर उसने मन्दिर की घंटियाँ सुनीं तो उसे माँ की बात याद हो आई कि आज मन्दिर में उत्सव है। उसके पैर अनायास मन्दिर की सीढ़ियों की ओर बढ़ गए। वह अन्दर पहुँचकर स्त्रियों की पंक्ति में हाथ बाँधकर खड़ी हो गई।

आरती समाप्त होने पर स्तोत्र आठ आरम्भ हुआ। उमा भी आँखें मूँदकर लय में शब्दों का अनुकरण करने लगी, जय सीतावर वर सुन्दर, जय जग सुखदाता। जय जय जग सुखदाता...

परन्तु मूँदी हुई आँखों के आगे रक्षा का खिलखिलाता हुआ चेहरा आ गया, फिर मोहन की बड़ी-बड़ी आँखें, और फिर एक के बाद एक कितनी ही आकृतियाँ सामने आने लगीं, व्यंग्यपूर्ण मुस्कुराहटें, उपेक्षा-भरी भौंहें, सोफे का ख़ाली कोना, ज़ोर-ज़ोर से बजता हुआ बाजा...। उसने अपने आपको झटका दिया...। दीनबन्धु करुणामय, सब जग के त्राता!...फिर हिलता हुआ पर्दा, पर्दे के पीछे बिजलियाँ, बिजलियों के प्रकाश में रक्षा, मोहन, सरला और दूल्हा के खिलखिलाते हुए चेहरे।

उमा ने आँखें खोल लीं। स्तोत्र का स्वर चारों ओर गूँज रहा था। बरसों से वह इस स्वर को सुनती आई थी, लेकिन फिर भी आज उसे यह स्वर कुछ अपरिचित-सा लग रहा था। जैसे उसके अन्तर की गहराई में कहीं कुछ थोड़ा बदल गया था।

सहसा उसकी आँखें एक जगह टकराकर लौट आईं। भीड़ में एक नवयुवक उसकी ओर देख रहा था।

उमा के शरीर में लहू का दबाव बढ़ गया। हृदय की गति बहुत तेज़ हो गई। उसकी आँखें केले के खम्भों पर से हटकर सजी हुई सामग्री पर से फिसलती हुई फिर वहीं टकराईं। वह अब भी उसी तरह देख रहा था।

उमा के लिए पैरों का सन्तुलन बनाए रखना कठिन हो गया। उसकी आँखें ठाकुर जी की मूर्ति पर पड़ीं और जल्दी से हट गईं। उसके पास से कुछ लोग चलने लगे तो वह भी साथ चल दी। पुजारी से चरणामृत लेकर वह ड्योढ़ी की ओर बढ़ी। सहसा भीड़ में किसी का हाथ उससे छुआ। उमा ने घूमकर देखा। वही दो आँखें थीं...काली डोरेदार आँखें।

स्तोत्र का स्वर मशीन के घर-घर स्वर जैसा हो गया। आसपास की भीड़ पत्थर की गोपियाँ, मिट्टी के आम व कपड़े के तोते, हर चीज़ धुँधली होने लगी। आकाश बोझिल हो गया और धरती समतल नहीं रही। दिशाएँ एक-दूसरी में मिलकर ओझल होने लगीं। प्रकाश रंग बदलने लगा। वह भीड़ में कुछ यूँ हो गई जैसे रुके हुए पानी में अस्त-व्यस्त हाथ-पैर मार रही हो। केवल एक ज्ञान था कि एक हाथ उसे छू रहा है। यहाँ बाजू के पास, यहाँ कन्धे के पास, यहाँ...।

वह बाहर से आती हुई दो स्त्रियों के साथ उलझ गई। किसी तरह सँभलकर जब वह बाहर पहुँची तो उसे हवा का स्पर्श कुछ विचित्र-सा लगा। लहू जो तेज़ी के साथ नाड़ियों में सरसरा रहा था, वह अब कुछ ठंडा पड़ने लगा तो शरीर में सिहरन भर गई। उसके कन्धे के पास उस हाथ का स्पर्श जैसे अभी तक सजीव था।

उसका मन हुआ कि वह जल्दी से घर पहुँच जाए और एक बार खिलखिलाकर हँस दे। वे असाधारण क्षण बिलकुल नई-सी अनुभूति छोड़ गए थे। यदि रक्षा उस

समय उसके पास होती तो वह हँसती हुई उसके गले में बाँहें डाल देती और उसे घसीटती हुई अपने साथ घर ले जाती।

उस स्पर्श को एक बार छू लेने के लिए उमा का हाथ अपने कन्धे के उसी भाग की ओर उठ गया। वह स्पर्श जैसे वहाँ अपनी निश्चित छाप छोड़ गया था।

अचानक उसका पैर लड़खड़ा गया और वह रुक गई। उसका शरीर पसीने से भीग गया। अँधेरे गहरे-गहरे रंग फैल गए।

उस स्पर्श का आभास तो वहाँ था, पर सोने की ज़ंजीर गले में नहीं थी।

कम्बल

कल रात पिछले पहर कितनी ठंड हो गई थी। आज तो दिन-भर बूँदाबाँदी भी होती रही। शरीर में कँपकँपी उठती है। गंगादेई ने अधमैले घिसे जंपर की सीवनों को फटी साड़ी के पल्ले से ढक लिया। सिर ढकने की चेष्टा में शरीर नीचे से उघड़ गया। बाँहों को उसने समेट लिया। फिर पुकारा—"बनारसी!"

लकड़ियों को फूँकती हुई बनारसी उसकी आवाज़ सुनकर भी नहीं बोली। जतलाया कि उत्तर देने का अवकाश नहीं। मन में उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। कहाँ तक सिर को ढककर रखे? कितनी बार सलवार को एड़ियों तक खींचे? माँ दुहाई देती है ठंड लगने की, और संकेत करती है लोगों की नज़रों की ओर। क्या करे जो लोग उसे देखते हैं? घर के चौके में जंपर और पेटीकोट से काम नहीं करती थी? यहाँ माँ बात-बात पर आवाज़ दे देती है, "बनारसी।"

घर पीछे छूट गया। कैम्प में आए चार महीने हो चले। पहले दिनों में माँ ने काम भी नहीं करने दिया। कई दिन नहा भी नहीं पाई। लोटा-भर पानी से कुल्ला भी कर लेती, मुँह-हाथ भी धो लेती। एक दिन चिढ़कर वह सिर से पैर तक नहा आई और गीले बाल बिखेरकर घूमती रही। पास कहीं कोई दिन-भर सीटी बजाता रहा। माँ ने उधर बाँस के साथ फटे टाट का परदा लटका दिया।

तीस घरों की परिधियाँ, जिनके बीच एक भी दीवार नहीं। फिर भी सबका एक-एक घर अपना है। तामचीनी के बर्तन, टीन के पीपे, चारपाइयों के पाये, पुराने जूते, टूटे बक्से, चूल्हे, चौकियाँ, ईंटें और जाने किन-किन वस्तुओं के घेरे में हर परिवार ने अपने को दूसरों से अलग कर लिया है। अपनी परिधियों का उल्लंघन किसी को सहन नहीं। जब बनारसी लापरवाही से चलती हुई किसी दूसरे परिवार की परिधियों को छू लेती है, तब गंगादेई डेढ़ बरस के राजू को स्तन देकर बहलाने की वृथा चेष्टा को भूलकर मसली-सी कह उठती हैं, "बनारसी"!

कल रात बहुत ठंड थी। गंगादेई राजू को अपने साथ सटाकर सो गई थी। बनारसी की ठिठुरन में ईर्ष्या की सिहरन और भरी जा रही थी। क्यों नहीं माँ राजू को बापू के साथ सुलाती? बापू सर्दी से काँपता है, खाँसता है। राजू बापू के पास सोए, तो बापू को थोड़ा आराम मिले।

फिर उसे अपने विचार दूषित लगने लगते। माँ राजू को साथ सुलाती है तो रात को दूध पिलाने...नहीं, दूध तो बहाना है। बूँद तो उतरती नहीं दूध की।

टपटप-टपटप पानी ज़ोर से बरसने लगा। साँय-साँय करते हवा के झोंके। तीस परिवारों का घर झूल गया। एक ओर से बाँस निकल गया। लोग मिलकर उसे ठीक करने लगे। चाकू से आलू छीलती बनारसी भी देखने आ गई। आँखें देख रही थीं, क़ान सुन रहे थे–पास ही कहीं सीटी की आवाज़। लौटने लगी तो किसी के कन्धे से छू गई। गंगादेई ने घूरकर देखा। इस दृष्टि को उसने महत्त्व नहीं दिया। घेरे में लौटकर आलू छीलने लगी।

वर्षा तेज़ हो रही थी। बिजली पैनी होकर कौंधती थी। बनारसी की आँखें बरबस उस घेरे की ओर उठ जातीं जिसमें कल से एक नए परिवार ने अपने लिए नई परिधियाँ बना ली थीं। दो व्यक्तियों का परिवार। युवक परसों तक छोरवाले बड़े परिवार में था। युवती घेरेवाली बुढ़िया के साथ थी। कल बुढ़िया युवक की माँ के पास घड़ी भर बैठी। फिर पंडित को बैठाया, पाँच पैसे रखे और बेटी का वाग्दान कर दिया। प्रातः दोनों परिवारों की साम्पत्तिक दीवारें तोड़कर एक नए घेरे की सृष्टि कर दी गई। नव दम्पत्ति का विवाहित जीवन आरम्भ हो गया।

बनारसी की आँखें बार-बार देखतीं। नवविवाहिता लड़की की आँखों में उत्सुकता नहीं, लज्जा नहीं, संकोच नहीं। युवक भी अनमना-सा कभी बड़े घेरे में चला जाता है, कभी अपने घेरे में आ जाता है। एक बार उसने पास जाकर पूछा, "पानी पियोगी?"

पत्नी ने कहा, "नहीं।"

"कहो तो चाय ले जाऊँ?"

"नहीं।"

"बाहर आलू की टिकियाँ भी हैं।"

"नहीं।"

फिर उसने ज़ेब से मूँगफली निकालकर उसके आगे कर दीं। पत्नी ने एक दाना उठाकर मुँह में रख लिया। युवक बाहर आकर टहलने लगा। पुनः धीरे-धीरे जाकर बक्से पर बैठ गया। सब मूँगफली निकालकर कागज़ पर डाल दीं। बोला, "आज बरसात न होती, तो घूमने चलते।"

"हाँ।"

"तूने किला देखा है?"

"हाँ।"

"मैं अब किले के पास ही तरकारी बेचा करूँगा।"

"हूँ।"

"लगता है रात को बहुत ठंड पड़ेगी।"

"हूँ।"

युवक फिर उठा। कहा, "कल तुझे घाट पर ले चलूँगा। वहाँ पर बहुत लोग सैर करने आते हैं।"

आलू छीलते बनारसी का हाथ कट गया। गंगादेई झुँझला उठी, "हाय री, क्या करूँ मैं तुझको! उठने-बैठने की तो बात ही गई, तुझे अपने शरीर का भी होश नहीं!"

बनारसी झल्लाई, "और क्या करना है मुझको? गला घोंट दे मेरा। माँ जो है तू...।" और वह रो पड़ी—रोने का-सा अभिनय किया। जैसे दिखलाया, माँ की अवहेलना कर लेना कितना आसान है! माँ को चुप करा देना कितना साधारण है!

आलू धोकर वह आटे में पानी मिलाने लगी। गंगादेई अपनी खीझ को समेट नहीं पाई थी। पति की ओर देखकर बोली, "देखते हो न इसके लच्छन!"

रामसरन ने सुन लिया। वह बाप है। कभी उसे अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान था। अधिकार का पूरा दावा था। बच्चों को पीटकर बपौती का कर्त्तव्य उसने वर्षों तक निभाया। पर आज खाँसते-खाँसते देह दोहरी होने लगती है। ज़रा-सी कँपकँपी पसलियों में चुभन बनकर दौड़ती है। अब उसके कर्त्तव्य अपने तक ही सीमित हैं। गंगादेई और बनारसी से जब तक सहायता मिलती है, वह आपे से बाहर नहीं होता। माँ-बेटी के ऊपर पहरेदार के से स्वत्व की बागडोर उसने अनजाने में या जानबूझकर ढीली हो जाने दी है। जानता है कि ढहते घर की ईंटों पर गारे का लेप नहीं चलेगा।

बड़ा बेटा रामू मुसलमानों की भीड़ पर पत्थर फेंकते-फेंकते पुलिस की गोली द्वारा मारा गया। शव को पुलिस की लारी में श्मशान तक ले जाकर वह अकेला ही जला आया। माँ-बेटी ने घर में रो लिया। सांसारिकता पूरी हो गई। तब से आज तक वह सबकुछ देख लेता है, सुधारता कुछ भी नहीं। सोचता है—यों ही सही, इतना ही सही।

गंगादेई ने कहा, "देखते हो न इसके लच्छन!"

रामसरन ने आँख भरकर देखा बनारसी के आटे में सने हाथों को, हाथों की भरी हुई उँगलियों को, उन उँगलियों के लाल-लाल नाख़ूनों को। फिर देखा उसके गठे हुए शरीर के हिलते अंगों को। गंगादेई के ख़ाली झोले से ढीले अंगों तक आकर उसकी दृष्टि ने फिसल जाने की चेष्टा भी की, पर फिसल नहीं सकी। धीरे से उसने इतना ही कहा, "अरी, क्यों कोसती है उसे! दिन-भर तो तेरा काम करती है। बच्ची है अभी।"

रामसरन को अपनी बात पर स्वयं ही विश्वास नहीं आया। लगा, उसने झूठ बोला है। बनारसी बच्ची नहीं है। वह तो उन दोनों से बड़ी है।

गंगादेई आहत-सी बोली, "बच्चियाँ इस तरह सामने बोला करती हैं? क्या और घरों में नहीं हैं बेटियाँ?"

वाक्य में अर्थ नहीं था। रामसरन ने जाना—गंगादेई का अतीत वर्तमान के आगे आत्मसमर्पण नहीं कर रहा। उसने बीत जाने दिया। कुछ इस तरह भी सही। आखिर तो हारना ही होगा।

शरीर की शिथिलता आज बढ़ती मालूम हुई। रामसरन ने कुहनियों का सहारा लिया। फिर सीधा होकर लेट गया।

दिन ढल चुका था। बादलों के नीचे सहमा हुआ आलोक भी अँधेरे में घुलता जा रहा था। कैंप का भावहीन जीवन धीरे-धीरे ऊँघने लगा था। अधिकतर लोग मौन थे। बात चलाने के लिए विषय चाहिए, कुतूहल चाहिए, विचार चाहिए। यहाँ तो जी लेना ही एक विषय है, उसी में कुतूहल है, और कुतूहल में ही विचारों का लोप। पीछे और आगे—दोनों ओर काला शून्य।

सब ओर अन्धकार ही अन्धकार है। मद्धिम-सी लालटेन कैम्प के अँधेरे को धुँधला मात्र कर पाती है। मैले उजाले में जीवन रेंगता है, रेंगते हुए छिलता जाता है।

गंगादेई के एक ओर रामसरन निश्चल पड़ गया था। दूसरी ओर बनारसी सलवार-कमीज़ में सिमटने की चेष्टा करने लगी।

आग के पास वह सर्दी की बात भूल रही थी। अब कैम्प के बाहर बनते-मिटते बुलबुलों को देखकर अनायास ही सिहरन महसूस हुई। घर की बात याद आई। अँगीठी के पास बैठकर जाली बुनना, रज़ाई में सिमटकर बातें करना, परन्तु अब यह नंगी रात की कँपकँपी...।

आकाश का गीलापन बोल रहा था। कोई सीटी बजा रहा था। एक उत्सुक लय, जिसमें संगीत से अधिक शब्द था। फिर भी शब्द में सरसता लगती थी—मीठी-मीठी सजीवता, जैसे दूर आम के बाग़ में आधी रात को रखवालों की आवाज़। बनारसी उस शब्द में खो-सी गई। रामसरन खाँस उठा। हिलोरित जल में कंकड़ आ पड़े!

इसी तरह रात गहरी-सी हो चली। कोई करवट लेता था। कोई खाँस उठता था। कोई सोता-सोता बोल रहा था, "मार दूँ! जान ले लूँगा! ख़ून पी लूँगा! कौन है तू? आ, सामने आ! गोली मार! पंडितजी...पंडितजी..."

बनारसी को नींद नहीं आई। वह सिहरती हुई कुछ सोच रही थी। कुछ अनुभव कर रही थी। लोग कैसे सो जाते हैं। राजू माँ के साथ सट गया है। उधर उस घेरे में युवक के साथ युवती। इनका ब्याह हुआ...ओह, कितनी ठंड है!

बापू कैसा सिकुड़ रहा है? नींद तो नहीं आई होगी। कितनी खाँसी हो गई है। पानी निरन्तर बरस रहा है। क्या वर्षा रुकेगी नहीं?

हलकी-सी भनभनाहट सुनी। उसकी आँखें घूम गईं। देखा, एक गट्ठर में कम्बल थे। कोई व्यक्ति संकेत कर रहा था। दूसरा उसकी बात समझ रहा था।

फिर दोनों चार-चार कम्बल उठाकर उधर की ओर बढ़ आए।

पहले वह उस नए घेरे में गए। युवक सो रहा था। युवती ने करवट ली। एक कम्बल फेंक दिया गया। फिर वह साथ के घेरे में गए। एक कम्बल वहाँ दिया। अब वह उस घेरे में आएँगे।

बनारसी ने आँखें मूँद लीं। जतलाना चाहा कि सो रही है। पर सोए व्यक्ति की तरह बिखर नहीं सकी। पैरों की आहट का ठीक अनुभव हुआ। पास जाकर कोई झुका, किसी ने छातियों को छुआ। रामसरन ज़ोर से खाँसा—तीखी बिदारक खाँसी। बनारसी कँपकँपाई। तभी सुखद सिहरन फैल गई। शरीर कम्बल से ढक गया। शीत का रोमांच बैठने लगा। नींद के अभिनय में जाँघों-छातियों पर किसी के स्पर्श की उपेक्षा कर दी। इच्छा तो हुई कि आँखें खोलकर देखें पर रोंगटों की संभावित जड़ता! नहीं, नहीं, बाहर हवा चल रही है। ठंडी-ठंडी हवा!

वर्षा का शब्द दूर चला गया। बापू पुनः खाँसने लगा। वह स्वर अब उतना तीखा नहीं लगा। कम्बल के अन्दर कितनी नीरवता है!

कल्पना की कि बापू पर भी एक कम्बल अवश्य डाला गया होगा। पर सत्य को आँखों से देखने की अपेक्षा अँधियारी ओट में छिपे रहना अधिक उचित जान पड़ा।

पर यदि बापू पर कम्बल नहीं हुआ तो? ख़ैर, अभी तो पूरी रात शेष है आधी रात को अधिक ठंड पड़ेगी—तब देखेगी। नहीं हुआ, तो अपना कम्बल बापू पर डाल देगी।

और माँ? माँ के पास राजू है। सोई है, तो सोई रहेगी।

कल्पित चित्र आँखों में उतरने लगे। सतरंगे बादलों जैसे आकर कम्बल में सिमट आए। वह उन्हें अपने में भरने लगी। कितने प्रिय, कितने रोचक, कितने आकर्षक!

कल्पना उसे अस्तव्यस्त समूह से परे ले गई। उस संसार में जहाँ किसी अन्य का प्रवेश नहीं। उसने अपने लिए चरित्र ढूँढ़ लिए। उन चरित्रों को जाँघों और छातियों के आसपास ठोस और वास्तविक बनाने में विचार केन्द्रित हो गए।

लगा, शरीर से एक और शरीर को अच्छी तरह सटा लिया है। आलू छीलने, आटा गूँधने का जीवन कहीं नीचे है। वह ऊपर उठ रही है। देह और मन में विरोध नहीं है। वह उद्रेक में झूल रही है...।

बापू अब खाँसना बन्द क्यों नहीं करता? खाँसी कितनी भद्दी है। शब्द कानों को छूता है—चुभती हुई रस्सी की तरह, जो मचान से धरातल पर ला गिराना चाहती है।

वह एक मूर्त शब्द का निर्माण कर रही है। अस्पष्ट-सी मीठी आवाज़ कानों के बहुत पास आकर बोलती है और फिर कुहरे में विलीन हो जाती है। रोम-रोम में प्रतिध्वनियाँ होती हैं। एक-एक कंपन में वही स्वर बोलता है।

वह विचारों से भरती गई और यों ही बहुत कुछ पाकर सो गई।

भरी हुई नदी को बहते देखा। सपने में फैला उन्मादी जल। वह उसमें फिसल गई। सहसा रोम नुकीले हो गए। वह जाग गई।

आधा कम्बल शरीर से खिंच गया था। ख़ामोश रात में वर्षा का तीव्र स्वर फैल रहा था। बनारसी ने कम्बल को समेटने की चेष्टा की। झटके से कम्बल थोड़ा और हट गया। गंगादेई का स्वर नींद में भी कर्कश था, "डायन को अपने ही शरीर से मोह है। बच्चा पास पड़ा ठिठुर रहा है, उसे ढकने की चिन्ता नहीं। थोड़ा और छोड़ कम्बल, बच्चे को भी दो घड़ी सोने दे।"

बनारसी ने आवेश में पूरा कम्बल फेंक दिया। कहा, "ले ले कम्बल। अपने ऊपर भी ले ले। मुझे ठंड खाकर मौत नहीं आएगी।"

हवा चुभी। शरीर के रोम-रोम में धँस गई। अपनी पूँजी लुटा देने के लिए पश्चात्ताप हुआ। क्यों दे दिया कम्बल? वह केवल उसी के लिए नहीं था? देनेवाले उसे टोहकर दे गए थे। पर अब क्या? अब तो दे ही दिया।

गंगादेई ने भी उस पर फिर से कम्बल नहीं डाला। कम्बल लेकर इतना और कहा, "सारी रात पड़ी रही कम्बल में, अब लगी है अहसान दिखाने। मौत नहीं आती, तो पहले ही ढक देती बच्चे को। कुलच्छनी कहीं की।"

कम्बल फैल गया। नन्हे राजू का शरीर उसमें ढक गया। साथ गंगादेई का शरीर भी। गंगादेई ने स्वस्थ होना चाहा कि उसने मातृत्व निभाया है। पर कहीं और से मातृत्व छिल गया।

यह छिलन कहाँ है? यहाँ कि वह माँ होने से पहले पत्नी है। पति स्वस्थ नहीं। सर्दी से ठिठुर रहा है।

दूसरी छिलन और भी है। मातृत्व का उफनता व्यंग्य जो बोल पड़ता है। बनारसी की हर करवट बोलती है, ताना देती है। गंगादेई से कहे बिना नहीं रहा गया, "सर्दी लगती हो, तो एक कोना ले ले ऊपर।" और एक कोना फैला दिया।

बनारसी परे हट गई। बोली नहीं। गंगादेई झुँझलाई। फिर राजू को साथ सटाकर कम्बल में लिपट गई।

क्या करे इस परिवार को? वह क्यों अब तक अपनों के बीच ही पिस रही है? पैसा-पैसा जोड़कर घर बनाया—वह अब नहीं रहा। शरीर को मिट्टी करके बेटे को बड़ा किया। वह भी चला गया। क्या रह गया उसके लिए सिवाय राजू के? अपने आराम की चिन्ता ही कब की है? बनारसी की ज़बान कितनी खुल गई है। बात-बात पर सामने बोलती है। आज उसका रामू अगर जीवित होता...।

राजू को उसने आलिंगन में ले लिया। नन्हे बेटे को कैसे हवा लगने दे? कुढ़ती रहे बनारसी। ज़रा भी तो मोह नहीं है भाई से।

पति अब नहीं खाँसता। शायद उसे नींद आ गई। उसके लिए कहीं से एक कम्बल और मिल जाता! अभी आधा कम्बल डाल दे। पर नींद उचट गई तो? कच्ची नींद में विघ्न डालना ठीक नहीं। अभी-अभी सोया है। तड़के-तड़के तम्बाकू माँगा करता है। तभी उस पर कम्बल डाल देगी।

बोझिल आँखें अब खुल नहीं रही थीं। धीरे-धीरे झपकी गहरी हो गई।

तभी सीटी की आवाज़ सुनी। कौन सीटी बजाता है? क्यों बजाता है? फिर वही सीटी—स्पष्ट और तीखी। इस शब्द में क्यों इतनी शक्ति है? परिवार की कमज़ोर परिधि हिल जाती है। बनारसी? कहाँ है बनारसी? घेरे की सीमा में तो है नहीं। उठकर चली गई? क्यों चली गई? कहाँ चली गई? अन्धकार में अकेली? नहीं।

गंगादेई कुनमुनाई। एक हाथ कम्बल से निकालकर टटोलने लगी। बनारसी का शरीर नहीं छुआ। हाथ और बढ़ाया। स्पर्श नहीं हुआ। निंदियाई चेतना घबराई। आँखें खोलकर उसने कम्बल से बाहर देखा।

लालटेन की रोशनी और भी मद्धिम हो गई थी। बनारसी अपने-आपमें सिमटी-सिकुड़ी सो रही थी।

राजू छींकने लगा। आशंकित होकर गंगादेई ने कम्बल ओढ़ लिया। अभी तड़का होनेवाला है। पति को ठंड लग रही होगी। खाँसना चाहे बन्द है, फिर भी। राजू पुनः छींकने लगा। उसे लिपटाए रही। कम्बल बिखेरना सम्भव नहीं हुआ।

तड़के ओले पड़े। गंगादेई सोती-सोती बड़बड़ाई, "चुड़ैल, मन में ज़रा मोह नहीं कि बच्चा पास में पड़ा है, उस पर भी एक कोना डाल दूँ। मौत नहीं आती, तो पहले ही क्यों नहीं...?"

नींद फिर उचट गई। कम्बल उठाकर उसने फिर देखा। अबके सचमुच बनारसी घेरे में नहीं थी।

पुतलियाँ फैलाकर देखने लगी। इस ओर देखा, फिर उस ओर। बनारसी दिखाई नहीं दी। सिर और ऊँचा करके देखा। कैम्प के कोने के पास वह उछलते ओले उठा रही थी। गंगादेई ने पुकारा, "बनारसी?"

बनारसी ने सुनकर भी नहीं सुना। देखकर भी नहीं देखा। बरसते पानी में बाहर चली गई।

राजू फिर छींकने लगा। गंगादेई ने कम्बल फिर ओढ़ लिया। बाँह निकालकर रामसरन को हिलाया, "जागते हो?"

रामसरन जागता नहीं था। उसकी टाँगें अकड़कर फैल गई थीं। शरीर में सूजन उतर आई थी। मुँह आधा खुला था। आँखें भी। वह मर चुका था।

गंगादेई ने निर्जीव शरीर को पुनः जगाना चाहा। हिलाकर कहा, "मैंने कहा बनारसी को देखते हो? बाहर अकेली चली गई है बरसात में। मैं कहती हूँ उठकर आप ही उसे बुलाओ। मेरी बात सुनते हो?"

और जब दूसरी रात आई तो राजू कम्बल में सो रहा था और माँ-बेटी एक-दूसरी से लिपटी हुई रो रही थीं। नए कम्बल उस रात फिर बाँटे गए। बाँटनेवाले खोज-खोजकर लोगों को कम्बल दे गए।

पर वे उनके घेरे में नहीं आए।

दोराहा

चौड़ी सड़क पर चलते हुए केसरी ने महसूस किया वह अकेली है। कोई आगे नहीं, पीछे नहीं, साथ नहीं। जीवन में न दिशा है, न मंजिल। अच्छा है। मंजिल का मतलब है कहीं जाकर रुकने की कल्पना। वह ऐसी कल्पना करे ही क्यों?

ओवरकोट की ज़ेब में हाथ डाला। सिगरेट केस नहीं था। एक दुकान से सिगरेट लेकर सुलगाई और आगे चला।

आकाश में बादल काले भी थे, सफ़ेद भी। काले बादलों में मंथरता थी, उनकी आकृतियाँ कम बदलती थीं। सफ़ेद बादल उड़े जा रहे थे, नए-नए रूप बदलकर छितरा जाते थे। केसरी ने मुँह से धुआँ छोड़ा। वह थोड़ा ऊपर उठा और गायब हो गया। वह अपने जीवन को मिलाने लगा—काले सफ़ेद बादलों से, मुँह के धुएँ से।

उसने विचारों को झटका दिया। क्या व्यर्थ की बातें सोचना। क्लब में जाए, ताश खेले...पर नहीं। ताश सब खेलते हैं। जो काम सब करें उसे करने में क्या मज़ा?

तो क्या करे? छह बजे हैं और ग्यारह से पहले नींद नहीं आएगी...पढ़ा जा सकता है। किसी अच्छी-सी किताब के सहारे समय बीत सकता है। पर लोग लिखते क्या हैं? अधिकतर शब्दों के ताने-बाने। और जब अपने ही विचारों का द्वन्द्व समाप्त नहीं होता, तो दूसरों के विचार जानने-समझने की चेष्टा अपने पर ही व्यंग्य नहीं तो और क्या है?

बैठकर कुछ सोचे? सोच तो अब भी रहा है। यह बुरी आदत है। टहलते-टहलते सोचने का भूत सवार हो जाता है।

सिगरेट को ज़मीन पर फेंककर उसने मसल दिया। लाल अंगारे की जगह कालिख रह गई। जीवन भी इसी तरह एक दिन...।

उसने हाथ ज़ेबों में डाल दिए। दृष्टि फिर आकाश की ओर उठ गई। सफ़ेद बादलों की सीढ़ियाँ-सी बन गई थीं। पंछी चहकते हुए चक्कर लगा रहे थे। दो-एक पंख हवा में उड़ते हुए आए और ओवरकोट से चिपक गए। एक पंख में कई रंग थे। केसरी ने उसे सहलाकर ज़ेब में डाल दिया। फिर सीटी बजाता तेज़ चलने लगा। मानो ज़ेब में पड़ा पंख उड़ने और चहकने के लिए मजबूर कर रहा हो।

दोराहे पर रुका। सामनेवाली सड़क बहुत दूर तक सीधी चली जाती है। दाईं ओर से घर जा सकता है। दूर तक सीधे चलते जाना हिम्मत का काम है।

वह मुड़ा। सिगरेट मुँह में लगाई तो याद आया कि माचिस नहीं खरीदी। ऐसी बेवकूफियाँ अक्सर हो जाती है। उसे आश्चर्य या पछतावा नहीं।

घर तक रोशनी के तेरह खम्भे हैं। पहला दोराहे पर और अन्तिम घर के सामने। इनकी बत्तियाँ रात में जलती हैं, दिन में बुझी रहती हैं। उसके अन्दर जो जलन है, वह कभी क्यों नहीं बुझती?...पर वह इंसान है, बिजलीघर नहीं। इंसान जले तो जलता रहता है, बुझे तो बुझ ही जाता है।...यदि इंसान का अपने पर भी नियन्त्रण होता? शरीर में जगह-जगह बटन होते? एक के दबाने से हँसता, दूसरे के दबाने से रोता? उठने-बैठने, बोलने-चालने, सोने-खाने, नाचने-गाने के अलग-अलग बटन होते?

केसरी ने कल्पना की कि उसके शरीर में भी बटन लगे हैं, और सोचते ही उसके मुँह से निकल गया, "अहमक!" होंठ काटकर उसने चारों ओर देखा कि किसी ने सुन तो नहीं लिया।

फाटक बन्द था। उसने नौकर को आवाज़ दी। कबीरा जल्दी फाटक खोल गया। ड्राइंगरूम केसरी को नया-सा लगा। कवीरे ने खूब मेहनत की थी। उसने ओवरकोट सोफे पर फेंक दिया। रेडियो खोल दिया।

कबीरा चिट्ठियाँ लाया। तिपाई की ओर इशारा करके केसरी रेडियो की सूई घुमाता रहा। कव्वाली, ठुमरी, दादरा, गज़ल, भजन और गीत—वह झुँझलाया। उसे कोई पसन्द नहीं आया। रेडियो बन्द कर दिया।

सिगरेट सुलगाते हुए याद आया कि कबीरा डाक रख गया है। तिपाई पर एकसाथ पन्द्रह-बीस चिट्ठियाँ देखकर उसे आश्चर्य हुआ। आसमानी रंग के लिफाफे के बाहर सुनहरी अक्षरों में 'न्यू इयर ग्रीटिंग्स,' छपा देखकर याद आया कि आज जनवरी की पहली तारीख़ है। उसने सोच लिया कि सब ऐसे ही कार्ड होंगे। अनुमान ठीक था। गिल्बर्ट से पूर्णिमा तक सबने छपे हुए कार्डों के नीचे हस्ताक्षर करके भेजे थे।

छोटा नीला लिफाफा बाहर से बन्द था। उसे खोला तो कोई छपा हुआ कार्ड नहीं निकला। उसे कुछ तसल्ली हुई। नीले कागज़ की तह को खोला। हरी स्याही से लिखी केवल एक पंक्ति उस पर चमक रही थी :

नए वर्ष के दिन पुराने वर्ष की स्मृतियाँ—श्यामा

पिछला साल पुराना हो गया। एक दिन के व्यवधान ने पिछले तीन सौ पैंसठ दिनों के समष्टि को अतीत के तहखाने में डाल दिया। ज़िन्दगी के सूत्र में एक और गाँठ पड़ गई।

पुराने वर्ष की स्मृतियाँ!

वे बातें जो ज़िन्दगी पर गहरी छाप छोड़ गईं, उनके लिए छोटा-सा शब्द—स्मृतियाँ।

उसने विचारों को रोका। दिमाग़ी ताने-बाने कैसी उलझनों में ले जाते हैं। असलियत से दूर वह कहाँ-से-कहाँ चला जाता है।

असलियत यह है कि आज पहली जनवरी है—मित्रों ने खुशी के पैगाम भेजे हैं और...श्यामा ने यह एक पंक्ति, जिसके हरे शब्द नीले कागज़ पर उभर रहे हैं।

हरे शब्दों की आकृतियाँ उसके सामने हैं। इन शब्दों के पीछे जो आकृतियाँ हैं, वे भी धुन्ध से निकलकर सामने आ रही हैं...।

शिमले के एक होटल में वह और पूर्णिमा बैठे थे।

पूर्णिमा चाय पी रही थी—या हलकी चुस्कियों से समय बिताने का बहाना कर रही थी। वह कुहनियाँ मेज़ पर रखे एक हाथ की उँगलियों को दूसरे हाथ से मसल रहा था।

उसका प्याला ख़ाली था। सिगरेट का आख़िरी टुकड़ा वह एशट्रे में डाल चुका था।

पूर्णिमा ने मुस्कुराकर कहा, "और सिगरेट क्यों नहीं मँगा लेते?"

उसने सिर हिलाया, "तबीयत नहीं।"

"और चाय?"

"नहीं।"

कुछ देर दोनों चुप रहे। पूर्णिमा हारकर बोली, "यों ज़रा-सी बात से तुम्हारा मूड बिगड़ गया। मेरे अपने विचार हैं। बुरा लगा हो तो मैं इस विषय को फिर छेड़ूँगी भी नहीं।"

उत्तर न देकर वह तश्तरी में प्याले को घुमाता रहा। बैरे को देखकर उसने कहा, "बिल।" बैरे ने प्लेटें उठा लीं।

सड़क पर चलते हुए पूर्णिमा ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह चुप रहा। पूर्णिमा उतावली-सी कहने लगी, "मैं मान लेती हूँ कि मैं ग़लती पर थी। तुम कुछ बोलो तो सही।"

"सर्दी कल से अधिक है," उसने उत्तर में कहा।

"मैंने सर्दी की बात नहीं पूछी।"

"और कोई बात भी हो, जिसे मैं कहूँ और तुम समझ लो?"

उसने चोट की थी। पूर्णिमा ने उसका हाथ छोड़ दिया। वह रुकी तो उसे भी रुकना पड़ा। पूर्णिमा ने गम्भीर होकर कहा, "मैं इधर से घर चलूँ..."

"अच्छा।"

वह आगे चल दिया। पैर तेज़ी से उठने लगे। वह जल्दी से अपने होटल पहुँचना चाहता था। अकेले बैठकर सोचना चाहता था। पूर्णिमा ने चाय पीते-पीते कितनी बातें कह दी थीं।

स्त्री के रूप कितनी जल्दी बदल जाते हैं। उसे क्या अनुमान था कि पूर्णिमा श्यामा के साथ उसके परिचय को लेकर ऐसी-ऐसी बातें कहेगी? अर्थहीन व्यंग्य–इसलिए कि श्यामा के साथ उसे सहानुभूति थी। उसने अपने विचारों को छिपाया नहीं–जो सोचा पूर्णिमा से कह दिया। यही ग़लती हुई। कपट न करना गुनाह है। पूर्णिमा ने यह कहने का साहस किया कि श्यामा उसे बरगला रही है।

माना श्यामा के साथ परिचय थोड़े दिनों का था। फिर भी क्या यह उसका फर्ज नहीं था कि उसे रात पार्टी के बाद घर तक छोड़ आता? रिक्शा नहीं मिला–वह पैदल अकेली जाती? वह पूर्णिमा के साथ कई बार गया है, तो श्यामा को ही क्यों टाल देता?

श्यामा! पहले परिचय में उसे लगा था कि वह एक कली की तरह है जिसे शबनम घुलने से पहले नाख़ून चुभो दिया गया है। दूसरे परिचय में वह अधिक जान गया था।

वह होटल पहुँच गया। सीधा अपने कमरे में जाता, पर बैरे ने पहले ही उसे एक परचा दिया। श्यामा ने घर आने के लिए लिखा था...परचा मिलते ही।

उसने छोटे-से कागज के टुकड़े की अवहेलना करनी चाही, पर उसके मन ने विद्रोह किया। यह कमज़ोरी क्यों? एक साधारण व्यंग्य के आगे वह क्यों झुक जाए? पूर्णिमा की आलोचना का महत्त्व ही क्या है? उसे जाना चाहिए...पर जाकर होगा भी क्या? श्यामा की मलिन हँसी, सोच-सोचकर कहे हुए शब्द! वह पहेली-सी रहना चाहती है, तो बुलाने से मतलब? दिखावटी घनिष्ठता! वह लोगों के व्यंग्य सहे, उन्हें उँगली उठाने का मौका दे, किसलिए?...नहीं, वह स्त्री है–एक उलझन जो अपने आप सुलझती है मगर धीरे-धीरे। वह एक जाल की तरह फैलती है, मगर स्वयं ही उधड़ने लगती है। फिर वह अभी उसका साधारण परिचित है...साधारण परिचित? साधारण परिचित को कोई ऐसे बुला भेजता है?

वह सड़क पर आ गया था। पैर चल रहे थे, वह जा रहा था। हृदय में गति थी, पैरों में गति थी, मस्तिष्क में गति थी। पर जैसे सब गतियों के सत्ताकेन्द्र अलग-अलग थे। उन्हें आपस में न मतलब था, न पहचान। वह भूला-सा जा रहा था, सोच रहा था।

श्यामा के साथ उसका परिचय नहीं था। पार्टी में इतने मित्र थे, पर श्यामा ने उसे ही साथ चलने को कहा, घर पहुँचने से पहले बाग़ में टहलने का सुझाव दिया, फिर चाय पर बुलाकर ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछती रही। उस दिन जीवन की बेजारियों की ओर संकेत करके वह बार-बार उसकी आँखों में क्यों देखती थी? फिर आज उसने घर बुलाया। और वह खुद श्यामा के बारे में क्यों पूर्णिमा से इतनी पूछताछ करता रहा? उससे कह बैठा था कि श्यामा में एक विचित्र आकर्षण है जो साधारण लड़कियों में नहीं होता। पूर्णिमा इसीलिए चिढ़ी थी?

चाँदनी में परछाई उसके आगे-आगे चल रही थी, जैसे अचेतन मन पैरों को खींच रहा हो। वह अचानक रुका। जहाँ से मुड़ना था, वहाँ से वह आगे निकल आया था। एक दृष्टि लम्बे रास्ते पर डालकर वह लौटा।

श्यामा कितनी उत्सुक थी! गोल कमरे में ले गई, और खुद ही उसके ओवरकोट के बटन खोलने लगी। उसने ओवरकोट नहीं उतारा। सोफे पर बैठ गया। श्यामा साथ आ बैठी। एक किताब के पन्ने पलटते हुए उसने पूछा, "तबीयत ठीक है न?"

"बिलकुल।"

"परचा मिल गया था?"

"हाँ, कैसे याद किया?"

"बात करने को जी चाहता था," हेअरपिन उतारकर फिर लगाती हुई वह बोली, "माँ गई है चंचल को छोड़ने। अकेले दिल नहीं लग रहा था।"

"तुम्हें अकेले रहना बहुत पसन्द है—तुमने कहा था।"

"हाँ, पर हमेशा नहीं।"

वह मुस्कुराई। ताज़ा मेकअप चेहरे पर खिल रहा था। पर उस ताज़गी में भी मलिनता छिपी हुई थी। वह देखता रहा—सौन्दर्य से अधिक उस दयनीयता को। श्यामा की आँखें ज़रा झुकीं। उन्हें अच्छी तरह लजाना नहीं आता था।

"एक गिलास पानी—नौकरानी से कह दो।"

वह स्वयं उठी। जाते-जाते उसने कहा, "नौकरानी घर में नहीं है।"

श्यामा दरवाज़े से निकल गई, तो भी कमरे में बसी हुई सुगन्ध उसकी उपस्थिति का आभास देती रही। वह दृष्टि घुमाकर कमरे की चीज़ें देखने लगा। फर्नीचर में चमक थी। मेज़पोश नए थे। मेज़ पर लेटरपैड था, लेटरपैड के पहले सफे पर पेंसिल से लिखे दो शब्द—डियर मिस्टर—मिस्टर काट दिया गया था। सजावट के सामान में दो अर्धनग्न परियाँ...

श्यामा पानी ले आई। गिलास लेते हुए उसने उसकी उँगली में अँगूठी देखी, अँगूठी में नीलम, नीलम में अंग्रेज़ी वर्णमाला का एक अक्षर 'एस'।

चार घूँट पीकर उसने गिलास रख दिया। श्यामा अपनी पहली जगह पर बैठ गई।

"नौकरानी कहाँ चली गई?" उसने पूछा।

"आज उसकी छुट्टी है," वह बोली।

"छुट्टी?"

"मैंने कहा एक दिन आराम कर ले। रोज़ तो काम करती है।" होंठ फिर मुस्कुराए। पर वह भौंहों पर खेलती करुणा को देखता रहा।

"परचा देने कौन गया था?" उसने पूछा।

"मैं।" श्यामा की बाँह उसके ओवरकोट की सिकुड़नों को छूने लगी थी।

"तुम गई थीं!" उसके स्वर में आश्चर्य था।

"क्यों, कोई हर्ज़ था?"

श्यामा वाचाल बनने की चेष्टा कर रही थी। वह देख रहा था उसकी आँखें—आँखें जो बहुत गहरी थीं। उनकी तह तक जाना उसके वश में नहीं था। वह देखता रहा।

पन्द्रह दिन में श्यामा एक अनबूझ पहेली के हल की तरह सरल लगने लगी। वह समझ चुका, वह समझा चुकी। बात साफ़ थी।

वह श्यामा के जीवन में पहला पुरुष नहीं था। पूर्णिमा की कई बातें सच थीं। पर जिस सच्चाई को वह कड़वी कहती थी वह श्यामा के पतले होंठों से कितनी लुभावनी और मधुर बनकर निकलती थी! उसकी छाती के बालों से खेलती हुई श्यामा बोली थी—उसने पहले भी प्यार किया है। वह इसे भूल नहीं मानती। शील उसके यौवन से निकट परिचित पहला युवक था। वह उसी से खेलने लगी। मगर वह दूर-दूर रही है, शील की भावुकता को उत्तेजित करने के लिए। फिर शील अचानक चला गया—इसे दुख नहीं है।

निर्झर की उमंग की तरह यौवन की पहली उमंग थी। शील उसकी गति में अवरोध बनकर आया। वह जीत गई—समझी कि जीत गई। वह बह जो गया।

गम्भीर मैदान की गोद में आने से पहले नदी कई बार गिरती टूटती और बिखरती है। यह अपराध नहीं, सत्ता का अनुभव है। अब वह भी जीवन के सम स्तर को पहचान चुकी है। उसे मंथर होकर चलना है।

श्यामा उसे समझाने के लिए इतनी बातें कहती, वह उसके होंठों की थिरकनें गिनता, पलकों के निमेष गिनता, माथे की सिकुड़नें गिनता। श्यामा समझती थी उसे बोलना चाहिए। वह जानता था बोलने से चुप रहना अधिक अच्छा है। उन होंठों को, उन पलकों को देखते रहना।

पन्द्रह दिन—

पन्द्रह दिनों की कहानियाँ बन गईं।

कहा जाता श्यामा चरित्रहीन है, केसरी पर डोरे डाल रही है। उसे फुसला रही है। श्यामा, जो कभी शील के प्यार का दम भरती थी, शील के शंघाई चले जाने पर, वहाँ से उसे पत्र न लिखने पर, उपहार न भेजने पर, अपना सिक्का दूसरे पर आज़माने चली है। जैसे खिलौनों से खेल रही हो—एक टूट गया, दूसरा सही।

वह सुनता था। वह देखता था। लोग इशारे करते थे। श्यामा उसकी बाँह में बाँह डालकर चलती थी। लोग आवाज़ें कसते थे। वह मुस्कुराता था। किसी की परवाह वह क्यों करे? वह श्यामा से प्यार कर रहा था, उसके व्यवहार के लिए नहीं, सौन्दर्य के लिए नहीं—उस मलिनता को दूर करने के लिए जो उसके व्यवहार में घुलती

जा रही थी, उसके सौन्दर्य में घुलती जा रही थी। तिरस्कृत होने की भावना बेचारी के जीवन रस को सुखा देती। वह यह नहीं चाहता था। सहानुभूति हो जाती है। और सहानुभूति से प्यार।

उस दिन प्रातः की झड़ी दोपहर बाद रुकी। अपने कमरे की खिड़की के पास बैठा वह पढ़ रहा था। दरवाज़ा खुला और बन्द हुआ। पूर्णिमा थी।

''पूर्णिमा, इतने दिनों के बाद?'' वह स्वागत के लिए उठा।

पूर्णिमा बैठी। कुछ क्षण चुपचाप उसकी आँखों में देखती रही।

''आज कैसे भूल पड़ीं?'' उसने फिर पूछा।

''मिलने चली आई। तुमने कहा था कि न चार सप्ताह से अधिक नहीं रहोगे यहाँ।''

''ख़याल है अभी रहूँगा।''

पूर्णिमा ज़रा गम्भीर होकर बोली, ''तुम्हारा विचार रहने का है, मैं जानती हूँ। पर तुम रहोगे नहीं शायद।''

पूर्णिमा की बात उसकी समझ में नहीं आई। वह इतने निश्चित स्वर में कह रही थी कि पल-भर के लिए उसे स्वयं ही अपनी बात पर सन्देह हो गया। फिर यह सोचा कि शायद पूर्णिमा यह समझी कि वह श्यामा के साथ...।

श्यामा के साथ उसे चार बजे चाय पीनी थी। साढ़े तीन हो चुके थे। वह बोला, "चलते-चलते बात करें, तो कैसा रहे? चार बजे मेरी चाय है।''

''श्यामा के साथ?''

वह बोला नहीं। केवल सिर हिला दिया।

''कहाँ एपॉइंटमेंट है?''

उसने पूर्णिमा को देखा। पूर्णिमा की दृष्टि में भी उतना ही व्यंग्य था, जितना स्वर में।

''उसके घर पर ही,'' उसने टाई ठीक करते-करते उत्तर दिया।

''पर वह आज घर पर नहीं है।'' पूर्णिमा ने स्वर में अधिक गम्भीरता लाने की कोशिश की।

''चार बजे तक आ जाएगी। वह एपॉइंटमेंट मिस नहीं करती।''

''वह आज किसी वक़्त भी घर पर नहीं आएगी।''

कोट को हैंगर पर ही छोड़कर पूर्णिमा के चेहरे को पढ़ लेने के इरादे से वह उसके निकट आया। पूर्णिमा की आँखें स्थिर थीं, और भौंहें जैसे उपहास कर रही थीं।

''आएगी नहीं, तुमसे किसने कहा?'' उसने पूछ लिया।

''श्यामा की माँ ने।''

''श्यामा की माँ ने?''

"हाँ। श्यामा दो-चार दिन लाहौर रहेगी, फिर कराची जाएगी, वहाँ से शायद...।"
"पूर्णिमा!" वह अस्वाभाविक स्वर में बोला "तुम्हें किसने बहका दिया?"
"मैं ही नहीं, तुम्हारे सब मित्र जानते हैं।"
वह और निकट आया। स्वर को स्वाभाविक रखकर उसने कहा, "यह क्या पहेली है—श्यामा लाहौर रहेगी, कराची जाएगी?"
"शील का यही प्रोग्राम है।"
"शील का?"
"श्यामा की माँ कहती थी। कराची से शायद उसे शंघाई जाना पड़े।"
फिट्-फिट् करती एक मोटरसाइकिल तेज़ी से आई और निकल गई। केसरी के विचारों का ताँता टूटा। होटल नहीं, उसका घर। पूर्णिमा नहीं, सामने तिपाई पर नए साल के ग्रीटिंग कार्ड्स। हाथों में नीला कागज़—नीले कागज़ पर हरी पंक्ति...।
'पुराने वर्ष की स्मृतियाँ,' वह बड़बड़ाया। झटके के साथ उसने छोटा कोट उतारा और सामने कुर्सी पर फेंक दिया। शरीर कुछ ऐसे हलका हो गया जैसे पुराना साल गले से उतार फेंका हो। फिर वह सोफे पर लेट गया और हरे कागज़ को गोल करके उसके अन्दर से छत की कड़ियों को देखने लगा। एक के बाद दूसरी। उसके बाद तीसरी। उसके बाद चौथी...।
बाहर अँधेरा गहरा होता गया।

वासना की छाया में

पहले-पहल पुष्पा को मैंने घर के सामने पम्प पर पानी भरते देखा था। उसकी आँखें मुझे पतली कौड़ियों जैसी लगीं। उसने दो-तीन बार आँख भरकर मुझे देखा तो मुझे लगा कि या तो मेरे बाल बहुत सफ़ेद हो गए हैं, या मैं अपनी उम्र से चार-पाँच साल छोटा लगता हूँ। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह उस सहज विश्वास-भरी दृष्टि से मुझे देखती, मानो कह रही हो, "चलो आँखमिचौनी खेलते हो?"

पुष्पा की उम्र तेरह साल होगी। अधिक-से-अधिक चौदह साल होगी। उसका रंग गोरा पंजाबी था। उसके शरीर को पूरा खिलने में दो-तीन साल रहते थे, फिर भी उसकी आँखों में वह विस्मय भर गया था जो यौवन का अर्थ पहले-पहल समझने पर कुछ दिनों के लिए रहता है। उसे जैसे आश्चर्य था कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाब का रंग गुलाबी क्यों है?"

"आप पानी भर लीजिए," पुष्पा ने अपनी बाल्टी हटाकर मुझसे कहा।

"नहीं, तू भर ले," मैंने यह सोचकर कहा था कि शायद वह मेरे सफ़ेद बालों का सम्मान कर रही है।

"आपको दफ़्तर जाना है, आप भर लीजिए," उसने कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्व का पता है, काम-काज का पता है और उसका लिहाज़ मेरे सफ़ेद बालों तक सीमित नहीं।

"तेरा नाम क्या है?" मैंने अपनी बाल्टी में पानी भरते हुए पूछा।

"पुष्पा," उसने संकोच के साथ उत्तर दिया।

"किस क्लास में पढ़ती है?"

वह और भी संकुचित हो गई। बिना मेरी ओर देखे बोली, "मैं स्कूल नहीं जाती।"

"क्यों?" मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आँखोंवाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती? यूँ मैं किसी लड़की से ज़्यादा सवाल नहीं करता, क्योंकि वे ज़रा-से परिचय को घनिष्ठता समझने लगती हैं। पर पुष्पा अभी उस रेखा से दूर थी जहाँ जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

"मैं यहाँ नहीं रहती," पुष्पा ने इस तरह कहा जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। "मैं बापू के साथ गाँव से आई हूँ। बापू को यहाँ थोड़ा काम है। उसका काम हो जाएगा तो हम अपने गाँव चले जाएँगे।"

मैंने देखा कि उसकी आँखों ने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अन्दर अभी वही ताज़गी थी जो नई बहार की कलियों में होती है। वह गाँव से आई थी और गाँव चली जाएगी। वहाँ जाकर सरसों के पीले-पीले फूलों से खेलेगी और मीठा नरम साग खाएगी। कोई रात को आग के पास हीर गाएगा और विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवा का संगीत ही सही—वह उसके रोम-रोम को थपथपाकर उसे सुला देगा।

सुबह उठकर वह पशुओं को चारा देगी। प्रभात के स्वर उसे फुसलाएँगे तो वह नंगे पैरों नदी की ओर भाग जाएगी। जब तक मन में आएगा वहाँ तैरती रहेगी। लौटती हुई वह धान के खेत से मूलियाँ और शलजम उखाड़ लाएगी। उसके गीले बाल रूखे ही सूख जाएँगे, पर उसे चिन्ता न होगी। उसके फूटते हुए वक्ष उसकी गीली कमीज़ में कटोरियाँ-सी निकाल देंगे, पर उसे उसकी होश न होगी। वह घर लौटकर गणित के प्रश्नों से नहीं उलझेगी। भूगोल की रेखाएँ नहीं याद करेगी। कोश लेकर कविताओं के अर्थ नहीं ढूँढ़ेगी। वह जिधर देखेगी कविताएँ फूटने लगेंगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पम्प चलाए जा रहा हूँ, हालाँकि बाल्टी भर चुकी है और पानी इधर-उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता छिपाने और पुष्पा के सौजन्य का बदला चुकाने के लिए मैंने अपनी बाल्टी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पा की बाल्टी में डाल दिया।

"ऊई!" वह एक कदम पीछे हट गई, "मेरी बाल्टी छू गई।"

"छू कैसे गई?" मैंने लज्जा और अपमान महसूस करते हुए पूछा।

पुष्पा ने मेरे छिपे हुए भाव को भाँप लिया। उसने क्षमा माँगने के ढंग से कहा, "जी, मैं बाल्टी माँजकर लाई थी। आपकी बाल्टी मँजी हुई नहीं थी।"

यह सुनकर मेरी आत्मा फिर उदार हो गई। मैंने अपने को याद दिलाया कि बाल्टी को राख में मला जाए, तभी जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे गलीज फ़र्श पर रखकर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातुनों के ढेर पर।

"मेरी बाल्टी भी मँजी हुई थी, मैंने सवेरे माँजी थी," मैंने झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारण के झूठ बोलता हूँ। दिन में कई-कई बार बोलता हूँ। यह मुझे अच्छा भी लगता है, मैं सच कह रहा हूँ।

जो मुँह से झूठ नहीं बोला, वह मन में झूठ बोलता है। जो मन से झूठ बोलता है, वह मुझसे ज़्यादा ख़तरनाक है। क्योंकि वह सच का दावेदार है, इसलिए वह और भी झूठा है।

पुष्पा ने मुस्कुराकर बाल्टी का पानी गिरा दिया और ज़मीन से मिट्टी उखाड़कर बाल्टी को मलने लगी। मैं अपनी बाल्टी में फिर से पानी भरने लगा।

किसी ने दूर से उसे पुकारा, "पप्पीऽ!"

"आई बाबूऽ!" उसने पुकारकर उत्तर दिया।

"अभी पानी नहीं भरा?"

"नहीं बाबूऽ!"

"जल्दी कर सिर मुंडीऽ।"

मैंने उधर देखा। एक लम्बा बूढ़ा जाट सामने की कोठी के बरामदे में खड़ा सिर पर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज़ बहुत कर्कश थी, दूसरे उसकी सफ़ेद दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसी से वह मुर्गियाँ झटकता रहा हो! उसकी आँखों का रंग बताता था कि उसने रात को खूब शराब पी है, क्योंकि नशा अभी तक उसकी पुतलियों में तैर रहा था। पगड़ी लपेटकर उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा और पुष्पा को फिर आवाज़ दी, "जल्दी कर, लाड़ की बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेंकूँ!"

यह देखकर कि मेरी बाल्टी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पम्प चलाने लगा। जाट ने पीठ मोड़ ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियों का एक दाँव फेंककर मुस्कुराई। उसकी मुस्कुराहट ने मुझसे कहा, 'तुम बेवकूफ़ हो। बापू की गालियाँ बेटी को नहीं लगा करतीं।'

उसके बाद दो-तीन बार फिर मैंने पुष्पा को देखा। न जाने क्यों उसे देखकर हर बार मुझे गहरे लाल रंग के मखमली फूल याद आ जाते। बचपन में मैं वे फूल अपने कोट पर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पा के बापू को भी मैंने देखा—दातून करते, जूड़ा बाँधते या गालियाँ बकते। उसकी मुझ पर कुछ ऐसी छाप पड़ी जैसे बरसात होकर हटी हो और पुराने गले हुए टीन के छप्पर पर से महीनों का सूखा बीट पानी के साथ गल-गलकर टपक रहा हो।

उस दिन दफ़्तर से लौटते हुए मैं अड्डा नकोदर से फर्लांग-भर आया था जब मैंने लक्षित किया कि सफ़ेद दाढ़ीवाला वह जाट मुझसे दो कदम हटकर साथ-साथ चल रहा है। मैं ज़रा तेज़ चलने लगा तो वह भी तेज़ चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी। उसने भी चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी सह्य नहीं कि मैं सड़क पर किसी के साथ-साथ चलूँ, क्योंकि मैं जिसके साथ चलता हूँ, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसी की तरह चलूँ और उसी की तरह सोचूँ। पर कोई मेरे साथ-साथ चले तो वह मुझे बहुत अच्छा लगता है, क्योंकि वह मेरी तरह चलता है और अपनी तरह सोचता है।

"कहाँ चल रहे हो, बाबूजी?" पुष्पा के बापू ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पूछा।

"मॉडल टाउन," मैंने इस अन्दाज़ में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ और सिर्फ़ इसलिए पैदल चल रहा हूँ कि मुझे संध्या के समय पैदल घूमने का शौक है।

"हम भी वहीं चल रहे हैं। डॉक्टर गुरबख्श सिंह मदान को जानते हैं? वे हमारे ही गाँव के हैं। शहर में आकर हमारा उन्हीं के घर डेरा होता है।" फिर पास आकर बोला, "चलो राह चलते एक से दो भले।"

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे चलने में उसे भले ही लाभ हो, उसके साथ चलने में मुझे कोई लाभ नहीं, पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआबा का जाट जोश में आकर मेरे सिर का पंजाब न बना दें।

"आप इधर के ही हैं?" जाट ने जब परिचय बढ़ाने की चेष्टा की।

"नहीं," मैंने उत्तर दिया।

"तो जालन्धर में कब से हैं?"

मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है, उन सबका उत्तर एकसाथ ही उसे दे दूँ, जिससे उसकी जिज्ञासा पूरी शान्त हो जाए। इसलिए मैंने कहा कि मैं दो महीने से यहाँ हूँ। सेक्रेटरियट में असिस्टेंट सुपरवाइज़र हूँ। वेतन एक सौ बीस रुपया है। ऊपरी आमदनी हो जाने की आशा है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की देख रहा हूँ। पढ़ाई की चौदह जमातें पास की हैं। तरकारियों में मुझे गोभी पसन्द है। फलों में मैं आम पसन्द करता हूँ। हर इतवार को शरीर पर कड़वे तेल की मालिश करता हूँ। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाता है। उसकी उम्र चालीस साल है। मेरे बर्तन उसकी लड़की मलती है। उसकी उम्र बीस साल है।

यह सब उसे सुनाकर मैंने मन में कहा कि पूछ ताऊ, अब क्या पूछता है।

पर जाट ने फिर भी पूछा, "क्यों जी, गढ़वाली ने अभी तक लड़की का ब्याह नहीं किया?"

यह हद थी! मगर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा। सन्तोष-असन्तोष अपने घर की चीज़ है। पर पीठ का दर्द जाकर डॉक्टर को दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मा पर इस बात का गर्व है कि वह हवा का रुख देखकर फौरन तिरछी से सीधी हो जाती है। मैंने जाट का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझकर उसका स्वाभाविक-सा उत्तर दिया, "उसकी लड़की विधवा है।"

"अच्छा जी, विधवा है? फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठाएगा।"

मैं आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी होता तो गढ़वाली से पूछ रखता कि वह अपनी लड़की को दूसरी जगह बिठाएगा या नहीं। पर इतिहास में मेरी रुचि तैमूरलंग की लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी जाट को उत्तर देना आवश्यक था। उसकी मूँछों के बाल अँगड़ाइयाँ लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटने की नीयत से कहा, "वह देखभाल तो कर रहा है। आगे लड़की की तकदीर है।"

''लड़की देखने में अच्छी है?'' जाट ने पूछा।

''देखने में अच्छी है और स्वभाव की भी मीठी है,'' मैंने इसलिए कहा कि कम-से-कम बात में तो थोड़ा रोमांस रहे।

''अच्छा जी!'' जाट बोला, ''सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है?''

''काम में वह सुस्त है। हाँ, बातें बहुत करती है।''

''अच्छी जी!'' जाट बोला। ''रगों में जवानी हो तो काम नहीं सुहाता।''

उसकी टिप्पणी का मज़ा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखों में भूखी बिल्ली की-सी जलन दिखाई दी। उसके होंठ बूढ़ी वासना की लार से गीले हो रहे थे। उसका रस-भंग करने के लिए मैंने रुककर जूतों को झाड़ा और कहा, ''इन कच्चे रास्तों पर सरदारजी जूतों का तो कचूमर निकल जाता है।''

जाट ने मेरे अभिनय और शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुन में कहा, ''बाबूजी, आज आपके गढ़वाली से मुलाक़ात हो सकती है?''

''क्यों?'' मैंने उसकी ओर देखकर पूछा। मुझे लगा कि वासना का लार चू-चूकर लम गया है और इंसान के आकार में धरती पर रेंग रहा है।

''मुझे एक ज़मींदारनी की ज़रूरत है, बाबूजी!'' जाट ने कहा। ''मैं ज़मींदार हूँ। पास के गाँव में मेरी चार एकड़ ज़मीन है। पाँच एकड़ ज़मीन ज़िला करनाल में है। यहाँ के गाँव का लम्बरदार हूँ। घरवाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूँ तो मेरी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है। घर में एक गाय और दो भैंसें हैं। घरवाली आ जाए तो उनका चारापानी हो जाएगा और मेरी भी दो रोटियाँ हो जाएँगी।'' फिर उसने मेरी बाँह पकड़कर मिन्नत के लहजे में कहा, ''आपके गुण गाऊँगा सरकार, मेरा यह काम ज़रूर करा दीजिए।''

वह बोल रहा था तो उसके शब्दों की गूँज अपना अर्थ मुझे और तरह समझा रही थी। वह कह रही थी, ''मुझे औरत के गर्म मांस की ज़रूरत है, बाबूजी! मैं चाहे बूढ़ा हूँ, पर मेरे अकेले के पास नौ एकड़ ज़मीन है। घर में गाय-भैंसें हैं और सबकुछ है, सिर्फ़ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियों पर गर्म मांस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियाँ गर्म मांस का चारा अब भी माँगती है। इनके लिए चारा चाहिए, सरकार जैसे भी हो सके इनके चारे का प्रबन्ध कर दीजिए।''

किसी तरह गला छुड़ाने के लिए मैंने कहा, ''गढ़वाली पंजाबियों के साथ ब्याह नहीं करते, सरदारजी! उसका बाप उसे किसी गढ़वाली के घर ही बिठाएगा।'' मेरी बात सुनकर जाट ढीला हो गया। उसकी मूँछों के बाल, जो अब तक अँगड़ाइयाँ ले रहे थे, सुस्त होकर बैठ गए। वह ठंडी साँस लेकर बोला, ''कहीं भी कामयाबी नज़र नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी कैम्पों से मिल जाती है। पर मैं सवा साल

से चक्कर लगा-लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डॉक्टर साहब ने एक पहाड़िन चार सौ में ठीक की थी, वह भी मेरी दाढ़ी देखकर मुकर गई।''

''पर तुमको तो घर की देखभाल के लिए ही ज़रूरत है न, सरदारजी?'' मैंने कहा, ''एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?''

''नौकर उतना काम नहीं दे सकता, बाबूजी! ज़मींदार का घर है। चार आने वाले, चार जाने वाले। फिर सेवा के लिए एक गाय, दो भैंसें। इतना कुछ तो घरवाली ही सँभाल सकती है।''

''तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी दुरुस्त करे और तुम्हारी गाय-भैसों का दूध भी दुहे?''

''वह क्यों दुहे सरकार? वह आराम से घर में बैठे। दूध दुहने को हम क्या मर गए हैं?''

यह आज़माने के लिए कि वह अपने को कहाँ तक सौदे में डालता है, मैंने उपदेश के रूप में कहा, ''इस उम्र में कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी सरदारजी, जो पहले कई घरों में घूम चुकी हो और जिसे दूसरा ठौर-ठिकाना न हो। ऐसी को घर में डाल लोगे?''

मैंने देखा, जाट की मूँछों के बाल फिर अँगड़ाइयाँ लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर फिर मेरी बाँह पकड़ ली और बोला, ''आपके पास है बाबूजी, ज़रूर आपके पास कोई है!''

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दों का यह अर्थ भी निकल सकता है। थोड़ा भद्दा पड़कर मैंने स्पष्ट करने के लिए कहा, ''यह मतलब नहीं सरदारजी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो सिर्फ़ बात के लिए बात कर रहा हूँ।''

''नहीं बाबूजी, आपके पास ज़रूर कोई है,'' जाट ने विनय और अनुरोध के साथ कहा। ''मेरी पगड़ी अपने पैरों पर समझो और मेरा काम करा दो। दो-चार सौ में आपके सिर से वार दूँगा—एक बार अपने मुँह से कह दो कि है।''

मैंने जाट को सिर से पैर तक देखा। उसकी भौंहें सफ़ेद हो रही थीं। आँखें छोटी होकर केवल दाग कर गई थीं। गालों का मांस लटक आया था। दाँत आधे टूट चुके थे। जो दाँत शेष थे, उनकी जड़ों में लहू रिस-रिसा रहा था। बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ी के सफ़ेद बालों में फैल गया था और वह मुझसे विश्वास माँग रहा था कि मैं कह दूँ है—एक औरत है, जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना यौवन राँधकर उसे खिला सकती है, क्योंकि वह ज़मींदार है और उसके घर में गाय और दो भैंसें हैं, और उसकी हड्डियों में जितना ज़ोर है, उससे कहीं अधिक उसकी गाँठ में पैसा है।

''बोले नहीं बाबूजी?'' जाट व्याकुल उत्सुकता के साथ बोला।

"मैं किसी को नहीं जानता सरदारजी," मैंने धीरे से उत्तर दिया।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़क पर जाकर मेरी नज़र पुष्पा पर पड़ी जो बरामदे में खड़ी अपने बापू की प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आए। मैंने जाट की ओर देखकर पूछा, "तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पड़ोसी हो न, सरदारजी?"

"नहीं जी, हम कल अपने गाँव जा रहे हैं," जाट ने कहा। "यहाँ अब किसके भरोसे बैठे रहें? वहीं चलकर देखभाल करेंगे। और नहीं तो बदले में ही कोई लड़की देखेंगे..."

"बदले में?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"हमारे में यह रिवाज है, बाबूजी! बराबर का रिश्ता हो तो दो घर आपस में लड़कियाँ बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसा ही कोई घर देखूँगा।"

मैंने देखा पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है, वह गाली उसे नहीं लगती। पर बापू जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

मिट्टी के रंग

मैथिलोन ने अनन्नास का टुकड़ा ज़बान से छुआते ही मुँह बिचकाकर कहा, "किसी काम का नहीं। पैसा लेकर पैसे का मूल्य देना ये इजिप्शियन लोग जानते ही नहीं। सूप था तो वह गरम पानी। रोटी थी तो वह कचरे की। मांस जाने कुत्ते का था या लोमड़ का। और अब आख़िरी कोर्स में यह बुसा हुआ अनन्नास! धन्य रे पिरामिडों के देश!

मैथिलोन का चेहरा देखकर सदानन्द मुस्कुराया। उसे अनन्नास की बजाय उस समय अपनी पतलून की लकीर का अधिक ध्यान था। खाने की बात को महत्त्व देना उसे पसन्द नहीं था। उसका विचार था कि अच्छा-बुरा जो भी खा लो पेट में जाकर सब गल जाता है। पर पतलून की लकीर एक ऐसी चीज़ है जो दिखाई देती है, इसलिए जब तक शहर में रहो वह ठीक रहनी चाहिए।

सदानन्द को मुस्कुराते देख मैथिलोन की टेढ़ी भौंहें पिघलकर सीधी हो गईं और नासिकाओं पर काँपता क्रोध धुल गया। रूमाल से होंठ पोंछते हुए उसने मदिर भाव से पूछ लिया, "उसका नाम क्या है?"

"किसका नाम?"

"उसका, जिसकी याद में तुम मुस्कुरा रहे हो?"

सदानन्द और भी मुस्कुराया। उसने पत्थर मारने की तरह हाथ हिलाकर कहा, "तू यहूदी!"

मैथिलोन ने तुरन्त गम्भीर होकर माथे पर बल डाल लिए, और कुर्सी से टेक लगाकर बोला, "मेरे साथ मज़ाक मत करो। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

23 नवम्बर, 41 की रात के नौ बजे थे। मिस्र स्थित भारतीय सेना के ये दोनों सैनिक संध्या से काहिरा की हवा में मनोरंजन के उद्देश्य से निकले थे। सड़कों पर तमाशबीनी के बाद 'मेट्रो' में ग्रेटा गार्बो की पिक्चर देखकर अब लौटते हुए उस सस्ते ढाबे में खाना खाने के लिए रुके थे जिसके बाहर एक चाँद और तीन सितारे जगमगा रहे थे, और जिसके अन्दर बीस-बीस पियास्ता देकर उन्हें चार-चार कोर्स खाने को मिल गए थे। "मिस्र भी देख लिया।" मैथिलोन ने विरक्ति के साथ चारों ओर नज़र

घुमाकर कहा, "जहाँ भी चले जाओ, वही गन्दगी, वही कसैलापन और वही एकतारता।"

"तुमसे कोई क्या कहे?" सदानन्द ने जूते का फ़ीता कसते हुए कहा, "तुम्हें तो यहाँ के पिरामिडों में भी विशेषता नज़र नहीं आई।"

"नाम मत लो।" मैथिलोन तीखा होकर बोला, "मिस्र के पिरामिड और हिन्दुस्तान का ताजमहल! इनसे ज़मीन का कितना भाग घिरता है? मेरी आँखें ज़मीन के चप्पे-चप्पे को देखती हैं, और जानते हो मुझे क्या नज़र आता है? एक भीड़, और उस भीड़ में ठग, गुंडे, वेश्याएँ?"

"मैं बताऊँ मुझे क्या नज़र आता है?" सदानन्द ने मधुरता के साथ कहा।

"तुम्हें नज़र आती है रेत के पहाड़ों पर फिसलती चाँदनी। यह मौत को दिल से भुला रखने का अच्छा बहाना है।"

मौत के नाम से सदानन्द अन्दर से काँप उठा। मौत! दनदनाती गोलियाँ और आग उगलते टैंक! एक-एक इंच ज़मीन जीतने के लिए लोहे के पिशाचों का नाच।

उसने अपनी उँगली में लोहे के छल्ले को छुआ। एक लकीर खिंचकर हृदय तक चली गई। माधवी के शरीर का स्पर्श ताज़ा हो आया। कितनी ही रेत, कितने ही पहाड़, कई नदियाँ, कई खेत, कई हवाएँ और कई बोलियाँ लाँघकर एक छोटा-सा गाँव—जहाँ आज भी दो आँखें उस दिशा में देखती होंगी, जिधर से उसके लौटने की सम्भावना है। और पिघले सोने जैसा माधवी का यौवन...

उसकी जाँघ का घाव दुखने लगा। अभी पिछले ही महीने उसे गोली लगी थी। गोली एक फुट ऊँची आती तो उसकी छाती में लगती। उसका अर्थ होता मौत! मौत क्यों? ज़मीन जीतने के लिए। ज़मीन जो सारी ताजमहल और पिरामिड नहीं, मिट्टी है, मिट्टी जिसके नीचे हैं, कीड़े, साँप, छछूँदर। ऊपर हैं ठग, गुंडे, वेश्याएँ!

सदानन्द की आँखें मैथिलोन से मिलीं तो मैथिलोन के चेहरे की हलकी झुर्रियाँ खिलते मांस में विलीन हो रही थीं। मैथिलोन ने कुहनियाँ मेज़ पर टिकाकर पूछा, "अच्छा बता तो दो, उसका नाम क्या है?"

"किसका नाम?" सदानन्द ने बिना अपने विचारों से बाहर निकले कहा।

"उसका, जिसकी याद में तुम रोने जा रहे हो।"

"मैं अपनी पत्नी की बात सोच रहा हूँ।" सदानन्द ने भावुक होकर कहा। "यह छल्ला उसने मुझे आते समय दिया था।"

कहकर उसने छल्लेवाली उँगली मैथिलोन की ओर बढ़ा दी। मैथिलोन ने छल्ले को उसकी उँगली में घुमाया और उठते हुए कहा, "इज्राएल!"

सड़क पर आकर वे दोनों देर तक चुपचाप चलते रहे। हवा की खुश्क वीरानगी इधर-उधर से धूल सहेज रही थी। मैथिलोन बड़े-बड़े संग्रहालयों की सजावट देखता

चल रहा था, पर सदानन्द एक ऐसी अनुभूति में खो रहा था जो इंसान के लिए वातावरण को रसहीन बना देती है और अन्दर से उसकी आत्मा, 'यहाँ नहीं वहाँ, यहाँ नहीं वहाँ' की धुन छेड़ देती है।

चौराहे के पास आकर मैथिलोन ने कहा, "आज की रात और कल की रात बीच में है। परसों हमारी टुकड़ी फ्रंट पर भेज दी जाएगी। उसके बाद फिर जाने काहिरा का यह फुटपाथ, यह खम्भा और ये इश्तिहार कभी देखने को मिलेंगे या नहीं! क्या कहते हो?"

"मैं लड़ना नहीं चाहता।" सदानन्द के मन की विकलता एक वाक्य में बाहर निकल आई।

तो ज़हर खा लो। जब तक ज़िन्दा हो, तब तक तुम लड़ने के लिए मज़बूर हो। तुम्हारे चाहने-न-चाहने की परवाह यहाँ किसी को नहीं। तुम्हारी जान दूसरों ने खरीद रखी है। उनके काम आओ, नहीं तो नष्ट हो जाओ।" इतना कहकर मैथिलोन ने उसके कन्धे पर हाथ रखा और फिर कहा, "हम दूसरों की लड़ाई लड़ रहे हैं दोस्त! इस लड़ाई में सिपाही की एक ही चीज़ अपनी है, और वह है वेतन के रुपए। उन्हें वह जिस तरह चाहे ख़र्च कर सकता है।" अचानक वह बोलता-बोलता रुक गया और दूर अँधेरी गली की ओर देखने लगा। कुछ देर तक एकटक देखकर वह धीरे से बोला, "वह उस गली के बाहर एक लड़की खड़ी है। बोलो, चलते हो?"

सदानन्द ने वहाँ इजिप्शियन पोशाक में एक चुस्त युवती को देखा, जिसकी आँखें मलमली घूँघट के पीछे चंचल हो रही थीं।

"तुम कैसे जानते हो, वह मिल सकती है?" उसने झिझक के साथ पूछा।

"मैं आँखें देखने के लिए और नाक सूँघने के लिए इस्तेमाल करता हूँ। बोलो, चलते हो?"

"नहीं।" सदानन्द ने कहा और उसके हाथ ने उँगली के छल्ले को छू लिया। एक कम्प में उसे ढुलकते आँसुओं, धड़कते वक्षों और अधकहे वाक्यों का स्मरण हो गया। वह माधवी को कितने-कितने बचन और आश्वासन देकर आया था।

"परसों फ्रंट पर जाना है, पता है?" मैथिलोन ने जैसे तरस खाकर कहा।

"पता तो है ही।"

"फिर भी नहीं चलते?"

"नहीं।"

"तुम बेसमझ हो।"

"नहीं, मैं बेसमझ नहीं हूँ।"

"तो तुम नपुंसक हो।" कहकर मैथिलोन ने उसके मुरझाए चेहरे पर नज़र डाली और फिर उसे बच्चे की तरह थपथपाकर कहा, "अच्छा जाओ, बैरक में जाकर सो

रहो। मैं सवेरे परेड के मैदान में मिलूँगा।"

और सीटी बजाता वह उसे छोड़कर अँधेरी गली की ओर चला गया।

कुछ दिन बाद जब रात आधी जा चुकी थी, पूरा चाँद आकाश में चमक रहा था और ठंडी हवा, ठंडी रेत के पहाड़ों को उड़ाकर इधर से उधर बिखेर रही थी, सदानन्द और मैथिलोन अपनी टुकड़ी के साथ रेत पर पेट के बल रेंगते हुए बढ़ रहे थे। तीन ओर से वे घिरे हुए थे, और एक ही दिशा थी जिधर जाकर उनके बच रहने की सम्भावना थी। वे उसी दिशा में धीरे-धीरे सरक रहे थे।

पूरा सन्नाटा था। फिर भी रह-रहकर सदानन्द को आभास हो रहा था कि जर्मन मशीनें अब गरजने ही वाली हैं। न जाने कौन-सा क्षण आए, जब तीनों दिशाएँ एकसाथ फट पड़ें। उस क्षण से जूझने के लिए वह तैयार था, पर समय का यह ख़ामोश अन्तराल इतना बड़ा और इतना ठंडा था कि इसे सहन करना उसे असम्भव लग रहा था। दूर क्षितिज तक फैली रेत थी। रेत के ऊपर फैली चाँदनी थी। चाँदनी में सैकड़ों छोटे-छोटे रेत के टीले जली हुई चिताओं की तरह दिखाई दे रहे थे। इस समय वह यदि यहाँ मर जाए, कोई उसे उठाए नहीं और रेत उसे ढाँप ले, तो वह भी दूर से एक ऐसा ही टीला नज़र आए। इतना ही ठंडा, एकान्त और डरावना!

टुकड़ी टीलों के बीच से सरकती हुई बढ़ रही थी। सिपाही जानते थे कि वे जितनी दूर जा सकें, ज़िन्दगी के उतने ही नज़दीक रहेंगे। इसलिए वे आगे-आगे और सरकते जा रहे थे, कि अचानक–

चिटचिटचिटचिट चिटाख चिटचिटाख चिटचिटचिट चिटाख...पीछे दाएँ और बाएँ से गोलियाँ बरसने लगीं। सरकते हुए सैनिकों की टुकड़ी ने रुख बदल लिए और अपनी रायफलों के घोड़े दबा दिए। सदानन्द वातावरण को भूलकर अंधाधुंध गोलियाँ चलाने लगा। ज़िन्दगी कुछ देर के लिए चिटचिटचिटाख की ध्वनियाँ सुनने और पैदा करने में ही सीमित हो गई। कौन गिरा, मरा, कराहा या घायल होकर तड़पा, यह जानने का अवकाश नहीं था। एक गोली सदानन्द के कन्धे को छील गई। वह अपना घाव देखने के लिए भी नहीं रुका। वह अभी ध्वनियाँ पैदा कर सकता था, इसलिए वह ध्वनियाँ पैदा करता रहा। चिटचिटचिटाख चिटचिटचिट चिटाख।

एक बाँह ने उसके कन्धे को छुआ। घाव दुख गया। सदानन्द ने तड़पकर देखा। मैथिलोन था। मैथिलोन बुरी तरह ज़मीन पर रेंग रहा था। अपने पीछे वह रेत पर गाढ़े लहू की मोटी लकीर छोड़ता आ रहा था। उसकी वर्दी के सीने पर लहू का बड़ा-सा दाग बन रहा था, जो धीरे-धीरे और बड़ा होता जा रहा था। उसे इस अवस्था में पहचानकर सदानन्द का हाथ रुक गया। वह मैथिलोन के शरीर पर झुका। झुकने

पर उसके अपने कन्धे का लहू मैथिलोन के होंठों और गालों पर गिरने लगा। सदानन्द पीछे हट गया। मैथिलोन का चेहरा गूँधे हुए आटे जैसा हो रहा था। उसने सदानन्द को देखकर कुछ बोलने की चेष्टा की पर उसके होंठ नहीं खुल सके। कठिनता से उसने अपना हाथ उठाया और अपनी ज़ेब की ओर संकेत किया। फिर उठा हुआ हाथ लहू के दाग में भच करके रह गया। मैथिलोन के प्राण निकल गए।

तीन तरफ़ से गोलियाँ आ रही थीं। सदानन्द ने जल्दी-जल्दी मैथिलोन की वह ज़ेब देखी जिसकी ओर उसने संकेत किया था। वहाँ उसे एक कागज और एक छोटी-सी डिबिया मिली। ये दोनों चीज़ें उसने अपने पास रख लीं। फिर उसने अपनी रायफल उठाई और लगातार कई ध्वनियाँ पैदा कर दीं। और जब उसकी गोलियाँ समाप्त हो गईं तब उसे ज्ञात हुआ कि अपनी टुकड़ी में वही एक था जो अब तक गोलियाँ चला रहा था। इस समय वह एक ऊँचे टीले के पास था। आसपास बहुत-से मृत शरीर पड़े थे। सामने दूर तक रेत के टीले थे। उन पर उसी तरह चाँदनी बिखरी थी। सदानन्द सरककर बड़े टीले की ओट में आ गया। वहाँ उसने अपनी रायफल फेंक दी और उठकर दौड़ने लगा। गोलियों की आवाज़ें आ रही थीं। उसके पैर पूरे-पूरे रेत में धँस रहे थे। दिशा का या रास्ते का उसे पता नहीं था। वह भाग रहा था, क्योंकि उस समय भागना ही उद्देश्य था। वह मौत की ध्वनियों से जितना दूर हो सके, उतना दूर निकल जाना चाहता था। इसलिए वह भागता गया, भागता गया, और जब वह बुरी तरह थक गया, उसकी पिंडलियाँ ऐंठने लगीं और घुटने बैठने लगे, उसके बाद भी वह निरन्तर भागता ही रहा।

रात बीत गई और सवेरा हुआ। सवेरे के बाद दोपहर हुई। दोपहर की गरमी से जब रेत की छाती जलने लगी, उस समय सदानन्द की नीमबेहोश आँखें खुलीं। उसने चारों ओर देखा। वह था, ज़मीन थी और आकाश था। रेत के टीले उस समय भी वैसे ही थे जैसे उसने रात को चाँदनी में देखे थे। पर इस समय वे जली हुई चिताओं जैसे नहीं, सुलगते हुए भट्टों जैसे दिखाई दे रहे थे।

सदानन्द उठकर बैठ गया। चिलचिलाती धूप थी। धरती और आकाश का हर परमाणु गरम था। उसका अपना शरीर अन्दर और बाहर से तप रहा था। उसका गला बिलकुल सूख गया था। पानी की बोतल निकालकर उसने दो-चार घूँट पिए। इतने धूप से अन्दर का उत्ताप शान्त नहीं हुआ। उसने गटागट आधी बोतल पी डाली। फिर को देखा। आकाश को देखा। आगे और पीछे देखा। एक अन्त से दूसरे अन्त तक रेत। कहीं और कुछ नहीं। रेत।

उसे अपना गाँव याद आया। कहाँ है वह गाँव? इस धरती के किस कोने में? क्या वह धरती और यह धरती एक ही है?

सहसा उसे मैथिलोन का गूँधे आटे जैसा चेहरा याद हो गया। मैथिलोन रात को मर गया। हो सकता था वह भी रात को मर जाता। पर वह नहीं मरा। वह भाग आया और बच गया।

उसने मैथिलोन की डिबिया निकाली। उसमें दो हीरे-जड़ी अँगूठियाँ थीं। वह देर तक उन्हें देखता रहा। अँगूठियाँ धूप में बहुत चमकती थीं। फिर उसने मैथिलोन का तह किया हुआ कागज खोला। वह एक पत्र था जिस पर छह महीने पहले की तिथि थी और जो मैथिलोन ने अपनी बहन के नाम लिखा था :

"मैं नहीं जानता कि कब किस घड़ी मेरी मौत हो जाएगी। इसलिए यह पत्र मैं आज ही लिखकर अपने पास रख रहा हूँ। मुझे मौत की आशंका हर समय है, यद्यपि मैं नहीं जानता कि मेरी मौत किस उद्देश्य से होगी। मैं जिनसे लड़ता हूँ, वे क्यों मेरे दुश्मन हैं, मैं नहीं जानता। मैं लड़ता हूँ क्योंकि मुझे लड़ने का वेतन मिलता है। वे लड़ते हैं क्योंकि उन्हें लड़ने का वेतन मिलता है। सिपाही से कमांडर तक हरएक को वेतन मिलता है। मिनिस्टर और प्राइम मिनिस्टर को वेतन मिलता है। सम्राट और उसके परिवार को वेतन मिलता है। इतने वेतनों के पीछे कोई लड़ानेवाली शक्ति है। मैं उसे नष्ट नहीं कर सकता क्योंकि मुझे हर महीने वेतन की ज़रूरत पड़ती है। मैं वेतन पाने के लिए उन्हीं पर गोलियाँ चलाता हूँ जो मेरी तरह वेतन लेते हैं, और गोलियाँ चलाते हैं। मेरी गोलियों ने कइयों की जानें ली हैं। किसी की गोली एक दिन मेरी जान ले लेगी। फिर मैं तुमसे नहीं मिल सकूँगा। इसलिए दो अँगूठियाँ तुम्हारे लिए ला रखी हैं। ये भी वेतन के पैसों की हैं। मेरा कोई मित्र इन्हें तुम तक पहुँचा देगा। इन्हें मेरी ज़िन्दगी और मौत की याद के रूप में अपने पास रख छोड़ना, विदा!"

उसने अँगूठियाँ बन्द करके रख लीं, और एक ठंडी साँस ली। काश, कि वह आज हिन्दुस्तान जा सके, और ये अँगूठियाँ मैथिलोन की बहन के हाथ में दे सके।

विदा! विदा! अब मैथिलोन मुँह से विदा कहने नहीं आएगा। उसे जान देनी पड़ी क्योंकि उसके प्राण बिके हुए थे। केवल ये अँगूठियाँ उसकी अपनी थीं। क्या मैथिलोन की बहन इन अँगूठियों के हीरों में अपने भाई की तलाश को देख पाएगी।

दहलते दिल से सदानन्द ने सोचा, जब वह हिन्दुस्तान जाएगा, तब वह माधवी के लिए भी दो ऐसी हीरों की अँगूठियाँ बनवाकर लेता जाएगा। माधवी को उसने कभी कोई उपहार नहीं दिया। अभी परसों पहली तारीख़ है। पहली तारीख़ को वेतन मिलेगा। उस दिन वह एक हलका-सा छल्ला खरीदेगा और...।

रेत का एक बवंडर पास से उठा और वह सिर से पैर तक रेत में ऐसे घिर गया कि कई क्षण साँस भी नहीं ले सका। उस एक झोंके से उसका विश्वास डाँवाडोल हो गया। उसने सोचा, परसों पहली तारीख़ है, पर पहली तारीख़ तक वह अपनी छावनी में पहुँच जाएगा? यह रेत का तूफान उसे जाने देगा? यदि वह नहीं निकल

सका, और उसका राशन-पानी समाप्त हो गया, फिर? क्या यह रूखी ज़मीन उसे जीता छोड़ेगी?

सदानन्द डर गया, और डरकर उठ खड़ा हुआ। पश्चिम को लक्ष्य में रखकर वह चलने लगा। काफ़ी देर तक वह चलता रहा। जब धूप में संध्या की छायाएँ घुलने लगीं, तब उसने रुककर चारों ओर देखा। सब ओर धरती का फैलाव उतना ही था जितना उसने चलते समय देखा था। दूर सामने एक विशाल टीला था जो उसकी राह में ज़िन्दगी और मौत की दीवार की तरह खड़ा था। उसने मन को समझाया कि टीले के पार ही शायद छावनी होगी, और छावनी नहीं तो कोई आबादी होगी, और आबादी नहीं तो कोई झोंपड़ी होगी। वहाँ जाकर उसके प्राण बच जाएँगे। इसलिए वह टीले की ओर दौड़ने लगा। थोड़ी देर में चारों ओर चाँदनी फैल गई। वह इसी विश्वास के साथ दौड़ता रहा। उसे इतना ही धैर्य था कि रास्ता कट रहा है। पर बहुत दौड़ चुकने के बाद यह धैर्य भी टूटने लगा। क्योंकि टीला अब पहले से भी दूर चला गया था। फिर भी वह बहुत देर तक और बहुत दूर तक दौड़ा। पर टीला उसकी पहुँच में नहीं आया।

कुछ रोज़ बाद काहिरा के मिलिट्री अस्पताल में एक हिन्दुस्तानी सिपाही की लाश पोस्टमार्टम के लिए आई क्योंकि वह रेत में मरा हुआ पाया गया था और उसके शरीर पर गोली का कोई घातक निशान नहीं था। यह लाश सदानन्द की थी। चीरफाड़ के बाद लाश जलवा दी गई।

पर जिस सिपाही ने उस लाश को पहले-पहल देखा था, उसे उसके हाथ में एक छोटी-सी डिबिया और पेंसिल से लिखा हुआ कागज भी मिला था।

इस सिपाही का नाम महानन्द था। यह भी हिन्दुस्तानी फौज़ की एक टुकड़ी में था। कागज की लिखावट को पढ़कर उसकी आँखों में आँसू आ गए थे, और उसने अपने आप यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी कि उस डिबिया को, पता-ठिकाना पूछकर, मरे हुए सिपाही के घर भेज देगा। कागज उसी के नाम था जिसे वह मिल जाए और उसमें सदानन्द ने लिखा था–

''मैं नहीं जानता था कि अब मेरे जीवन की कितनी घड़ियाँ शेष हैं। मैं चाहता हूँ कि मैं मरने से पहले एक बार अपने घर जा सकूँ, और एक बार माँ और माधवी के चेहरे देखकर पहचान सकूँ। मेरे नीचे ठंडी ज़मीन है, और इस ज़मीन को मैं नहीं पहचानता। मेरे चारों ओर चाँदनी है, पर चाँदनी का यह रूप वह नहीं है, जो मेरे घर के आँगन में था। यह चाँदनी मौत की तरह डरावनी है। मैं यह चाँदनी नहीं चाहता। मैं मरना नहीं चाहता। पर मुझे लगता है मैं मर रहा हूँ। मुझे अभी वेतन लेकर पैसे घर भेजने हैं। मुझे हीरे की अँगूठियाँ माधवी को देनी हैं। मैं मर गया तो मुझे हर महीने वेतन नहीं मिलेगा। माधवी के पास कोई गहना नहीं जिसे वह बेच

ले। मेरे पास दो हीरे की अँगूठियाँ हैं। मैं मैथिलोन से कह दूँगा। वह मेरी बात समझ जाएगा। पर मेरे घर अँगूठियाँ लेकर कौन जाएगा? मेरा घर बहुत दूर है।''

महानन्द का हृदय पढ़ते-पढ़ते इतना पिघला, कि वह उस पत्र को फिर दूसरी बार नहीं पढ़ सका।

और महानन्द को दो दिन की छुट्टी मिली तो वह अपने एक साथी के साथ संध्या को शहर में घूमने गया। वहाँ एक अँधेरी गली के पास एक चुस्त इजिप्शियन युवती उसकी ओर मुस्कुराई। महानन्द की ज़ेब में उस समय पूरे महीने का वेतन था, इसलिए युवती से उसे रात-भर के लिए प्रेम मिल गया।

जब वह प्रेम का मूल्य चुकाकर विदा होने लगा, तो युवती ने उसकी आँखों में आँखें डालकर उससे कोई ऐसी निशानी माँगी जिससे वह उसे हमेशा के लिए याद रख सके।

महानन्द ने ज़ेब से एक हीरे की अँगूठी निकालकर बड़े प्यार से उसे पहना दी। युवती ने पूरे स्नेह के साथ महानन्द के होंठों को चूम लिया। महानन्द ने दूसरी अँगूठी निकालकर उसके दूसरे हाथ में पहना दी।

नये बादल (1957)

भूमिका

मैं यह समझता हूँ कि कहानियाँ पढ़नेवाले से एक भूमिका पढ़ने की आशा करना ज़्यादती है। मगर एक ऐसा वर्ग भी है जो कहानियाँ पढ़ने से पहले लेखक का दृष्टिकोण जान लेना चाहता है। उसी वर्ग को दृष्टि में रखते हुए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ।

आज कहानी के सम्बन्ध में एक नई दृष्टि पनप रही है, जिससे कहानी के प्रभाव का स्वरूप भी बदल गया है और जिन स्रोतों से हम कहानी लिखने की प्रेरणा लेते हैं, उनका क्षेत्र भी काफ़ी विस्तृत हो गया है। हमारे चारों ओर जीवन का हर अणु किन्हीं प्रभावों से चालित हो रहा है। हम उन प्रभावों को पहचान सकें तो हर अणु की अपनी एक कहानी है। जिस राह पर से दो चरण गुज़र जाते हैं, उस राह के वक्ष पर उन पग चिह्नों से एक कहानी लिखी जाती है। हर जीवित इंसान के चेहरे पर एक कहानी लिखी रहती है, जो उसके चेहरे की झुर्रियों में, उसकी पलकों के निमेषों में और उसके माथे की सलवटों में पढ़ी जा सकती है। मेरे दरवाज़े पर जो चिक लगी है, वह उन हाथों की कहानी है, जो धूप में बैठकर उसे रँगते रहे हैं। मेरे फ़र्श पर बिछी हुई दरी शायद एक प्रणय की कहानी है, जो धागों को आपस में उलझाते हुए दो हृदयों में अंकुरित हो उठा था। इस समय एक व्यक्ति बाहर धूप में रद्दी ख़रीदने के लिए सड़कों के चक्कर काट रहा है। इस व्यक्ति के जीवन में सन्ध्या और रात भी आती है, जब यह कुछ निजी लोगों के छोटे से दायरे में बैठकर खिलखिलाकर हँसता है या माथे पर हाथ रखे हुए लम्बी साँस लेता है। इसकी चारपाई पर एक मैला खेस बिछा है, इसके लड़के की आँख फूल आई है, इसके रसोईघर की दीवार धुएँ से काली हो गई है, इसकी पत्नी के चेहरे पर फिर भी एक करुण मुस्कुराहट है और वह इसके हाथ में इसकी बहन का पत्र दे देती है कि उसके पति ने फिर उसे बुरी तरह पीटा है और वह घर छोड़कर उनके पास आ रहना चाहती है– यह एक व्यक्ति की ही नहीं, उसके पूरे समय की भी कहानी है। कहानी का प्रत्यक्ष कैनवस बहुत छोटा और साधारण हो सकता है पर जिस परोक्ष की ओर उसका संकेत है, वह छोटा और साधारण नहीं है।

पिछले कुछ वर्षों में हम सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन के जिस संक्रान्तिकाल में से गुज़रे हैं, उसकी नाना परिस्थितियाँ हमारी पीढ़ी की कला के विकास में सहायक भी हुई हैं और बाधक भी। सहायक इसलिए कि निरन्तर बदलते हुए जीवन ने इस पीढ़ी के लेखक की चेतना पर बार-बार चोट की है और उसे अपने वातावरण के प्रति बहुत सचेत बना दिया है, और बाधक इसलिए कि हिन्दी को प्राप्त हुई नई मान्यता के कारण रचना की माँग बढ़ जाने से लेखकों के एक वर्ग में व्यवसाय-बुद्धि ज़ोर पकड़ गई और रचना के आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा उसकी द्रव्यार्जन शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी। परिणामतः जहाँ इस पीढ़ी के लेखकों के एक वर्ग ने बहुत ईमानदारी से साहित्यिक मूल्यों के विकास का प्रयत्न किया, वहाँ दूसरे वर्ग ने केवल लिखने के लिए लिखा और सामान्य पाठक के लिए यह विवेक करना लगभग असम्भव कर दिया कि इन दोनों वर्गों की विभाजक रेखा कहाँ से आरम्भ होती है। जिन लेखकों ने कहानी के स्वरूप का वास्तव में परिमार्जन और परिष्कार किया है और उसे जीवन की भूमि के अधिक निकट ला दिया है, वे आज भी कहानी के लिए नये-नये धरातल खोज रहे हैं। यथार्थ की विविधता और व्यापकता को कहानी में अंकित करने के बहुमुख प्रयोग चल रहे हैं। सतह से देखा जाए तो भले ही आज का जीवन शिथिल और गतिहीन प्रतीत हो पर बारीक निगाह से देखने पर उसमें इतनी हलचल देखी जा सकती है, जितनी पहले कभी नहीं रही। जिस काल में परिस्थितियाँ हर तीन-चार साल में जीवन को एक झटका दे जाती हों और एक साधारण सामाजिक किसी निश्चित सूत्र को पकड़कर अपना सन्तुलन बनाए रखने में असमर्थ हो गया हो, जबकि व्यक्ति की योग्यता और जीवन में उसकी उपलब्धि का सम्बन्ध लगभग टूट गया हो, जब कि हरएक की भविष्य की खोज अन्धी गली में हाथ मारने की तरह हो, उस समय को छोड़कर एक लेखक के अध्ययन और चित्रण के लिए उपयुक्त और कौन सा समय हो सकता है? वास्तव में जीवन की संकुलता आज के लेखक के लिए एक चुनौती है। वह इस चुनौती को स्वीकार करे और जीवन की पंकिल गहराई में डुबकी लगाने का साहस करे तो वह रोम्याँ रोलाँ के 'माकट प्लेस' जैसी रचना प्रस्तुत कर सकता है, बल्कि उससे कहीं अधिक बारीक रेखाएँ उघाड़ सकता है, क्योंकि बीते हुए कल की उपलब्धियाँ आज के लेखक के लिए आदर्श नहीं, आरम्भ का संकेत हैं। वहाँ से उसकी गति का श्रीगणेश होता है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है। निरन्तर कुलबुलाते और संघर्ष करते हुए सामाजिक पार्श्व का एक व्यापक भाग अक्रूरता रहा है, जिसकी पहचान और पकड़ हमारे लेखकीय दायित्व का अंग है।

आज कुछ लोग कहानी का सम्बन्ध एक विशेष तरह के शिल्प या वस्तु के साथ जोड़कर उसका मूल्याकंन करना चाहते हैं। इसे बहुत स्वस्थ और अधिकारी दृष्टि नहीं कहा जा सकता। कहानी की उत्कृष्टता का यह प्रमाण क्योंकर है कि कहानी इस वर्ग को लेकर लिखी गई है या उस वर्ग को, और कि उसका सम्बन्ध गाँव के जीवन से है या क़स्बे के या नगर के? क्या अनिवार्यतः इस दृष्टि का यह अर्थ नहीं कि हम जीवन के विकासशील रूप की वास्तविकता को स्वीकार करना नहीं चाहते? जीवन जड़ नहीं है तो उसके किसी बँधे हुए रूप को ही आदर्श मान लेना क्या प्रगति में अविश्वास का द्योतक नहीं? इस परम्परावाद को कहाँ तक सार्थक कहा जा सकता है? हमारी रचना का क्षेत्र निःसीम है और रचना की वास्तविक सिद्धि उसके प्रभाव की व्यापकता में है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो और उसकी रचना उसके और पाठक के बीच एक घनिष्ठता की स्थापना कर सके। इसके लिए अभिव्यक्ति में जिस स्वाभाविकता की आवश्यकता है वह जीवन की सहज अनुभूतियों से जन्म लेती है और वह स्वतः ही रचना को सहज संवेद्य बना देती है। ये अनुभूतियाँ हमें जीवन के हर पक्ष और हर पहलू से प्राप्त हो सकती हैं।

अब कुछ अपनी बात। 'इंसान के खंडहर' के बाद यह मेरा दूसरा कहानी संग्रह है। कई कारणों से शायद 'इंसान के खंडहर' का पुनर्मुद्रण न हो सके; परन्तु उस संग्रह की कहानियाँ पाठकों को बाद के संग्रहों में मिल जाएँगी। उस संग्रह के सम्बन्ध में मुझे जो पाठकों की सम्मतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनसे निश्चित रूप से मुझे अपने को समझने में सहायता मिली है। इसके लिए मैं आभार का अनुभव करता हूँ। प्रस्तुत संग्रह के लिए मैंने अपनी अब तक की कहानियों में से सोलह कहानियाँ चुनी हैं। कुछ और कहानियाँ इसके बाद ही प्रकाशित होनेवाले दूसरे संग्रह में जा रही हैं।

1 जनवरी, 1957 **—मोहन राकेश**

पिछले कुछ वर्षों में हम सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन के जिस संक्रान्तिकाल में से गुज़रे हैं, उसकी नाना परिस्थितियाँ हमारी पीढ़ी की कला के विकास में सहायक भी हुई हैं और बाधक भी। सहायक इसलिए कि निरन्तर बदलते हुए जीवन ने इस पीढ़ी के लेखक की चेतना पर बार-बार चोट की है और उसे अपने वातावरण के प्रति बहुत सचेत बना दिया है, और बाधक इसलिए कि हिन्दी को प्राप्त हुई नई मान्यता के कारण रचना की माँग बढ़ जाने से लेखकों के एक वर्ग में व्यवसाय-बुद्धि ज़ोर पकड़ गई और रचना के आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा उसकी द्रव्यार्जन शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी। परिणामतः जहाँ इस पीढ़ी के लेखकों के एक वर्ग ने बहुत ईमानदारी से साहित्यिक मूल्यों के विकास का प्रयत्न किया, वहाँ दूसरे वर्ग ने केवल लिखने के लिए लिखा और सामान्य पाठक के लिए यह विवेक करना लगभग असम्भव कर दिया कि इन दोनों वर्गों की विभाजक रेखा कहाँ से आरम्भ होती है। जिन लेखकों ने कहानी के स्वरूप का वास्तव में परिमार्जन और परिष्कार किया है और उसे जीवन की भूमि के अधिक निकट ला दिया है, वे आज भी कहानी के लिए नये-नये धरातल खोज रहे हैं। यथार्थ की विविधता और व्यापकता को कहानी में अंकित करने के बहुमुख प्रयोग चल रहे हैं। सतह से देखा जाए तो भले ही आज का जीवन शिथिल और गतिहीन प्रतीत हो पर बारीक निगाह से देखने पर उसमें इतनी हलचल देखी जा सकती है, जितनी पहले कभी नहीं रही। जिस काल में परिस्थितियाँ हर तीन-चार साल में जीवन को एक झटका दे जाती हों और एक साधारण सामाजिक किसी निश्चित सूत्र को पकड़कर अपना सन्तुलन बनाए रखने में असमर्थ हो गया हो, जबकि व्यक्ति की योग्यता और जीवन में उसकी उपलब्धि का सम्बन्ध लगभग टूट गया हो, जब कि हरएक की भविष्य की खोज अन्धी गली में हाथ मारने की तरह हो, उस समय को छोड़कर एक लेखक के अध्ययन और चित्रण के लिए उपयुक्त और कौन सा समय हो सकता है? वास्तव में जीवन की संकुलता आज के लेखक के लिए एक चुनौती है। वह इस चुनौती को स्वीकार करे और जीवन की पंकिल गहराई में डुबकी लगाने का साहस करे तो वह रोम्याँ रोलाँ के 'माकट प्लेस' जैसी रचना प्रस्तुत कर सकता है, बल्कि उससे कहीं अधिक बारीक रेखाएँ उघाड़ सकता है, क्योंकि बीते हुए कल की उपलब्धियाँ आज के लेखक के लिए आदर्श नहीं, आरम्भ का संकेत हैं। वहाँ से उसकी गति का श्रीगणेश होता है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है। निरन्तर कुलबुलाते और संघर्ष करते हुए सामाजिक पार्श्व का एक व्यापक भाग अक्रूरता रहा है, जिसकी पहचान और पकड़ हमारे लेखकीय दायित्व का अंग है।

आज कुछ लोग कहानी का सम्बन्ध एक विशेष तरह के शिल्प या वस्तु के साथ जोड़कर उसका मूल्याकंन करना चाहते हैं। इसे बहुत स्वस्थ और अधिकारी दृष्टि नहीं कहा जा सकता। कहानी की उत्कृष्टता का यह प्रमाण क्योंकर है कि कहानी इस वर्ग को लेकर लिखी गई है या उस वर्ग को, और कि उसका सम्बन्ध गाँव के जीवन से है या क़स्बे के या नगर के? क्या अनिवार्यतः इस दृष्टि का यह अर्थ नहीं कि हम जीवन के विकासशील रूप की वास्तविकता को स्वीकार करना नहीं चाहते? जीवन जड़ नहीं है तो उसके किसी बँधे हुए रूप को ही आदर्श मान लेना क्या प्रगति में अविश्वास का द्योतक नहीं? इस परम्परावाद को कहाँ तक सार्थक कहा जा सकता है? हमारी रचना का क्षेत्र निःसीम है और रचना की वास्तविक सिद्धि उसके प्रभाव की व्यापकता में है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो और उसकी रचना उसके और पाठक के बीच एक घनिष्ठता की स्थापना कर सके। इसके लिए अभिव्यक्ति में जिस स्वाभाविकता की आवश्यकता है वह जीवन की सहज अनुभूतियों से जन्म लेती है और वह स्वतः ही रचना को सहज संवेद्य बना देती है। ये अनुभूतियाँ हमें जीवन के हर पक्ष और हर पहलू से प्राप्त हो सकती हैं।

अब कुछ अपनी बात। 'इंसान के खंडहर' के बाद यह मेरा दूसरा कहानी संग्रह है। कई कारणों से शायद 'इंसान के खंडहर' का पुनर्मुद्रण न हो सके; परन्तु उस संग्रह की कहानियाँ पाठकों को बाद के संग्रहों में मिल जाएँगी। उस संग्रह के सम्बन्ध में मुझे ज़ो पाठकों की सम्मतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनसे निश्चित रूप से मुझे अपने को समझने में सहायता मिली है। इसके लिए मैं आभार का अनुभव करता हूँ। प्रस्तुत संग्रह के लिए मैंने अपनी अब तक की कहानियों में से सोलह कहानियाँ चुनी हैं। कुछ और कहानियाँ इसके बाद ही प्रकाशित होनेवाले दूसरे संग्रह में जा रही हैं।

1 जनवरी, 1957 **—मोहन राकेश**

नये बादल

उस रात तत्ता पानी की धर्मशाला में ख़ास हलचल दिखाई दे रही थी। धर्मशाला का चौकीदार हाथ में लालटेन लिये हुए व्यवस्थापूर्वक नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे आ-जा रहा था। धर्मशाला में कुल सोलह कमरे थे जिनमें से ग्यारह कमरे शाम होने से पहले ही भर गए थे। शेष कमरों में से दो कमरों को उसने दोहरा ताला लगा रखा था क्योंकि कभी कोई मालिक का परवाना लेकर आ पहुँचता तो उसे जगह देना आवश्यक हो जाता था। इस तरह उसके पास कुल तीन कमरे ख़ाली थे और जगह चाहनेवाले लगभग बारह-चौदह व्यक्ति उसके आगे-पीछे घूम रहे थे। इतने लोगों का साथ होना ही उसके लिए मुसीबत थी। लोग एक-एक करके आते तो वह उनसे मौक़े के मुताबिक चार-चार, आठ-आठ आने लेकर उन्हें कमरे खोल देता। मगर इतने लोगों के साथ होने से वह किसी से भी पैसे की बात नहीं कर सकता था। बिना पैसे लिये किन्हीं तीन लोगों को कमरे दे देना भी सम्भव नहीं था क्योंकि इससे और लोग शिकायत करते कि वह पक्षपात कर रहा है। वह चाबियाँ ढूँढ़ने के बहाने कभी इधर से उधर और कभी ऊपर-नीचे आ-जा रहा था कि किसी तरह दो-एक लोगों से अकेले में ही बात करने का मौका लग जाए तो वह उनसे पैसे लेकर पक्षपात के दोष से बच जाए। पैसे लेकर तो वह ईमानदारी से कह सकता था कि वे लोग औरों से पहले उसके पास आए हैं, इसलिए कमरों पर पहला हक उन्हीं का है।

उस रात इतने लोगों के एकसाथ आ जाने का ख़ास कारण था। वैसे तो हर अमावस को बहुत-से यात्री शिमला और हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों से वहाँ गन्धक के चश्मे में नहाने के लिए आया करते थे, पर उनमें से आठ-दस ही रात को धर्मशाला में ठहरते थे। ज़्यादातर लोग संध्या से पहले ही वापस चले जाते थे। परन्तु उस दिन सोमवती अमावस होने के कारण एक तो अधिक संख्या में लोग बाहर से आएं थे, और दूसरे, बादल घिरे रहने के कारण वर्षा के डर से बहुत कम लोग लौटकर गए थे।

सम्भव था कि यह अनिश्चय की स्थिति देर तक बनी रहती, परन्तु वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदों ने सहसा ही समस्या को सुलझा दिया। समस्या के इस तरह समाधान

की न चौकीदार ने क़ल्पना की थी और न स्वयं उन लोगों ने जो बूँदें पड़नी आरम्भ होते ही अपना सामान उठाकर उन कमरों में घुस गए जिनमें दूसरे लोग पहले से ठहरे हुए थे। चौकीदार ने रोकने की चेष्टा की। अन्दरवालों ने विरोध किया, दो-एक जगह गाली-गलौज और हाथापाई भी हुई, पर क्योंकि यह कदम सामूहिक रूप से उठाया गया था और हरएक के सामने दूसरों का दृष्टान्त मौजूद था, इसलिए जो एक बार जिस कमरे में पहुँच गया वह फिर वहाँ से बाहर नहीं निकला। इस तरह कुछ कमरों में तो तीन-तीन, चार-चार नए आदमी पहुँच गए और कुछ कमरे बिलकुल ही बचे रह गए। एक कमरे का अधिकारी, जिसके पास चार अतिथियों ने आश्रय ले लिया था, बाहर निकलकर चौकीदार को धमकाने और उससे अपनी अठन्नी वापस माँगने लगा, तो चौकीदार ने घोषणा कर दी कि उसे चाबियों का गुच्छा मिल गया है और उसने सभी बन्द कमरे खोल दिए। कमरे खुलने की सूचना पाकर भी बलात् कमरों में घुसे हुए लोग अपनी-अपनी जगह से नहीं हिले। अलबत्ता जिन्होंने चौकीदार को पैसे देकर कमरे लिए थे, उनमें से कई व्यक्ति एक-एक स्वतन्त्र कमरे पर अधिकार करने के इरादे से बिस्तर लपेट बाहर निकल आए, और इस तरह पाँच कमरों के लिए सात-आठ अधिकारी बाहर पहुँच गए। उनमें फिर गाली-गलौज और हाथापाई हुई और दो-एक ने उसी तरह दूसरों द्वारा अधिकृत कमरों के आधे-आधे भाग पर कब्ज़ा जमा लिया जैसे कुछ देर पहले बाहर के लोगों ने उनके कमरों में आकर किया था। जो एक सज्जन भद्रतापूर्वक लौट आए, उन्होंने देखा कि उनकी सुरक्षित जगह पर तब तक नवागन्तुकों ने बिस्तर बिछा लिए हैं, जो उतनी-सी देर में सो भी गए हैं और उनके लिए दहलीज़ के पास जगह छोड़ दी गई है जहाँ वर्षा की हलकी फुहार आ रही है।

ख़ैर, थोड़ी देर में हंगामा शान्त हो गया। रात की निःस्तब्धता में अब सतलुज के बहने का शब्द सुनाई दे रहा था या वर्षा की बूँदों का शब्द। बीच-बीच में दूर खच्चरों की घंटियों की आवाज़ सुनाई देने लगती थी जो क्रमशः पास आती जाती थी। फिर लकड़ी के पुल पर खच्चरों के चलने का शब्द सुनाई देता था। उसके बाद घंटियों की आवाज़ रुक जाती थी। दरिया के इस पार खच्चरवालों के डेरे थे।

धर्मशाला के चार नम्बर के कमरे में चबूतरे पर एक मद्धम-सा दीया जल रहा था। दीये के पास चबूतरे पर ही एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति लेटा था जिसने चौकीदार को अठन्नी देकर वह कमरा लिया था। चौकीदार ने अठन्नी के बदले उसे चौधरी का रुतबा दे दिया था, और वहाँ शाम से उसका वही नाम चल रहा था। कमरे में दीया रखने के लिए उसने चौकीदार को अलग से एक इकन्नी दी थी, पर उसमें से चौकीदार ने तेल पर पच्चीस फीसदी से अधिक ख़र्च नहीं किया था, इसलिए दीये की लौ अब बुझने को हो रही थी।

जिस समय बाहर से तीन व्यक्ति उसके कमरे में घुस आए, उस समय चौधरी दीया बुझाकर सोने जा रहा था। तीन व्यक्तियों को अनाधिकार अपने कमरे में प्रवेश करते देख पहले तो वह कुछ अव्यवस्थित हुआ; फिर उसने साहस बटोरकर उन्हें बतलाया कि वह उसका कमरा है, वे लोग भूल से वहाँ आ गए हैं। इस पर जब एक नवयुवक ने स्थिति स्पष्ट की कि बाहर वर्षा होने लगी है इसलिए वे भीगने के डर से कमरे में शरण ले रहे हैं, तो वह कुछ क्षण असन्तोष के भाव से उनकी ओर देखता रहा। फिर वह चौकीदार को आवाज़ देने के लिए दरवाज़े तक गया। वहाँ से उसने आसपास के कमरों से आती हुई झगड़े की आवाज़ें सुनीं और वस्तुस्थिति का ठीक परिचय पाकर अपने स्थान पर लौट आया। उसका क्रोध खीझ में बदल गया। पहले उसने निश्चय किया कि उस घटना की ओर से ध्यान हटाकर दीया बुझाकर सो जाए। परन्तु फिर उसे लगने लगा कि उसने दीया बुझा भी दिया तो नींद नहीं आएगी। उसके हृदय में यह भाव व्याप्त हो रहा था कि उसे इस स्थिति के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ अवश्य कहना या करना चाहिए। वह लेटा हुआ कई क्षण चुपचाप आगन्तुकों तक के चेहरों का अध्ययन करता रहा। नवयुवती दरी पर लेटकर छत की ओर देख रही थी। एक नवयुवक अपने घुटने पर पुस्तक और पुस्तक पर कागज़ रखकर कुछ लिख रहा था। दूसरा नवयवुक दीवार से टेक लगाए हलकी-हलकी सीटी बजा रहा था। चौधरी उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कल्पना करने लगा। क्या वे तीनों भाई-बहन थे ? वह बहुत ध्यान से उनके चेहरों की रेखाओं का अध्ययन करने लगा। उसे उनके चेहरों में कोई समानता दिखाई नहीं दी। दोनों नवयुवक आकृति में एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। उनकी त्वचा और बालों के रंग भी नहीं मिलते थे। हाँ, नवयुवती के बालों का रंग थोड़ा एक नवयुवक के बालों से मिलता था। परन्तु बालों का रंग इस बात का प्रमाण कैसे माना जा सकता कि वे भाई-बहन हैं? फिर उनके साथ घर का कोई और व्यक्ति क्यों नहीं था? तो क्या वह नवयुवती उनमें से किसी एक की पत्नी थी? चौधरी को यह भी सम्भव प्रतीत नहीं हुआ क्योंकि नवयुवती के भाव, चेष्टाओं और वस्त्रों में पत्नीत्व का कोई लक्षण नहीं था। व्यवहार में संकोच न रहने पर भी उसके चेहरे पर कौमार्य की छाया विद्यमान थी। तो क्या? और तीसरी सम्भावना पर आते ही जैसे चौधरी को निश्चित उत्तर मिल गया। उसे लगा जैसे वह आरम्भ से ही वही बात सोच रहा था। वे लड़के अवश्य उस लड़की को भगाकर लाए थे। उसका तर्क इस विचार की पुष्टि करने लगा। उन लोगों के पास सामान बहुत थोड़ा था। उनके चेहरों से उद्विग्नता झलक रही थी। फिर वे बहुत थके हुए प्रतीत होते थे। चौधरी निष्कर्ष पर पहुँचकर उठ बैठा। कुछ क्षण वह नैतिक चेतना की दृष्टि से उन्हें देखता रहा। फिर उसने एक नवयुवक को लक्षित करके पूछा, "तुम लोग कहाँ से आए हो?"

उसके शब्द वातावरण की ध्वनियों में खोकर रह गए। नवयुवक उसकी ओर ध्यान न देकर लिखने में व्यस्त रहा। चौधरी को लगा कि वह शब्दों का उच्चारण खुले गले से नहीं कर पाया। उसने गला साफ़ करके ज़रा ऊँचे स्वर में पूछा, "तुम लोग कहाँ से आए हो?"

इस बार नवयुवक ने उसकी ओर ज़रा देखा और पुनः अपने काम में व्यस्त हो गया।

"तुम लोग कहाँ से आए हो?" चौधरी ने उठकर उनके निकट जाते हुए प्रश्न फिर से दोहराया।

चौधरी के आने पर नवयुवती उठकर बैठ गई। वह नवयुवक जो दीवार से टेक लगाकर सीटी बजा रहा था, सीधा हो गया। उसने कुछ उत्तेजित स्वर में चौधरी से पूछा, "क्या बात है? आप क्या चाहते हैं?"

ऐसे स्वर में सम्बोधित किए जाने से चौधरी ने अपने को अपमानित अनुभव किया। उसने नवयुवक को तीखी नज़र से देखा। वह उनसे कई प्रश्न पूछने के लिए तैयार होकर उठा था। पहले प्रश्न का उत्तर पाकर वह दूसरा प्रश्न पूछता कि उनका आपस में क्या सम्बन्ध है! फिर वह पूछता कि वे तत्ता पानी किस मतलब से आए हैं। परन्तु अब वह कुछ न पूछकर दरवाज़े की ओर चल पड़ा।

चौधरी इस विचार से दरवाज़े की ओर चला था कि वह आसपास के लोगों से उस सम्बन्ध में बात करके उन्हें साथ लेकर आएगा। पर बाहर वर्षा ज़ोर की हो रही थी। कमरे से निकलते ही पूरी तरह भीग जाने का डर था। वह कुछ क्षण अनिश्चित-सा खड़ा रहकर फिर चबूतरे पर लौट आया। दीये की लौ अब बहुत मन्द हो गई थी। किसी भी क्षण उसके बुझ जाने की सम्भावना थी। चौधरी को महसूस हो रहा था कि कमरे में दीये का जलते रहना आवश्यक है। क्यों, इसका उसे कोई चेतन आभास नहीं था। बस दीया जलता रहना चाहिए यही अस्पष्ट-सा आभास था। उसने और तेल मँगवाने के उद्देश्य से खिड़की के पास से चौकीदार को आवाज़ दी। चौकीदार ने आवाज़ का उत्तर नहीं दिया तो उसने गला साफ़ करके फिर आवाज़ दी, "चौकीदार।"

परन्तु चौकीदार रात की कमाई सँभालकर अपनी कोठरी में चला गया था और बाहर मूसलाधार वर्षा का स्वर गूँज रहा था, अतः उसकी आवाज़ चौकीदार के कानों तक नहीं पहुँच सकी। उसने तीसरी बार चेष्टा की पर कोई परिणाम नहीं निकला। हारकर वह पुनः चबूतरे पर लेट गया और दीये की मद्धम पड़ती हुई लौ को देखने लगा।

सहसा दीये की लौ झपककर बुझ गई। अँधेरा हो जाने से चौधरी के हृदय पर आघात-सा लगा। बादल ज़ोर से गरजा। चौधरी उठकर बैठ गया। वर्षा का स्वर भी

तेज़ हो गया था। सावन के बादलों का इस तरह बरसना चौधरी को अस्वाभाविक लग रहा था। प्रकृति जैसे जानबूझकर अनैतिकता को प्रश्रय दे रही थी। कमरे के दूसरे भाग में ज़रा भी आहट सुनाई देती तो चौधरी की आँखें घूर-घूरकर उस दिशा की ओर देखने लगतीं, यद्यपि अँधेरा इतना था कि अपना हाथ भी देख पाना असम्भव था। आँखें देखने में जितनी असमर्थ थीं, चौधरी की कल्पना उस समय उतनी ही उर्वर होकर उसे कितना कुछ दिखला रही थी। उसने पुनः एक बार सो जाने की चेष्टा की पर उसे नींद नहीं आई। वह देर तक करवटें बदलता पड़ा रहा।

कुछ समय के बाद कमरे के दूसरे भाग से नवयुवकों के धीमे स्वर में बातचीत करने का शब्द सुनाई देने लगा। चौधरी की सम्पूर्ण चेतना उस ओर उन्मुख हो उठी। परन्तु बहुत चेष्टा करके भी वह उनकी बातचीत का आशय नहीं समझ सका। एक तो शब्दों का उच्चारण स्पष्ट नहीं था और दूसरे, उनकी बातचीत में कोई ऐसा सूत्र नहीं मिल रहा था, जिसे पकड़कर चौधरी की कल्पना आगे बढ़ सकती। बातचीत में बार-बार 'सुकेत' शब्द का प्रयोग होने से वह इतना ही समझ सका कि या तो वे लोग सुकेत से आए हैं या सुकेत को जा रहे हैं। कुछ देर के बाद बातचीत रुक गई और चौधरी के पास आगे बढ़ने के लिए अपनी कल्पना ही रह गई।

धीरे-धीरे वर्षा धीमी पड़ गई। जब वर्षा का शब्द बिलकुल रुक गया तो चौधरी बाहर जाने के उद्देश्य से अपने स्थान से उठा। उसने टटोलकर अपने कोट की ज़ेब से माचिस की डिबिया निकाली और एक दियासलाई जलाई। दियासलाई कुछ अस्पष्ट-सी रेखाएँ दिखाकर जलते ही बुझ गई। उसने दूसरी दियासलाई जलाई और हाथ की ओट करके उसे ठीक से लौ पकड़ लेने दिया। हाथ हटाने पर उसने देखा कि वे तीनों दो दरियाँ साथ-साथ बिछाकर उन पर सो गए हैं। वह कुछ क्षण असमंजस में खड़ा रहा। फिर कमरे से बाहर निकल आया।

हलकी-हलकी फुहार अब भी पड़ रही थी। सतलुज के बहने का शब्द अब अधिक स्पष्ट सुनाई दे रहा था। बाहर आते ही चौधरी के शरीर में हलकी-सी कँपकँपी दौड़ गई। आसपास के कमरों का वातावरण निःस्तब्ध प्रतीत हो रहा था। केवल दो नम्बर कमरे के पास बैठी हुई एक रोगिणी कुतिया बिलबिला रही थी। चौधरी ने एक क्षण रुककर सोचा और फिर धीरे-धीरे चार नम्बर कमरे की दहलीज़ पर चला गया। उस कमरे में कई बिस्तर बिछे हुए थे—एक बिस्तर तो बिलकुल दहलीज़ के पास सटा हुआ था। चौधरी के एक दियासलाई जलाते ही दहलीज़ के पास सोया हुआ व्यक्ति बड़बड़ाकर बोल उठा, "कौन हो? क्या कर रहा है इस वक़्त यहाँ?"

चौधरी वहाँ से उलटे पाँव लौट पड़ा। उसका फिर और किसी कमरे में जाने का साहस नहीं हुआ। उसने क्षण-भर अपने कमरे के बाहर रुककर सोचा और यह निश्चय किया कि लोगों को जगाकर उनसे बात करने की अपेक्षा चौकीदार को

जगाकर उससे बात करना ज़्यादा अच्छा है। वह चौकीदार की कोठरी की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने दो बार उसका दरवाज़ा खटखटाया, पर चौकीदार की आँख नहीं खुली। चौधरी साथ उसे आवाज़ भी देने लगा।

तीन-चार आवाज़ देने पर चौकीदार थोड़ा कुनमुनाया। उसने वाक्य के साथ गाली जोड़कर अन्दर से पूछा कि कौन इतनी रात गए उसकी नींद ख़राब कर रहा है। चौधरी ने यथासम्भव थोड़े शब्दों में उसे बतलाया कि वह चार नम्बरवाला चौधरी है, जिसने अठन्नी देकर उससे कमरा लिया था। फिर वह संक्षिप्त-सी भूमिका के साथ बतलाने लगा कि उसके कमरे में एक नवयुवती और दो नवयुवक सोए हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में वह उससे कुछ बात करना चाहता है।

"अब सो जाओ जी, सवेरे बात करना," चौकीदार निद्रित और उकताए हुए स्वर में बोला, "सब कमरों में एक-सा ही हाल है।" और उसने पुनः वाक्य के साथ गाली जोड़कर कहा कि सारा अपराध बादलों का है, जिन्होंने मौसम के आरम्भ में ही ऐसी झड़ी लगा दी है।"

"तुम बाहर निकलकर बात तो सुनो," चौधरी ने झुँझलाकर कहा, "मुझे उन लोगों पर कुछ शक हो रहा है। मेरा ख़याल है कि वे लड़के उस लड़की को भगाकर लाए हैं।"

परन्तु उत्तर में चौकीदार के खुर्राटे भरने का शब्द सुनाई देने लगा। चौधरी बहुत कठिनता से अपनी झुँझलाहट दबाकर वहाँ से लौटा। कुछ क्षण वह फिर अपनी दहलीज़ के बाहर रुका रहा। अब उसने निश्चय किया कि वह सवेरे तड़के ही उठकर लोगों से न केवल अपने सन्देह की बात करेगा, बल्कि चौकीदार की भी शिकायत करेगा कि वह धर्मशाला की चौकीदारी करने के लायक कतई नहीं।

उस समय पास के खच्चरवालों के डेरे से एक नवयुवक के गाने का शब्द सुनाई दे रहा था। डेरे में टीन के छप्पर के नीचे उन लोगों ने शायद रोशनी रखने के लिए आग जला रखी थी। आग की लपटें सामने की पहाड़ियों पर अस्थिर रोशनी डाल रही थीं। वर्षा के बाद जमीन में से हलकी-हलकी बास उठने लगी थी। चौधरी भीगे हुए वातावरण पर एक असन्तुष्ट दृष्टि डालकर अपने चबूतरे पर लौट आया। बहुत देर बाद जब उसकी आँख लगी तो रात आधी से अधिक बीत चुकी थी।

सवेरे जिस समय चौधरी की आँख खुली, दिन काफ़ी चढ़ चुका था, यद्यपि बादल छाए रहने के कारण लगता था कि अभी तड़का ही है। उठते ही पहले चौधरी की नज़र कमरे के दूसरे भाग की ओर गई। वे लोग वहाँ नहीं थे। उनका सामान भी नहीं था। केवल दो मसले हुए कागज़ इधर-उधर पड़े थे। चौधरी जल्दी से उठकर बाहर निकल आया। उसकी दृष्टि अनायास सुकेत जानेवाली सड़क की ओर उठ गई। कुछ खच्चरें सुकेत की ओर से आ रहीं थी। दो-एक मज़दूर आलुओं के बोरे लिये

आ रहे थे। उसी समय चौकीदार पास के एक कमरे से निकला। चौधरी ने उससे उन लोगों के सम्बन्ध में पूछा और यह जानकर कि वे दो घंटे पहले वहाँ से चले गए हैं, वह उसे उसकी अनवधानता के लिए डाँटना लगा। चौधरी का विवरण सुनकर चौकीदार ज़रा तुनककर बोला, ''मैं धर्मशाला की चौकीदारी करता हूँ जी, यहाँ आने वालों के धर्म-ईमान की चौकीदारी नहीं करता। मुझे क्या पता कि कौन क्या है और कौन कैसा है। अभी चार नम्बरवाले कह रहे थे कि रात को कोई चोर उनके कमरे में आया था और दियासलाई जलाकर इधर-उधर देख रहा था। एक बाबू उसे पकड़ने के लिए उठा तो वह भाग गया। बताइए, मैं किस-किसके पीछे जा सकता हूँ? मेरा काम आप लोगों को कमरे में दे देना है, बस और कुछ नहीं।''

चार नम्बर की घटना के विषय में सुनकर चौधरी चुप रह गया। उस घटना की वास्तविकता से वह अकेला ही परिचित था। आशंका की हलकी अनुभूति के साथ उसके मन में यह ग्लानि भी उत्पन्न हुई कि लोग किस तरह वास्तविकता से परिचित होते हुए किसी विषय में यों ही कहानी गढ़ लेते हैं। वह कमरे में लौट आया। जमीन पर जो मसले हुए कागज इधर-उधर पड़े थे, उनमें से एक कागज उसने उठा लिया। उसमें कुछ रकमें लिखकर रुपए-पैसे का हिसाब किया गया था। उसे फेंककर उसने दूसरा कागज़ उठाया। उस पर अंग्रेजी में कुछ लिखा था। चौधरी कुछ क्षण उन शब्दों की आकृतियाँ देखता रहा। फिर वह चश्मे पर जाने के इरादे से नहाने का सामान लेकर बाहर निकला और कमरे को ताला लगाने लगा। पास ही एक बाबू-स्वरूप कन्धे पर तौलिया डाले खड़ा दातुन कर रहा था। चौधरी ने ताला बन्द करके दरवाज़ा खोल लिया और अन्दर जाकर वह मसला हुआ कागज उठा लिया, जिस पर अंग्रेजी में कुछ लिखा था। अब निकलकर उसने ताला लगाया और उस बाबू-स्वरूप व्यक्ति के निकट जाकर कागज उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, ''बाबू साहब, ज़रा पढ़िए इस कागज़ पर क्या लिखा है।'' साथ ही वह उस कागज़ का इतिहास सुनाने लगा कि दो लड़के एक लड़की के साथ रात को उसके कमरे में ठहरे थे, जो सवेरे तड़के ही उठकर यहाँ से चले गए हैं; और उस कागज़ की लिपि उन्हीं लड़कों में से एक के हाथ की है।

चौधरी के विवरण के समाप्त होने तक उस व्यक्ति ने कागज़ ऊपर से नीचे तक पढ़ लिया था। चौधरी का ध्यान उसके चेहरे की ओर नहीं था, अतः वह उसकी बदलती हुई भंगिमा को लक्षित नहीं कर सका। चौधरी के बात समाप्त करते ही उस पर एक ऐसी दृष्टि डालकर, जैसे उस पर उसे पागल होने का सन्देह हो, उस व्यक्ति ने कागज़ उसके हाथ में दे दिया और हटाने के ढंग से हाथ हिलाकर कहा, ''जाओ।''

उस व्यक्ति का ऐसा व्यवहार चौधरी को असह्य लगा। परन्तु एक अपरिचित जगह पर उसने झगड़ा मोल लेना उचित नहीं समझा। किसी तरह अपना आवेश दबाकर तौलिया सँभाले हुए वह गन्धक के चश्मे की ओर चल दिया।

जिस समय चौधरी नहाने के लिए गन्धक के चश्मे में बैठा, वर्षा की हलकी-हलकी बूँदें फिर पड़ने लगीं। उस समय वहाँ उसके अतिरिक्त एक ही और व्यक्ति था, जो अब नहाकर लौटने की तैयारी कर रहा था। सुकेत के रास्ते पर दूर खच्चरों की घंटियाँ सुनाई दे रही थीं। वर्षा आरम्भ हो जाने के कारण कुछ लोग उस रास्ते पर भागते हुए आ रहे थे और धर्मशाला की दिशा में जा रहे थे। क्षण-भर चौधरी कुछ आशा के साथ उस ओर देखता रहा। उस रास्ते पर दूर आगे जाती हुई तीन आकृतियों की कल्पना से उसकी चेतना में फिर कुछ विह्वलता-सी भर गई। उसने चश्मे से निकलकर अपनी कमीज़ उठाई और उसे एक जगह पत्थर की ओट में रखकर उसकी ज़ेब से वह कागज निकाल लिया। जो व्यक्ति नहाकर लौट रहा था, उसे सम्बोधित करते हुए उसने पूछा, "भाई साहब, यह कागज़ ज़रा पढ़ दीजिएगा?"

इस बार उसने कागज़ का इतिहास पहले से सुनाना उचित नहीं समझा।

उस व्यक्ति ने कागज़ पढ़ा और चौधरी को बतलाया कि उस पर केवल पुस्तकों और स्थानों के नाम लिखे हैं। चौधरी बहुत उत्सुकतापूर्वक उस कागज़ की लिपि का अर्थ जानने की प्रतीक्षा कर रहा था। यह जानकर उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे सहसा उसके पास से कुछ खो गया हो। उसके स्वर में कुछ उलझन और विश्वास की ध्वनि आ गई, जब उसने कहा, "ज़रा ऊपर से पढ़कर बता दीजिए, मेरा तो ख़याल था कि..."

वह व्यक्ति आरम्भ से अर्थ करने लगा, 'खेती और समाजवाद,' दो प्रतियाँ नालघेरा, दो प्रतियाँ दुर्गापुर, तीन प्रतियाँ बसंतपुर। 'सामूहिक खेतीबाड़ी,' एक प्रति नालघेरा, दो प्रतियाँ दुर्गापुर, दो प्रतियाँ बसंतपुर..."

और वह लम्बी सूची पढ़ता गया। चौधरी अवाक् भाव से उसकी ओर देखता रहा। जब वह व्यक्ति कागज़ उसके हाथ में देकर अपने रास्ते पर चला गया, तो वह फिर से आकर गन्धक के चश्मे में बैठ गया। दो फुट के अन्तर पर सतलुज की धारा आवाज़ करती हुई बह रही थी। आसपास की मिट्टी में से काफ़ी बास उठ रही थी। चौधरी गन्धक के धुएँ में घिरा हुआ गर्म पानी अपने शरीर पर मलता रहा। उसकी नज़र अब भी सुकेत जानेवाले रास्ते पर लगी थी और वह रह-रहकर सोच रहा था कि उस कागज़ की लिपि का उन लोगों के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है और आखिर वे एक-दूसरे के क्या लगते हैं...?

मलबे का मालिक

साढ़े सात साल के बाद वे लोग लाहौर से अमृतसर आए थे। हॉकी का मैच देखने का तो बहाना ही था, उन्हें ज़्यादा चाव उन घरों और बाज़ारों को फिर से देखने का था जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराए हो गए थे। हर सड़क पर मुसलमानों की कोई-न-कोई टोली घूमती नज़र आ जाती थी। उनकी आँखें इस आग्रह के साथ वहाँ की हर चीज़ को देख रही थीं जैसे वह शहर साधारण शहर न होकर एक अच्छा-ख़ासा आकर्षण-केन्द्र हो।

तंग बाज़ारों में से गुज़रते हुए वे एक-दूसरे को पुरानी चीज़ों की याद दिला रहे थे...देख—फ़तहदीना, मिसरी बाज़ार में अब मिसरी की दुकानें पहले से कितनी कम रह गई हैं! उस नुक्कड़ पर सुक्खी भठियारिन की भट्ठी थी, जहाँ अब वह पानवाला बैठा है।...यह नमक मंडी देख लो, ख़ान साहब! यहाँ की एक-एक लालाइन वह नमकीन होती है कि बस...!

बहुत दिनों के बाद बाज़ारों में तुर्रेदार पगड़ियाँ और लाल तुरकी टोपियाँ नज़र आ रही थीं। लाहौर से आए मुसलमानों में काफ़ी संख्या ऐसे लोगों की थी जिन्हें विभाजन के समय मजबूर होकर अमृतसर से जाना पड़ा था। साढ़े सात साल में आए अनिवार्य परिवर्तनों को देखकर कहीं उनकी आँखों में हैरानी भर जाती और कहीं अफसोस घिर आता—वल्लाह! कटरा जयमलसिंह इतना चौड़ा कैसे हो गया? क्या इस तरफ़ के सब-के-सब मकान जल गए थे?...यहाँ हकीम आसिफअली की दुकान थी न? अब यहाँ एक मोची ने कब्ज़ा कर रखा है?

और कहीं-कहीं ऐसे भी वाक्य सुनाई दे जाते—वली, यह मस्जिद ज्यों-की-त्यों खड़ी है? इन लोगों ने इसका गुरुद्वारा नहीं बना दिया!

जिस रास्ते से भी पाकिस्तानियों की टोली गुज़रती, शहर के लोग उत्सुकतापूर्वक उस तरफ़ देखते रहते। कुछ लोग अब भी मुसलमानों को आते देखकर आशंकित-से रास्ते से हट जाते, जबकि दूसरे आगे बढ़कर उनसे बगलगीर होने लगते। ज़्यादातर वे आगन्तुकों से ऐसे-ऐसे सवाल पूछते—कि आजकल लाहौर का क्या हाल है? अनारकली में अब पहले जितनी रौनक होती है या नहीं? सुना है, शाहालमीगेट का

बाज़ार पूरा नया बना है? कृष्णनगर में तो कोई ख़ास तब्दीली नहीं आई? वहाँ का रिश्वतपुरा क्या वाकई रिश्वत के पैसे से बना है?...कहते हैं, पाकिस्तान में अब बुर्का बिलकुल उड़ गया है, यह ठीक है?...इन सवालों में इतनी आत्मीयता झलकती थी कि लगता था, लाहौर एक शहर नहीं, हज़ारों लोगों का सगा-सम्बन्धी है, जिसके हाल जानने के लिए वे उत्सुक हैं। लाहौर से आए लोग उस दिन शहर-भर के मेहमान थे जिनसे मिलकर और बातें करके लोगों को बहुत खुशी हो रही थी।

बाज़ार बाँसाँ अमृतसर का एक उजड़ा-सा बाज़ार है, जहाँ विभाजन से पहले ज़्यादातर निचले तबके के मुसलमान रहते थे। वहाँ ज़्यादातर बाँसों और शहतीरों की ही दुकानें थीं जो सबकी सब एक ही आग में जल गई थीं। बाज़ार बाँसाँ की वह आग अमृतसर की सबसे भयानक आग थी जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का अंदेशा पैदा हो गया था। बाज़ार बाँसाँ के आसपास के कई मुहल्लों को तो उस आग ने अपनी लपेट में ले ही लिया था। ख़ैर, किसी तरह वह आग काबू में आ गई थी, पर उसमें मुसलमानों के एक-एक घर के साथ हिन्दुओं के भी चार-चार, छह-छह घर जलकर राख हो गए थे। अब साढ़े सात साल में उनमें से कई इमारतें फिर से खड़ी हो गई थीं, मगर जगह-जगह मलबे के ढेर अब भी मौजूद थे। नई इमारतों के बीच-बीच वे मलबे के ढेर एक अजीब वातावरण प्रस्तुत करते थे।

बाज़ार बाँसाँ में उस दिन भी चहलपहल नहीं थी क्योंकि उस बाज़ार के रहनेवाले ज़्यादातर लोग तो अपने मकानों के साथ ही शहीद हो गए थे, और जो बचकर चले गए थे, उनमें से शायद किसी में भी लौटकर आने की हिम्मत नहीं रही थी। सिर्फ़ एक दुबला-पतला बुड्ढा मुसलमान ही उस दिन उस वीरान बाज़ार में आया और वहाँ की नई और जली हुई इमारतों को देखकर जैसे भूलभुलैयाँ में पड़ गया। बाईं तरफ़ जानेवाली गली के पास पहुँचकर उसके पैर अन्दर मुड़ने को हुए, मगर फिर वह हिचकिचाकर वहाँ बाहर ही खड़ा रह गया। जैसे उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह वही गली है जिसमें वह जाना चाहता है। गली में एक तरफ़ कुछ बच्चे कीड़ी-कीड़ा खेल रहे थे और कुछ फासले पर दो स्त्रियाँ ऊँची आवाज़ में चीख़ती हुई एक-दूसरी को गालियाँ दे रही थीं।

''सबकुछ बदल गया, मगर बोलियाँ नहीं बदलीं!'' बुड्ढे मुसलमान ने धीमे स्वर में अपने से कहा और छड़ी का सहारा लिये खड़ा रहा। उसके घुटने पाजामे से बाहर को निकल रहे थे। घुटनों से थोड़ा ऊपर शेरवानी में तीन-चार पैबन्द लगे थे। गली से एक बच्चा रोता हुआ बाहर आ रहा था। उसने उसे पुचकारा, ''इधर आ, बेटे! आ, तुझे चिज्जी देंगे, आ!'' और वह अपनी ज़ेब में हाथ डालकर उसे देने के लिए कोई चीज़ ढूँढ़ने लगा। बच्चा एक क्षण के लिए चुप कर गया, लेकिन फिर उसी तरह होंठ बिसूरकर रोने लगा। एक सोलह-सत्रह साल की लड़की गली के अन्दर से दौड़ती

हुई आई और बच्चे को बाँह से पकड़कर गली में ले चली। बच्चा रोने के साथ-साथ अब अपनी बाँह छुड़ाने के लिए मचलने लगा। लड़की ने उसे अपनी बाँहों में उठाकर साथ सटा लिया और उसका मुँह चूमती हुई बोली, ''चुप कर, खसम-खाने! रोएगा, तो वह मुसलमान तुझे पकड़कर ले जाएगा! कह रही हूँ, चुप कर!''

बुड्ढे मुसलमान ने बच्चे को देने के लिए जो पैसा निकाला था, वह उसने वापस ज़ेब में रख लिया। सिर से टोपी उतारकर वहाँ थोड़ा खुजलाया और टोपी अपनी बगल में दबा ली। उसका गला खुश्क हो रहा था और घुटने थोड़ा काँप रहे थे। उसने गली के बाहर की एक बन्द दुकान के तख्ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सिर पर लगा ली। गली के सामने जहाँ पहले ऊँचे-ऊँचे शहतीर रखे रहते थे, वहाँ अब एक तिमंज़िला मकान खड़ा था। सामने बिजली के तार पर दो मोटी-मोटी चीलें बिलकुल जड़-सी बैठी थीं। बिजली के खम्भे के पास थोड़ी धूप थी। वह कई पल धूप में उड़ते ज़र्रों को देखता रहा। फिर उसके मुँह से निकला, ''या मालिक!''

एक नवयुवक चाबियों का गुच्छा घुमाता गली की तरफ़ आया। बुड्ढे को वहाँ खड़े देखकर उसने पूछा, ''कहिए मियाँजी, यहाँ किसलिए खड़े हैं?''

बुड्ढे मुसलमान को छाती और बाँहों में हलकी-सी कँपकँपी महसूस हुई। उसने होंठों पर ज़बान फेरी और नवयुवक को ध्यान से देखते हुए कहा, ''बेटे, तेरा नाम मनोरी है न?''

नवयुवक ने चाबियों के गुच्छे को हिलाना बन्द करके अपनी मुट्ठी में ले लिया और कुछ आश्चर्य के साथ पूछा, ''आपको मेरा नाम कैसे मालूम है?''

''साढ़े सात साल पहले तू इतना-सा था,'' कहकर बुड्ढे ने मुस्कुराने की कोशिश की।

''आप आज पाकिस्तान से आए हैं?''

''हाँ! पहले हम इसी गली में रहते थे,'' बुड्ढे ने कहा। ''मेरा लड़का चिरागदीन तुम लोगों का दर्ज़ी था। तकसीम से छह महीने पहले हम लोगों ने यहाँ अपना नया मकान बनवाया था।''

''ओ, गनी मियाँ!'' मनोरी ने पहचानकर कहा।

''हाँ, बेटे, मैं तुम लोगों का गनी मियाँ हूँ! चिराग और उसके बीवी-बच्चे तो अब मुझे मिल नहीं सकते, मगर मैंने सोचा कि एक बार मकान की ही सूरत देख लूँ!'' बुड्ढे ने टोपी उतारकर सिर पर हाथ फेरा, और अपने आँसुओं को बहने से रोक लिया।

''तुम तो शायद काफ़ी पहले यहाँ से चले गए थे,'' मनोरी के स्वर में संवेदना भर आई।

"हाँ, बेटे यह मेरी बदबख्ती थी कि मैं अकेला पहले निकलकर चला गया था। यहाँ रहता, तो उसके साथ मैं भी..." कहते हुए उसे एहसास हो आया कि यह बात उसे नहीं कहनी चाहिए। उसने बात को मुँह में रोक लिया पर आँखों में आए आँसुओं को नीचे बह जाने दिया।

"छोड़ो गनी मियाँ, अब उन बातों को सोचने में क्या रखा है?" मनोरी ने गनी की बाँह अपने हाथ में ले ली। "चलो, तुम्हें तुम्हारा घर दिखा दूँ।"

गली में खबर इस तरह फैली थी कि गली के बाहर एक मुसलमान खड़ा है जो रामदासी के लड़के को उठाने जा रहा था...उसकी बहन वक़्त पर उसे पकड़ लाई, नहीं तो वह मुसलमान उसे ले गया होता। यह खबर मिलते ही जो स्त्रियाँ गली में पीढ़े बिछाकर बैठी थीं, वे पीढ़े उठाकर घरों के अन्दर चली गईं। गली में खेलते बच्चों को भी उन्होंने पुकार-पुकारकर घरों के अन्दर बुला लिया। मनोरी गनी को लेकर गली में दाखिल हुआ, तो गली में सिर्फ़ एक फेरीवाला रह गया था, या रक्खा पहलवान जो कुएँ पर उगे पीपल के नीचे बिखरकर सोया था। हाँ, घरों की खिड़कियों में से और किवाड़ों के पीछे से कई चेहरे गली में झाँक रहे थे। मनोरी के साथ गनी को आते देखकर उनमें हलकी चेहमेगोइयाँ शुरू हो गईं। दाढ़ी के सब बाल सफ़ेद हो जाने के बावजूद चिरागदीन के बाप अब्दुल गनी को पहचानने में लोगों को दिक़्क़त नहीं हुई।

"वह था तुम्हारा मकान," मनोरी ने दूर से एक मलबे की तरफ़ इशारा किया। गनी पल-भर ठिठककर फटी-फटी आँखों से उस तरफ़ देखता रहा। चिराग और उसके बीवी-बच्चों की मौत को वह काफ़ी पहले स्वीकार कर चुका था। मगर अपने नए मकान को इस शक्ल में देखकर उसे जो झुरझुरी हुई, उसके लिए वह तैयार नहीं था। उसकी ज़बान पहले से और खुश्क हो गई और घुटने भी ज़्यादा काँपने लगे।

"यह मलबा?" उसने अविश्वास के साथ पूछ लिया।

मनोरी ने उसके चेहरे के बदले हुए रंग को देखा। उसकी बाँह को थोड़ा और सहारा देकर जड़-से स्वर में उत्तर दिया, "तुम्हारा मकान उन्हीं दिनों जल गया था।"

गनी छड़ी के सहारे चलता हुआ किसी तरह मलबे के पास पहुँच गया। मलबे में अब मिट्टी-ही-मिट्टी थी जिसमें से जहाँ-तहाँ टूटी और जली हुई ईंटें बाहर झाँक रही थीं। लोहे और लकड़ी का सामान उसमें से कब का निकाला जा चुका था। केवल एक जले हुए दरवाज़े का चौखट न जाने कैसे बचा रह गया था। पीछे की तरफ़ दो जली हुई अलमारियाँ थीं जिनकी कालिख पर अब सफ़ेदी की हलकी-हलकी तह उभर आई थी। उस मलबे को पास से देखकर गनी ने कहा, "यह बाक़ी रह गया है, यह?" और उसके घुटने जैसे जवाब दे गए और वह वहीं जले हुए चौखट को पकड़कर बैठ गया। क्षण-भर बाद उसका सिर भी चौखट से जा सटा और उसके मुँह से बिलखने की-सी आवाज़ निकली, "हाय ओए चिरागदीना!"

जले हुए किवाड़ का वह चौखट मलबे में से सिर निकाले साढ़े सात साल खड़ा तो रहा था, पर उसकी लकड़ी बुरी तरह भुरभुरा गई थी। गनी के सिर के छूने से उसके कई रेशे झड़कर आसपास बिखर गए। कुछ रेशे गनी की टोपी और बालों पर आ रहे। उन रेशों के साथ एक केंचुआ भी नीचे गिरा जो गनी के पैर से छह-आठ इंच दूर नाली के साथ-साथ बनी ईंटों की पटरी पर इधर-उधर सरसराने लगा। वह छिपने के लिए सूराख ढूँढ़ता हुआ ज़रा-सा सिर उठाता, पर कोई जगह न पाकर दो-एक बार सिर पटकने के बाद दूसरी तरफ़ मुड़ जाता।

खिड़कियों से झाँकनेवाले चेहरों की संख्या अब पहले से कहीं ज़्यादा हो गई थी। उनमें चेहमेगोइयाँ चल रही थीं कि आज कुछ-न-कुछ ज़रूर होगा...चिरागदीन का बाप गनी आ गया है, इसलिए साढ़े सात साल पहले की वह सारी घटना आज अपने-आप खुल जाएगी। लोगों को लग रहा था जैसे वह मलबा ही गनी को सारी कहानी सुना देगा—कि शाम के वक़्त चिराग ऊपर के कमरे में खाना खा रहा था जब रक्खे पहलवान ने उसे नीचे बुलाया—कहा कि वह एक मिनट आकर उसकी बात सुन ले। पहलवान उन दिनों गली का बादशाह था। वहाँ के हिन्दुओं पर ही उसका काफ़ी दबदबा था—चिराग तो ख़ैर मुसलमान था। चिराग हाथ का कौर बीच में ही छोड़कर नीचे उतर आया। उसकी बीवी जुबैदा और दोनों लड़कियाँ, किश्वर और सुलताना, खिड़कियों से नीचे झाँकने लगीं। चिराग ने ड्योढ़ी से बाहर कदम रखा ही था कि पहलवान ने उसे कमीज़ के कॉलर से पकड़कर अपनी तरफ़ खींच लिया और गली में गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। चिराग उसका छुरेवाला हाथ पकड़कर चिल्लाया, "रक्खे पहलवान, मुझे मत मार! हाय, कोई मुझे बचाओ!" ऊपर से जुबैदा, किश्वर और सुलताना भी हताश स्वर में चिल्लाईं और चीख़ती हुई नीचे ड्योढ़ी की तरफ़ दौड़ीं। रक्खे के एक शागिर्द ने चिराग की जद्दोजेहद करती बाँहें पकड़ लीं और रक्खा उसकी जाँघों को अपने घुटनों से दबाए हुए बोला, "चीख़ता क्यों है, भैण के...तुझे मैं पाकिस्तान दे रहा हूँ, ले पाकिस्तान!" और जब तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना नीचे पहुँचीं, चिराग को पाकिस्तान मिल चुका था।

आसपास के घरों की खिड़कियाँ तब बन्द हो गई थीं। जो लोग इस दृश्य के साक्षी थे, उन्होंने दरवाज़े बन्द करके अपने को इस घटना के उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया था। बन्द किवाड़ों में भी उन्हें देर तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना के चीख़ने की आवाज़ें सुनाई देती रहीं। रक्खे पहलवान और उसके साथियों ने उन्हें भी उसी रात पाकिस्तान दे दिया, मगर दूसरे तबील रास्ते से। उनकी लाशें चिराग के घर में न मिलकर बाद में नहर के पानी में पाई गईं।

दो दिन चिराग के घर की छानबीन होती रही थी। जब उसका सारा सामान लूटा जा चुका, तो न जाने किसने उस घर को आग लगा दी थी। रक्खे पहलवान ने तब

कसम खाई थी कि वह आग लगानेवाले को ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ देना क्योंकि उस मकान पर नज़र रखकर ही उसने चिराग को मारने का निश्चय किया था। उसने उस मकान को शुद्ध करने के लिए हवन-सामग्री भी ला रखी थी। मगर आग लगानेवाले का तब से आज तक पता नहीं चल सका था। अब साढ़े सात साल से रक्खा उस मलबे को अपनी जायदाद समझता आ रहा था, जहाँ न वह किसी को गाय-भैंस बाँधने देता था और न ही खुमचा लगाने देता था। उस मलबे से बिना उसकी इजाज़त के कोई एक ईंट भी नहीं निकाल सकता था।

लोग आशा कर रहे थे कि यह सारी कहानी ज़रूर किसी-न-किसी तरह गनी तक पहुँच जाएगी...जैसे मलबे को देखकर ही उसे सारी घटना का पता चल जाएगा। और गनी मलबे की मिट्टी को नाख़ूनों से खोद-खोदकर अपने ऊपर डाल रहा था और दरवाज़े के चौखट को बाँह में लिए हुए रो रहा था, ''बोल, चिरागदीना, बोल! तू कहाँ चला गया, ओए? ओ किश्वर! ओ सुलताना! हाय, मेरे बच्चे ओएऽऽ! गनी को पीछे क्यों छोड़ दिया, ओएऽऽऽ!''

और भुरभुरे किवाड़ से लकड़ी के रेशे झड़ते जा रहे थे।

पीपल के नीचे सोए रक्खे पहलवान को जाने किसी ने जगा दिया, या वह खुद ही जाग गया। यह जानकर कि पाकिस्तान से अब्दुल गनी आया है और अपने मकान के मलबे पर बैठा है, उसके गले में थोड़ा झाग उठ आया जिससे उसे खाँसी आ गई और उसने कुएँ के फ़र्श पर थूक दिया। मलबे की तरफ़ देखकर उसकी छाती से धौंकनी की-सी आवाज़ निकली और उसका निचला होंठ थोड़ा बाहर को फैल आया।

''गनी अपने मलबे पर बैठा है,'' उसके शागिर्द लच्छे पहलवान ने उसके पास आकर बैठते हुए कहा।

''मलबा उसका कैसे है? मलबा हमारा है!'' पहलवान ने झाग से घरघराई आवाज़ में कहा।

''मगर वह वहाँ बैठा है,'' लच्छे ने आँखों में एक रहस्यमय संकेत लाकर कहा।

''बैठा है, बैठा रहे। तू चिलम ला!'' रक्खे की टाँगें थोड़ी फैल गईं और उसने अपनी नंगी जाँघों पर हाथ फेर लिया।

''मनोरी ने अगर उसे कुछ बता-वता दिया तो...?'' लच्छे ने चिलम भरने के लिए उठते हुए उसी रहस्यपूर्ण ढंग से कहा।

''मनोरी की क्या शामत आई है?''

लच्छा चला गया।

कुएँ पर पीपल की कई पुरानी पत्तियाँ बिखरी थीं। रक्खा उन पत्तियों को उठा-उठाकर अपने हाथों में मसलता रहा। जब लच्छे ने चिलम के नीचे कपड़ा

लगाकर चिलम उसके हाथ में दी, तो उसने कश खींचते हुए पूछा, "और तो किसी से गनी की बात नहीं हुई?"

"नहीं।"

"ले," और उसने खाँसते हुए चिलम लच्छे के हाथ में दे दी। मनोरी गनी की बाँह पकड़े मलबे की तरफ़ से आ रहा था। लच्छा उकड़ूँ होकर चिलम के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा। उसकी आँखें आधा क्षण रक्खे के चेहरे पर टिकतीं और आधा क्षण गनी की तरफ़ लगी रहतीं।

मनोरी गनी की बाँह थामे उससे एक कदम आगे चल रहा था—जैसे उसकी कोशिश हो कि गनी कुएँ के पास से बिना रक्खे को देखे ही निकल जाए। मगर रक्खा जिस तरह बिखरकर बैठा था, उससे गनी ने उसे दूर से ही देख लिया। कुएँ के पास पहुँचते न पहुँचते उसकी दोनों बाँहें फैल गईं और उसने कहा, "रक्खे पहलवान!"

रक्खे ने गर्दन उठाकर और आँखें ज़रा छोटी करके उसे देखा। उसके गले में अस्पष्ट-सी घरघराहट हुई, पर वह बोला नहीं।

"रक्खे पहलवान, मुझे पहचाना नहीं?" गनी ने बाँहें नीची करके कहा। "मैं गनी हूँ, अब्दुल गनी, चिरागदीन का बाप!"

पहलवान ने ऊपर से नीचे तक उसका जायज़ा लिया। अब्दुल गनी की आँखों में उसे देखकर एक चमक-सी आ गई थी। सफ़ेद दाढ़ी के नीचे उसके चेहरे की झुर्रियाँ भी कुछ फैल गई थीं। रक्खे का निचला होंठ फड़का। उसकी छाती से भारी-सा स्वर निकला, "सुना, गनिया!"

गनी की बाँहें फिर फैलने को हुईं, पह पहलवान पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उसी तरह रह गईं। वह पीपल का सहारा लेकर कुएँ की सिल पर बैठ गया।

ऊपर खिड़कियों में चेहमेगोइयाँ तेज़ हो गईं कि अब दोनों आमने-सामने आ गए हैं, तो बात ज़रूर खुलेगी...फिर हो सकता है दोनों में गाली-गलौज भी हो।...अब रक्खा गनी को हाथ नहीं लगा सकता। अब वे दिन नहीं रहे।...बड़ा मलबे का मालिक बनता था!...असल में मलबा न इसका है, न गनी का। मलबा तो सरकार की मलकियत है! मरदूद किसी को वहाँ गाय का खूँटा तक नहीं लगाने देता!...मनोरी भी डरपोक है। इसने गनी को बता क्यों नहीं दिया कि रक्खे ने ही चिराग और उसके बीवी-बच्चों को मारा है!...रक्खा आदमी नहीं साँड है! दिन-भर साँड की तरह गली में घूमता है!...गनी बेचारा कितना दुबला हो गया है! दाढ़ी के सारे बाल सफ़ेद हो गए हैं!...

गनी ने कुएँ की सिल पर बैठकर कहा, "देख रक्खे पहलवान, क्या से क्या हो गया है! भरा-पूरा घर छोड़कर गया था और आज यहाँ पर मिट्टी देखने आया हूँ! बसे घर की आज यही निशानी रह गई है! तू सच पूछे, तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने को मन नहीं करता!" और उसकी आँखें फिर छलछला आईं।

पहलवान ने अपनी टाँगें समेट लीं और अंगोछा कुएँ की मुँडेर से उठाकर कन्धे पर डाल लिया। लच्छे ने चिलम उसकी तरफ़ बढ़ा दी। वह कश खींचने लगा।

"तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?" गनी किसी तरह अपने आँसू रोककर बोला। "तुम लोग उसके पास थे। सबमें भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता, तो तुममें से किसी के घर में नहीं छिप सकता था? उसमें इतनी-सी समझदारी नहीं थी?"

"ऐसे ही है," रक्खे को स्वयं लगा कि उसकी आवाज़ में एक अस्वाभाविक-सी गूँज है। उसके होंठ गाढ़े लार से चिपक गए थे। मूँछों के नीचे से पसीना उसके होंठ पर आ रहा था। उसे माथे पर किसी चीज़ का दबाव महसूस हो रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी सहारा चाह रही थी।

"पाकिस्तान में तुम लोगों के क्या हाल हैं?" उसने पूछा। उसके गले की नसों में एक तनाव आ गया था। उसने अंगोछे से बगलों का पसीना पोंछा और गले का झाग मुँह में खींचकर गली में थूक दिया।

"क्या हाल बताऊँ, रक्खे," गनी दोनों हाथों से छड़ी पर बोझ डालकर झुकता हुआ बोला। "मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है। चिराग वहाँ साथ होता, तो और बात थी।...मैंने उसे कितना समझाया था कि मेरे साथ चला चल। पर वह ज़िद पर अड़ा रहा कि नया मकान छोड़कर नहीं जाऊँगा—यह अपनी गली है, यहाँ कोई खतरा नहीं है। भोले कबूतर ने यह नहीं सोचा के गली में खतरा न हो, पर बाहर से तो खतरा आ सकता है! मकान की रखवाली के लिए चारों ने अपनी जान दे दी!...रक्खे, उसे तेरा भरोसा था। कहता था कि रक्खे के रहते मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मगर जब जान पर बन आई, तो रक्खे के रोके भी न रुकी।"

रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी। अपनी कमर और जाँघों के जोड़ पर उसे सख़्त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अंतड़ियों के पास से जैसे कोई चीज़ उसकी साँस को रोक रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने से भीग गया था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच-बीच में नीली फुलझड़ियाँ-सी ऊपर से उतरतीं और तैरती हुई उसकी आँखों के सामने से निकल जातीं। उसे अपनी ज़बान और होंठों के बीच एक फासला-सा महसूस हो रहा था। उसने अंगोछे से होंठों के कोनों को साफ़ किया। साथ ही उसके मुँह से निकला, "हे प्रभु, तू ही है, तू ही है, तू! ही है!"

गनी ने देखा कि पहलवान के होंठ सूख रहे हैं और उसकी आँखों के गिर्द दायरे गहरे हो गए हैं। वह उसके कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "जो होना था, हो गया रक्खिआ! उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है! खुदा नेक की नेकी बनाए रखे और

बद की बदी माफ करे! मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूँगा कि चिराग को देख लिया। अल्लाह तुम्हें सेहतमन्द रखे!" और वह छड़ी के सहारे उठ खड़ा हुआ। चलते हुए उसने कहा, "अच्छा रक्खे, पहलवान!"

रक्खे के गले से मद्धिम-सी आवाज़ निकली। अंगोछा लिये हुए उसके दोनों हाथ जुड़ गए। गनी हसरत-भरी नज़र से आसपास देखता हुआ धीरे-धीरे गली से बाहर चला गया।

ऊपर खिड़कियों में थोड़ी देर चेहमेगोइयाँ चलती रहीं–कि मनोरी ने गली से बाहर निकलकर ज़रूर गनी को सबकुछ बता दिया होगा कि गनी के सामने रक्खे का तालू कैसे खुश्क हो गया था!...रक्खा अब किस मुँह से लोगों को...मलबे पर गाय बाँधने से रोकेगा? बेचारी जुबैदा! कितनी अच्छी थी वह! रक्खे मरदूद का घर...न घाट, इसे किसी की माँ-बहन का लिहाज़ था?

थोड़ी देर में स्त्रियाँ घरों से गली में उतर आईं। बच्चे गली में गुल्ली-डंडा खेलने लगे। दो बारह-तेरह साल की लड़कियाँ किसी बात पर एक-दूसरी से गुत्थमगुत्था हो गईं।

रक्खा गहरी शाम तक कुएँ पर बैठा खँखारता और चिलम फूँकता रहा। कई लोगों ने वहाँ गुज़रते हुए उससे पूछा, "रक्खे शाह, सुना है आज गनी पाकिस्तान से आया था?"

"हाँ, आया था," रक्खे ने हर बार एक ही उत्तर दिया।

"फिर?"

"फिर कुछ नहीं। चला गया।"

रात होने पर रक्खा रोज़ की तरह गली के बाहर बाईं तरफ़ की दुकान के तख्ते पर आ बैठा। रोज़ वह रास्ते से गुज़रनेवाले परिचित लोगों को आवाज़ दे-देकर पास बुला लेता था और उन्हें सट्टे के गुर और सेहत के नुस्खे बताता रहता था। मगर उस दिन वह वहाँ बैठा लच्छे को अपनी वैश्नो देवी की उस यात्रा का वर्णन सुनाता रहा जो उसने पन्द्रह साल पहले की थी। लच्छे को भेजकर वह गली में आया, तो मलबे के पास लोकू पंडित की भैंस को देखकर वह आदत के मुताबिक उसे धक्के दे-देकर हटाने लगा–"तत-तत--तत...तत-तत...!"

भैंस को हटाकर वह सुस्ताने के लिए मलबे के चौखट पर बैठ गया। गली उस समय सुनसान थी। कमेटी की बत्ती न होने से वहाँ शाम से ही अँधेरा हो जाता था। मलबे के नीचे नाली का पानी हलकी आवाज़ करता बह रहा था। रात की ख़ामोशी को काटती हुई कई तरह की हलकी-हलकी आवाज़ें मलबे की मिट्टी में से सुनाई दे रही थीं...च्यु-च्यु-च्यु...चिक्-चिक्-चिक्...किर्र्र्र्र्-र्र्र्र्र्-रीरीरीरी-चिर्र्र्र्र्...। एक भटका हुआ कौआ न जाने कहाँ से उड़कर उस चौखट पर आ बैठा। इससे लकड़ी के कई

रेशे इधर-उधर छितरा गए। कौए के वहाँ बैठते न बैठते मलबे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्ता गुर्राकर उठा और ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा—वऊ-अऊ-वऊ! कौआ कुछ देर सहमा-सा चौखट पर बैठा रहा, फिर पंख फड़फड़ाता कुएँ के पीपल पर चला गया। कौए की उड़ जाने पर कुत्ता और नीचे उतर आया और पहलवान की तरफ़ मुँह करके भौंकने लगा। पहलवान उसे हटाने के लिए भारी आवाज़ में बोला, ''दूर् दूर् दूर्...दूरे!'' मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा– वऊ-अउ-वउ-वउ-वउ-वउ...।

पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की तरफ़ फेंका। कुत्ता थोड़ा पीछे हट गया, पर उसका भौंकना बन्द नहीं हुआ। पहलवान कुत्ते को माँ की गाली देकर वहाँ से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे जाकर कुएँ की सिल पर लेट गया। उसे वहाँ से हटते ही कुत्ता गली में उतर आया और कुएँ की तरफ़ मुँह करके भौंकने लगा। काफ़ी देर भौंकने के बाद जब उसे गली में कोई प्राणी चलता-फिरता नज़र नहीं आया, तो वह एक बार कान झटककर मलबे पर लोट गया और वहाँ कोने में बैठकर गुर्राने लगा।

अपरिचित

कोहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुँधले पड़ गए थे। गाड़ी चालीस की रफ़्तार से सुनसान अँधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिड़की से सिर सटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था। फिर भी मैं देखने की कोशिश कर रहा था। कभी किसी पेड़ की हलकी-गहरी रेखा ही गुज़रती नज़र आ जाती तो कुछ देख लेने का सन्तोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफ़ी था। आँखों में ज़रा नींद नहीं थी। गाड़ी को जाने कितनी देर बाद कहीं जाकर रुकना था। जब और कुछ दिखाई न देता, तो अपना प्रतिबिम्ब तो कम-से-कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिम्ब के अलावा और भी कई प्रतिबिम्ब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए व्यक्ति का प्रतिबिम्ब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। सामने की बर्थ पर बैठी स्त्री का प्रतिबिम्ब बहुत उदास था। उसकी भारी पलकें पल-भर के लिए ऊपर उठतीं, फिर झुक जातीं। आकृतियों के अलावा कई बार नई-नई आवाज़ें ध्यान बँटा देतीं, जिनसे पता चलता कि गाड़ी पुल पर से जा रही है या मकानों की कतार के पास से गुजर रही है। बीच में सहसा इंजन की चीख़ सुनाई दे जाती, जिससे अँधेरा और एकान्त और गहरे महसूस होने लगते।

मैंने घड़ी में वक़्त देखा। सवा ग्यारह बजे थे। सामने बैठी स्त्री की आँखें बहुत सुनसान थीं। बीच-बीच में उनमें एक लहर-सी उठती और विलीन हो जाती। वह जैसे आँखों से देख नहीं रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जिसे फर के कम्बलों में लपेटकर सुलाया गया था, ज़रा-ज़रा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बँधी हुई मुट्ठियाँ ऊपर उठाईं और रोने लगी। स्त्री की सुनसान आँखें सहसा उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कम्बलों समेत उठाकर छाती से लगा लिया।

मगर इससे बच्ची का रोना बन्द नहीं हुआ। उसने उसे हिलाकर और दुलारकर चुप कराना चाहा, मगर वह फिर भी रोती रही। इस पर उसने कम्बल थोड़ा हटाकर बच्ची के मुँह में दूध दे दिया और उसे अच्छी तरह अपने साथ सटा लिया।

मैं फिर खिड़की से सिर सटाकर बाहर देखने लगा। दूर बत्तियों की एक कतार नज़र आ रही थी। शायद कोई आबादी थी या सिर्फ़ सड़क ही थी। गाड़ी तेज़ रफ़्तार

से चल रही थी और इंजन बहुत पास होने से कोहरे के साथ धुआँ भी खिड़की के शीशों पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी वह थी, अब धीरे-धीरे पीछे रही जा रही थी। शीशे में दिखाई देते प्रतिबिम्ब पहले से गहरे हो गए थे। स्त्री की आँखें मुँद गई थीं और ऊपर लेटे व्यक्ति की बाँह ज़ोर-ज़ोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी साँस के फैलने से प्रतिबिम्ब और धुँधले हो गए थे। यहाँ तक कि धीरे-धीरे सब प्रतिबिम्ब अदृश्य हो गए। मैंने तब ज़ेब से रूमाल निकालकर शीशे को अच्छी तरह पोंछ दिया।

स्त्री ने आँखें खोल ली थी और वह एकटक सामने देख रही थी। उसके होंठों पर हलकी-सी रेखा फैली थी जो ठीक मुस्कुराहट नहीं थी। मुस्कुराहट से बहुत कम व्यक्त उस रेखा में कहीं गम्भीरता भी थी और अवसाद भी—जैसे वह अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा थी। उसके माथे पर हलकी-सी सिकुड़न पड़ गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठाकर अपना बिना दाँत का मुँह खोल दिया और किलकारी भरती हुई माँ की छाती पर मुट्ठियों से चोट करने लगी। दूसरी तरफ़ से आती एक गाड़ी तेज़ रफ़्तार में पास से गुज़री तो वह ज़रा सहम गई, मगर गाड़ी के निकलते ही और भी मुँह खोलकर किलकारी भरने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हलके-हलके बाल नज़र आ रहे थे। उसकी नाक ज़रा छोटी थी, पर आँखें माँ की ही तरह गहरी और फैली हुई थीं। माँ के गाल और कपड़े नोचकर उसकी आँखें मेरी तरफ़ घूम गईं और वह बाँहें हवा में पटकती हुई मुझे अपनी किलकारियों का निशाना बनाने लगी।

स्त्री की पलकें उठीं और उसकी उदास आँखें क्षण-भर मेरी आँखों से मिली रहीं। मुझे उस क्षण-भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हूँ जिसमें गहरी साँझ के सभी हलके-गहरे रंग झिलमिला रहे हैं और जिसका दृश्यपट क्षण के हर सौवें हिस्से में बदलता जा रहा है...।

बच्ची मेरी तरफ़ देखकर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने अपने हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिए और कहा, ''आ बेटे, आ...।''

मेरे हाथ पास आ जाने से बच्ची के हाथों का हिलना बन्द हो गया और उसके होंठ रुआँसे हो गए।

स्त्री ने बच्ची को अपने होंठों से छुआ, और कहा, ''जा बिट्टू, जाएगी उनके पास?''

लेकिन बिट्टू के होंठ और रुआँसे हो गए और वह माँ के साथ सट गई।

''ग़ैर आदमी से डरती है,'' मैंने मुस्कुराकर कहा और हाथ हटा लिए।

स्त्री के होंठ भिंच गए और माथे की खाल में थोड़ा खिंचाव आ गया। उसकी आँखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वहाँ से लौट आई और वह बोली, ''नहीं,

डरती नहीं। इसे दरअसल आदत नहीं है। यह आज तक या तो मेरे हाथों में रही है या नौकरानी के...'' और वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सटकर आँखें झपकने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकियाँ देने लगी। बच्ची ने आँखें मूँद लीं। महिला उसकी तरफ़ देखती हुई जैसे चूमने के लिए होंठ बढ़ाए उसे थपकियाँ देती रही। फिर एकाएक उसने झुककर उसे चूम लिया।

''बहुत अच्छी है हमारी बिट्टू, झट-से सो जाती है,'' यह उसने जैसे अपने से कहा और मेरी तरफ़ देखा। उसकी आँखों में एक उदास-सा उत्साह भर रहा था।

''कितनी बड़ी है यह बच्ची?'' मैंने पूछा।

''दस दिन बाद पूरे चार महीने की हो जाएगी,'' वह बोली, ''पर देखने में अभी उससे छोटी लगती है। नहीं?''

मैंने आँखों से उसकी बात का समर्थन किया। उसके चेहरे में एक अपनी ही सहजता थी—विश्वास और सादगी की। मैंने सोई हुई बच्ची के गाल को ज़रा-सा सहला दिया। स्त्री का चेहरा और भावपूर्ण हो गया।

''लगता है आपको बच्चों से बहुत प्यार है,'' वह बोली, ''आपके कितने बच्चे हैं?''

मेरी आँखें उसके चेहरे से हट गईं। बिजली की बत्ती के पास एक कीड़ा उड़ रहा था।

''मेरे?'' मैंने मुस्कुराने की कोशिश करते हुए कहा, ''अभी तो कोई नहीं है, मगर...।''

''मतलब ब्याह हुआ है, अभी बच्चे-अच्चे नहीं हुए,'' वह मुस्कुराई ''आप मर्द लोग तो बच्चों से बचे ही रहना चाहते हैं न?''

मैंने होंठ सिकोड़ लिए और कहा, ''नहीं, यह बात नहीं...।''

''हमारे ये तो बच्ची को छूते भी नहीं,'' वह बोली, ''कभी दो मिनट के लिए भी उठाना पड़ जाए तो झल्लाने लगते हैं। अब तो ख़ैर वे इस मुसीबत से छूटकर बाहर ही चले गए हैं।'' और सहसा उसकी आँखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके होंठ बिलकुल उस बच्ची जैसे हो गए थे। फिर सहसा उसके होंठों पर मुस्कुराहट लौट आई—जैसा अक्सर सोए हुए बच्चों के साथ होता है। उसने आँखें झपककर अपने को सहेज लिया और बोली, ''वे डॉक्टरेट के लिए इंगलैंड गए हैं। मैं उन्हें बम्बई में जहाज़ पर चढ़ाकर आ रही हूँ।...वैसे छह-आठ महीने की बात है। फिर मैं भी उनके पास चली जाऊँगी।''

फिर उसने ऐसी नज़र से मुझे देखा जैसे उसे शिकायत हो कि मैंने उसकी इतनी व्यक्तिगत बात उससे क्यों जान ली!

''आप बाद में अकेली जाएँगी?'' मैंने पूछा, ''इससे तो आप अभी साथ चली जातीं...।''

उसके होंठ सिकुड़ गए और आँखें फिर अन्तर्मुख हो गईं। वह कई पल अपने में डूबी रही और उसी भाव से बोली, ''साथ तो नहीं जा सकती थी क्योंकि अकेले उनके जाने की भी सुविधा नहीं थी। लेकिन उनको मैंने किसी तरह भेज दिया है। चाहती थी कि उनकी कोई तो चाह मुझसे पूरी हो जाए।...दीशी की बाहर जाने की बहुत इच्छा थी।...अब छह-आठ महीने मैं अपनी तनखाह में से कुछ पैसा बचाऊँगी और थोड़ा-बहुत कहीं से उधार लेकर अपने जाने का इन्तज़ाम करूँगी।''

उसने सोच में डूबती-उतराती अपनी आँखों को सहसा सचेत कर लिया और फिर कुछ क्षण शिकायत की नज़र से मुझे देखती रही। फिर बोली, ''अभी बिट्टू भी बहुत छोटी है न? छह-आठ महीने में यह बड़ी हो जाएगी और मैं भी तब तक थोड़ा और पढ़ लूँगी। दीशी की बहुत इच्छा है कि मैं एम.ए. कर लूँ। मगर मैं ऐसी जड़ और नाकारा हूँ कि उनकी कोई भी चाह पूरी नहीं कर पाती। इसीलिए इस बार उन्हें भेजने के लिए मैंने अपने सब गहने बेच दिए हैं। अब मेरे पास बस मेरी बिट्टू है, और कुछ नहीं।'' और वह बच्ची के सिर पर हाथ फेरती हुई, भरी-भरी नज़र से उसे देखती रही।

बाहर वही सुनसान अँधेरा था, वही लगातार सुनाई देती इंजन की फक्-फक्। शीशे से आँख गड़ा लेने पर भी दूर तक वीरानगी नज़र आती थी।

मगर उस स्त्री की आँखों में जैसे दुनिया-भर की वत्सलता सिमट आई थी। वह फिर कई क्षण अपने में डूबी रही। फिर उसने एक उसाँस ली और बच्ची को अच्छी तरह कम्बलों में लपेटकर सीट पर लिटा दिया।

ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ आदमी खुर्राटे भर रहा था। एक बार करवट बदलते हुए वह नीचे गिरने को हुआ, पर सहसा हड़बड़ाकर सँभल गया। फिर कुछ ही देर में वह और ज़ोर से खर्राटे भरने लगा।

''लोगों को जाने सफर में कैसे इतनी गहरी नींद आ जाती है!'' वह स्त्री बोली, ''मुझे दो-दो रातें सफर करना हो, तो भी मैं एक पल नहीं सो पाती। अपनी-अपनी आदत होती है।!''

''हाँ, आदत की ही बात है,'' मैंने कहा, ''कुछ लोग बहुत निश्चिन्त होकर जीते हैं और कुछ होते हैं कि...।''

''बग़ैर चिन्ता के जी ही नहीं सकते!'' और वह हँस दी। उसकी हँसी का स्वर भी बच्चों जैसा ही था। उसके दाँत बहुत छोटे-छोटे और चमकीले थे। मैंने भी उसकी हँसी में साथ दिया।

''मेरी बहुत ख़राब आदत है,'' वह बोली, ''मैं बात-बेबात के सोचती रहती हूँ। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं सोच-सोचकर पागल हो जाऊँगी। ये मुझसे कहते हैं कि मुझे लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, खुलकर हँसना, बात करना चाहिए, मगर इनके सामने मैं ऐसे गुमसुम हो जाती हूँ कि क्या कहूँ? वैसे और लोगों से भी मैं

ज़्यादा बात नहीं करती लेकिन इनके सामने तो चुप्पी ऐसी छा जाती है जैसे मुँह में ज़बान हो ही नहीं... ।...अब देखिए न, इस वक़्त कैसे लतर-लतर बात कर रही हूँ!" और वह मुस्कुराई। उसके चेहरे पर हलकी-सी संकोच की रेखा आ गई।

"रास्ता काटने के लिए बात करना ज़रूरी हो जाता है," मैंने कहा, "ख़ासतौर से जब नींद न आ रही हो।"

उसकी आँखें पल-भर फैलीं रहीं। फिर वह गर्दन ज़रा झुकाकर बोली, "ये कहते हैं कि जिसके मुँह में ज़बान ही न हो, उसके साथ पूरी ज़िन्दगी कैसे काटी जा सकती है? ऐसे इंसान में और एक पालतू जानवर में क्या फ़र्क है? मैं हज़ार चाहती हूँ कि इन्हें खुश दिखाई दूँ और इनके सामने कोई न कोई बात करती रहूँ, लेकिन मेरी सारी कोशिश बेकार चली जाती हैं। इन्हें फिर गुस्सा आ जाता है और मैं रो देती हूँ। इन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है।" कहते हुए उसकी आँखों में आँसू छलक आए, जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ लिया।

"मैं बहुत पागल हूँ," वह फिर बोली, "ये जितना मुझे टोकते हैं, मैं उतना ही ज़्यादा रोती हूँ। दरअसल ये मुझे समझ नहीं पाते। मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर जाने क्यों ये मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं?" और फिर माथे को हाथ से दबाए हुए बोली, "आप भी अपनी पत्नी से ज़बर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं?"

मैंने पीछे टेक लगाकर कन्धे सिकोड़ लिए और हाथ बगलों में दबाए बत्ती के पास उड़ते कीड़े को देखने लगा। फिर सिर को ज़रा-सा झटककर मैंने उसकी तरफ़ देखा। वह उत्सुक नज़र से मेरी तरफ़ देख रही थी।

"मैं?" मैंने मुस्कुराने की चेष्टा करते हुए कहा, "मुझे यह कहने का कभी मौका ही नहीं मिल पाता। मैं बल्कि पाँच साल से यह चाह रहा हूँ कि वह ज़रा कम बात किया करे। मैं समझता हूँ कि कई बार इंसान चुप रहकर ज़्यादा बात कह सकता है। ज़बान से कही बात में वह रस नहीं होता जो आँख की चमक से या होंठों के कम्पन से या माथे की एक लकीर से कही गई बात में होता है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूँ, तो वह मुझे विस्तारपूर्वक बता देती है कि ज़्यादा बात करना इंसान की निश्छलता का प्रमाण है और मैं इतने सालों में अपने प्रति उसकी भावना को समझ ही नहीं सका! वह दरअसल कालेज में लेक्चरर है और अपनी आदत की वजह से घर में भी लेक्चर देती रहती है।"

"ओह!" वह थोड़ी देर दोनों हाथों में अपना मुँह छिपाए रही। फिर बोली, "ऐसा क्यों होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे दीशी से यही शिकायत है कि वे मेरी बात नहीं समझ पाते। मैं कई बार उनके बालों में अपनी उँगलियाँ उलझाकर उनसे बात करना चाहती हूँ, कई बार उनके घुटनों पर सिर रखकर मुँदी आँखों से उनसे कितना-कुछ कहना चाहती हूँ। लेकिन उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता। वे

कहते हैं कि यह सब गुड़ियों का खेल है, उनकी पत्नी को जीता-जागता इंसान होना चाहिए। और मैं इंसान बनने की बहुत कोशिश करती हूँ, लेकिन नहीं बन पाती, कभी नहीं बन पाती। इन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती। मेरा मन होता है कि चाँदनी रात में खेतों में घूमूँ, या नदी में पैर डलकर घंटों बैठी रहूँ, मगर ये कहते हैं कि ये सब आइडल मन की वृत्तियाँ हैं। इन्हें क्लब, संगीत-सभाएँ और डिनर-पार्टियाँ अच्छी लगती हैं। मैं इनके साथ वहाँ जाती हूँ तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहाँ ज़रा अपनापन महसूस नहीं होता। ये कहते हैं कि तू पिछले जन्म में मेंढकी थी जो तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतों में मेंढकों की आवाज़ें सुनना ज़्यादा अच्छा लगता है। मैं कहती हूँ कि मैं इस जन्म में भी मेंढकी हूँ। मुझे बरसात में भीगना बहुत अच्छा लगता है। और भीगकर मेरा मन कुछ-न-कुछ गुनगुनाने को कहने लगता है--हालाँकि मुझे गाना नहीं आता। मुझे क्लब में सिगरेट के धुएँ में घुटकर बैठे रहना नहीं अच्छा लगता। वहाँ मेरे प्राण गले को आने लगते हैं।''

उस थोड़े-से समय में ही मुझे उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव काफ़ी परिचित लगने लगा था। उसकी बात सुनते हुए मेरे मन पर हलकी उदासी छाने लगी थी, हालाँकि मैं जानता था कि वह कोई भी बात मुझसे नहीं कह रही—वह अपने से बात करना चाहती है और मेरी मौजूदगी उसके लिए सिर्फ़ एक बहाना है। मेरी उदासी भी उसके लिए न होकर अपने लिए थी, क्योंकि बात उससे करते हुए भी मुख्य रूप से सोच अपने विषय में रहा था। मैं पाँच साल से मंज़िल-दर-मंज़िल विवाहित जीवन से गुज़रता आ रहा था—रोज़ यही सोचते हुए कि शायद आनेवाला कल ज़िन्दगी के इस ढाँचे को बदल देगा। सतह पर हर चीज़ ठीक थी, कहीं कुछ गलत नहीं था, मगर सतह के नीचे जीवन कितनी-कितनी उलझनों और गाँठों से भरा था! मैंने विवाह के पहले दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझसे विवाह करके सुखी नहीं हो सकी, क्योंकि मैं उसकी कोई भी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसमें उसका शासन हो और ऐसा सामाजिक जीवन जिसमें उसे महत्त्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से स्वतन्त्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह मानसिक विकृतियाँ लगती थीं जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन-दर्शन से दूर करना चाहती थी। उसने इस विश्वास के साथ जीवन आरम्भ किया था कि वह मेरी त्रुटियों की क्षतिपूर्ति करती हुई बहुत शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से सफल व्यक्ति बनने की दिशा में ले जाएगी। उसकी दृष्टि में यह मेरे संस्कारों का दोष था जो मैं इतना अन्तर्मुख रहता था और इधर-उधर मिल-जुलकर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। वह इस परिस्थति को सुधारना चाहता थी, पर परिस्थिति सुधरने की जगह बिगड़ती गई थी। वह जो कुछ चाहती थी, वह मैं नहीं कर पाता था और जो कुछ मैं चाहता था, वह उससे नहीं होता था। इससे

हममें अक्सर चख्-चख् होने लगती थी और कई बार दीवारों से सिर टकराने की नौबत आ जाती थी। मगर यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी और उसे फिर मुझसे यह शिकायत होती थी कि मैं दो-दो दिन अपने को उन साधारण घटनाओं के प्रभाव से मुक्त क्यों नहीं कर पाता। मगर मैं दो-दो दिन क्या, कभी उन घटनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता था, और रात को जब वह सो जाती थी, तो घंटों तकिए में मुँह छिपाए कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगड़े को उतना अस्वाभाविक नहीं समझती थी, जितना मेरे रात-भर जागने को, और उसके लिए मुझे नर्व टॉनिक लेने की सलाह दिया करती थी। विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह बीते थे और उसके बाद हम अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालाँकि समस्या ज्यों की त्यों बनी थी, और जब भी हम इकट्ठे होते, वही पुरानी ज़िन्दगी लौट आती थी, फिर भी नलिनी का यह विश्वास अभी कम नहीं हुआ था कि कभी मेरे सामाजिक संस्कारों का उदय अवश्य होगा और तब हम साथ रहकर सुखी विवाहित जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे हैं?" उस स्त्री ने अपनी बच्ची के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

मैंने सहसा अपने को सहेजा और कहा, "हाँ, मैं आप ही की बात को लेकर सोच रहा था। कुछ लोग होते हैं, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार आसानी से नहीं ओढ़ा जाता। आप भी शायद उन्हीं लोगों में से हैं।"

"मैं नहीं जानती," वह बोली, "मगर इतना जानती हूँ कि मैं बहुत-से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरिचित, बेगाना और अनमेल अनुभव करती हूँ। मुझे लगता है कि मुझमें ही कुछ कमी है। मैं इतनी बड़ी होकर भी वह कुछ नहीं जान-समझ पाई, जो लोग छुटपन में ही सीख जाते हैं। दीशी का कहना है कि मैं सामाजिक दृष्टि से बिलकुल मिसफिट हूँ।"

"आप भी यही समझती हैं?" मैंने पूछा।

"कभी समझती हूँ, कभी नहीं भी समझती," वह बोली, "एक ख़ास तरह के समाज में मैं ज़रूर अपने को मिसफिट अनुभव करती हूँ। मगर...कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके बीच जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। ब्याह से पहले मैं दो-एक बार कॉलेज की पार्टियों के साथ पहाड़ों पर घूमने के लिए गई थी। वहाँ सब लोगों को मुझसे यही शिकायत होती थी कि मैं जहाँ बैठ जाती हूँ, वहीं की हो सकती हूँ। मुझे पहाड़ी बच्चे बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके घर के लोगों से भी बहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज तक याद है। उस परिवार के बच्चे मुझसे इतना घुल-मिल गए थे कि मैं बड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़कर उनके यहाँ से चल पाई थी। मैं कुल दो घंटे उन लोगों के पास रही थी। दो घंटे में मैंने उन्हें नहलाया-धुलाया भी, और उनके साथ खेलती भी रही। बहुत ही अच्छे बच्चे थे वे।

हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहूँ! मैंने उनकी माँ से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हँसकर बोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहाँ कौन इनके लिए मोती रखे हैं! यहाँ तो दो साल में इनकी हड्डियाँ निकल आएँगी, वहाँ खा-पीकर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी बात सुनकर रुलाई आने को हुई।...मैं अकेली होती, तो शायद कई दिनों के लिए उन लोगों के पास रह जाती। ऐसे लोगों में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है।...अब तो आपको भी लग रहा होगा कि कितनी अजीब हूँ मैं! ये कहा करते हैं कि मुझे किसी अच्छे मनोविद् से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ों पर भटकती फिरूँगी!''

''यह तो अपनी-अपनी बनावट की बात है,'' मैंने कहा, ''मुझे खुद आदिम संस्कारों के लोगों के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बनाकर नहीं रह सका और न ही आशा है कि कभी रह सकूँगा। मुझे अपनी ज़िन्दगी की जो रात सबसे ज़्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते और नाचते-गाते रहे। मुझे बहुत हैरानी हुई जब मुझे बताया गया कि यही गूजर दस-दस रुपए के लिए आदमी का ख़ून भी कर देते हैं!''

''आपको सचमुच इस तरह की ज़िन्दगी अच्छी लगती है?'' उसने कुछ आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

''आपको शायद खुशी हो रही है कि पागल होने की उम्मीदवार आप अकेली ही नहीं हैं,'' मैंने मुस्कुराकर कहा। वह भी मुस्कुराई। उसकी आँखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आँखों में न जाने कितना-कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और स्नेह! उसके होंठ कुछ कहने के लिए काँपे, लेकिन काँपकर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे महसूस हुआ कि मेरा दिमाग़ बिलकुल ख़ाली है और मुझे पता नहीं कि मैं क्या कर रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। सहसा उसकी आँखों में फिर वही सूनापन भरने लगा और क्षण-भर में ही वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी तरफ़ से आँखें हटा लीं।

बत्ती के पास उड़ता कीड़ा उसके साथ सटकर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुस्कुरा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुन्ध जम गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी दिखाई नहीं देता था।

गाड़ी की रफ़्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियाँ तेज़ी से निकल गईं। मैंने खिड़की का शीशा उठा दिया। बाहर से आती बर्फ़ानी हवा

के स्पर्श ने स्नायुओं को थोड़ा सचेत कर दिया। गाड़ी एक बहुत नीचे प्लेटफार्म के पास आकर खड़ी हो रही थी।

"यहाँ कहीं थोड़ा पानी मिल जाएगा?"

मैंने चौंककर देखा कि वह अपनी टोकरी में से काँच का गिलास निकालकर अनिश्चित भाव से हाथ में लिये है। उसके चेहरे की रेखाएँ पहले से गहरी हो गई थीं।

"पानी आपको पीने के लिए चाहिए?" मैंने पूछा।

"हाँ। कुल्ला करूँगी और पिऊँगी भी। न जाने क्यों होंठ कुछ चिपक-से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी...।"

"देखता हूँ, अगर यहाँ कोई नल-वल हो, तो...।"

मैंने गिलास उसके हाथ से ले लिया और जल्दी से प्लेटफार्म पर उतर गया। न जाने कैसा मनहूस स्टेशन था कि कहीं पर भी कोई इंसान नज़र नहीं आ रहा था। प्लेटफार्म पर पहुँचते ही हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कालर ऊँचे कर लिए। प्लेटफार्म के जंगले के बाहर से फैलकर ऊपर आए दो-एक पेड़ हवा में सरसरा रहे थे। इंजन के भाप छोड़ने से लम्बी शूँ-ऊँ की आवाज़ सुनाई दे रही थी। शायद वहाँ गाड़ी सिग्नल न मिलने की वजह से रुक गई थी।

दूर कई डब्बे पीछे एक नल दिखाई दिया, तो मैं तेज़ी से उस तरफ़ चल दिया। ईंटों के प्लेटफार्म पर अपने जूते का शब्द मुझे बहुत अजीब-सा लगा। मैंने चलते-चलते गाड़ी की तरफ़ देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा बाहर नहीं झाँक रहा था। मैं नल के पास जाकर गिलास में पानी भरने लगा। तभी हलकी-सी सीटी देकर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा हुआ पानी का गिलास लिये अपने डब्बे की तरफ़ दौड़ा। दौड़ते हुए मुझे लगा कि मैं उस डब्बे तक नहीं पहुँच पाऊँगा और सर्दी में उस अँधेरे और सुनसान प्लेटफार्म पर ही मुझे बिना सामान के रात बितानी होगी। यह सोचकर मैं और तेज़ दौड़ने लगा। किसी तरह अपने डब्बे के बराबर पहुँच गया। दरवाज़ा खुला था और वह दरवाज़े के पास खड़ी थी। उसने हाथ बढ़ाकर गिलास मुझसे ले लिया। फुटबोर्ड पर चढ़ते हुए एक बार मेरा पैर ज़रा-सा फिसला, मगर अगले ही क्षण मैं स्थिर होकर खड़ा हो गया। इंजन तेज़ होने की कोशिश में हलके-हलके झटके दे रहा था और ईंटों के प्लेटफार्म की जगह अब नीचे अस्पष्ट गहराई दिखाई देने लगी थी।

"अन्दर आ जाइए," उसके ये शब्द सुनकर मुझे एहसास हुआ कि मुझे फुटबोर्ड से आगे भी कहीं जाना है। डब्बे के अन्दर कदम रखा, तो मेरे घुटने ज़रा-ज़रा काँप रहे थे।

अपनी जगह पर आकर मैंने टाँगें सीधी करके पीछे टेक लगा ली। कुछ पल बाद आँखें खोलीं तो लगा कि वह इस बीच मुँह धो आई है। फिर भी उसके चेहरे पर मुर्दनी-सी छा रही थी। मेरे होंठ सूख रहे थे, फिर भी मैं थोड़ा मुस्कुराया।

"क्या बात है, आपका चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है?" मैंने पूछा।

"मैं कितनी मनहूस हूँ...," कहकर उसने अपना निचला होंठ ज़रा-सा काट लिया।

"क्यों?"

"अभी मेरी वजह से आपको कुछ हो जाता...।"

"यह खूब सोचा आपने!"

"नहीं। मैं हूँ ही ऐसी...," वह बोली, "ज़िन्दगी में हरएक को दुःख ही दिया है। अगर कहीं आप न चढ़ पाते...।"

"तो?"

"तो?" उसने होंठ ज़रा सिकोड़े, "तो मुझे पता नहीं...पर...।"

उसने ख़ामोश रहकर आँखें झुका लीं। मैंने देखा कि उसकी साँस जल्दी-जल्दी चल रही है। महसूस किया कि वास्तविक संकट की अपेक्षा कल्पना का संकट कितना बड़ा और ख़तरनाक होता है। शीशा उठा रहने से खिड़की से ठंडी हवा आ रही थी। मैंने खींचकर शीशा नीचे कर दिया।

"आप क्यों गए थे पानी लाने के लिए? आपने मना क्यों नहीं कर दिया?" उसने पूछा।

उसके पूछने के लहजे से मुझे हँसी आ गई।

"आप ही ने तो कहा था...।"

"मैं तो मूर्ख हूँ, कुछ भी कह देती हूँ। आपको तो सोचना चाहिए था।"

"अच्छा, मैं अपनी ग़लती मान लेता हूँ।"

इससे उसके मुरझाए होंठों पर भी मुस्कुराहट आ गई।

"आप भी कहेंगे, कैसी लड़की है," उसने आन्तरिक भाव के साथ कहा। "सच कहती हूँ, मुझे ज़रा अक्ल नहीं है। इतनी बड़ी हो गई हूँ, पर अक्ल रत्ती-भर नहीं है–सच!"

मैं फिर हँस दिया।

"आप हँस क्यों रहे हैं?" उसके स्वर में फिर शिकायत का स्पर्श आ गया।

"मुझे हँसने की आदत है!" मैंने कहा।

"हँसना अच्छी आदत नहीं है।"

मुझे इस पर फिर हँसी आ गई।

वह शिकायत-भरी नज़र से मुझे देखती रही।

गाड़ी की रफ़्तार फिर तेज़ हो रही थी। ऊपर की बर्थ पर लेटा आदमी सहसा हड़बड़ाकर उठ बैठा और ज़ोर-ज़ोर से खाँसने लगा। खाँसी का दौरा शान्त होने पर उसने कुछ पल छाती को हाथ से दबाए रखा, फिर भारी आवाज़ में पूछा, "क्या बजा है?"

"पौने बारह," मैंने उसकी तरफ़ देखकर उत्तर दिया।

"कुल पौने बारह?" उसने निराश स्वर में कहा और फिर लेट गया। कुछ ही देर में वह फिर खुर्राटे भरने लगा।

"आप भी थोड़ी देर सो जाइए।" वह पीछे टेक लगाए शायद कुछ सोच रही थी या केवल देख रही थी।

"आपको नींद आ रही है, आप सो जाइए," मैंने कहा।

"मैंने आपसे कहा था न मुझे गाड़ी में नींद नहीं आती। आप सो जाइए।"

मैंने लेटकर कम्बल ले लिया। मेरी आँखें देर तक ऊपर की बत्ती को देखती रहीं जिसके साथ झुलसा हुआ कीड़ा चिपककर रह गया था।

"रजाई भी ले लीजिए, काफ़ी ठंड है," उसने कहा।

"नहीं, अभी ज़रूरत नहीं है। मैं बहुत-से गर्म कपड़े पहने हूँ।"

"ले लीजिए, नहीं तो बाद में ठिठुरते रहिएगा।"

"नहीं, ठिठुरूँगा नहीं," मैंने कम्बल गले तक लपेटते हुए कहा, "और थोड़ी-थोड़ी ठंड महसूस होती रहे, तो अच्छा लगता है।"

"बत्ती बुझा दूँ?" कुछ देर बाद उसने पूछा।

"नहीं, रहने दीजिए।"

"नहीं, बुझा देती हूँ। ठीक से सो जाइए।" और उसने उठकर बत्ती बुझा दी। मैं काफ़ी देर अँधेरे में छत की तरफ़ देखता रहा। फिर मुझे नींद आने लगी।

शायद रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी, जब इंजन के भोंपू की आवाज़ से मेरी नींद खुली। वह आवाज़ कुछ ऐसी भारी थी कि मेरे सारे शरीर में एक झुरझुरी-सी भर गई। पिछले किसी स्टेशन पर इंजन बदल गया था।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी तो मैंने सिर थोड़ा ऊँचा उठाया। सामने की सीट ख़ाली थी। वह स्त्री न जाने किस स्टेशन पर उतर गई थी। इसी स्टेशन पर न उतरी हो, यह सोचकर मैंने खिड़की का शीशा उठा दिया और बाहर देखा। प्लेटफार्म बहुत पीछे रह गया था और बत्तियों की कतार के सिवा कुछ साफ़ दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने शीशा फिर नीचे खींच लिया। अन्दर की बत्ती अब भी बुझी हुई थी। बिस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने देखा कि कम्बल के अलावा मैं अपनी रजाई भी लिये हूँ जिसे अच्छी तरह कम्बल के साथ मिला दिया गया है। गर्मी की कई-एक सिहरनें एकसाथ शरीर में भर गईं।

ऊपर की बर्थ पर लेटा आदमी अब भी उसी तरह ज़ोर-ज़ोर से खुर्राटे भर रहा था।

शिकार

दादर, बाँदरा, सैंटाक्रुज़, अँधेरी—अँधेरी, सैंटाक्रुज़, बाँदरा, दादर—वही स्टेशन बार-बार आते और निकल जाते। पटवर्द्धन दरवाज़े के पास खड़ा-खड़ा चर्चगेट से अँधेरी तक गया था, अँधेरी से ग्रांट रोड तक आया था, ग्रांट रोड से फिर अँधेरी तक गया था और अब दूसरी बार अँधेरी से लौट रहा था। आज कुछ-न-कुछ हासिल करना उसके लिए ज़रूरी था। बृहस्पति, शुक्र और शनीचर तीन दिन ख़ाली निकल गए थे। पैसे हाथ में रहते दस दिन भी मौक़े का इन्तज़ार करना पड़ता, जो उसे उतावली न होती। वह ख़ामख़ाह अपने को मुसीबत में डालने के हक में नहीं था। मगर बुधवार को पन्द्रह रुपए जुए में हारकर उसके पास कुल डेढ़ रुपया बच रहा था, जिससे उसने किसी तरह अब तक का काम चलाया था। इस वक़्त उसके पास सिर्फ़ दो इकन्नियाँ थीं। रात की रोटी के लिए कुछ-न-कुछ पैदा करना ज़रूरी था।

पिछली दादर फास्ट गाड़ी में उसका काम बनते-बनते रह गया था। ग्रांड रोड से उस गाड़ी में बहुत-से लोग चढ़े थे और दरवाज़े के पास इतनी भीड़ हो गई थी कि कन्धा हिलाना भी मुश्किल था। उस भीड़ में एक पारसी की ज़ेब उसकी बाँह के साथ सट गई थी। पटवर्द्धन ने स्पर्श से ही जान लिया था कि उस ज़ेब में चालीस-पचास के नोट हैं। वह तेज़ गाड़ी न होती, तो सेंट्रल स्टेशन पर ही वह पारसी की ज़ेब साफ़ करके उतर गया होता। सिर्फ़ बाहर निकलने के लिए एक हल्ले की ज़रूरत थी। मगर गाड़ी सात स्टेशन छोड़कर बाँदरा रुकी, और इस बीच न जाने कैसे पारसी को कुछ सन्देह-सा हो गया जिससे स्टेशन आने पर वह पैसोंवाली ज़ेब पर हाथ रखे हुए नीचे उतरा। पटवर्द्धन उसी तरह दरवाज़े से टेक लगाए खड़ा रह गया जैसे ग्रांट रोड से बाँदरा तक आया था।

इस बार अँधेरी स्टेशन पर उसने गाड़ी बदली, तो उसे टाँगों में थकान महसूस हो रही थी। उसे खड़े-खड़े सफर करते तीन घंटे से ज़्यादा वक़्त हो चुका था। अब भी उसे खड़े रहना था क्योंकि उसका काम गाड़ी के दरवाज़े के पास ही बन सकता था। काम का मौका वे कुछ क्षण होते थे जब अन्दर आने और बाहर जानेवालों के बीच संघर्ष होता था। थकान के कारण पटवर्द्धन ने निश्चय किया कि वह दादर स्टेशन से चाय पीकर फिर कोई दूसरी गाड़ी पकड़ेगा।

सैंटाक्रुज़ पर दरवाज़े के पास ख़ासी भीड़ हो गई। पटवर्द्धन की आँखें एक नवयुवक के चेहरे पर कुछ क्षणों के लिए रुकीं। नवयुवक उसके बहुत पास खड़ा था। पटवर्द्धन को नवयुवक के चेहरे की रेखाएँ बहुत आकर्षक लगीं। उसके अस्तव्यस्त घुँघराले बालों और हैरानी-सी बड़ी-बड़ी आँखों में उसे कुछ खासियत लगी। वह ऐसे लोगों में से था जिनके साथ ख़ामख़ाह बात करने को मन हो आता है। उसे जैसे अपने चारों तरफ़ हर चीज़ अच्छी लग रही थी। पटवर्द्धन उसके चेहरे से आँखें हटाकर बाहर फैली रेल की पटरियों को देखने लगा।

बाँदरा निकल गया। गाड़ी माहिम स्टेशन पर रुकने लगी तो नवयुवक ने पास खड़े एक व्यक्ति से पूछा कि माटुंगा जाने के लिए उसे दादर से कौन-सी बस पकड़नी चाहिए। पटवर्द्धन को उसका बात करने का लहज़ा भी आकर्षक लगा। उसे ईर्ष्या हुई कि नवयुवक उससे न पूछकर दूसरे व्यक्ति से क्यों पूछ रहा है। उससे पूछता, तो वह खुद जाकर उसे बस-स्टाप तक छोड़ आता।

नवयुवक ने जिससे पूछा था उसे खुद पता नहीं था कि दादर से माटुंगा के लिए कौन-सी बस मिलती है। उस व्यक्ति ने पटवर्द्धन से पूछा। पटवर्द्धन ने सीधे नवयुवक को उत्तर दिया कि उसे स्टेशन से निकलकर 'जे' रूट की बस पकड़नी चाहिए। फिर कुछ क्षण रुककर उसने पूछा, ''आप बम्बई में नए आए हैं?''

''हाँ, कल ही आया हूँ,'' नवयुवक ने मुस्कुराकर उत्तर दिया।

''काम से या सिर्फ़ घूमने के लिए?''

''काम की तलाश में आया हूँ,'' कहते हुए नवयुवक ने अपना निचला होंठ ज़रा-सा काट लिया। फिर उसने पटवर्द्धन से पूछा, ''आप यहीं रहते हैं?''

''मैं पिछले पाँच साल से यहाँ हूँ,'' कहते हुए पटवर्द्धन थोड़ा अव्यवस्थित हो गया।

''क्या काम करते हैं?''

''ग्रांट रोड पर मेरी जुर्राबों की फैक्टरी है।'' यह उन अनेक उत्तरों में से था जो यह सवाल पूछे जाने पर वह लोगों को दिया करता था। उसे इसके लिए सोचना नहीं होता था। अनायास ही कभी वह कह देता था कि वह एक दवाई कम्पनी का सेल्ज़मैन है। कभी कि जूते बनानेवालों को चमड़ा सप्लाई करता है। हर बात वह बहुत स्वाभाविक ढंग से कहता था। मगर उस समय उसे अपना स्वर कुछ अस्वाभाविक-सा लगा। उसकी आँखें नवयुवक के चेहरे से हट गईं।

पास ही एक पाँच-छह साल की बच्ची अपने पिता का हाथ पकड़े खड़ी थी। वह पटवर्द्धन के मैले कपड़ों से अपनी वायल की नई फ्राक बचाए रखने के लिए अपने पिता से सटी जा रही थी। बच्ची के होंठ बहुत पतले और सुन्दर थे। गर्दन की हलकी रेखाएँ जीवित शंखों की याद दिलाती थीं। नवयुवक भी उस बच्ची को देख रहा था। बच्ची से आँख मिलने पर एक बार उसने प्यार से उसकी ठोड़ी को सहला दिया।

बच्ची मुस्कुराई। पटवर्द्धन अन्दर से आँखें हटाकर फिर बाहर की तरफ़ देखने लगा। दूसरी तरफ़ से आती एक लोकल गाड़ी घड़घड़ाती पास से निकल गई। रेल की पटरियाँ तेज़ी से पीछे की तरफ़ जा रही थीं। कहीं-कहीं पटरियों में बत्तियों के साये नज़र आ जाते। एक पुल तेज़ी से निकल गया जिस पर दुनिया और ही गति से चल रही थी। गाड़ी की चाल धीमी होने लगी। दादर स्टेशन आ गया था।

गाड़ी के स्टेशन पर रुकते ही भीड़ का दबाव बढ़ गया। उतरने की कोशिश में नवयुवक का शरीर पटवर्द्धन के शरीर के साथ सट गया। स्पर्श के पहले ही क्षण पटवर्द्धन ने जान लिया कि नवयुवक की ज़ेब में चमड़े का एक बटुआ है, जिसमें दस-दस या पाँच-पाँच के बारह-तेरह नोट हैं। बाहर से आनेवालों की जल्दबाजी के कारण गाड़ी से उतरना मुश्किल हो रहा था। नवयुवक बच्ची को हाथ का सहारा दिए हुए था। कुछ लोगों के टोकरियाँ लिये अन्दर आ जाने से धक्कामुक्की और भी बढ़ गई। पटवर्द्धन नवयुवक से पहले प्लेटफार्म पर उतर गया। नवयुवक बच्ची को हाथों में उठाए हुए उतरा। बच्ची को उसके पिता को सौंपकर उस आदमी से बात करता हुआ वह पुल की तरफ़ चलने लगा।

पटवर्द्धन चाय के स्टाल के पास खड़ा था। उसकी नज़र नवयुवक का पीछा कर रही थी। गाड़ी झटके के साथ चल पड़ी। पटवर्द्धन के पैर गाड़ी की तरफ़ बढ़े, पर फुटबोर्डों पर इतने लोग खड़े थे कि दौड़ते हुए कहीं जगह बना लेना आसान नहीं था, गाड़ी की घड़घड़हाट हवा में फैलकर विलीन हो गई। पटवर्द्धन की नज़र पुल की तरफ़ गई। नवयुवक पुल पार कर रहा था। कुछ ही क्षणों में वह भीड़ के रेले में अदृश्य हो गया।

पटवर्द्धन की नज़र चाय के स्टाल पर रुकी। एक आदमी जल्दी-जल्दी चाय की प्यालियाँ भरकर पत्थर के काउंटर पर रखता जा रहा था। पटवर्द्धन को लगा जैसे आसपास ज़रूरत से ज़्यादा ख़ामोशी छा रही है। सहसा दूर से एक गाड़ी का शब्द सुनाई देने लगा। एक दादर फास्ट गाड़ी तेज़ी से निकल गई। गाड़ी के निकल जाने पर पटवर्द्धन को लगा कि वह अपने आसपास लगातार गाड़ी की घड़घड़ाहट चाहता है, साथ ही चारों तरफ़ से भीड़ का दबाव चाहता है, और...।

ग्रांट रोड जानेवाली दूसरी गाड़ी में छह-सात मिनट की देर थी। पटवर्द्धन पतलून की ज़ेबों में हाथ डाले खड़ा था। उसका बायाँ हाथ दो इकन्नियों को सहला रहा था और दायाँ हाथ चमड़े के बटुए को जिसमें अन्दाज़न दस-दस के या पाँच-पाँच के बारह-तेरह नोट थे।

सिग्नलों की रंगीन रोशनियाँ जैसे एकटक उसी की तरफ़ देख रही थीं। आसपास खड़े लोगों के स्वर की गूँज भी जैसे उसी के चारों तरफ़ मँडरा रही थी। उसे अच्छा लग रहा था कि स्टालवाला लगातार चाय की प्यालियाँ भरकर काउंटर पर रखता जा

रहा था जिससे उँडेली जा रही चाय में से निकलती भाप के हलके-हलके छल्ले बार-बार सामने आकर ओझल हो जाते थे और सफ़ेद पत्थर से प्यालियों के टकराने का शब्द लगातार सुनाई देता रहता था।

बत्तियों की रोशनी में प्लेटफार्म के पत्थर चमक रहे थे। पास से निकलते लोगों की ठिगनी-तिरछी छायाएँ पत्थरों के अन्दर चलती प्रतीत होती थीं। पटवर्द्धन के मस्तिष्क में भी कई-कई छायाएँ चल रही थीं...।

बड़ी-बड़ी इमारतें, बसें, ट्रामें, इंसान और शीशे के शो-केसों में बन्द डबल रोटियाँ...।

फैली हुई सड़कें और गाड़ियों के घूमते हुए पहिए...।

रात को फुटपाथ पर इकट्ठे होते हुए लोग—मज़दूर, भिखमंगे, ज़ेबकतरे, रंडियों के दलाल—पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे...।

एक बच्चा रो रहा है...।

एक व्यक्ति जिसके चेहरे पर मांस सूख गया है और जिसकी आँखें गोल-गोल दिखाई देती हैं, खम्भे से टेक लगाए बीड़ी पी रहा है...।

एक किश्तीनुमा कार पास से फिसलती हुई निकल जाती है...।

बीड़ी पीनेवाला फैली हुई आँखों से कार का पीछा करता है, और आधी पी हुई बीड़ी बुझाकर ज़ेब में रख लेता है।

''मज़दूर!'' कोई आवाज़ देता है।

फुटपाथ से दस-पन्द्रह आदमी दौड़ पड़ते हैं।

एक स्त्री, जिसकी उम्र का कुछ अनुमान नहीं होता, लेटी हुई, कराह रही है...।

एक युवक, जिसकी बनियान में जगह-जगह सूराख हैं, बाँह खुजलाता हुआ कह रहा है, ''मधुबाला है प्यारे! उसका एक क्लोज़अप देखकर ही सब पैसे वसूल हो जाते हैं...।''

एक तरफ़ से शोर सुनाई देता है—''महमूद ने निबोलकर को चाकू मार दिया...।''

''ये लोग वहशी हैं,'' कोई किसी से कहता है।

एक पत्थर ट्राम की खिड़की से टकराता है...।

पुलिस का सिपाही उसे घसीटकर ले जा रहा है। वह चिल्ला रहा है, ''नहीं, मैं नहीं था! मैं नहीं था!''

गाड़ी में भीड़ का दबाव बढ़ रहा है। घुँघराले बालोंवाले नवयुवक का शरीर उसके शरीर के साथ सट गया है। नवयुवक हाथ से बच्ची को सहारा दिए हुए है...।

सिग्नल की बत्ती का रंग बदल गया।

पटवर्द्धन का ध्यान फिर चाय के स्टाल की तरफ़ चला गया। स्टालवाला उसी तरह चाय की प्यालियाँ भर-भरकर काउंटर पर रखता जा रहा था। उँडेली जा रही चाय से निकलती भाप के हलके-हलके छल्ले बार-बार दिखाई देते और ओझल हो जाते थे।

गाड़ी आ रही थी।

पटवर्द्धन का हाथ बाईं ज़ेब में पड़े हुए बटुए को सहला रहा था।

गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गई।

गाड़ी ने सीटी दी और चल पड़ी।

पटवर्द्धन का मन चाह रहा था कि ज़िन्दगी लौटकर कुछ मिनट पहले के उस मुकाम पर चली जाए जब उसके चारों तरफ़ भीड़ का दबाव बढ़ रहा था, पर उसका हाथ अभी नवयुवक की ज़ेब तक नहीं पहुँचा था।

गाड़ी के आधे डब्बे निकल गए थे।

तभी उसने देखा कि घुँघराले बालोंवाला नवयुवक घबराया-सा पुल की सीढ़ियाँ उतरकर आ रहा था।

गाड़ी का अन्तिम डब्बा निकल रहा था।

सहसा पटवर्द्धन की टाँगों में जान आ गई। वह दौड़ा और गाड़ी के आख़िरी डब्बे के फुटबोर्ड पर लटक गया। पल-भर में पुल दूर हो गया, प्लेटफार्म पीछे रह गया, और नवयुवक का चेहरा आँखों से ओझल हो गया।

अब फिर रेल की पटरियाँ तेज़ी से पीछे की तरफ़ जाती दिखाई दे रही थीं। गाड़ी की एक बत्ती की पटरी पर पड़ती हुई रोशनी गाड़ी के साथ-साथ चल रही थी। पटवर्द्धन का दायाँ हाथ फुटबोर्ड के डंडे को पकड़े था और दायाँ हाथ ज़ेब में पड़े हुए बटुए को सहला रहा था।

मगर अब उसका मन चाहा कि ज़िन्दगी लौटकर उस मुकाम पर चली जाए जब गाड़ी का आख़िरी डब्बा निकल रहा था और वह अभी प्लेटफार्म पर ही था।

अन्दर कोई किसी से कह रहा था कि वह फास्ट गाड़ी है जो सीधी ग्रांट रोड जाकर रुकेगी।

एक पंखयुक्त ट्रेजेडी

कई घरों का वातावरण प्रेम के लिए बहुत अनुकूल होता है। प्रोफेसर चोपड़ा का घर ऐसे ही घरों में से है। उन्हीं के बरामदे में बेंत की कुर्सियों पर बैठकर चाय पीते हुए प्रगतिवादी सतिन्दर का प्रतिक्रियावादी प्रकाश कौर से प्रेम हो गया था। दोनों के विचारों ने एक-दूसरे को इतना प्रभावित किया कि थोड़े ही दिनों में सतिन्दर प्रतिक्रियावादी हो गया और प्रकाश कौर प्रगतिवादी, जिससे दोनों का विवाह नहीं हो सका। फिर उन्हीं के ड्राइंग-रूम में उनके जन्मदिन पर ज्ञान को एकसाथ रूपा और रानी से प्रेम हो गया। पर इससे पहले कि वह यह निश्चय कर सकता कि किससे प्रस्ताव करे, उन दोनों का विवाह हो गया।

और अब के प्रेम की घटना उनके घर के लॉन में हुई। प्रोफेसर चोपड़ा सवेरे सैर से लौटते हुए कहीं से भूरे और नीले पंखोंवाली एक सुन्दर-सी मुर्गी लेते आए, और उसके आते ही प्रोफेसर साहब के काले मुर्गे को उससे प्रेम हो गया।

काला मुर्गा खानदानी मुर्गा था। उसकी माँ प्रोफेसर साहब के घर में कई बार अंडों में बैठी थी और उन अंडों से जिस परिवार की स्थापना हुई, वह उस समय उसका एकमात्र अवशेष था। सवेरे की बाँग देने के समय से वह प्रोफेसर साहब के लॉन में चहलकदमी आरम्भ करता और चींटे या मटर जो कुछ भी मिल जाता दिन-भर निगलता रहता। उसका स्वास्थ्य असाधारण रूप से अच्छा था और उसके पंखों के नीचे गर्दन के चारों ओर तथा टाँगों के ऊपरी भाग में मांस की मोटी-मोटी तहें थीं। उसे अपने शरीर की पुष्टता का अभिमान था, जिसके कारण वह बाहर के किसी मुर्गे को प्रोफेसर साहब के लॉन में प्रवेश नहीं करने देता था। साथ के घर का सफ़ेद मुर्गा तीन-चार बार वहाँ मटर चुगने आ चुका था, पर हर बार ही काले मुर्गे ने उसे चोंच मार-मारकर भगा दिया था।

जब प्रोफेसर साहब मुर्गी को लेकर आए, तो पहले तो उनके हाथ में उस जीव को देखकर काले मुर्गे का हृदय जलन से भर गया और उसने ज़ोर से पंख फड़फड़ाकर अपने रोष का परिचय दिया। पर जब प्रोफेसर साहब मुर्गी को बिलकुल उसके निकट लाकर छोड़ गए तो सहसा उसकी एक टाँग ऊपर उठ गई और कलगीदार गर्दन

आह्लाद से हिलने लगी। पहले उसने एक बड़े घेरे में मुर्गी की परिक्रमा ली। फिर दूसरी परिक्रमा में उसने घेरा पहले से छोटा कर दिया। तीसरी परिक्रमा उसने बहुत निकट से ली। परिक्रमा-समाप्ति पर जब उसने मुर्गी की ओर अपनी चोंच बढ़ाई तो मुर्गी ने उपेक्षापूर्वक अपनी चोंच फिरा ली और उड़कर कई गज़ दूर चली गई।

मुर्गे को मुर्गी की यह अदा बहुत पसन्द आई। वह पैरों को एक केन्द्र में रखकर चारों दिशाओं में गोल घूम गया, फिर उसने मटर का एक दाना मुँह में लिया और लय के साथ गर्दन हिलाता हुआ मुर्गी की ओर बढ़ा। मुर्गी के निकट पहुँचकर जब उसने मटर का दाना उसकी ओर बढ़ाया तो मुर्गी ने फिर विपरीत दिशा में मुँह फेर लिया और अपनी निश्चित गति से उसी दिशा में चलने लगी।

अबकी बार मुर्गी के इस व्यवहार से मुर्गे ने अपने को अपमानित अनुभव किया। उसका खानदानी गर्व से उठा हुआ सिर वह तौहीन सहन नहीं कर सका। उसने दो-तीन बार अपनी चोंच खोली और बन्द की। वह इस भाव से मुर्गी की ओर बढ़ा कि अब उसे अपने मोटे-मोटे पुट्ठों के बल से पराजित करेगा। मुर्गी को मनाने के लिए अब वह अपने वे चंचुप्रहार प्रयोग में लाने लगा, जिनसे वह आसपास के मुर्गों को भगाया करता था। उसका यह उद्दंड भाव काम कर गया और उसके दो प्रहारों के अनन्तर ही मुर्गी उसकी वशंवदा होकर उसकी चोंच से चोंच भिड़ाने लगी।

काला मुर्गा उस क्रीड़ा में अधिकाधिक प्रगल्भ होता जा रहा था, जब उसकी पीठ पर किसी तीसरी चोंच का आघात पड़ा। वह सफ़ेद मुर्गा जो कई बार उससे मार खाकर भागा था, आज उसे फिर चुनौती देने आया था। पर आज पहले की तरह उसकी आँखों में भीरुता मिली धृष्टता का भाव नहीं था, बल्कि एक मिटने और मिटा देनेवाली चमक थी। आज वह मटर के दानों के लिए छेड़खानी करने नहीं आया था बल्कि अपने पौरुष और जीवन का दाँव खेलने आया था।

अपने बढ़ते हुए उन्माद में व्याघात पाकर काले मुर्गे का लहू गर्म हो उठा। उसने झटपट सफ़ेद मुर्गे की उठी हुई गर्दन पर प्रहार किया और एक ही आवेशमय आक्रमण में उसे खदेड़ता हुआ लॉन के बाहर ले गया। लॉन की परिधि से बाहर निकलकर सफ़ेद मुर्गे का आत्मविश्वास भी जाग उठा, और उसने दुगुने आवेश के साथ ऐसा प्रत्याक्रमण किया कि दोनों प्रोफेसर चोपड़ा की कोठी से दूर कच्ची सड़क पर पहुँच गए।

कच्ची सड़क पर आकर काले मुर्गे ने फिर से अपनी शक्तियों का संचय किया। सफ़ेद मुर्गे ने भी पंख फड़फड़ाकर अपने को आनेवाले घात-प्रतिघात के लिए तैयार कर लिया। अब दोनों में एक निर्णायक लड़ाई छिड़ गई।

लगातार दो घंटे तक लड़ाई चलती रही। कभी काला मुर्गा एक टाँग पर उछलता हुआ अपने विपक्षी से जा उलझता तो कभी सफ़ेद मुर्गा गर्दन ऐंठता हुआ उसे नोंचने

आ पहुँचता। बीच-बीच में जब दोनों थक जाते थे तो आगे-पीछे एक घेरे में घूमने लगते थे। फिर जो भी सँभल जाता वह अवसर देखकर दूसरे पर आक्रमण कर देता। दो घंटे की लड़ाई में उन दोनों के पंख पूरे-पूरे झड़ गए। कलंगियाँ साफ़ हो गईं। गर्दनों से लहू फूटने लगा। फिर भी वे दोनों लड़ैत आपस में भिड़ते रहे...लड़ते ही रहे।

दो घंटे तक इस तरह लड़ चुकने के बाद सफ़ेद मुर्गा हलका पड़ने लगा। उसने अपनी ओर से जूझना बन्द कर दिया और काले मुर्गे के बढ़ आने पर केवल उसे रोकने की चेष्टा में ही रहने लगा। काले मुर्गे ने उसकी थकावट को भाँप लिया और एक बार बढ़कर उसके शरीर को इस बुरी तरह से छलनी कर दिया कि सफ़ेद मुर्गा बिलकुल निढाल हो गया। जब सफ़ेद मुर्गे में चोंच उठाने की भी शक्ति नहीं रही, तो काला मुर्गा उसे छोड़कर वापस लौटा। उस समय उसकी अपनी अवस्था भी शोचनीय हो रही थी। पर उसके हृदय में एक गर्व-मिश्रित आह्लाद था। वह छिली हुई अपनी घायल गर्दन को अदा के साथ हिलाता हुआ चल रहा था तथा सिर को एक ऐसा कम्प दे रहा था मानो उसकी लाल कलंगी अभी तक सिर पर मौजूद हो।

लॉन के निकट पहुँचकर उसने बाहर से ही बाँग दी—''कुकड़ूँ-कूँ''।

और उसने लॉन में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही उसने विजयगर्व के साथ चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा। मुर्गी कहीं दिखाई नहीं दी। उसने बरामदे के पास पहुँचकर फिर से इधर-उधर झाँका और पुनः बाँग लगाई—''कुकड़ूँ-कूँ!''

परन्तु मुर्गी घर के किसी कोने से निकलकर नहीं आई।

वास्तव में मिस्टर चोपड़ा के घर लंच के लिए कुछ मेहमान आ गए थे और मुर्गी उस समय खाने की मेज़ पर मेहमानों की प्लेटों को चिकना कर रही थी।

उसकी रोटी

बालो को पता था कि अभी बस आने में बहुत देर है, फिर भी पल्ले से पसीना पोंछते हुए उसकी आँखें बार-बार सड़क की तरफ़ उठ जाती थीं। नकोदर रोड के उस हिस्से में आसपास कोई छायादार पेड़ भी नहीं था। वहाँ की ज़मीन भी बंजर और ऊबड़खाबड़ थी—खेत वहाँ से तीस-चालीस गज़ के फासले से शुरू होते थे। और खेतों में भी उन दिनों कुछ नहीं था। फसल कटने के बाद सिर्फ़ ज़मीन की गोड़ाई ही की थी, इसलिए चारों तरफ़ बस मटियालापन ही नज़र आता था। गरमी से पिघली हुई नकोदर रोड का हलका सुरमई रंग ही उस मटियालेपन से ज़रा अलग था। जहाँ बालो खड़ी थी वहाँ से थोड़े फासले पर एक लकड़ी का खोखा था। उसमें पानी के दो बड़े-बड़े मटकों के पास बैठा एक अधेड़-सा व्यक्ति ऊँघ रहा था। ऊँघ में वह आगे को गिरने को होता तो सहसा झटका खाकर सँभल जाता। फिर आसपास के वातावरण पर एक उदासी-सी नज़र डालकर, और अंगोछे से गले का पसीना पोंछकर वैसे ही ऊँघने लगता। एक तरफ़ अढाई-तीन फुट में खोखे की छाया फैली थी और एक भिखमंगा, जिसकी दाढ़ी काफ़ी बढ़ी हुई थी, खोखे से टेक लगाए ललचाई आँखों से बालो के हाथों की तरफ़ देख रहा था। उसके पास ही एक कुत्ता दुबककर बैठा था, और उसकी नज़र भी बालो के हाथों की तरफ़ थी।

बालो ने हाथ की रोटी को मैले आँचल में लपेट रखा था। वह उसे बद नज़र से बचाए रखना चाहती थी। रोटी वह अपने पति सुच्चासिंह ड्राइवर के लिए लाई थी, मगर देर हो जोने से सुच्चासिंह की बस निकल गई थी और वह अब इस इन्तज़ार में खड़ी थी कि बस नकोदर से होकर लौट आए, तो वह उसे रोटी दे दे। वह जानती थी कि उसके वक़्त पर न पहुँचने से सुच्चासिंह को बहुत गुस्सा आया होगा। वैसे ही उसकी बस जालन्धर से चलकर दो बजे वहाँ आती थी, और उसे नकोदर पहुँचकर रोटी खाने में तीन-साढ़े तीन बज जाते थे। वह उसकी रात की रोटी भी उसे साथ ही देती थी जो वह आख़िरी फेरे में नकोदर पहुँचकर खाता था। सात दिन में छह दिन सुच्चासिंह की ड्यूटी रहती थी, और छहों दिन यही सिलसिला चलता था। बालो एक-सवा एक बजे रोटी लेकर गाँव से चलती थी, और धूप में आधा कोस तय करके

दो बजे से पहले सड़क के किनारे पहुँच जाती थी। अगर कभी उसे दो-चार मिनट की देर हो जाती तो सुच्चासिंह किसी-न-किसी बहाने बस को रोके रखता, मगर, उसके आते ही उसे डाँटने लगता कि वह सरकारी नौकर है, उसके बाप का नौकर नहीं कि उसके इन्तज़ार में बस खड़ी रखा करे। वह चुपचाप उसकी डाँट सुन लेती और उसे रोटी दे देती।

मगर आज वह दो-चार मिनट की नहीं, दो-अढाई घंटे की देर से आई थी। यह जानते हुए भी कि उस समय वहाँ पहुँचने का कोई मतलब नहीं, वह अपनी बेचैनी में घर से चल दी थी–उसे जैसे लग रहा था कि वह जितना वक़्त सड़क के किनारे इन्तज़ार करने में बिताएगी, सुच्चासिंह की नाराज़गी उतनी ही कम हो जाएगी। यह तो निश्चित ही था कि सुच्चासिंह ने दिन की रोटी नकोदर के किसी तन्दूर में खा ली होगी। मगर उसे रात की रोटी देना ज़रूरी था और साथ ही वह सारी बात बताना भी जिसकी वजह से उसे देर हुई थी। वह पूरी घटना को मन-ही-मन दोहरा रही थी, और सोच रही थी कि सुच्चासिंह से बात किस तरह कही जाए कि उसे सबकुछ पता भी चल जाए और वह ख़ामख़ाह तैश में भी न आए। वह जानती थी कि सुच्चासिंह का गुस्सा बहुत ख़राब है और साथ ही यह भी कि जंगी से उलटा-सीधा कुछ कहा जाए तो वह बग़ैर गँड़ासे के बात नहीं करता।

जंगी के बारे में बहुत-सी बातें सुनी जाती थीं। पिछले साल वह साथ के गाँव की एक मेहरी को भगाकर ले गया था और न जाने कहाँ ले जाकर बेच आया था। फिर नकोदर के पंडित जीवाराम के साथ उसका झगड़ा हुआ, तो उसे उसने कत्ल करवा दिया। गाँव के लोग उससे दूर-दूर रहते थे, मगर उससे बिगाड़ नहीं रखते थे। मगर उस आदमी की लाख बुराइयाँ सुनकर भी उसने यह कभी नहीं सोचा था कि वह इतनी गिरी हुई हरकत भी कर सकता है कि चौदह साल की जिंदाँ को अकेली देखकर उसे छेड़ने की कोशिश करे। वह यूँ भी जिंदाँ से तिगुनी उम्र का था और अभी साल-भर पहले तक उसे बेटी-बेटी कहकर बुलाया करता था। मगर आज उसकी इतनी हिम्मत पड़ गई कि उसने खेत में से आती जिंदाँ का हाथ पकड़ लिया?

उसने जिंदाँ को नन्ती के यहाँ से उपले माँग लाने को भेजा था। इनका घर खेतों के एक सिरे पर था और गाँव के बाक़ी घर दूसरे सिरे पर थे। वह आटा गूँधकर इन्तज़ार कर रही थी कि जिंदाँ उपले लेकर आए, तो वह जल्दी से रोटियाँ सेंक ले जिससे बस के वक़्त से पहले सड़क पर पहुँच जाए। मगर जिंदाँ आई, तो उसके हाथ ख़ाली थे और उसका चेहरा हल्दी की तरह पीला हो रहा था। जब तक जिंदाँ नहीं आई थी, उसे उस पर गुस्सा आ रहा था। मगर उसे देखते ही उसका दिल एक अज्ञात आशंका से काँप गया।

"क्या हुआ है जिंदो, ऐसे क्यों हो रही है?" उसने ध्यान से उसे देखते हुए पूछा।

जिंदाँ चुपचाप उसके पास आकर बैठ गई और बाँहों में सिर डालकर रोने लगी।

"खसम खानी, कुछ बताएगी भी, क्या बात हुई है?"

जिंदाँ कुछ नहीं बोली। सिर्फ़ उसके रोने की आवाज़ तेज़ हो गई।

"किसी ने कुछ कहा है तुझसे?" उसने अब उसके सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

"तू मुझे उपले-वुपले लेने मत भेजा कर," जिंदाँ रोने के बीच उखड़ी-उखड़ी आवाज़ में बोली। "मैं आज से घर से बाहर नहीं जाऊँगी। मुआ जंगी आज मुझसे कहता था..." और गला रुँध जाने से वह आगे कुछ नहीं कह सकी।

"क्या कहता था जंगी तुझसे...बता...बता..." वह जैसे एक बोझ के नीचे दबकर बोली, "खसम खानी, अब बोलती क्यों नहीं?"

"वह कहता था," जिंदाँ सिसकती रही, "चल जिंदाँ, अन्दर चलकर शरबत पी ले। आज तू बहुत सोहणी लग रही है...।"

"मुआ कमज़ात!" वह सहसा उबल पड़ी। "मुए को अपनी माँ रंडी नहीं सोहणी लगती? मुए की नज़र में कीड़े पड़ें। निपूते, तेरे घर में लड़की होती, तो इससे बड़ी होती, तेरे दीदे फटें!...फिर तूने क्या कहा?"

"मैंने कहा चाचा, मुझे प्यास नहीं है," जिंदाँ कुछ सँभलने लगी।

"फिर?"

"कहने लगा प्यास नहीं है, तो भी एक घूँट पी लेना। चाचा का शरबत पिएगी तो याद करेगी।...और मेरी बाँह पकड़कर खींचने लगा।"

"हाय रे मौत-मरे, तेरा कुछ न रहे, तेरे घर में आग लगे। आने दे सुच्चासिंह को। मैं तेरी बोटी-बोटी न नुचवाऊँ तो कहना, जल-मरे! तू सोया सो ही जाए।... हाँ, फिर?"

"मैं बाँह छुड़ाने लगी, तो मुझे मिठाई का लालच देने लगा। मेरे हाथ से उपले वहीं गिर गए। मैंने उन्हें वैसे ही पड़े रहने दिया और बाँह छुड़ाकर भाग आई।"

उसने ध्यान से जिंदाँ को सिर से पैर तक देखा और फिर अपने साथ सटा लिया।

"और तो नहीं कुछ कहा उसने?"

"जब मैं थोड़ी दूर निकल आई, तो पीछे से ही-ही करके बोला, 'बेटी, तू बुरा तो नहीं मान गई? अपने उपले तो उठाकर ले जा। मैं तो तेरे साथ हँसी कर रहा था। तू इतना भी नहीं समझती? चल, आ इधर, नहीं आती, तो मैं आज तेरे घर आकर तेरी बहन से शिकायत करूँगा कि जिंदाँ बहुत गुस्ताख हो गई है, कहा नहीं मानती।'...मगर मैंने उसे न जवाब दिया, न मुड़कर उसकी तरफ़ देखा। सीधी घर चली आई।"

"अच्छा किया। मैं मुए की हड्डी-पसली एक कराकर छोड़ूँगी। तू आने दे सुच्चासिंह को। मैं अभी जाकर उससे बात करूँगी। इसे यह नहीं पता कि जिंदाँ

सुच्चासिंह ड्राइवर की साली है, ज़रा सोच-समझकर हाथ लगाऊँ।'' फिर कुछ सोचकर उसने पूछा, ''वहाँ तुझे और किसी ने तो नहीं देखा?''

''नहीं। खेतों के इस तरफ़ आम के पेड़ के नीचे राधू चाचा बैठा था। उसने देखकर पूछा कि बेटी, इस वक़्त धूप में कहाँ से आ रही है, तो मैंने कहा कि बहन के पेट में दर्द हो रहा था, हकीमजी से चूरन लाने गई थी।''

''अच्छा किया। मुआ जंगी तो शोहदा है। उसके साथ अपना नाम जुड़ जाए, तो अपनी ही इज़्ज़त जाएगी। उस सिर-जले का क्या जाना है? लोगों को तो करने के लिए बात चाहिए।''

उसके बाद उपले लाकर खाना बनाने में उसे काफ़ी देर हो गई। जिस वक़्त उसने कटोरे में आलू की तरकारी और आम का अचार रखकर उसे रोटियों के साथ खद्दर के टुकड़े में लपेटा, उसे पता था कि दो कब के बज चुके हैं और वह दोपहर की रोटी सुच्चासिंह को नहीं पहुँचा सकती। इसलिए वह रोटी रखकर इधर-उधर के काम करने लगी। मगर जब बिलकुल ख़ाली हो गई, तो उससे यह नहीं हुआ कि बस के अन्दाज़े से घर से चले। मुश्किल से साढ़े तीन-चार ही बजे थे कि वह चलने के लिए तैयार हो गई।

''बहन, तू कब तक आएगी?'' जिंदाँ ने पूछा।

''दिन ढलने से पहले ही आ जाऊँगी।''

''जल्दी आ जाना। मुझे अकेले डर लगेगा।''

''डरने की क्या बात है?'' वह दिखावटी साहस के साथ बोली, ''किसकी हिम्मत है जो तेरी तरफ़ आँख उठाकर भी देख सके? सुच्चासिंह को पता लगेगा, तो वह उसे कच्चा ही नहीं चबा जाएगा? वैसे मुझे ज़्यादा देर नहीं लगेगी। साँझ से पहले ही घर पहुँच जाऊँगी। तू ऐसा करना कि अन्दर से साँकल लगा लेना। समझी? कोई दरवाज़ा खटखटाए तो पहले नाम पूछ लेना।'' फिर उसने ज़रा धीमे स्वर में कहा, ''और अगर जंगी आ जाए, और मेरे लिए पूछे कि कहाँ गई है, तो कहना कि सुच्चासिंह को बुलाने गई है। समझी?...पर नहीं। तू उससे कुछ नहीं कहना। अन्दर से जवाब ही नहीं देना, समझी?''

वह दहलीज़ के पास पहुँची तो जिंदाँ ने पीछे से कहा, ''बहन, मेरा दिल धड़क रहा है।''

''तू पागल हुई है?'' उसने उसे प्यार के साथ झिड़क दिया, ''साथ गाँव है, फिर डर किस बात का है? और तू आप भी मुटियार है, इस तरह घबराती क्यों है?''

मगर जिंदाँ को दिलासा देकर भी उसकी अपनी तसल्ली नहीं हुई। सड़क के किनारे पहुँचने के वक़्त से ही वह चाह रही थी कि किसी तरह बस जल्दी से आ जाए जिससे वह रोटी देकर झटपट जिंदाँ के पास वापस पहुँच जाए।

"वीरा, दो बजेवाली बस को गए कितनी देर हुई है?" उसने भिखमंगे से पूछा जिसकी आँखें अब भी उसके हाथ की रोटी पर लगी थीं। धूप की चुभन अभी कम नहीं हुई थी, हालाँकि खोखे की छाया अब पहले से काफ़ी लम्बी हो गई थी। कुत्ता प्याऊ के तख्ते के नीचे पानी को मुँह लगाकर अब आसपास चक्कर काट रहा था।

"पता नहीं भैणा," भिखमंगे ने कहा, "कई बसें आती हैं। कई जाती हैं। यहाँ कौन घड़ी का हिसाब है!"

बालो चुप हो रही। एक बस अभी थोड़ी ही देर पहले नकोदर की तरफ़ गई थी। उसे लग रहा था धूल के फैलाव के दोनों तरफ़ दो अलग-अलग दुनियाएँ हैं। बसें एक दुनिया से आती हैं और दूसरी दुनिया की तरफ़ चली जाती हैं। कैसी होंगी वे दुनियाएँ जहाँ बड़े-बड़े बाज़ार हैं, दुकानें हैं, और जहाँ एक ड्राइवर की आमदनी का तीन-चौथाई हिस्सा हर महीने ख़र्च हो जाता है? देवी अक्सर कहा करता था कि सुच्चासिंह ने नकोदर में एक रखैल रख रखी है। उसका कितना मन होता था कि वह एक बार उस औरत को देखे। उसने एक बार सुच्चासिंह से कहा भी था कि उसे वह नकोदर दिखा दे, पर सुच्चासिंह ने डाँटकर जवाब दिया था, "क्यों, तेरे पर निकल रहे हैं? घर में चैन नहीं पड़ता? सुच्चासिंह वह मरद नहीं है कि औरत की बाँह पकड़कर उसे सड़कों पर घुमाता फिरे। घूमने का ऐसा ही शौक है, तो दूसरा खसम कर ले। मेरी तरफ़ से तुझे खुली छुट्टी है।"

उस दिन के बाद वह यह बात ज़बान पर भी नहीं लाई थी। सुच्चासिंह कैसा भी हो, उसके लिए सबकुछ वही था। वह उसे गालियाँ दे लेता था, मारपीट लेता था, फिर भी उससे इतना प्यार तो करता था कि हर महीने तनखाह मिलने पर उसे बीस रुपए दे जाता था। लाख बुरी कहकर भी वह उसे अपनी घरवाली तो समझता था! ज़बान का कड़वा भले ही हो, पर सुच्चासिंह दिल का बुरा हरगिज नहीं था। वह उसके जिंदाँ को घर में रख लेने पर अक्सर कुढ़ा करता था, मगर पिछले महीने खुद ही जिंदाँ के लिए काँच की चूड़ियाँ और अढाई गज़ मलमल लाकर दे गया था।

एक बस धूल उड़ाती आकाश के उस छोर से इस तरफ़ को आ रही थी। बालो ने दूर से ही पहचान लिया कि वह सुच्चासिंह की बस नहीं है। फिर भी बस जब तक पास नहीं आ गई, वह उत्सुक आँखों से उस तरफ़ देखती रही। बस प्याऊ के सामने आकर रुकी। एक आदमी प्याज और शलगम का गट्ठर लिये बस से उतरा। फिर कंडेक्टर ने ज़ोर से दरवाज़ा बन्द किया और बस आगे चल दी। जो आदमी बस से उतरा था, उसने प्याऊ के पास जाकर प्याऊवाले को जगाया और चुल्लू से दो लोटे पानी पीकर मूँछें साफ़ करता हुआ अपने गट्ठर के पास लौट आया।

"वीरा, नकोदर से अगली बस कितनी देर में आएगी?" बालो ने दो कदम आगे जाकर उस आदमी से पूछ लिया।

"घंटे-घंटे के बाद बस चलती है माई," वह बोला। "तुझे कहाँ जाना है?"

"जाना नहीं है वीरा, बस का इन्तज़ार करना है। सुच्चासिंह ड्राइवर मेरा घरवाला है। उसे रोटी देनी है।"

"ओ सुच्चा स्यों!" और उस आदमी के होंठों पर ख़ास तरह की मुस्कुराहट आ गई।

"तू उसे जानता है?"

"उसे नकोदर में कौन नहीं जानता?"

बालो को उसका कहने का ढंग अच्छा नहीं लगा, इसलिए वह चुप हो रही। सुच्चासिंह के बारे में जो बातें वह खुद जानती थी, उन्हें दूसरों के मुँह से सुनना उसे पसन्द नहीं था। उसे समझ में नहीं आता था कि दूसरों को क्या हक है कि वे उसके आदमी के बारे में इस तरह बात करें?

"सुच्चासिंह शायद अगली बस लेकर आएगा," वह आदमी बोला।

"हाँ! इसके बाद अब उसी की बस आएगी।"

"बड़ा ज़ालिम है जो तुझसे इस तरह इन्तज़ार कराता है।"

"चल वीरा, अपने रास्ते चल!" बालो चिढ़कर बोली, "वह क्यों इन्तज़ार कराएगा? मुझे ही रोटी लाने में देर हो गई थी जिससे बस निकल गई। वह बेचारा सवेरे से भूखा बैठा होगा।"

"भूखा? कौन सुच्चा स्यों?" और वह व्यक्ति दाँत निकालकर हँस दिया। बालो ने मुँह दूसरी तरफ़ कर लिया। "या साईं सच्चे!" कहकर उस आदमी ने अपना गट्ठर सिर पर उठा लिया और खेतों की पगडंडी पर चल दिया। बालो की दाईं टाँग सो गई थी। उसने भार दूसरी टाँग पर बदलते हुए एक लम्बी साँस ली और दूर तक के वीराने को देखने लगी।

न जाने कितनी देर बाद आकाश के उसी कोने से उसे दूसरी बस अपनी तरफ़ आती नज़र आई। तब तक खड़े-खड़े उसके पैरों की एड़ियाँ दुखने लगी थीं। बस को देखकर वह पोटली का कपड़ा ठीक करने लगी। उसे अफसोस हो रहा था कि वह रोटियाँ कुछ देर से बनाकर क्यों नहीं लाई, जिससे वे रात तक कुछ और ताज़ा रहतीं। सुच्चासिंह को कड़ाह प्रशाद का इतना शौक है—उसे क्यों यह ध्यान नहीं आया कि आज थोड़ा कड़ाह प्रशाद ही बनाकर ले आए?...ख़ैर, कल गुर परब है, कल ज़रूर कड़ाह प्रशाद बनाकर लाएगी।...

पीछे गर्द की लम्बी लकीर छोड़ती हुई बस पास आती जा रही थी। बालो ने बीस गज़ दूर से ही सुच्चासिंह का चेहरा देखकर समझ लिया कि वह उससे बहुत नाराज़ है। उसे देखकर सुच्चासिंह की भवें तन गई थीं और निचले होंठ का कोना दाँतों में चला गया था। बालो ने धड़कते दिल से रोटीवाला हाथ ऊपर उठा दिया। मगर बस उसके पास न रुककर प्याऊ से ज़रा आगे जाकर रुकी।

दो-एक लोग वहाँ बस से उतरनेवाले थे। कंडक्टर बस की छत पर जाकर एक आदमी की साइकिल नीचे उतारने लगा। बालो तेज़ी से चलकर ड्राइवर की सीट के बराबर पहुँच गई।

"सुच्चा स्याँ!" उसने हाथ ऊँचा उठाकर रोटी अन्दर पहुँचाने की चेष्टा करते हुए कहा, "रोटी ले ले।"

"हट जा," सुच्चासिंह ने उसका हाथ झटककर पीछे हटा दिया।

"सुच्चा स्याँ, एक मिनट नीचे उतरकर मेरी बात सुन ले। आज एक ख़ास वजह हो गई थी, नहीं तो मैं...।"

"बक नहीं, हट जा यहाँ से," कहकर सुच्चासिंह ने कंडक्टर से पूछा कि वहाँ का सारा सामान उतर गया है या नहीं।

"बस एक पेटी बाक़ी है, उतार रहा हूँ," कंडक्टर ने छत से आवाज़ दी।

"सुच्चा स्याँ, मैं दो घंटे से यहाँ खड़ी हूँ," बालो ने मिन्नत के लहज़े में कहा, "तू नीचे उतरकर मेरी बात तो सुन ले।"

"उतर गई पेटी?" सुच्चासिंह ने फिर कंडक्टर से पूछा।

"हाँ, चलो," पीछे से कंडक्टर की आवाज़ आई।

"सुच्चा स्याँ! तू मुझ पर नाराज़ हो ले, पर रोटी तो रख ले। तू मंगलवार को घर आएगा तो मैं तुझे सारी बात बताऊँगी।" बालो ने हाथ और ऊँचा उठा दिया।

"मंगलवार को घर आएगा तेरा..." और एक मोटी-सी गाली देकर सुच्चासिंह ने बस स्टार्ट कर दी।

दिन ढलने के साथ-साथ आकाश का रंग बदलने लगा था। बीच-बीच में कोई एकाध पक्षी उड़ता हुआ आकाश को पार कर जाता था। खेतों में कहीं-कहीं रंगीन पगडंडियाँ दिखाई देने लगी थीं। बालो ने प्याऊ से पानी पिया और आँखों पर छींटे मारकर आँचल से मुँह पोंछ लिया। फिर प्याऊ से कुछ फासले पर जाकर खड़ी हो गई। वह जानती थी, अब सुच्चासिंह की बस जालन्धर से आठ-नौ बजे तक वापस आएगी। क्या तब तक उसे इन्तज़ार करना चाहिए? सुच्चासिंह को इतना तो करना चाहिए था कि उतरकर उसकी बात सुन लेता। उधर घर में जिंदाँ अकेली डर रही होगी। मुआ जंगी पीछे किसी बहाने से आ गया तो? सुच्चासिंह रोटी ले लेता, तो वह आधे घंटे में घर पहुँच जाती। अब रोटी तो वह बाहर कहीं-न-कहीं खा ही लेगा, मगर उसके गुस्से का क्या होगा? सुच्चासिंह का गुस्सा बेजा भी तो नहीं है। उसका मेहनती शरीर है और कसकर भूख लगती है। वह थोड़ी और मिन्नत करती, तो वह ज़रूर मान जाता। पर अब?

प्याऊवाला प्याऊ बन्द कर रहा था। भिखमंगा भी न जाने कब का उठकर चला गया था। हाँ, कुत्ता अब भी वहाँ आसपास घूम रहा था। धूप ढल रही थी और

आकाश में उड़ते चिड़ियों के झुंड सुनहरे लग रहे थे। बालो को सड़क के पार तक फैली अपनी छाया बहुत अजीब लग रही थी। पास के किसी खेत में कोई गभरू जवान खुले गले से महिया गा रहा था :

"बोलण दी थाँ कोई नाँ
जिहड़ा सानूँ ला वे दित्ता
उस रोग दा नाँ कोई नाँ।"

माहिया की वह लय बालो की रग-रग में बसी हुई थी। बचपन में गर्मियों की शाम को वह और बच्चों के साथ मिलकर रहंट के पानी की धार के नीचे नाच-नाचकर नहाया करती थी, तब भी माहिया की लय इसी तरह हवा में समाई रहती थी। साँझ के झुटपुटे के साथ उस लय का एक ख़ास ही सम्बन्ध था। फिर ज्यों-ज्यों वह बड़ी होती गई, ज़िन्दगी के साथ उस लय का सम्बन्ध और गहरा होता गया। उसके गाँव का युवक लाली था जो बड़ी लोच के साथ माहिया गाया करता था। उसने कितनी बार उसे गाँव के बाहर पीपल के नीचे कान पर हाथ रखकर गाते सुना था। पुष्पा और पारो के साथ वह देर-देर तक उस पीपल के पास खड़ी रहती थी। फिर एक दिन आया जब उसकी माँ कहने लगी कि वह अब बड़ी हो गई है, उसे इस तरह देर-देर तक पीपल के पास नहीं खड़ी रहना चाहिए। उन्हीं दिनों उसकी सगाई की भी चर्चा होने लगी। जिस दिन सुच्चासिंह के साथ उसकी सगाई हुई, उस दिन पारो आधी रात तक ढोलक पर गीत गाती रही थी। गाते-गाते पारो का गला रह गया था फिर भी वह ढोलक छोड़ने के बाद उसे बाँहों में लिये हुए गाती रही थी–

"बीबी, चंनण दे ओहले ओहले किऊँ खड़ी,
नीं लाडो किऊँ खड़ी?
मैं तो खड़ी साँ बाबल जी दे बार,
मैं कंनिआ कँवार,
बाबल वर लोड़िए।
नीं जाइए, किहो जिहा वह लीजिए?
जिऊँ तारिआँ विचों चन्द,
चन्दा विचों नन्द,
नन्दाँ विचों कान्ह-कन्हैया वर लीड़िए...!"

वह नहीं जानती थी कि उसका वर कौन है, कैसा है, फिर भी उसका मन कहता था कि उसके वर की सूरत-शक्ल ठीक वैसी ही होगी जैसी कि गीत की कड़ियाँ सुनकर सामने आती है। सुहागरात को जब सुच्चासिंह ने उसके चेहरे से घूँघट हटाया, तो उसे देखकर लगा कि वह सचमुच बिलकुल वैसा ही कान्ह-कन्हैया वर पा गई है। सुच्चासिंह ने उसकी ठोड़ी ऊँची की, तो न जाने कितनी लहरें उसके

सिर से उठकर पैरों के नाख़ूनों में जा समाई। उसे लगा कि ज़िन्दगी न जाने कितनी सिहरनों से भरी होगी जिन्हें वह रोज़-रोज़ महसूस करेगी और अपनी याद में सँजोकर रखती जाएगी।

"तू हीरे की कणी है, हीरे की कणी," सुच्चासिंह ने उसे बाँहों में भरकर कहा था।

उसका मन हुआ था कि कहे, यह हीरे की कणी तेरे पैर की धूल के बराबर भी नहीं है, मगर वह शरमाकर चुप रह गई थी।

"माई, अँधेरा हो रहा है, अब घर जा। यहाँ खड़ी क्या कर रही है?" प्याऊवाले ने चलते हुए उसके पास रुककर कहा।

"वीरा, यह बस आठ-नौ बजे तक जालन्धर से लौटकर आ जाएगी न?" बालो ने दयनीय भाव से उससे पूछ लिया।

"क्या पता कब तक आए? तू उतनी देर यहाँ खड़ी रहेगी?"

"वीरा, उसकी रोटी जो देनी है।"

"उसे रोटी लेनी होती, तो ले न लेता? उसका दिमाग़ ही आसमान पर चढ़ा रहता है।"

"वीरा, मर्द कभी नाराज़ हो ही जाता है। इसमें ऐसी क्या बात है?"

"अच्छा खड़ी रह, तेरी मर्जी। बस नौ बजे से पहले क्या आएगी!"

"चल, जब भी आए।"

प्याऊवाले से बात करके वह निश्चय खुद-ब-खुद हो गया जो वह अब तक नहीं कर पाई थी—कि उसे बस के जालन्धर से लौटने तक वहाँ रुकी रहना है। जिंदाँ थोड़ा डरेगी—इतना ही तो न? जंगी की अब दोबारा उससे कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ सकती। आखिर गाँव की पंचायत भी तो कोई चीज़ है। दूसरे की बहन-बेटी पर बुरी नज़र रखना मामूली बात है? सुच्चासिंह को पता चल जाए, तो वह उसे केशों से पकड़कर सारे गाँव में नहीं घसीट देगा? मगर सुच्चासिंह को यह बात न बताना ही शायद बेहतर होगा। क्या पता इतनी-सी बात से दोनों में सिर-फुटव्वल हो जाए? सुच्चासिंह पहले ही घर के झंझटों से घबराता है, उसे और झंझट में डालना ठीक नहीं। अच्छा हुआ जो उस वक़्त सुच्चासिंह ने बात नहीं सुनी। वह तो अभी कह रहा था कि मंगलवार को घर नहीं आएगा। अगर वह सचमुच न आया, तो? और अगर उसने गुस्से होकर घर आना बिलकुल छोड़ दिया, तो? नहीं, उसे कभी परेशान करनेवाली बात नहीं बताएगी। सुच्चासिंह खुश रहे, घर की परेशानियाँ वह खुद सँभाल सकती है।

वह ज़रा-सी सिहर गई। गाँव का लोटूसिंह अपनी बीवी को छोड़कर भाग गया था। उसके पीछे वह टुकड़े-टुकड़े को तरस गई थी। अन्त में उसने कुएँ में छलाँग लगाकर आत्महत्या कर ली थी। पानी से फूलकर उसकी देह कितनी भयानक हो गई थी?

उसे थकान महसूस हो रही थी, इसलिए वह जाकर प्याऊ के तख्ते पर बैठ गई। अँधेरा होने के साथ-साथ खेतों की हलचल फिर शान्त होती जा रही थी। माहिया के गीत का स्थान अब झींगुरों के संगीत ने ले लिया था। एक बस जालन्धर की तरफ़ से और एक नकोदर की तरफ़ से आकर निकल गई। सुच्चासिंह जालन्धर से आख़िरी बस लेकर आता था। उसने पिछली बस के ड्राइवर से पता कर लिया था कि अब जालन्धर से एक ही बस आनी रहती है। अब जिस बस की बत्तियाँ दिखाई देंगी, वह सुच्चासिंह की ही बस होगी। थकान के मारे उसकी आँखें मुँदी जा रही थीं। वह बार-बार कोशिश से आँखें खोलकर उन्हें दूर तक के अँधेरे और उन काली छायाओं पर केन्द्रित करती जो धीरे-धीरे गहरी होती जा रही थीं। ज़रा-सी भी आवाज़ होती, तो उसे लगता कि बस आ रही है और वह सतर्क हो जाती। मगर बत्तियों की रोशनी न दिखाई देने से एक ठंडी साँस भर फिर से निढाल हो जाती। दो-एक बार मुँदी हुई आँखों से जैसे बस की बत्तियाँ अपनी ओर आती देखकर वह चौंक गई—मगर बस नहीं आ रही थी। फिर उसे लगने लगा कि वह घर में है और कोई ज़ोर-ज़ोर से घर के किवाड़ खटखटा रहा है। जिंदाँ अन्दर सहमकर बैठी है। उसका चेहरा हल्दी की तरह पीला हो रहा है...रहंट के बैल लगातार घूम रहे हैं। उनकी घंटियों की ताल के साथ पीपल के नीचे बैठा एक युवक कान पर हाथ रखे माहिया गा रहा है...ज़ोर की धूल उड़ रही है जो धरती और आकाश की हर चीज़ को ढके जा रही है। वह अपनी रोटीवाली पोटली को सँभालने की कोशिश कर रही है, मगर वह उसके हाथ से निकलती जा रही है।...प्याऊ पर सूखे मटके रखे हैं जिनमें एक बूँद पानी नहीं है। वह बार-बार लोटा मटके में डालती है, पर उसे ख़ाली पाकर निराश हो जाती है।...उसके पैरों में बिवाइयाँ फूट रही हैं। वह हाथ की उँगली से उन पर तेल लगा रही है, मगर लगाते-लगाते ही तेल सूखता जाता है।...जिंदाँ अपने खुले बाल घुटनों पर डाले रो रही है। कह रही है, "तू मुझे छोड़कर क्यों गई थी? क्यों गई थी मुझे छोड़कर? हाय, मेरा परांदा कहाँ गया? मेरा परांदा किसने ले लिया?"

सहसा कन्धे पर हाथ के छूने से वह चौंक गई।

"सुच्चा स्याँ!" उसने जल्दी से आँखों को मल लिया।

"तू अब तक घर नहीं गई?" सुच्चासिंह तख्ते पर उसके पास ही बैठ गया। बस ठीक प्याऊ के सामने खड़ी थी। उस वक़्त उसमें एक सवारी नहीं थी। कंडक्टर पीछे की सीट पर ऊँघ रहा था।

"मैंने सोचा रोटी देकर ही जाऊँगी। बैठे-बैठे झपकी आ गई। तुझे आए बहुत देर तो नहीं हुई?"

"नहीं, अभी बस खड़ी की है। मैंने तुझे दूर से ही देख लिया था।-तू इतनी पागल है कि तब से अब तक रोटी देने के लिए यहीं बैठी है?"

"क्या करती? तू जो कह गया था कि मैं घर नहीं आऊँगा!" और उसने पलकें झपककर अपने उमड़ते आँसुओं को सुखा देने की चेष्टा की।

"अच्छा ला, दे रोटी, और घर जा! जिंदाँ वहाँ अकेली डर रही होगी।"

सुच्चासिंह ने उसकी बाँह थपथपा दी और उठ खड़ा हुआ।

रोटीवाला कटोरा उससे लेकर सुच्चासिंह उसकी पीठ पर हाथ रखे हुए उसे बस के पास तक ले गया। फिर वह उचककर अपनी सीट पर बैठ गया। बस स्टार्ट करने लगा, तो वह जैसे डरते-डरते बोली, "सुच्चा स्याँ, तू मंगल को घर आएगा न?"

"हाँ, आऊँगा। तुझे शहर से कुछ मँगवाना हो, तो बता दे।"

"नहीं, मुझे मँगवाना कुछ नहीं है।"

बस घरघराने लगी, तो वह दो कदम पीछे हट गई। सुच्चासिंह ने अपनी दाढ़ी-मूँछ पर हाथ फेरा, एक डकार लिया और उसकी तरफ़ देखकर पूछ लिया, "तू उस वक़्त क्या बात बताना चाहती थी?"

"नहीं, ऐसी कोई ख़ास बात नहीं थी। मंगल को घर आएगा ही..."

"अच्छा, अब जल्दी से चली जा, देर न कर। एक मील बाट है...!"

"...सुच्चा स्याँ, कल गुरपरब है। कल मैं तेरे लिए कड़ाह प्रशाद बनाकर लाऊँगी...।"

"अच्छा, अच्छा..."

बस चल दी। बालो पहियों की धूल में घिर गई। धूल साफ़ होने पर उसने पल्ले से आँखें पोंछ लीं और तब तक बस के पीछे की लाल बत्ती को देखती रही जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गई।

मन्दी

चेयरिंग क्रास पर पहुँचकर मैंने देखा कि उस वक़्त वहाँ मेरे सिवा एक भी आदमी नहीं है। एक बच्चा, जो अपनी आया के साथ वहाँ खेल रहा था, अब उसके पीछे भागता हुआ ठंडी सड़क पर चला गया था। घाटी में एक जली हुई इमारत का ज़ीना इस तरह शून्य की तरफ़ झाँक रहा था जैसे सारे विश्व में आत्महत्या की प्रेरणा और अपने ऊपर आकर कूद जाने का निमन्त्रण दे रहा हो। आसपास के विस्तार को देखते हुए उस निःस्तब्ध एकान्त में मुझे हार्डी के एक लैंडस्केप की याद हो आई, जिसके कई पृष्ठों के वर्णन के बाद मानवता दृश्यपट पर प्रवेश करती है—अर्थात् एक छकड़ा धीमी चाल से आता दिखाई देता है। मेरे सामने भी खुली घाटी थी, दूर तक फैली पहाड़ी शृंखलाएँ थीं, बादल थे, चेयरिंग क्रास का सुनसान मोड़ था—और यहाँ भी कुछ उसी तरह मानवता ने दृश्यपट पर प्रवेश किया—अर्थात् एक पचास-पचपन साल का भला आदमी छड़ी टेकता दूर से आता दिखाई दिया। वह इस तरह इधर-उधर नज़र डालता चल रहा था जैसे देख रहा हो कि जो ढेले-पत्थर कल वहाँ पड़े थे, वे आज भी अपनी जगह पर हैं या नहीं। जब वह मुझसे कुछ ही फासले पर रह गया, तो उसने आँखें तीन-चौथाई बन्द करके छोटी-छोटी लकीरों जैसी बना लीं और मेरे चेहरे का गौर से मुआइना करता हुआ आगे बढ़ने लगा। मेरे पास आने तक उसकी नज़र ने जैसे फैसला कर लिया, और उसने रुककर छड़ी पर भार डाले हुए पल-भर के वक्फे के बाद पूछा, "यहाँ नए आए हो?"

"जी हाँ," मैंने उसकी मुरझाई हुई पुतलियों में अपने चेहरे का साया देखते हुए ज़रा संकोच के साथ कहा।

"मुझे लग रहा था कि नए ही आए हो," वह बोला, "पुराने लोग तो सब अपने पहचाने हुए हैं।"

"आप यहीं रहते हैं?" मैंने पूछा।

"हाँ यहीं रहते हैं," उसने विरक्ति और शिकायत के स्वर में उत्तर दिया, "जहाँ का अन्न-जल लिखाकर लाए थे, वहीं तो न रहेंगे...अन्न-जल मिले चाहे न मिले।"

उसका स्वर कुछ ऐसा था जैसे मुझसे उसे कोई पुराना गिला हो। मुझे लगा कि या तो वह बेहद निराशावादी है, या उसे पेट का कोई संक्रामक रोग है। उसकी रस्सी की तरह बँधी टाई से यह अनुमान होता था कि वह एक रिटायर्ड सरकारी कर्मचारी है जो अब अपनी कोठी में सेब का बगीचा लगाकर उसकी रखवाली किया करता है।

''आपकी यहाँ पर अपनी ज़मीन होगी?'' मैंने उत्सुकता न रहते हुए भी पूछ लिया।

''ज़मीन?'' उसके स्वर में और भी निराशा और शिकायत भर आई। ''ज़मीन कहाँ जी?'' और फिर जैसे कुछ खीझ और कुछ व्यंग्य के साथ सिर हिलाकर उसने कहा, ''ज़मीन!''

मुझे समझ नहीं आ रहा था कि अब मुझे क्या कहना चाहिए। उसी तरह छड़ी पर भार दिए मेरी तरफ़ देख रहा था। कुछ क्षणों का वह ख़ामोश अन्तराल मुझे विचित्र-सा लगा। उस स्थिति से निकलने के लिए मैंने पूछ लिया, ''तो आप यहाँ कोई अपना निज का काम करते हैं?''

''काम क्या करना है जी?'' उसने जवाब दिया, ''घर से खाना अगर काम है, तो वही काम करते हैं और आजकल काम रह क्या गए हैं? हर काम का बुरा हाल है!''

मेरा ध्यान पल-भर के लिए जली हुई इमारत के ज़ीने की तरफ़ चला गया। उसके ऊपर एक बन्दर आ बैठा था और सिर खुजलाता हुआ शायद यह फैसला करना चाह रहा था कि उसे कूद जाना चाहिए या नहीं।

''अकेले आए हो?'' अब उस आदमी ने मुझसे पूछ लिया।

''जी हाँ, अकेला ही आया हूँ,'' मैंनें जवाब दिया।

''आजकल यहाँ आता ही कौन है?'' वह बोला, ''यह तो बियाबान जगह है। सैर के लिए अच्छी जगहें हैं शिमला, मंसूरी वग़ैरह। वहाँ क्यों नहीं चले गए?''

मुझे फिर से उसकी पुतलियों में अपना साया नज़र आ गया। मगर मन होते हुए भी मैं उससे यह नहीं कह सका कि मुझे पहले पता होता कि वहाँ आकर मेरी उससे मुलाक़ात होगी, तो मैं ज़रूर किसी और पहाड़ पर चला जाता।

''ख़ैर, अब तो आ ही गए हो,'' वह फिर बोला, ''कुछ दिन घूम-फिर लो। ठहरने का इन्तज़ाम कर लिया है?''

''जी हाँ,'' मैंने कहा, ''कथलक रोड पर एक कोठी ले ली है।''

''सभी कोठियाँ ख़ाली पड़ी हैं,'' वह बोला, ''हमारे पास भी एक कोठरी थी। अभी कल ही दो रुपए महीने पर चढ़ाई है। दो-तीन महीने लगी रहेगी। फिर दो-चार रुपए डालकर सफ़ेदी करा देंगे। और क्या!'' फिर दो-एक क्षण के बाद उसने पूछा, ''खाने का क्या इन्तज़ाम किया है?''

"अभी कुछ नहीं किया। इस वक़्त इसी ख़याल से बाहर आया था कि कोई अच्छा-सा होटल देख लूँ, जो ज़्यादा महँगा भी न हो।"

"नीचे बाज़ार में चले जाओ," वह बोला, "नत्थासिंह का होटल पूछ लेना। सस्ते होटलों में वही अच्छा है। वहीं खा लिया करना। पेट ही भरना है! और क्या!"

और अपनी नहूसत मेरे अन्दर भरकर वह पहले की तरह छड़ी टेकता हुआ रास्ते पर चल दिया।

नत्थासिंह का होटल बाज़ार में बहुत नीचे जाकर था। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा, बुड्ढा सरदार नत्थासिंह और उसके दोनों बेटे अपनी दुकान के सामने हलवाई की दुकान में बैठे हलवाई के साथ ताश खेल रहे थे। मुझे देखते ही नत्थासिंह ने तपाक से अपने बड़े लड़के से कहा, "उठ बसन्ते, ग्राहक आया है।"

बसन्ते ने तुरन्त हाथ के पत्ते फेंक दिए और बाहर निकल आया।

"क्या चाहिए साब?" उसने आकर अपनी गद्दी पर बैठते हुए पूछा।

"एक प्याली चाय बना दो," मैंने कहा।

"अभी लीजिए!" और वह केतली में पानी डालने लगा।

"अंडे-वंडे रखते हो?" मैंने पूछा।

"रखते तो नहीं, पर आपके लिए अभी मँगवा देता हूँ," वह बोला, "कैसे अंडे लेंगे? फ्राई या आमलेट?"

"आमलेट," मैंने कहा।

"जा हरबंसे, भागकर ऊपरवाले लाला से दो अंडे ले आ," उसने अपने छोटे भाई को आवाज़ दी।

आवाज़ सुनकर हरबंसे ने भी झट से हाथ के पत्ते फेंक दिए और उठकर बाहर आ गया। बसन्ते से पैसे लेकर वह भागता हुआ बाज़ार की सीढ़ियाँ चढ़ गया। बसन्ता केतली भट्ठी पर रखकर नीचे से हवा करने लगा।

हलवाई और नत्थासिंह अपने-अपने पत्ते हाथ में लिए थे। हलवाई अपने पाजामे का कपड़ा उँगली और अँगूठे के बीच में लेकर जाँघ खुजलाता हुआ कह रहा था, "अब चढ़ाई शुरू हो रही है नत्थासिंह!"

"हाँ अब गर्मियाँ आई हैं, तो चढ़ाई शुरू होगी ही," नत्थासिंह अपनी सफ़ेद दाढ़ी में उँगलियों से कंघी करता हुआ बोला, "चार पैसे कमाने के यही तो दिन हैं।"

"पर नत्थासिंह, अब वह पहलेवाली बात नहीं है," हलवाई ने कहा, "पहले दिनों में हज़ार-बारह सौ आदमी इधर को आते थे, हज़ार-बारह सौ उधर को जाते थे, तो लगता था कि हाँ, लोग बाहर से आए हैं। अब भी आ गए सौ-पचास तो क्या है!"

"सौ-पचास की भी बड़ी बरकत है," नत्थासिंह धार्मिकता के स्वर में बोला।

"कहते हैं आजकल किसी के पास पैसा ही नहीं रहा," हलवाई ने जैसे चिन्तन करते हुए कहा, "यह बात मेरी समझ में नहीं आती। दो-चार साल सबके पास पैसा हो जाता है, फिर एकदम सबके-सब भूखे-नंगे हो जाते हैं! जैसे पैसों को किसी ने बाँध-बाँधकर रखा है। जब चाहता है छोड़ देता है, जब चाहता है रोक लेता है!"

"सब करनी कर्तार की है," कहता हुआ नत्थासिंह भी पत्ते फेंककर उठ खड़ा हुआ।

"कर्तार की करनी कुछ नहीं है," हलवाई बेमन से पत्ते रखता हुआ बोला, "जब कर्तार पैदावार उसी तरह करता है, तो लोग क्यों भूखे-नंगे हो जाते हैं? यह बात मेरी समझ में नहीं आती।"

नत्थासिंह ने दाढ़ी खुजलाते हुए आकाश की तरफ़ देखा, जैसे खीज रहा हो कि कर्तार के अलावा दूसरा कौन है जो लोगों को भूखे-नंगे बना सकता है।

"कर्तार को ही पता है," पल-भर बाद उसने सिर हिलाकर कहा।

"कर्तार को कुछ पता नहीं," हलवाई ने ताश की गड्डी फटी हुई डब्बी में रखते हुए सिर हिलाकर कहा और अपनी गद्दी पर जा बैठा। मैं यह तय नहीं कर सका कि उसने कर्तार को निर्दोष बताने की कोशिश की है, या कर्तार की ज्ञानशक्ति पर सन्देह प्रकट किया है!

कुछ देर बाद मैं चाय पीकर वहाँ से चलने लगा, तो बसन्ते ने कुल छह आने माँगे। उसने हिसाब भी दिया—चार आने के अंडे, एक आने का घी और एक आने की चाय। मैं पैसे देकर बाहर निकला, तो नत्थासिंह ने पीछे से आवाज़ दी, "भाई साहब, रात को खाना भी यहीं खाइएगा। आज आपके लिए स्पेशल चीज़ बनाएँगे! ज़रूर आइएगा।"

उसके स्वर में ऐसा अनुरोध था कि मैं मुस्कुराए बिना नहीं रह सका। सोचा कि उसने छह आने में क्या कमा लिया है जो मुझसे रात को फिर आने का अनुरोध कर रहा है।

शाम को सैर से लौटते हुए मैंने बुक एजेंसी से अखबार खरीदा और बैठकर पढ़ने के लिए एक बड़े से रेस्तराँ में चला गया। अन्दर पहुँचकर देखा कि कुर्सियाँ, मेज़ और सोफे करीने से सज़े हुए हैं, पर न तो हाल में कोई बैरा है और न ही काउंटर पर कोई आदमी है। मैं एक सोफे पर बैठकर अखबार पढ़ने लगा। एक कुत्ता जो उस सोफे से सटकर लेटा था, अब वहाँ से उठकर सामने के सोफे पर आ बैठा और मेरी तरफ़ देखकर जीभ लपलपाने लगा। मैंने एक बार हलके से मेज़ को थपथपाया, बैरे को आवाज़ दी, पर कोई इंसानी सूरत सामने नहीं आई। अलबत्ता, कुत्ता सोफे से मेज़ पर आकर अब और भी पास से मेरी तरफ़ जीभ लपलपाने लगा। मैं अपने और उसके बीच अखबार का परदा करके खबरें पढ़ता रहा।

उस तरह बैठे हुए मुझे पन्द्रह-बीस मिनट बीत गए। आखिर जब मैं वहाँ से उठने को हुआ, तो बाहर का दरवाज़ा खुला और पाजामा-कमीज़ पहने एक आदमी अन्दर दाखिल हुआ। मुझे देखकर उसने दूर से सलाम किया और पास आकर ज़रा संकोच के साथ कहा, ''माफ कीजिएगा, मैं एक बाबू का सामान मोटर-अड्डे तक छोड़ने चला गया था। आपको आए ज़्यादा देर तो नहीं हुई?''

मैंने उसके ढीले-ढाले जिस्म पर एक गहरी नज़र डाली उससे पूछ लिया, ''तुम यहाँ अकेले ही काम करते हो?''

''जी, आजकल अकेला ही हूँ,'' उसने जवाब दिया, ''दिन-भर मैं यहीं रहता हूँ, सिर्फ़ बस के वक़्त किसी बाबू का सामान मिल जाए तो अड्डे तक छोड़ने चला जाता हूँ।''

''यहाँ का कोई मैनेजर नहीं है?' मैंने पूछा।

''जी, मालिक आप ही मैनेजर हैं,'' वह बोला, "वह आजकल अमृतसर में रहता है। यहाँ का सारा काम मेरे ज़िम्मे है।''

''तुम यहाँ चाय-वाय कुछ बनाते हो?''

''चाय, कॉफी—जिस चीज़ का आर्डर दें, वह बन सकती है!''

''अच्छा ज़रा अपना मेन्यू दिखाना।''

उसके चेहरे के भाव से मैंने अन्दाज़ा लगाया कि वह मेरी बात नहीं समझा। मैंने उसे समझाते हुए कहा, ''तुम्हारे पास खाने-पीने की चीज़ों की छपी हुई लिस्ट होगी, वह ले आओ।''

''अभी लाता हूँ जी,'' कहकर वह सामने की दीवार की तरफ़ चला गया और वहाँ से एक गत्ता उतार लाया। देखने पर मुझे पता चला कि वह उस होटल का लायसेंस है।

''यह तो यहाँ का लायसेंस है,'' मैंने कहा।

''जी, छपी हुई लिस्ट तो यहाँ पर यही है,'' वह असमंजस में पड़ गया।

''अच्छा ठीक है, मेरे लिए चाय ले आओ,'' मैंने कहा।

''अच्छा जी!'' वह बोला ''मगर साहब,'' और उसके स्वर में काफ़ी आत्मीयता आ गई। "मैं कहता हूँ, खाने का टैम है, खाना ही खाओ। चाय का क्या पीना! साली अन्दर जाकर नाड़ियों को जलाती है।''

मैं उसकी बात पर मन ही मन मुस्कुराया। मुझे सचमुच भूख लग रही थी, इसलिए मैंने पूछा, ''सब्जी-अब्जी क्या बनाई है?''

''आलू-मटर, आलू-टमाटर, भुर्ता, भिंडी, कोफ्ता, रायता...'' वह जल्दी-जल्दी लम्बी सूची बोल गया।

''कितनी देर में ले आओगे?'' मैंने पूछा।

"बस जी, पाँच मिनट में।"

"तो आलू-मटर और रायता ले आओ। साथ खुश्क चपाती।"

"अच्छा जी!" वह बोला, "पर साहब," और फिर स्वर में ही वह आत्मीयता लाकर उसने कहा, "बरसात का मौसम है। रात के वक़्त रायता नहीं खाओ, तो अच्छा है। ठंडी चीज़ है। बाज़ वक़्त नुकसान कर जाती है।"

उसकी आत्मीयता से प्रभावित होकर मैंने कहा, "तो अच्छा, सिर्फ़ आलू-मटर ले आओ।"

"बस, अभी लो जी, अभी लाया," कहता हुआ वह लकड़ी के ज़ीने से नीचे चला गया।

उसके ज़ाने के बाद मैं कुत्ते से जी बहलाने लगा। कुत्ते को शायद बहुत दिनों से कोई चाहनेवाला नहीं मिला था। वह मेरे साथ ज़रूरत से ज़्यादा प्यार दिखाने लगा। चार-पाँच मिनट के बाद बाहर का दरवाज़ा फिर खुला और एक पहाड़ी नवयुवती अन्दर आ गई। उसके कपड़ों और पीठ पर बँधी टोकरी से ज़ाहिर था कि वह वहाँ की कोयला बेचनेवाली लड़कियों में से है। सुन्दरता का सम्बन्ध चेहरे की रेखाओं से ही हो, तो उसे सुन्दर कहा जा सकता था। वह सीधी मेरे पास आ गई और छूटते ही बोली, "बाबूजी, हमारे पैसे आज ज़रूर मिल जाएँ।"

कुत्ता मेरे पास था, इसलिए मैं उसकी बात से घबराया नहीं।

मेरे कुछ कहने से पहले ही वह फिर बोली, "आपके आदमी ने एक किल्टा कोयला लिया था। आज छह-सात दिन हो गए। कहता था, दो दिन में पैसे मिल जाएँगे। मैं आज तीसरी बार माँगने आई हूँ। आज मुझे पैसों की बहुत ज़रूरत है।"

मैंने कुत्ते को बाँहों से निकल जाने दिया। मेरी आँखें उसकी नीली पुतलियों को देख रही थीं। उसके कपड़े—पाजामा, कमीज़, वास्कट, चादर और पटका—सभी बहुत मैले थे। मुझे उसकी ठोड़ी की तराश बहुत सुन्दर लगी। सोचा कि उसकी ठोड़ी के सिरे पर अगर एक तिल भी होता...।

"मेरे चौदह आने पैसे हैं," वह कह रही थी।

और मैं सोचने लगा कि उस ठोड़ी के तिल और चौदह आने पैसे में से एक चीज़ चुनने को कहा जाए, तो वह क्या चुनेगी?

"मुझे आज जाते हुए बाज़ार से सौदा लेकर जाना है," वह कह रही थी।

"कल सवेरे आना!" उसी समय बैरे ने ज़ीने से ऊपर आते हुए कहा।

"रोज़ मुझसे कल सवेरे बोल देता," वह मुझे लक्ष्य करके ज़रा गुस्से के साथ बोली, "इससे कहिए कल सवेरे मेरे पैसे ज़रूर दे दे।"

"इनसे क्या कह रही है, ये तो यहाँ खाना खाने आए हैं," बैरा उसकी बात पर थोड़ा हँस दिया।

इससे लड़की की नीली आँखों में संकोच की हलकी लहर दौड़ गई। वह अब बदले स्वर में मुझसे बोली, "आपको कोयला तो नहीं चाहिए?"

"नहीं," मैंने कहा।

"चौदह आने का किल्टा दूँगी, कोयला देख लो," कहते हुए उसने अपनी चादर की तह में से एक कोयला निकालकर मेरी तरफ़ बढ़ा दिया।

"ये यहाँ आकर खाना खाते हैं, इन्हें कोयला नहीं चाहिए," अब बैरे ने उसे झिड़क दिया।

"आपको खाना बनाने के लिए नौकर चाहिए?" लड़की बात करने से नहीं रुकी, "मेरा छोटा भाई है। सब काम जानता है। पानी भी भरेगा, बरतन भी मलेगा...।"

"तू जाती है यहाँ से कि नहीं?" बैरे का स्वर अब दुतकारने का-सा हो गया।

"आठ रुपए महीने में सारा काम कर देगा," लड़की उस स्वर को महत्त्व न देकर कहती रही, "पहले एक डॉक्टर के घर में काम करता था। डॉक्टर अब यहाँ से चला गया है...।"

बैरे ने अब उसे बाँह से पकड़ लिया और बाहर की तरफ़ ले जाता हुआ बोला, "चल-चल, जाकर अपना काम कर। कह दिया है, उन्हें नौकर नहीं चाहिए फिर भी बके जा रही है!

"मैं कल इसी वक़्त उसे लेकर आऊँगी," लड़की ने फिर भी चलते-चलते मुड़कर कह दिया।

बैरा उसे दरवाज़े से बाहर पहुँचाकर पास आता हुआ बोला, "कमीन जात! ऐसे गले पड़ जाती हैं कि बस...!"

"खाना अभी कितने देर में लाओगे?" मैंने उससे पूछा।

"बस जी, पाँच मिनट में लेकर आ रहा हूँ," वह बोला, "आटा गूँधकर सब्जी चढ़ा आया हूँ। ज़रा नमक ले आऊँ—आकर चपातियाँ बनाता हूँ।"

ख़ैर, खाना मुझे काफ़ी देर से मिला। खाने के बाद मैं काफ़ी देर ठंडी-गरम सड़क पर टहलता रहा क्योंकि पहाड़ियों पर छिटकी चाँदनी बहुत अच्छी लग रही थी। लौटते वक़्त बाज़ार के पास से निकलते हुए मैंने सोचा कि नाश्ते के लिए सरदार नत्थासिंह से दो अंडे उबलवाकर लेता चलूँ। दस बज चुके थे, पर नत्थासिंह की दुकान अभी खुली थी। मैं वहाँ पहुँचा तो नत्थासिंह और उसके दोनों बेटे पैरों के भार बैठे खाना खा रहे थे। मुझे देखते ही बसन्ते ने कहा, "वह लो, आ गए भाई साहब!"

"हम कितनी देर इन्तज़ार कर-करके अब खाना खाने बैठे हैं!" हरबंस बोला।

"ख़ास आपके लिए मुर्गा बनाया था।" नत्थासिंह नें कहा, "हमने सोचा था कि भाई साहब देख लें, हम कैसा खाना बनाते हैं। ख़याल था दो-एक प्लेटें और लग जाएँगी। पर न आप आए, और न किसी और ने ही मुर्गे की प्लेट ली। हम अब

तीनों खुद खाने बैठे हैं। मैंने मुर्गा इतने चाव से, इतने प्रेम से बनाया था कि क्या कहूँ! क्या पता था कि खुद ही खाना पड़ेगा। ज़िन्दगी में ऐसे भी दिन देखने थे! वे भी दिन थे कि जब अपने लिए मुर्गे का शोरबा तक नहीं बचता था! और एक दिन यह है। भरी हुई पतीली सामने रखकर बैठे हैं! गाँठ से साढ़े तीन रुपए लग गए, जो अब पेट में जाकर खनकते भी नहीं! जो तेरी करनी मालिक!''

''इसमें मालिक की क्या करनी है?'' बसन्ता ज़रा तीखा होकर बोला, ''जो करनी है, सब अपनी ही है! आप ही को जोश आ रहा था कि चढ़ाई शुरू हो गई है, लोग आने लगे हैं, कोई अच्छी चीज़ बनानी चाहिए। मैंने कहा था कि अभी आठ-दस दिन ठहर जाओ, ज़रा चढ़ाई का रुख देख लेने दो। पर नहीं माने! हठ करते रहे कि अच्छी चीज़ से मुहूर्त करेंगे तो सीजन अच्छा गुजरेगा। लो, हो गया मुहूरत!''

उसी समय वह आदमी, जो कुछ घंटे पहले मुझे चेयरिंग क्रास पर मिला था, मेरे पास आकर खड़ा हो गया। अँधेरे में उसने मुझे नहीं पहचाना और छड़ी पर भार देकर नत्थासिंह से पूछा, ''नत्थासिंह, एक ग्राहक भेजा था, आया था?''

''कौन ग्राहक?'' नत्थासिंह चिढ़े-मुरझाए हुए स्वर में बोला।

''घुँघराले बालोंवाला नौजवान था—मोटे शीशे का चश्मा लगाए हुए...?''

''ये भाई साहब खड़े हैं!'' इससे पहले कि वह मेरा और वर्णन करता, नत्थासिंह ने उसे होशियार कर दिया।

''अच्छा आ गए हैं!'' उसने मुझे लक्ष्य करके कहा और फिर नत्थासिंह की तरफ़ देखकर बोला, ''तो ला नत्थासिंह, चाय की प्याली पिला।''

कहता हुआ वह सन्तुष्ट भाव से अन्दर टीन की कुर्सी पर जा बैठा। बसन्ता भट्ठी पर केतली रखते हुए जिस तरह से बुदबुदाया उससे ज़ाहिर था कि वह आदमी चाय की प्याली ग्राहक भेजने के बदले में पीने जा रहा है!

हवामुर्ग

अप्रैल महीने में बर्फ़ गिरना अस्वाभाविक नहीं था, फिर भी रेस्ट-हाउस का चौकीदार सन्तराम सवेरे से कितनी ही बार हर मिलनेवाले से कह चुका था, ''देखो जी, कैसी अनहोनी हो रही है! ये कोई बर्फ़ पड़ने के दिन हैं? मेरा ख़याल है, आज के इलेक्शन पर इसका ज़रूर असर पड़ेगा। आज घर से निकलना ही मुश्किल है, वोट देने कौन आएगा?'' वैसे उसे स्वयं विश्वास नहीं था कि लोग वोट देने नहीं आएँगे। पर बार-बार यह बात कहकर उसे कुछ सन्तोष ज़रूर मिल रहा था। तीन बजे से लगभग एक भारी-भरकम बाबू रेस्ट-हाउस के दो नम्बर कमरे में आकर ठहरा, तो उसका सामान खोलते हुए भी उसने कहा, ''बाबूजी, आगे कभी अप्रैल महीने में आपने इतनी बर्फ़ पड़ती देखी है?''

पर इससे पहले कि वह बात के अगले हिस्से तक पहुँच पाता, बाबू ने उसे आदेश दिया कि वह भागकर उसके लिए एक गिलास गर्म पानी ले आए, उसे दाँत साफ़ करने हैं। सन्तराम 'अभी लाया जी' कहकर चला गया, और जब वह लौटकर आया तो बाबू ने उसे चाय लाने का आदेश दे दिया।

चाय लाकर प्याली में उँडेलते हुए सन्तराम ने दूसरी तरह बात शुरू की। ''बाबूजी, आज यहाँ पर म्युनिसिपल कमेटी का इलेक्शन हो रहा है।'' और अपनी बात में बाबू की दिलचस्पी जगाने के लिए उसने तत्परता के साथ पूछा, ''चीनी एक चम्मच लेंगे कि दो चम्मच?''

''डेढ़ चम्मच!'' बाबू ने बिना ज़रा भी दिलचस्पी ज़ाहिर किए कहा। सन्तराम ने चाय में चीनी मिलाई और प्याली बाबू के हाथ में देते हुए कहा, ''इस बार हमारे रेस्ट-हाउस का जमादार हरिजन टिकट पर इलेक्शन के लिए खड़ा हुआ है।''

''अच्छा?'' बाबू ने चाय के घूँट भरते हुए कहा, ''देखो, वह मेरा जूता रखा है, उस पर अभी पालिश कर देना।''

सन्तराम बैठकर जूते पर ब्रश से पालिश लगाने लगा। पालिश लगाते हुए उसने कहा, ''पर जी, न तो यह जमादार ख़ास पढ़ा-लिखा है और न ही यह कभी जेल गया है। वैसे भी जात का भंगी है—भला ऐसे आदमी का कमेटी में लिया जाना कहाँ तक मुनासिब है?''

बाबू बिना कुछ कहे अपना कम्बल लेकर बिस्तर पर लेट गया और एक पुस्तक के पन्ने पलटने लगा। सन्तराम नें जूते के फीते निकाल दिए और एक पैर को ब्रश से रगड़ता हुआ बोला, "वैसे जी, सब मेहतर इसे वोट दें, तो यह चुना भी जा सकता है। सरकार ने भी हद कर दी। कल तक ये जमादार कमेटी की नालियाँ साफ़ करते थे, आज जाकर कमेटी की कुर्सी पर बैठा करेंगे।"

वह पैर चमक गया था। उसे रखकर दूसरा पैर उठाते हुए उसने कहा, "आज अगर यह चुन लिया गया तो मेरे लिए बड़ी मुश्किल हो जाएगी। पहले ही हम दोनों की अनबन रहती है, फिर तो एक दिन भी साथ काटना नामुमकिन होगा।"

कुछ क्षण वह चुपचाप जूते को रगड़ता रहा। फिर उसमें फ़ीता डालता हुआ बोला, "अगर आज यह चुना गया, तो मैं सोचता हूँ मैं नौकरी से इस्तीफा ही दे दूँ। यह, साहब, मेरी इज़्ज़त का सवाल है। क्या कहते हैं?"

और बाबू के कुछ भी न कहने पर उसने जूता बाबू के सामने लाकर पूछा, "क्यों जी, ठीक चमक गया?"

"हाँ, इधर रख दे," बाबू ने कहा, "और जाकर मेरे लिए एक कैप्स्टन की डिबिया ले आ।"

सिगरेट लाने का आदेश पाकर जब सन्तराम बाहर निकला, तो उसने देखा कि जमादार की बीवी बन्तो लॉन के पौधों से फूल तोड़ रही है। अभी तीन दिन पहले उसकी बीवी शान्ति ने बन्तो को फूल तोड़ने से रोका था। सन्तराम को लगा कि आज बन्तो जान-बूझकर उसे चिढ़ाना चाहती है। उसके मन में क्रोध-मिली खीझ पैदा हुई, पर उससे कुछ कहते नहीं बना। एक तो आज बन्तो से कुछ कहने का नैतिक साहस उसे अपने में नहीं मिल रहा था। दूसरे, अपने नए रंगीन कपड़ों में बन्तो और दिनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर लग रही थी। सन्तराम को जमादार माधो से इस बात की भी ईर्ष्या थी कि उसकी पत्नी इतनी सुन्दर थी, और तीन बच्चों की माँ होकर अभी लड़की-सी नज़र आती थी। दूसरी तरफ़ उसकी अपनी पत्नी शान्ति थी, जो अभी एक बच्चे की माँ थी, पर लगता था उसकी जवानी दस साल पीछे रह गई है—सुन्दर तो ख़ैर वह कभी थी ही नहीं। जब शान्ति बन्तो को आदेश देती, तो खुद सन्तराम को उसका आदेश देना अस्वाभाविक लगता, हालाँकि शान्ति के शिकायत करने पर कि बन्तो बात-बात में उसकी अवहेलना करती है, वह मुँह से उसके अधिकार का समर्थन कर दिया करता। पर कभी शान्ति बन्तो के सामने ही उसकी शिकायत करने लगती, तो वह निष्पक्ष मध्यस्थ की तरह कहता, "पता नहीं तुम लोग आपस में झगड़ती क्यों रहती हो? यह सरकारी काम है, और हम सबका साझा फर्ज है। हमें आपस में मेल-जोल के साथ रहना चाहिए।"

बन्तो के पास से निकलकर सन्तराम अपने क्वार्टर के पास पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँ शान्ति किसी वजह से बच्चे पर झुँझला रही है। उसका ढीला-ढाला शरीर, फिर

उससे भी ढीले-ढाले कपड़े और उस पर यह झुँझलाहट का भाव देखकर सन्तराम का अपना मन झुँझलाहट से भर गया। उसका मन हुआ कि उसे डाँट दे, पर फिर कुछ सोचकर वह आगे बढ़ गया। पर सड़क पर आकर भी उसकी झुँझलाहट कम नहीं हुई। उसने बाबू के लिए कैप्स्टन की डिबिया खरीदी और एक लैंप की डिबिया अपने लिए ले ली। उसमें से एक सिगरेट सुलगाए हुए वह रेस्ट-हाउस की तरफ़ लौटा। चलते हुए उसके दिमाग़ में उन दिनों की धुँधली तस्वीरें उभरने लगीं जब वह दिल्ली में बाबू गनपतलाल के थियेटर में काम करता था। वहाँ उसका काम बिजली की फिटिंग करने का था, पर दो-एक बार बाबू गनपतलाल ने उसे पार्ट करने का मौका भी दे दिया था। उसे थियेटर में लगातार छह महीने तनख़्वाह नहीं मिलती थी। फिर भी जिस दिन थियेटर बन्द हुआ, उस दिन उसे यही लगा था कि जैसे उसके जीवन का आधार छिन गया हो। तनख़्वाह तो कहीं भी काम करने से मिल सकती थी, पर थियेटर में जो कुछ एक्स्ट्रा मिलता था, वह और कहाँ मिल सकता था? वहाँ मिन्ना थी, रूपा थी, सकीना थी! वह वक़्त अब बारह साल पीछे रह गया था। यह सोचकर उसे एक विचित्र गुदगुदी हुई कि मिन्ना की बेटी चन्दा, जो तब आठ साल की थी, अब बीस साल की होगी। उसके कदम कुछ तेज़ हो गए और वह इस विश्वास के साथ चलने लगा कि उसका असली क्षेत्र थियेटर ही है—वह यूँ ही रेस्ट-हाउस की चौकीदारी में अपना जीवन नष्ट कर रहा है!

जब उसने दो नम्बर कमरे में पहुँचकर कैप्स्टन की डिबिया बाबू को दी, तब भी उसका मन थियेटर के वातावरण से बाहर नहीं निकला था। दियासलाई जलाकर बाबू की सिगरेट सुलगाते हुए उसने पूछ लिया, ''क्यों बाबूजी, आजकल उधर कोई थियेटर कम्पनी नहीं रही?''

''मुझे पता नहीं है,'' बाबू ने सिगरेट का कश खींचकर कहा।

''दरअसल बात यह है कि मेरी असली लाइन वही है,'' सन्तराम ज़रूरत न होने पर भी झाड़न उठाकर कुर्सी झाड़ने लगा, ''चौकीदारी में तो मैं ऐसे ही आ फँसा हूँ। वरना पहले मैं दिल्ली में थियेटर में ही काम करता था।''

''यहाँ तुम कब से काम कर रहे हो?'' बाबू ने पूछ लिया।

''यहाँ काम करते मुझे यही कोई दस-ग्यारह साल हुए हैं।''

''तब तो तुम यहाँ के पुराने आदमी हो!''

''जी हाँ।'' ये शब्द सन्तराम ने आदतन ही कह दिए, वैसे वहाँ का पुराना आदमी कहलाना उस वक़्त उसे अच्छा नहीं लगा।

''थियेटर में तुम कितने साल रहे?'' बाबू ने दूसरा सवाल पूछा। सन्तराम इस सवाल का सही जवाब अच्छी तरह जानता था। उस 'अपनी लाइन' में उसने कुल मिलाकर एक साल और सात महीने काम किया था, जिनमें से तनख़्वाह सिर्फ़ आठ महीने की ही मिली थी। पर जवाब देने से पहले वह जैसे मन-ही-मन गिनती गिनने

के लिए रुका, फिर बोला, "बस जी, यहाँ आने से पहले मैं वहीं था।" और उसके होंठों पर खिसियानी हँसी की एक रेखा दिखाई दे गई।

कुर्सी से हटकर अब अलमारी के शीशे झाड़न से साफ़ करता हुआ सन्तराम बाबू को अपने थियेटर के दिनों के अनुभव सुनाने लगा, तो बाबू ने उसे बीच में ही रोक दिया। कहा कि वह जल्दी से जाकर डाकखाने से दो लिफाफे और चार पोस्टकार्ड ला दे, उसे कुछ ज़रूरी चिट्ठियाँ लिखनी हैं।

डाकखाने से लिफाफा और पोस्टकार्ड खरीदते हुए उसने सुना कि जमादार माधो इलेक्शन जीत गया है—और लोग उसे मालाएँ पहनाकर रेस्ट-हाउस की तरफ़ ला रहे हैं। उसने लैंप का नया सिगरेट सुलगाया और बाहर आकर उस तरफ़ देखा जिधर बर्फ़ से ढके रास्ते पर, तीन-चार सौ गज़ दूर लोग जमादार माधो को घेरे उसके साथ आ रहे थे। उनके रंगीन कपड़े बर्फ़ की सफ़ेदी पर और भी रंगीन लग रहे थे। वे बाँहें उठा-उठाकर उत्साह के साथ नारे लगा रहे थे। सन्तराम ने उधर से आते हुए एक नवयुवक से पूछा, "क्यों भाई कितने वोटों से जीता है जमादार?"

"सवा दो सौ वोटों से!" उस नवयुवक ने यह भी बताया कि रात को कमेटी के चेयरमैन ने जमादार को खाने पर बुलाया है।

"अच्छा!" सन्तराम की आँखें फैल गईं। उसने फिर उधर देखा, जिधर से लोग माधो को साथ लिए आ रहे थे। पल-भर वह इस अनिश्चय में रहा कि उसे वहाँ रुकना चाहिए या रेस्ट-हाउस की तरफ़ चल देना चाहिए। फिर हाथ के कार्ड-लिफाफों से बहाना पाकर वह रेस्ट-हाउस की तरफ़ चल दिया।

बन्तो अपने क्वार्टर के बाहर खड़ी माधो को दूर से आते देख रही थी। उसके चेहरे की चमक उस समय और बढ़ गई थी। कुछ और मेहतरानियाँ भी उसके पास खड़ी थीं। सन्तराम ने पास से निकलते हुए उससे कहा, "सुना है दो सौ वोटों से जीता है माधोराम!"

उसने आवाज़ में काफ़ी मिठास लाने की कोशिश की थी, पर बन्तो ने उसकी तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। उपेक्षा के साथ बोली, "हाँ, राजू अभी हमें बता गया है।"

सन्तराम मन-ही-मन उसे गाली देकर दो नम्बर कमरे की तरफ़ चल दिया। जब उसने कार्ड-लिफाफे बाबू को दिए, तो उसे आदेश मिला कि वह वहीं ठहरे, अभी उसे चिट्ठियाँ पोस्ट करने के लिए ले जानी होंगी। कुछ देर बाद जब वह चिट्ठियाँ लेकर निकला, माधो के साथी रेस्ट-हाउस के बाहर ज़ोर-ज़ोर से नारे लगा रहे थे, "हरिजन यूनियन ज़िन्दाबाद" "माधोराम जमादार ज़िन्दाबाद!"

सन्तराम डाकखाने की तरफ़ न जाकर पीछे के रास्ते से डेरी फार्म के लैटर-बक्स की तरफ़ चल दिया, हालाँकि वह जानता था कि डेरी फार्म के लैटर-बक्स से दिन की आख़िरी डाक चार बजे निकल जाती है और उस वक़्त साढ़े चार बज चुके थे।

दूसरे दिन सवेरे सन्तराम की पत्नी शान्ति की सूरत कुछ और-सी हो रही थी– उसकी आँखें सूज रही थीं और चेहरे पर झाइयाँ पड़ी थीं। सन्तराम चाय लेकर दो नम्बर कमरे में आया, तो चाय उँडेलते हुए उसने बाबू से पूछ लिया, ''क्यों साहब, जमादार कमरा साफ़ कर गया है?''

''उसकी बीवी साफ़ कर गई।'' बाबू ने जवाब दिया।

''मेरे बारे में उसने कोई बात तो नहीं की?'' सन्तराम ने खिसियाने-से स्वर में पूछ लिया।

''नहीं!'' बाबू ने एक शब्द में उत्तर देकर चाय की प्याली उठा ली।

अब सन्तराम व्याख्या करता हुआ कहने लगा, ''साहब, आपको पता है, कल जमादार इलेक्शन जीत गया है? बड़े साहब ने रात को इसे और इसकी बीवी को खाने पर बुलाया था। पता नहीं, इन लोगों ने वहाँ मेरी क्या-क्या शिकायत की होगी। मैंने सोचा शायद आपसे भी जमादारिन ने कुछ कहा हो।''

''मुझसे किसी ने कोई बात नहीं की!'' बाबू ने हलके से उसे झिड़क दिया।

सन्तराम कुछ क्षण चुप रहा। फिर बोला, ''साहब, मेरा स्वभाव ऐसा है कि मैं किसी से लड़ना-झगड़ना पसन्द नहीं करता। पर मेरी घरवाली का अपनी ज़बान पर काबू नहीं है। वह रोज़-रोज़ जमादारिन से लड़ पड़ती थी, जिससे जमादार की मेरे साथ लड़ाई हो जाती थी। मैंने इसे कई बार समझाया, पर यह समझती ही नहीं थी। आज रात फिर मुझसे नहीं रहा गया। मैंने दो हाथ ऐसे लगा दिए हैं कि अब आगे कभी उनसे उलटी बात नहीं करेगी।''

बाबू ने चाय की प्याली ट्रे में रखते हुए कहा कि वह ट्रे उठाकर ले जाए। सन्तराम ट्रे उठाता हुआ बोला, ''अब तो बड़ा साहब भी जमादार की ही सुनेगा। उसने साहब से मेरी कोई उलटी-सीधी शिकायत कर दी, तो बताइए मैं कहाँ का रहूँगा? औरत ज़ात इन चीज़ों को नहीं समझती। मुसीबत तो आदमी की होती है, जिसकी नौकरी का सवाल होता है।''

और ट्रे उठाए हुए वह बाहर निकल आया। बरामदे के सिरे पर उसे जमादार माधो दिखाई दे गया। उसके पास पहुँचकर सन्तराम बोला, ''क्यों भई, जीत लिया इलेक्शन माधोराम? कल सुनकर बहुत ही खुशी हुई। हम गरीब लोगों की भी अब कमेटी में सुनवाई हो जाएगी। अब लगता है कि हाँ, सचमुच में ही मुल्क आज़ाद हुआ है।''

और क्षण-भर रुके रहने पर भी जब और कुछ कहने को नहीं मिला, तो वह ट्रे सँभाले अपने क्वार्टर की तरफ़ बढ़ गया। वहाँ उस समय शान्ति एक हाथ से बच्चे का कान पकड़े गालियाँ देती हुई दूसरे हाथ से उसे पीट रही थी।

उलझते धागे

घंटाघर की घड़ी ने अभी-अभी नौ बजाए हैं।

थोड़ी देर पहले रिज पर काफ़ी चहल-पहल थी। सैर करनेवालों के झुंड के झुंड नीचे माल रोड की तरफ़ जा रहे थे और उधर से ऊपर की तरफ़ आ रहे थे। अब वहाँ पर ख़ामोशी छा गई है। किनारों की बेंचों पर बैठकर इस लोक से उस लोक तक की चर्चा करनेवाली बूढ़ों की मंडली भी उठकर चली गई है। वह अफगानी टोपीवाला डाक्टर, जो रेलिंग के सहारे खड़ा होकर सिगरेट के कश खींच रहा था, अब बड़े अस्पताल की गोरी नर्स के साथ बातें करता हुआ कैथू के रास्ते पर चला गया है।

माल रोड सुनसान हो गई है। वैसे माल रोड इसका पुराना नाम है। अब सरकार ने इसका नाम बदलकर लाजपतराय रोड कर दिया है। परन्तु नया नाम पाकर भी इस सड़क का रंग-ढंग वही पुराना है। वही लोग आते हैं और रोज़ उसी तरह चहलकदमी करके चले जाते हैं। पर ख़ैर, माल रोड अब सुनसान हो गई है। रिज पर वीरानी छा गई है। थोड़ी देर पहले घंटाघर की घड़ी की सूइयाँ बहुत तेज़-तेज़ चल रही थीं मगर अब जैसे एक ही जगह पर जम गई हैं। ऊपर के सिनेमाघर से आवाज़ें आ रही हैं, जैसे पहाड़ की चोटी पर कोई भटकी हुई रूह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही हो।

हवाघर के बाहर इस वक़्त हम चार आदमियों के सिवा और कोई नहीं है। हमारे आगे हमारा ख़ाली रिक्शा है और फिर दूर तक कोलतार की लम्बी सड़क है। हमें यहाँ बैठे सवा-डेढ़ घंटा हो गया है। आज सारा दिन कोई भी सवारी नहीं मिली। अड्डे से संजौली और संजौली से यहाँ तक बस ख़ाली रिक्शा ही खींचा है। अब तो नौ बज गए हैं, अब सवारी मिलने की कोई उम्मीद भी नहीं है। फिर भी बैठकर इन्तज़ार तो करेंगे ही। कहते हैं, सवारी और मौत का कोई पता होता। सवारी और मौत!...मेरा बाप फेफड़ों के बुख़ार में मरा था। अब तो उसे मरे पाँच साल हो गए। पाँच साल से मैं सवारियाँ खींच रहा हूँ। मेरा बाप सत्रह बरस का था जब वह इस काम में लगा था। मैं जब लगा था तो मैं पूरे चौदह का भी नहीं था। हमारा यह पुश्तैनी धन्धा

है। लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती—हम सवारियाँ ढोते हैं कि पेट भरें और पेट भरते हैं कि सवारियाँ ढोएँ—बड़ी अजीब बात लगती है।

हम चारों ने बीड़ियाँ सुलगा रखी हैं। बीड़ी का लम्बा कश खींचना मुझे बहुत अच्छा लगता हैं। बीड़ी का आगे का हिस्सा एकदम से चमक उठता है, जैसे उसमें जान आ जाती है। मुँह से हटाते ही बीड़ी फिर बेजान हो जाती है। बहुत-सी बातें हैं जो मेरी समझ में नहीं आतीं। कभी कोई बात समझ में आ जाती है और फिर एकदम से निकल जाती है।...रिक्शा खींचने में मुझे एक बात अच्छी लगती है। आदमी दिन-भर एक जगह से दूसरी जगह की तरफ़ चलता रहता है। एक जगह टिककर मज़ा नहीं आता। मगर जब कभी भरी हुई घास पर लेटने को मन हो या चीड़ की टहनियाँ तोड़ने को मन हो, तो भी रिक्शे के आगे जुते रहो, यह बुरा लगता है। जब मेह बरसता है या ओले पड़ते हैं और बर्फ़ गिरती है तो गाँव की दुकान के अँधेरे की याद करके बड़ा हिरख होता है। मन होता है कि घर जाकर एक कोने में दुबक जाएँ और तम्बाकू पीते हुए आग तपाते रहें। मगर कहाँ?...घर बैठे रहें तो धन्धा कौन करेगा और रोटी कौन कमाएगा? कभी-कभी तो पैर बर्फ़ से सुन्न हो जाते हैं, नीचे से पैर में पत्थर गड़ते हैं, एक-एक कदम उठाना मुश्किल हो जाता है, फिर भी रिक्शा लिए भागते रहते हैं—आख़िर रोटी का मामला है, काम नहीं करें तो खाना कहाँ से खाएँ?

हवाघर के अन्दर एक बाबू बीवी के साथ बैठा है। लगता है कि दोनों का नया-नया ब्याह हुआ है। दोनों एक-दूसरे से सटकर बैठे हैं, पर बिलकुल नावाकिफ़ों की तरह कभी-कभार ही एकाध बात कर लेते हैं। कभी दोनों की आँख मिली रहती है और कभी हाथ। दोनों बड़े मग्न होकर बैठे हैं।

"ठंड हो गई है!" बीवी ज़रा काँपकर कह रही है।

बाबू होंठों में से सिर्फ़ चूमने की आवाज़ निकालकर चुप हो गया है। उसका ध्यान शायद दूसरी तरफ़ है।

"देखो, मेरे पैर के तलुवे पर कितना बड़ा छाला पड़ गया है!" बीवी अपना सैंडल उतारकर बाबू को अपना पैर दिखा रही है, "मुझे पैदल चलने की ज़रा भी आदत नहीं है।"

मगर बाबू का ध्यान कहीं और है—शायद माल रोड पर, या वहाँ से भी दूर, बहुत दूर, न जाने पहाड़ों से भी आगे—वह जाने किस सोच में पड़ा हुआ है।

यहाँ पैरों में कितने ही सूराख हो रहे हैं। पैरों को छूकर मुझे वैसी ही झुरझुरी होती है जैसी दीमक-खाई लकड़ी को छूकर होती है। यह अँगूठे के नीचे एक बड़ा सूराख है, इसके आसपास कितने ही छोटे-छोटे सूराख और हैं। अब तो पैरों की चमड़ी बिलकुल मर गई है। बर्फ़ और पत्थर को छोड़कर और किसी चीज़ का पैरों

के नीचे पता ही नहीं चलता। शिब्बी मेरे पैरों के सूराखों पर उँगलियाँ फेरती है तो उन उँगलियों का भी कुछ पता नहीं चलता। मगर जब वह देर तक हाथ फेरती रहती है तो जैसे इन सूराखों में जान आ जाती है। और हलकी-हलकी सिहरन महसूस होने लगती है। शिब्बी की उँगलियों को अपने हाथों में लेकर मलना मुझे बहुत अच्छा लगता है। पहले उसकी उँगलियाँ बड़ी मुलायम थीं। अब तो रोज़-रोज़ घास छीलने से उसकी उँगलियाँ भी कड़ी हो गई हैं और उसका मांस फटा-सा रहने लगा है। उसके पैरों में भी अब सूराख हो गए हैं। बेचारी रोज़ एक गट्ठर घास काटती है और ऊपर मंडी में बेचने के लिए लाती है। उसका बाप बड़ा हरामखोर है। बुड्ढा आप हाथ तक नहीं हिलाता और सारा काम उसी से कराता है। शिब्बी कहीं मेरे घर में आ जाए तो मैं कभी उसे घास बेचने के लिए न जाने दूँ। मंडीवालों की नज़र कौन रोक सकता है? मगर उसके बाप को तो उसका सौ रुपया चाहिए, इतना रुपया कहाँ से आए? और जब तक रुपया नहीं, उससे ब्याह भी नहीं हो सकता। मैं कहता हूँ, बुड्ढे को छोड़ हम यहाँ से कहीं और चले चलते हैं, पर उसकी समझ में बात आती ही नहीं। मूर्ख बुड्ढे को रोटियाँ खिला-खिलाकर परान दे देगी।

रात को गाँव भी पहुँचना है। शिब्बी ने कहा था, आज रात वह तिरशूलवाले शिखर के नीचे मिलेगी। गाँव है तो अड्डे से दो ही मील मगर रास्ता बड़ा बेढब है। हम तीन आदमी अक्सर साथ ही जाते हैं इसलिए रास्ता ज़रा ठीक से कट जाता है। लौटते समय कभी आधी रात हो जाती है। उस वक़्त हम चलते नहीं, पत्थरों पर लुढकते जाते हैं। मगर गाँव पहुँचकर सारी थकान दूर हो जाती है। गाँव की मिट्टी की ख़ुशबू कुछ और-सी है। घर के पास से जो झरना बहता है उसके पानी की छल-छल सारे शरीर को थपकियाँ-सी देती है। घर की दहलीज़ के बाहर दूर तक ख़ूब अँधेरा फैला होता है। उसमें भटकते हुए कीड़ों की आवाज़ें ऐसे आती हैं जैसे कोई पानी में डुबकियाँ लगा रहा हो। कालू और दयालू दोनों झरने की ढलान के पास बैठकर गीत गाते रहते हैं। वह झरना गीतों का घर-सा है। अड्डे पर या और कहीं बैठकर वही गीत गाए तो बहुत बेगाना-सा लगता है। — —

"कियाँ बोलदाऽ ओऽऽऽऽ कियाँऽऽ बोलदाऽऽ?
कियाँ बोलदाऽ मोरी जऽान भावी कुक्कू कियाँ बोलदाँ?"

"यह पहाड़ी गीत कितना अच्छा है?" हवाघर में बैठी बीवी कह रही है।

बाबू मुँह से सिर्फ़ 'पिच्' की आवाज़ करके कोट का कॉलर ऊँचा कर रहा है।

"भूख तो नहीं लगी?" वह पूछता है।

"नहीं, अभी नहीं।" और वह हवा के झोंके से सिहरकर उसके साथ और सट गई है।

सामने घाटी के पार तारादेवी का मन्दिर है। उसकी दो बत्तियाँ सुनहरी कबूतरियों की तरह काँप रही हैं। पहाड़ों के पीछे से गहरा बादल उठ रहा है। जब बिजली चमकती है तो घाटी में दूर-दूर तक बिखरे हुए कितने ही घर दिखाई दे जाते हैं।

एक लम्बे कानोंवाला कुत्ता हवाघर की तरफ़ मुँह करके भौंक रहा है। एक बार हवाघर का चक्कर लगाकर वह बाहर निकल आया और लगातार भौंके जा रहा है। बाबू अपनी बीवी के कोट के बालों पर हाथ फेर रहा है। उसके कोट के बाल बड़े मुलायम लगते हैं। और यह कालू यहाँ अपने रीछ-जैसे बालों को खुजला रहा है। सामने स्कैंडल पाइंट की नीली बत्ती धुँधली होती जा रही है। तारादेवी की तरफ़ से उठता हुआ बादल हमारे आसपास घिर आया है। इधर घंटाघर कैसा भूत-सा लगने लगा है! सामने होटल की चिमनी और खिड़कियाँ बादल में घिरकर ओझल हुई जा रही है। सब तरफ़ बादल ही बादल घिर आया है। आसमान पर भी बादल हैं और चारों तरफ़ घाटियों में भी। बत्तियों की रोशनी छोटे-छोटे दायरों में बन्द हो गई है। कोलतार की सड़क दो-तीन गज़ दूर तक दिखाई देती है, बस। बादल गहरा होकर धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है। हलकी-हलकी बूँदें टीन की छतों से टकराने लगी हैं।

"ओ कियाँ बोलदाऽऽ मेरी जान भाबीऽ
कुक्कू कियाँऽऽऽ बोलदाऽऽऽ?
मडियाँ सुकेताँ भाबी सोणे साणे राऽजे, ओऽऽऽऽ
मडियाँ सुकेताँ भाबी..."

रिज की ख़ामोशी टूट गई है। नीचेवाले सिनीमा की खड्ड से एक औरत और मर्द भागते हुए आ रहे हैं। औरत बहुत भारी है, भरकम है, और छोटा-सा रेशमी छाता लिये हुए आगे-आगे आ रही है। मर्द भी मोटा और नाटा है और तेज़ भागकर उसके बराबर आने की कोशिश कर रहा है। ज्यों-ज्यों बादल ऊपर उठता जाता है, कोलतार की सड़क दूर तक निकलती आती है। पानी भी ज़ोर पकड़ रहा है। बृहस्पति की झड़ी है, शायद पूरे सात दिन बरसेगा।

औरत और मर्द कैसे तेज़ भागे आ रहे हैं?

"रिक्शा सा'ब?"

"रिक्शा मेम सा'ब?"

वे बिना बोले भागते ही जा रहे हैं। औरत बड़ी तेज़ी-से अंग्रेज़ी बोल रही है—बट एट इट फिट फिट फिट टू मच। वेल गिट गिट चैंग चिंग होम आल राइट!

उसी तरफ़ से ये दो नौजवान लड़के बाँहों में बाँह डाले आ रहे हैं। इनके पास छाता या बरसाती कोट कुछ भी नहीं है फिर भी वे कैसे आराम से बात करते आ रहे हैं? दोनों दुबले-पतले हैं, सिर्फ़ एक ज़रा छुटकू है और दूसरा लम्बू है। छुटकू बड़ा झूम-झूमकर चल रहा है और कोई शेर सुना रहा है :

"—जब खलाओं में उभरती हो अबाबील कोई...

आय हाय हाय, हुस्न देखा, उड़ती नहीं, तैरती
नहीं, उभरती हो अबाबील कोई—"

लम्बू वाह-वाह कर रहा है जाने किस बात पर दोनों ज़ोर से ठहाका लगा उठे हैं?

"रिक्शा सा'ब?"

"रिक्शा माँगता है सा'ब?"

वे बिना इधर की ओर देखे ही जा रहे हैं। कोलतार की सड़क पर उनके जूते तपत्-तपत् की आवाज़ कर रहे हैं।

"इन बेचारों की भी क्या ज़िन्दगी है?" छुटकू कह रहा है।

"मज़दूर की ज़िन्दगी हो ही क्या सकती है?"

"हम तो मज़दूर हैं।"

"हमारी भी क्या ज़िन्दगी है।"

"चार आदमी मिलकर एक आदमी को खींचें, यह हैवानियत है।"

"तेरे पास सिगरेट के लिए एक आना है?"

"नहीं। तेरे पास?"

"नहीं।"

"इस मुल्क में आर्ट इस तरह भूखा मरता है।'

और वह फिर गुनगुना रहा है—

"जब खलाओं में उभरती हो अबाबील कोई..."

आगे पता नहीं वह क्या कह रहा है, मैं तेरे कालुको रुस्खार में कि काकुलो सुख्तार में क्या हो जाता हूँ।

कुछ लड़कियाँ दोपट्टे में सिर और मुँह लपेटे और हाथों में अपनी सलवार उठाए लक्कड़ मंडी की तरफ़ भागी जा रही हैं।

पानी बहुत ज़ोर से पड़ रहा है। रिज पर नाख़ून-भर का दरिया बह रहा है। पानी के पर्दे के उस तरफ़ तारादेवी का पहाड़ी पर दो सुनहरी कबूतरियाँ फिर दिखाई देने लगी हैं।

"पानी इतने ज़ोर से बरस रहा है, आज घर कैसे पहुँचेंगे?"

हवाघर में बैठी बीवी कह रही है, मुझे पता होता तो मैं यह साड़ी पहनकर कभी न आती। आज रास्ते में इसका सारा बार्डर ख़राब हो जाएगा।"

"रिक्शा सा'ब?"

बाबू ने सिर हिला दिया है। बेचारे के पास शायद पैसे नहीं होंगे!

"थोड़ी देर बाद?"

बाबू ने सिर हिला दिया है। बेचारा बाबू!

बारिश कुछ हलकी हो रही है। अब शायद कोई सवारी नहीं मिलेगी। रिक्शा को चलकर शेड में छोड़ दें। वहाँ से मैं घंटे-भर में गाँव पहुँच जाऊँगा। कालू और दयालू तो शायद आज शेड में ही सोएँगे। गाँव पहुँचने तक बारिश भी रुक जाएगी। शिब्बी तिरशूलवाले शिखर के नीचे ज़रूर मिलेगी। वह शायद कुछ भुने हुए दाने लेकर आए। बारिश की रात में गुड़ के साथ भुने हुए दाने मिल जाएँ, तो बस...

''कालुआ!''

''हो।''

''चलना है कि अभी बैठे रहना है?''

''चलो।''

कालू के दाँत कटकटा रहे हैं। इसे ज़रा-सी सर्दी से बुख़ार हो जाता है। शेड में इसके पास कुछ ओढ़ने को नहीं है। पिछली रात धरमे की लोई के साथ सटकर सो रहा था, सुबह उठते ही कहता था कि शरीर टूट रहा है। आज दिन भर दौड़ना नहीं पड़ा, नहीं तो यह तो उलटा हो जाता। अब इसके दाँत कटकटा रहे हैं, रात को इसे फिर बुख़ार हो आया तो...

''ए रिक्शा!''

''लाया मेम सा'ब!''

फिर वही बूढ़ी मेम! कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी चढ़ाई या उतराई पर यह रोज़ दिखाई दे जाती है। इसका घर शिमले की खड्ड में है—अब इसे लेकर छोटे शिमले जाना पड़ेगा।

रिक्शा के पहिये तेज़ी से घूम रहे हैं। हमारे पैर कोलतार की सड़क पर धमक पैदा कर रहे हैं...

हवाघर पीछे छूट रहा है। लम्बे कानोंवाला कुत्ता फिर हवाघर की तरफ़ मुँह करके भौंक रहा है। नाले में बहुत पानी आ गया है, वह आज फुफकारता हुआ बह रहा है। दूर किसी घर से हलकी-हलकी बंसरी की आवाज़ सुनाई पड़ रही है।

क्लारक होटल...

मरीना होटल...

पटियाला हौस...

मेम रिक्शे में बहुत अकड़कर बैठी है। अक्सर यह बैठी-बैठी नाहक मुस्कुराती रहती है। रिक्शे में बैठती हैं तो मुस्कुराती हैं, उतरती हैं तो मुस्कुराती हैं। रास्ते में कोई वाकिफ दिखाई दे जाए तो उसकी तरफ़ देखकर मुस्कुराती हैं और सिर हिलाती हैं। इसकी मुस्कुराहट जैसे होंठों में से ही पैदा हो जाती है।

सामने कच्ची उतराई है। अगले मोड़ पर गहरी ढलान है। अगर हम लोग रिक्शा छोड़कर हट जाएँ और रिक्शा को अपने-आप लुढ़कने दें तो...? रिक्शा लुढ़कता हुआ सामने की चट्टान से जा टकराएगा और मेम रिक्शा से उछलकर खड्ड में जा गिरेगी। खड्ड में गिरकर भी क्या वह एक बार उसी तरह मुस्कुराएगी...

पैर के नीचे शायद केंचुआ दब गया है। एक ही पल में मरकर वह शायद परलोक चला गया। अब वह वहाँ से नई जून को लेकर आएगा। हो सकता है अब यह आदमी बनकर जनम ले। आदमी के रूप में जनम लेकर इसको भी रोटी के लिए काम करना पड़ेगा। यह क्या काम करेगा? शायद यह भी बड़ा होकर हमारी तरह मेम का रिक्शा खींचेगा। फिर ढलान पर आकर इसका भी मन करेगा कि मेम का रिक्शा लुढ़कने के लिए छोड़ दे। यह भी हो सकता है कि यह मरकर मेम की जून में पड़े और हमें इसे रिक्शे में बिठाकर खींचना पड़े। फिर यह भी मेम की तरह तनकर बैठेगा और मेम की तरह मुस्कुराएगा।

यह मेम की कोठी आ गई। मेम का कुत्ता जीभ लपलपाता हुआ अन्दर से भागा आ रहा है। मेम कुत्ते की तरफ़ देखकर मुस्कुरा रही है। मुस्कुराहट काफ़ी लम्बी है और होंठों में से पैदा हुई नहीं लगती।

''कालुआ।''

''हो।''

''तेरे दाँतों की किटकिटी बज रही है?''

''ठंड लगती है।''

''बुख़ार तो नहीं?''

''क्या मालूम? पता नहीं बुख़ार ही हो...।''

अब तू अड्डे में जाते ही सो जा। आज धरमे की लोई में इसके साथ सो जाना। बाहर नहीं पड़े रहना। समझा?''

''धरमे पर है, धरमा अगर सुला ले तो...''

''क्यों धरमे?''

''सो जाए, रात ही काटनी है। मुझे इसकी कुछ गर्मी ही रहेगी।''

सामने वापसी की लम्बी चढ़ाई है। कच्ची सड़क की चढ़ाई चढ़ते हुए बहुत ज़ोर लगता है। पक्की सड़क आ जाए तो दूसरी तरफ़ से गाँव चला जाऊँ। ये लोग रात शेड में ही काटेंगे। बारिश बिलकुल रुक गई है। शिब्बी ज़रूर तिरशूलवाले शिखर के नीचे पहुँच गई होगी। तेज़ चलूँगा तो पौन घंटे में पहुँच जाऊँगा। आज शिब्बी से फिर कहूँगा कि उस बुड्ढे का कज़िया छोड़ दे। वह कहीं बात मान ले और मेरे साथ चली चले तो...

''रिक्शा।''

"बैठिए सा'ब।"

"बालूरगंज।"

मनीजर सा'ब को आज बालूरगंज जाना है। बालूरगंज में इसकी एक रखैल रहती है। पैर कोलतार की फिसलनी सड़क पर आकर बहुत धमक पैदा करते हैं। पहले यह शायद अपने होटल में रुककर शराब पिएगा। घंटा-पौन घंटा रिक्शा होटल के बाहर खड़ा रहेगा। फिर बालूरगंज पहुँचकर लाल कोठी के बाहर घंटा-दो घंटा रुकना पड़ेगा। आधी रात को कहीं यह वापस लौटकर आएगा। कालू आज रात को ज़रूर दाँत कटकटाकर मर जाएगा।

अपने पैरों की धमक की आवाज़ भी कभी-कभी अच्छी लगती है। थप् थप् थप् थप् थप् थप्। हवा से हिलकर दियार के गुच्छे बीच-बीच में बूँदें बरसा देते हैं। आज की हवा बहुत ज़ालिम है...

हो-ओ! पैर उलटा पड़ जाने से सारी की सारी नाड़ियाँ खिंच गईं। हा-हा! एड़ी एक कदम भी सीधी नहीं धरी जाती। अभी इस होटल से काफ़ी दूर जाना है। पंजे के बल उतनी दूर तक कैसे जाया जा सकता है? मगर...

"तेज़ चलाओ!"

"अच्छा सा'ब!"

मनीजर सा'ब को शायद नशे की टोट आ गई है। इस समय एड़ी लगाकर भागते ही चलना ठीक है। भागते-भागते पैर अपने-आप ठीक हो जाएगा। अभी चार मील दौड़ना है, पैर दबाकर कैसे दौड़ा जा सकता है?

कालू को खाँसी उठ रही है। दौड़ते-दौड़ते उसकी ज़बान बाहर को निकल आती है। बूँदें फिर पड़ने लगी हैं...

नीचे की ख़ाली सड़क पर जगुआ, फागन और हीरा अपना ख़ाली रिक्शा लेकर आ रहे हैं। ये लोग शायद घर वापस जा रहे हैं। जगुआ को इस वक़्त क्या गाने की मस्ती सूझी है?

"कियाँ बोलदाऽऽ मेरी जान भाबीऽऽ कुक्कू कियाँ बोलदाऽऽऽ?
ओ, ऽऽऽकियाँ बोलदाऽ..."

"ए और तेज़ चलाओ।"

"अच्छा सा'ब!"

कोलतार की सड़क पर पैर बहुत ज़ोर से धमक पैदा कर रहे हैं—थप् थप् थप् थप् थप् थप्...

सौदा

दिन के नौ बजे थे और रोज़ की तरह पहलगाम के बाज़ार में चहल-पहल शुरू हो गई थी। लोग नाश्ते के बाद अपने-अपने होटलों और खेमों से तैयार होकर आ रहे थे। कई एक पार्टियाँ बाज़ार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक चहलकदमी करती दिखाई दे रही थीं। एल्सेशियन कुत्ते को लेकर घूमती चेक भद्र महिला से लेकर सैनफ्रैंसिस्को के तरुण दम्पति तक, और सिन्धी डाक्टर की लड़कियों से लेकर तिरुचिरापल्ली के विद्यार्थियों तक हरएक का चलने का अन्दाज़ कुछ ऐसा था जैसे वह वहाँ दिग्विजय करने के लिए आया हो। कुछ सुन्दर छरहरे शरीर, दो-चार याद रहनेवाले चेहरे, कहीं एक अच्छी मुस्कुराहट या चुभ जानेवाली मुद्रा...वरना सिर्फ़ कपड़े, काले चश्मे और कैमरे! दो-एक चेहरे ऐसे भी दिखाई दे रहे थे जिनकी बदसूरती को शायद घंटों की मेहनत से निखारा गया था। दो अधेड़ व्यक्ति, अपने तरुण मित्रों के समुदाय में खड़े, शोर मचाते हुए लोगों को अपने युवा होने का प्रमाण देने की चेष्टा कर रहे थे। और इस वातावरण में घिरा एक व्यक्ति, जिसकी वेशभूषा से प्रकट था कि वह अमृतसर का लाला है, अपनी पत्नी और बच्चे के साथ एक तरफ़ खड़ा था। वह बहुत सँवार-सँवारकर चाकू से एक सेब के टुकड़े काट रहा था और उनके हाथों में देता जा रहा था। उन लोगों के पास एक दरी, एक सेबों की टोकरी और एक रोटी का डब्बा रखा था।

पहले पुल की तरफ़ से कुछ घोड़ेवाले घोड़ों की लगामें थामे बाज़ार की तरफ़ आ रहे थे। घोड़ों की उजली सजावट के साथ उनके मैले-फटे कपड़ों की तुलना करने से लगता था कि वे घोड़ों के मालिक नहीं, घोड़े उनके मालिक हैं। वे सब आज बहुत धीरे-धीरे उस तरफ़ आ रहे थे, जो कि उनके स्वभाव के विरुद्ध था। अक्सर उनमें जो जल्दबाज़ी रहती थी, वह आज नहीं थी।

घोड़ेवालों के बाज़ार में पहुँचते ही बाज़ार की हलचल पहले से कई गुना बढ़ गई। बहुत-से लोग उन्हें घेरकर रोबीले स्वर में उनसे घोड़ों की माँग करने लगे।

"हतो, पाँच घोड़े लाओ। अच्छे जवान घोड़े चाहिए।"

"हतो, ये दोनों घोड़े हमारे साथ ले आओ, चन्दनबाड़ी चलना है।"

''चल हतो, उधर वे मेम साहब घोड़ा माँग रही हैं।''

ज़्यादातर लोगों को चन्दनबाड़ी के लिए घोड़े लेने थे। पहलगाम आनेवाले सब लोग एक बार चन्दनबाड़ी तक घुड़सवारी अवश्य करते हैं हालाँकि चन्दनबाड़ी में ऐसा कोई ख़ास आकर्षण नहीं है। वह अमरनाथ के रास्ते का एक साधारण-सा पड़ाव है। पर क्योंकि वहाँ जाने का रिवाज है, इसलिए लोग वहाँ जाए बिना अपनी पहलगाम की यात्रा पूरी नहीं समझते।

उस लाला ने भी निश्चिन्तापूर्वक सेब का टुकड़ा चबाते हुए घोड़ेवाले को आदेश दिया, ''तीन घोड़े इधर लाना, भाई! अच्छे बढ़िया घोड़े हों।''

मगर घोड़ेवाले ने जवाब में उपेक्षा-सी दिखलाते हुए कहा, ''तीन घोड़े के बारह रुपए होंगे।''

''सब घोड़े तीन-तीन रुपए में जाते हैं।'' लाला थोड़ा तेज़ होकर बोला। ''हम आज पहली बार नहीं जा रहे हैं।''

यह छोटा-सा झूठ उसकी व्यवहार-बुद्धि ने ही उससे बुलवा दिया, हालाँकि कुछ देर पहले जिस तरह वह एक आदमी से चन्दनबाड़ी के बारे में पूछ रहा था, उससे स्पष्ट था कि वह ज़िन्दगी में पहली बार पहलगाम आया है और शायद पिछली शाम को ही आया है। उसी आदमी से उसे पता चला था कि घोड़ेवाले चन्दनबाड़ी के तीन-तीन रुपए लेते हैं।

''चार रुपए सरकारी रेट है,'' घोड़ेवाले ने घोड़े की ज़ीन ठीक करते हुए कहा, ''चार रुपए से कम में आज कोई घोड़ा नहीं जाएगा।''

''तू जा, अभी पचास घोड़े मिल जाएँगे,'' लाला ने रूखे स्वर में झिड़क दिया और दूसरे घोड़ेवाले को आवाज़ दी।

मगर सब घोड़ेवाले उस दिन चार रुपए ही माँग रहे थे। और लोग भी इसी बात पर उनसे झगड़ रहे थे। वही घोड़ेवाले जो रोज़ तीन-तीन रुपए में चन्दनबाड़ी चलने के लिए लोगों की मिन्नतें किया करते थे, और कई बार दो-दो रुपए में भी जाने को तैयार हो जाते थे, आज किसी से सीधे मुँह बात ही नहीं कर रहे थे। लोग आपस में कह रहे थे कि खुद उन्होंने ही घोड़ेवालों के दिमाग़ आसमान पर चढ़ाए हैं–कि घोड़ेवाले उन्हें ज़रूरतमन्द समझकर ही इतना नखरा दिखा रहे हैं। वे सब फैसला कर लें कि कोई घोड़ा नहीं लेगा तो अभी घोड़ेवाले उनकी खुशामद करने लगेंगे, और दो-दो रुपए में चलने को तैयार हो जाएँगे।

''आज बात क्या है?'' किसी ने एक घोड़ेवाले से पूछा।

''बात कुछ नहीं है, साहब,'' घोड़ेवाले ने उत्तर दिया, ''चार रुपए सरकारी रेट है।''

''पहले भी तो सरकारी रेट चार रुपए था। फिर तुम लोग तीन रुपए क्यों लेते थे?''

"यह तो मर्ज़ी की बात है, साहब," एक जवान घोड़ेवाला बोला, "पहले मर्ज़ी होती थी, ले लेते थे। आज मर्ज़ी नहीं है, नहीं ले रहे।"

पर धीरे-धीरे इधर-उधर की चेहमेगोइयों से पता चल गया कि कल किसी बाबू ने एक घोड़ेवाले को इस बात पर पीट दिया था कि वह चन्दनबाड़ी के तीन के बजाय चार रुपए लेना चाहता था। इसलिए सब घोड़ेवालों ने आज फैसला किया था कि वे चार रुपए से कम में चन्दनबाड़ी नहीं जाएँगे।

"थोड़ी देर इन्तज़ार कीजिए, ये लोग अभी रास्ते पर आ जाएँगे," लाला ने आगे आते हुए कहा, "आज हम इन्हें चार रुपए दे देंगे तो कल को ये पाँच माँगेंगे। जो जायज़ बनता है, वही इन्हें देना चाहिए। थोड़ी देर रुकिए, अभी और घोड़ेवाले आ जाएँगे।"

खालसा होटल का नौकर आवाज़ दे रहा था कि होटल में अठारह घोड़े चाहिए, इसलिए वे सब घोड़ेवाले खालसा होटल की तरफ़ चल दिए। इस पर कुछ लोगों ने तुरन्त परिस्थिति से समझौता कर लिया और चार-चार रुपए में अपने लिए घोड़े ठीक कर लिए। लाला और कुछ दूसरे लोगों ने नाराज़गी ज़ाहिर की कि वे ख़ामख़ाह अपने को घोड़ेवालों के सामने नीचा कर रहे हैं। पर जिन्होंने घोड़े ले लिये थे, वे चुपचाप उन पर सवार होकर चल दिए। लाला के साथ केवल तिरुचिरापल्ली के विद्यार्थी और एक बंगाली परिवार रह गया। लाला कुछ देर उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाता रहा। फिर अपने परिवार के पास आ गया।

क्योंकि उस जगह काफ़ी बकझक हो चुकी थी, इसलिए अपनी पत्नी और बच्चे को साथ लिए पुल की तरफ़ चल दिया। उधर से और बहुत घोड़ेवाले आ रहे थे। उसने उनमें से भी तीन-चार को रोककर पूछा पर हरएक ने चार ही रुपए माँगे। वह कुछ देर आगे जाकर उधर से लौट पड़ा। उसका बच्चा जो सामने से आते हुए घोड़े को उत्सुकता की नज़र से देख लेता था, चलते-चलते ठोकरें खा रहा था। लाला आखिर मन-ही-मन एक फैसला करके सड़क के बीचोबीच खड़ा हो गया। पास से गुज़रते तीन घोड़ों को उसने रोक लिया, और एक घोड़ेवाले से कहा कि वह उसकी पत्नी को घोड़े पर बैठने में मदद दे। दूसरे घोड़े पर उसने बच्चे को बैठा दिया और तीसरे की रकाब में पाँव रखकर इन्तज़ार करने लगा कि घोड़ेवाला आकर उसके शरीर को ऊपर उछाल दे।

"कहाँ चलना है, लाला?" घोड़ेवाले ने उसे सहारा देते हुए पूछ लिया।

"चन्दबाड़ी," कहता हुआ लाला घोड़े पर जमकर बैठ गया।

"चन्दनबाड़ी के चार-चार रुपए लगेंगे।"

लाला ने घोड़े की पीठ पर से एक विजेता की नज़र चारों तरफ़ डाली और घोड़ेवाले की बात को महत्त्व न देकर कहा, "बताओ, लगाम किस तरह पकड़ते हैं?"

घोड़ेवाले ने लगाम उसके हाथ में दे दी। बोला, ''साथ आठ-आठ आने आपको बख्शीश के देने होंगे।

''जो मुनासिब है, दे देंगे,'' लाला ने कहा। ''हम कभी किसी का हक नहीं रखते।'' उसने लगाम को हलका-सा झटका दिया। पर उससे घोड़ा आगे चलने की बजाय पीछे की तरफ़ घूम गया।

''लाला, यह ऐसे नहीं चलेगा,'' घोड़ेवाला हँस दिया। ''तुम पैसे की बात करो, यह अभी दौड़ने लगेगा।''

''तुमसे कह दिया है न कि ठीक पैसे दे देंगे।''

''चार-चार रुपया भाड़ा और आठ-आठ आना बख्शीश।''

''तीन-तीन रुपया भाड़ा और चार-चार आना...!''

''उतर जाओ लाला,'' घोड़ेवाला बीच में ही बोल उठा। ''तीन रुपए में आज कोई घोड़ा नहीं जाएगा।''

''कैसे नहीं जाएगा?'' लाला गुस्से के साथ बोला। ''जब रोज़ जाता है, तो आज भी जाएगा।''

''नहीं जाएगा साहब, आज हरगिज़ नहीं जाएगा।''

''तो हम भी घोड़े से नहीं उतरेंगे। खड़े रहो जितनी देर खड़े रहना है!'' और पंजाबी गालियाँ मिलाकर वह ऐसी हिन्दी बोलने लगा जिसमें केवल भाव ही भाव था, कला का स्पर्श तक नहीं था। तभी न जाने क्या हुआ कि उसकी पत्नी का घोड़ा बिदककर सरपट दौड़ उठा। उस बेचारी ने सँभलने की बहुत कोशिश की, पर कुछ गज़ जाते न जाते उसकी एक ही टाँग ज़ीन पर रह गई, और वह सिर के बल गिरने को हो गई। घोड़ेवाले ने दौड़कर वक़्त पर घोड़े को रोक दिया।

लाला ऐसी हालत में था कि वह बिना घोड़ेवाले की मदद के उतर भी नहीं सकता था। उसने एक पैर रकाब से निकाल लिया था, पर उसे ज़मीन तक पहुँचाने की कोशिश में दूसरा पैर उलझ गया था। घोड़ेवाले ने उसे सहारा देकर उतार दिया। तब तक उसकी पत्नी भी किसी तरह सँभलकर उतर गई थी। लाला ने अब खुद ही बच्चे को भी उतारा और भाषा में फिर अपने उद्गार प्रकट करने लगा। घोड़ेवाले अपनी ज़बान में उसे जवाब देते हुए वहाँ से चले गए क्योंकि दूर से कोई उन्हें हाथ के इशारे से बुला रहा था।

बंगाली परिवार और तिरुचिरापल्ली के विद्यार्थी भी अब घोड़ों पर सवार होकर आ रहे थे। और भी कितने ही ग्रुप चन्दनबाड़ी की तरफ़ जा रहे थे। कुछ युवतियाँ और युवक तेज़ी से घोड़े दौड़ाते पास से निकल गए। बच्चा हैरान-सा खड़ा उन्हें दूर जाते देखता रहा।

लाला की पत्नी ने उससे कहा कि यदि चलना हो, तो उन्हें भी और लोगों की तरह चुपचाप चार-चार रुपये में घोड़े ले लेने चाहिए। लाला ने जैसे बहुत बड़ा

समझौता करते हुए उसकी बात मान ली, और एक घोड़ेवाले को आवाज़ दी कि वह उनके लिए तीन घोड़े ले आए।

मगर घोड़ेवाले ने दूर से ही कहा, ''नहीं साहब, घोड़ा ख़ाली नहीं है।''

पास से निकलता एक और घोड़ेवाला भी यही कहकर चला गया। तीसरे ने यह जवाब देना भी मुनासिब नहीं समझा। आखिर एक घोड़ेवाले ने रुककर पूछ लिया, ''चार रुपया भाड़ा और एक रुपया बख्शीश मिलेगा ?''

''भाड़ा हम तुम्हें रेट के मुताबिक देंगे,'' लाला खिसियाने स्वर में बोला। ''पर बख्शीश हमारी मर्ज़ी पर है।''

''नहीं साहब,'' घोड़ेवाले ने कहा। ''बख्शीश की बात भी पहले तय होनी चाहिए। उधर एक और साहब घोड़ा माँग रहा है। वह एक रुपया बख्शीश देगा।''

इससे पहले कि लाला कुछ निश्चय कर पाता, एक और घोड़ेवाले ने उस घोड़ेवाले को बुला लिया। वह एक यूरोपियन परिवार के लिए सात घोड़े इकट्ठे कर रहा था। लाला ने पत्नी और बच्चों को वहीं छोड़कर पूरे बाज़ार का एक चक्कर लगाया। पर सभी घोड़े तब तक जा चुके थे। तभी अचानक उसकी नज़र एक घोड़ेवाले पर पड़ी जो घोड़ा लिये क्लब की सड़क से बाज़ार की तरफ़ आ रहा था। वह रुककर उसकी राह देखने लगा। घोड़ा और घोड़ेवाला बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। लगता था जैसे दोनों बीमार हों। पास पहुँचने पर लाला ने घोड़ेवाले से पूछा कि वह चन्दनबाड़ी का क्या लेगा।

''चार रुपया,'' घोड़ेवाले ने खाँसते हुए उत्तर दिया।

उसने साथ बख्शीश की माँग नहीं की, इससे लाला के चेहरे पर खुशी की हलकी-सी लहर दौड़ गई। उसने घोड़ेवाले से कहा कि वह जाकर उसके लिए दो घोड़े और ले आए।

''और घोड़ा आप देख लीजिए, मेरे पास एक ही घोड़ा है।'' घोड़ेवाला उसी तरह खाँसता रहा। ''और लेना हो तो बताइए, नहीं तो मैं उधर से एक मेम साहब के बच्चों को घुमाने ले जाऊँगा।''

''तू मेरे साथ रह, अभी दो घोड़े और मिल जाएँगे,'' लाला ने कहा और उसे साथ लिये हुए वहाँ आ गया जहाँ उसकी पत्नी खड़ी थी। वहाँ आकर उसने गर्व के साथ पत्नी को बतलाया कि अब बिना बख्शीश के चार-चार रुपए में घोड़े मिल रहे हैं, और हो सकता है थोड़ी देर में इससे भी कम में मिलने लगें। उसके बाद वह पत्नी और बच्चे को साथ लिए घोड़ों की तलाश में बाज़ार के चक्कर काटने लगा। बच्चा रोटी का डब्बा उठाए था, पत्नी सेबों की टोकरी हाथ में लिये थी और वह खुद दरी बगल में सँभाले था, घोड़ेवाला उनके पीछे-पीछे घोड़े की लगाम थामे खाँसता हुआ चल रहा था। वह बहुत देर बाज़ार में इसी तरह ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटते रहे, पर कहीं उन्हें एक भी और ख़ाली घोड़ा नज़र नहीं आया।

फटा हुआ जूता

टाइमपीस ने अलार्म दिया। राय की नींद टूट गई। उसने चादर टाँगों से उतार फेंकी और बैठकर टाइमपीस आज को चाबी देने लगा। बारह साल पहले तीन रुपए में लिया हुआ वह जापानी टाइमपीस बुढ़ापे में भी बारह घंटे का सफ़र चौदह घंटे में तय कर ही लेता है और सवेरे पाँच बजे का अलार्म पाँच से सात के बीच किसी भी समय उसे जगा दिया करता था।

अभी टाइमपीस में पाँच ही बजे थे, हालाँकि धूप खिड़की से हटकर मेज़ पर से होती हुई उसके बिस्तर की सीमाओं तक पहुँच गई थी। राय ने अन्दाज़े से घड़ी में पौने सात बजाए और उसे खिड़की में कंघे-शीशे के पास रखकर उठ खड़ा हुआ।

खड़े होकर राय ने एक अँगड़ाई ली। फिर उसने गद्दे को गोल किया, उठाया और छज्ज़े पर टीन के ऊपर पटक दिया। उसके बाद उसने मेज़ को दीवार के पास से खींचकर कमरे के बीच कर दिया, कुर्सियों को मेज़ के इधर-उधर लगा दिया और 'एशिया सर्जिकल कम्पनी' का बोर्ड उठाकर बाहर पटक दिया। इस तरह शयनागार को कार्यालय में परिणत करके उसने सामने के औषधालय के चौकीदार से माचिस लेकर सिगरेट सुलगाया और छज्जे पर आकर पिछले घर की जालीदार खिड़की के पास हिलती हुई नारी-मूर्ति को देखने लगा।

राय, अर्थात् दामोदरदास चिन्तामणि राय, उन व्यक्तियों में से था जो ईश्वर की प्रयोगशाला से अकेले ही बनकर आते हैं। उसके दाँत काफ़ी आगे को उभरे हुए थे और आँखें पीछे को धँसी हुई थीं, और उसकी बाँहों और टाँगों में कुछ ऐसे खम पड़ते थे जिनसे किसी भी चीज़ की उपमा नहीं दी जा सकती। उसके कन्धों से मिली हुई गर्दन की रेखाएँ इस बात की गवाही देती थीं कि उसके शरीर में मांस केवल नाम को ही है। वह हाथ हिलाता या होंठों पर ज़बान फेरता या सिगरेट का कश खींचता तो उसमें कुछ अस्वाभाविक-सा लगता था—कुछ ऐसे लगता था जैसे वह व्यक्ति हिलने-डुलने में ही एक तरह का मज़ाक कर रहा हो।

जब सिगरेट उस सीमा तक पिया जा चुका कि और कश खींचने से होंठ जल जाते तो राय ने बाक़ी टुकड़ा फेंक दिया। सिगरेट का टुकड़ा हवा में लकीर खींचता

हुआ नीचे अखबारवाले के अखबार पर गिरा और वहाँ से धक्का खाकर गली में आम के छिल्के के पास जा लेटा।

खिड़की से हटकर राय ने एक लम्बी साँस ली। फिर उसने एक आलमारी के पीछे से तौलिया निकालकर कन्धे पर रख लिया और कमरे से बाहर चला गया।

नहाने, खाना खाने और दो-एक डॉक्टरों की दुकानों के चक्कर लगाने के बाद जब राय अपनी कुर्सी पर आकर बैठा, उस समय साढ़े ग्यारह बज रहे थे। उसने पत्र लिखने के लिए पैड उठाया, पर वह 'डियर सर' से आगे नहीं बढ़ सका। फिर उसने एक फ़ाइल उठाई, पर उसे भी देखने का उसका मन नहीं हुआ, उसकी आँखें दूर की जालीदार खिड़की पर से होती हुई सामने दीवार पर लगे कैलेंडर पर स्थित हो आईं जबकि उसका हाथ स्याहीदान पर पंचिंग मशीन और पंचिंग मशीन पर पेपरवेट रखता और हटाता रहा। फिर उसने कुर्सी की पीठ से टेक लगा ली और छत की कड़ियाँ देखने लगा। एक बार ज़रा-सा खटका हुआ तो उसने चौंककर दरवाज़े की ओर देखा। मगर कोई आहट न पाकर फिर उसी तरह छत की ओर देखने लगा।

प्रतीक्षा करने से उसे बहुत झुंझलाहट होती थी। रोज़ उसे कहीं न कहीं किसी न किसी चीज़ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। सुबह नहाने के लिए जाता तो अक्सर नल सूँ-सूँ की आवाज़ करके रह जाता था और वह तब तक इन्तज़ार करता खड़ा रहता था जब तक कि निचली मंज़िलवाले न नहा चुकें। ढाबे में जाता तो तब तक कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता था जब तक वह बीस मिनट बैठे रहने के अनन्तर उठ जाने की धमकी न दे। बस के क्यू में भी अक्सर वह खड़ा रह जाता था और पीछे से भागकर आनेवाले चढ़ जाते थे। अब दो दिन से यह पोस्टमैन था कि आने का नाम ही नहीं ले रहा था। रात को सपने में उसने कितनी ही बार पोस्टमैन को आते देखा था, पर वह हर बार दूर से ही मुस्कुराकर या सलाम करके चला गया था। राय ने सोते में भी पोस्टमैन को जी भरकर कोसा था और अब भी चाह रहा था कि एक मोटी-सी गाली देकर दिल का गुबार निकाल ले।

— —

मेज़ के नीचे रद्दी की टोकरी के पास उसका जूता पड़ा था जो उसने बाहर से आते ही खोलकर रख दिया था। जूते के मैले सिकुड़े हुए तलुवे तिरछे होकर आधा-आध इंच ऊपर को सरक आए थे। पीछे की दोनों ओर की सीवनें उधड़ रही थीं। उसे याद नहीं था कि यह जूता उसने कब खरीदा था—उसे खरीदे हुए कम से कम अढाई-तीन साल हो चुके थे। जूते के दाँत बहुत पहले ही निकलने लगे थे, पर राय उसे ठोंक-पीटकर लटकाता आ रहा था। कुछ महीने पहले सामने से जूते के होंठ भी खुले गए थे, पर राय ने मोची को चव्वनी देकर उन्हें बन्द करा दिया था, मगर इसके

बाद जब जूते की बगलें शिकायत करने लगीं तो राय को बैठकर गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ा और सोचने का परिणाम यह निकला कि उसे नकद तीस रुपए का पुरस्कार मिल गया।

घिसा हुआ जूता बम्बई की पटरियों पर बहुत सफ़ाई के साथ फिसलता है—और राय का जूता तो फिसलते समय शब्द भी किया करता था। पर यह रोज़-रोज़ की बात उसके लिए उतनी ही स्वाभाविक हो चुकी थी जितनी गुजराती ढाबे की रोटियाँ, पाउडर के दूध की चाय और पारसी लड़कियों की लटकेदार अंग्रेजी। परन्तु जब एक दिन जूते के फिसलने पर एक नोकदार कील जूते के तले में सूराख करके पाँव में आ घुसी, तो पाँव की पीड़ा स्नायुओं में से होती हुई उसके मस्तिष्क में पहुँची और मस्तिष्क के किसी कोने में सोई हुई चिन्तनशक्ति झटका खाकर सहसा जाग उठी।

राय ने सोचा और सोचकर निश्चय किया कि जीना हो तो उसे ठीक से जीना चाहिए। यह अंग-अंग में ऊँघती हुई शिथिलता, यह खाना, सोना और बीतना, बरसों खेली हुई ताश की तरह घिसा हुआ जीवन, यह सब बदलना चाहिए।

निश्चय पर पहुँचकर उसने उपाय सोचना आरम्भ किया। नई नौकरी मिलना असम्भव था। मैट्रिक फेल होने के कारण एशिया सर्जिकल की नौकरी भी बहुत सिफारिश के बाद मिली थी, उसे दो ही काम दिखाई दिए जो बिना किसी तरद्दुद के आसानी से किए जा सकते थे—एक, कहानियाँ लिखना और दूसरे, पहेलियाँ भरना। राय ने एक ही मुहूर्त में दोनों काम आरम्भ कर दिए।

राय की कहानी तो जहाँ गई, वहीं की हो रही—न छपी ही और न लौटकर आई। पर पहेली में किसी तरह उसका तीस रुपए का पुरस्कार निकल आया। राय ने पुरस्कार-विजेताओं की सूची में अपना नाम देखा तो उसे विश्वास हो गया कि उसकी छिपी हुई योग्यता को अपने लिए मार्ग मिल गया है—वह अब पहेलियाँ भरकर अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठा सकता है।

प्रकाशित सूचना के अनुसार पुरस्कार छब्बीस तारीख़ को भेजे जा रहे थे और उस दिन उनतीस तारीख़ थी। राय के लिए एक-एक क्षण काटना भारी हो रहा था। उसकी आँखें छत की दरारों को देखतीं, फिर दीवार पर लगे कैलेंडर की ओर फिर दरवाज़े के चौखट पर स्थिर हो जातीं, जहाँ एक मकड़ी अपने जाले में उलझी हुई कभी नीचे गिरती, फिर ऊपर उठने लगती और फिर नीचे गिर जाती थी।

आखिर जब पोस्टमैन आया तो राय का मन मकड़ी के जाले में इतना उलझा हुआ था कि वह पोस्टमैन को देखकर चौंक गया।

पोस्टमैन के हाथ से रजिस्ट्री का लिफाफा लेते हुए उसका हाथ ज़रा-सा काँप गया। रसीद पर उसके हस्ताक्षर बिगड़ गए। रसीद पोस्टमैन को देकर वह तुरन्त पोस्टमैन के विषय में भूल गया। उसने काँपती उँगलियों से लिफाफे को खोला। अन्दर

से छिपे हुए पत्र के साथ एक गहरे हरे रंग का चेक निकला। राय जल्दी-जल्दी पत्र को आरम्भ से अन्त तक देख गया। कई मोटे-मोटे शब्द उसे समझ नहीं आए। पत्र पढ़ने का जैसे उसने फर्ज पूरा किया और चेक को दोनों हाथों से मेज़ पर फैलाकर देखने लगा।

चेक का कागज़ बहुत चिकना था और उस पर बहुत सुन्दर इबारत में उसका नाम लिखा हुआ था। तीन और शून्य के अंक भी बहुत सधे हुए ढंग से लिखे गए थे, हरे कागज़ पर वह नीली लिखाई बहुत नई और सजीव लग रही थी। राय ने चेक से अपने हाथ हटा लिए। उसके हाथ बहुत मैले और मुरझाए हुए थे। उसके नाख़ून बढ़े हुए थे और उनमें मैल की लकीरें जमा थीं। उसे अपने हाथों पर झुँझलाहट हुई। उसे लगा कि उसके हाथ चेक के हाथ की नीली लिखावट की तरह सुन्दर और सुडौल होने चाहिए—भरे-भरे और कसाव लिए हुए। उसने दो-एक बार मुट्ठियाँ बाँधकर खोलीं और हाथों को मला। पर वे उँगलियाँ वैसी की वैसी ही रहीं—जिनके एक पोर पर न जाने कितनी लकीरें खिंची थीं—जैसे वे कुहरे में ठिकरी हुई उँगलियाँ हों।

राय ने दोनों हाथों की उँगलियाँ उलझाकर हथेलियाँ मिला दीं। उसका ध्यान रद्दी की टोकरी के पास रखे जूते की ओर चला गया। जूते का चमड़ा भी उसकी उँगलियों के चमड़े की तरह सूखा था। बहुत पहले वह चमड़ा शायद किसी हट्टे-कट्टे पशु के शरीर पर था। वहाँ से उतरकर वह भीगा, छिला, कटा, सिला और उसके पैर में आया। पैर में घिसा, फटा, सूखा और बेकार हो गया। मगर उसके हाथ का चमड़ा? वह उसके शरीर पर ही सूख जा रहा था—क्यों?

राय के मन में बगावत का भाव पैदा हुआ—अपने प्रति, उस कमरे की नीची छत और चारों ओर से कसती हुई दीवारों के प्रति, एशिया सर्जिकल की फ़ाइलों और आलमारियों में रखे चीरफाड़ के औज़ारों के प्रति और मालिक से लेकर गुजराती ढाबे के बैरों तक हरएक के प्रति। उसे कुछ क्षणों के लिए तो लगा कि वह अपने सारे वातावरण को तहस-नहस कर देगा, पर फिर उसकी आँखें हर चेक की नीली इबारत पर स्थित हो गईं और तीन और शून्य के हिन्दसे अधिक मांसल होकर उसके सामने उभरने लगे। धीरे-धीरे उन हिन्दसों का अर्थ हो गया दस-दस के तीन नोट, नए या मैले, पर कुछ भी खरीदने में समर्थ। उन नोटों की आकृतियों के नीचे राय का बगावत का भाव दब गया।

ये तीस रुपए बिलकुल उसके अपने थे। हर मास उसे जो वेतन के साठ रुपए मिलते थे, वे कभी उसके अपने नहीं होते थे, उनमें से चालीस-पैंतालीस रुपए तो पहले दिन ही होटल और सिगरेटवाले का बिल चुकाने में चले जाते थे। और इस पर भी अर्से से उसका बकाया चला आ रहा था। बाक़ी रुपए भी तीन-चार दिन से अधिक ज़ेब में नहीं रहते थे, क्योंकि उसकी कितनी इंसानी ज़रूरतें उधार के सिर पर पूरी

होती थीं, और जो लोग देते थे वे महीने के पहले सात दिनों में किसी न किसी तरह सामने पड़ ही जाते थे, मगर वे तीन और शून्य के दोनों हिन्दसे आज उसके अपने थे—वह उनसे कुछ भी कर सकता था, कुछ भी खरीद सकता था। राय ने चेक हाथ में ले लिया और फिर कुर्सी के साथ टेक लगाकर थोड़ा पीछे की ओर झूल गया।

तीस रुपए—नकद तीस रुपए उसके पास थे जिनका वह जैसे चाहे उपयोग कर सकता था। उसने पैरों में फटे हुए जूते के स्थान पर चमकते हुए जूते की कल्पना की। शरीर पर शार्कस्किन की बुश्शर्ट और आर्टलिन की पतलून की कल्पना की। परन्तु तभी उसके वे सूखे हुए हाथ सामने आ गए जिनकी उँगलियाँ बढ़े हुए नाख़ूनों के अनुपात में छोटी प्रतीत होती थीं, और वह विटामीन बी की गोलियों, नारंगियों और मक्खन की टिकियाओं की कल्पना करने लगा। जब ये सब कल्पनाएँ एक-दूसरी में उलझ गईं तो वह फिर कुर्सी सीधी करके मेज़ पर झुक गया और चेक के सुडौल हिन्दसों को देखने लगा।

शाम को जिस समय कुर्सियाँ हटाकर और बिस्तर बिछाकर ताला हाथ में लिये कमरे से बाहर निकला, उस समय तक वह चेक नीचे के इम्पोर्ट-एक्सपोर्टवाले दीनू भाई की सहायता से तीन नोटों में बदल चुका था। ताला लगाकर जब वह नीचे उतरा तो उसके होंठ हलकी-सी मुस्कुराहट से अनायास फैल रहे थे और चुटकी बजाकर सिगरेट की राख झाड़ने में ख़ासी बेपरवाही आ गई थी। चार मंज़िलों की सीढ़ियाँ उतरकर जब वह बाज़ार में आया तो कई क्षण सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचता हुआ खड़ा रहा। कालबादेवी की तरफ़ कई ट्रामें एक-दूसरे के पीछे घिसटती जा रही थीं, और प्रिंसेस स्ट्रीट के मोड़ पर फ्लोरा फाउंटेन को जानेवाली बस आकर रुकी थी। राय के देखते-देखते वह बस चली गई, लेकिन उसके कदम उसकी ओर नहीं बढ़े, हालाँकि वह फ्लोरा फाउंटेन जाने के इरादे से ही निकला था। उसने सिगरेट का आख़िरी कश खींचकर उसके नाख़ून-भर के टुकड़े को पैर के नीचे मसल दिया और पैदल क्राफर्ड मार्केट की तरफ़ जानेवाली पगडंडी पर चल पड़ा।

क्राफर्ड मार्केट से ज़रा पहले ही बाईं ओर वह दुकान थी जिसके शो-केस में रखा सफ़ेद ब्राउन जूता रोज़ उसकी आँखों को बरबस अपनी ओर खींच लिया करता था। जूता आज भी यथास्थान तिरछे कोण से रखा था और उसका टिप बहुत चमक रहा था। राय पल-भर जूते के टिप और गदगदाए हुए फीते को देखता रहा और फिर ज़रा चेष्टा से चेहरे को गम्भीर बनाकर और पतलून की बिगड़ी हुई लकीर को थोड़ी सँवारकर दुकान के अन्दर चला गया।

पहले उसने वह सफ़ेद-ब्राउन जूता ही निकलवाया। उसका चमड़ा बहुत मुलायम था और सोल डेढ़ उँगली मोटा था। राय ने पुराना, जूता उतारकर उसे पाँव में पहन लिया और दुकान के मोटे गलीचे पर चहलकदमी करने लगा। दुकानदार ने जूते का

दाम उनतीस रुपए पन्द्रह आने बतलाया था, राय ने चलते हुए शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखा। सिर पर उसके रूखे बालों की गाँठें-सी बँध रही थीं। कमीज़ का कॉलर दोनों ओर से फट गया था और नीचे का कपड़ा बाहर निकल आया था। पतलून की लकीर को उसने बाहर से आते हुए ठीक करने की चेष्टा की थी, पर उसके समानान्तर एक और लकीर बन गई थी। उसके नीचे पैर में वह उनतीस रुपए पन्द्रह आने का जूता था, जिसका सोल चलते-चलते गलीचे पर से फिसल जाना चाहता था। एक बार उसने एक मन्दिर देखा था जिसके टूटे-फूटे कलश पर किसी ने सोने की झंडी लगवा दी थी। उस मन्दिर का ध्यान आते ही वह शीशे के सामने से हटकर कुर्सी पर आ बैठा। उसके मन ने जल्दी-जल्दी व्यवस्था दी कि तीस रुपए का जूता खरीदना बेकार है—सोलह-सत्रह का कोई गुज़ारे लायक जूता ले लिया जाए, और बाक़ी रुपयों से एक कमीज़ पतलून बनवा ली जाए, वेतन के रुपयों में से पैसे निकालकर कुछ बनवा पाना तो लगभग असम्भव ही था...

दुकानदार उसके अनिश्चय को भाँप रहा था। उसने जूता उसके पैर से उतारकर दो बार हाथ में उछाला और फिर फूँक मारकर कपड़े से पोंछते हुए कहा, ''इसके अलावा आपको और क्या चाहिए?'' और उसने अपने लड़के को आवाज़ दी कि वह जूता बाँध दे।

''अभी ठहरिए,'' राय कुछ अव्यवस्थित होकर बोला, ''दो-एक इससे हलके डिजाइन भी दिखा दीजिए, ज़रा देख लें तो...''

दुकानदार ने दस रुपए से लेकर पचीस रुपए तक के कई जूते उसके सामने खोल दिए। राय ने हरएक को हाथ में लेकर उलट-पलटकर देखा, दो-एक को पैर में पहनकर गलीचे पर चला, परन्तु कोई जूता उसके मन को नहीं जँचा। जब दुकानदार के पास कोई और चीज़ दिखाने लायक नहीं रही तो उसने धीरे से सिर हिला दिया।

''तो वही पहलेवाला ले लीजिए, वही सबसे अच्छा है,'' दुकानदार कहने लगा।

राय ने फिर सिर हिला दिया और पुराना जूता पहनकर उसके फीते बाँधने लगा।

''दूसरी जगह देख लूँ, शायद कोई और चीज़ मिल जाए,'' उसने कहा।

नए जूतों के ढेर में उसका पुराना जूता बहुत ही बदनुमा लग रहा था। अपने तरुण सजातियों में आकर वह जैसे लज्जा से कुंठित हो गया था और कह रहा था कि तुम्हारा अपना तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, पर दूसरे के तो मान-अपमान की कुछ चिन्ता कर लिया करो। राय ने एक फ़ीता ज़ोर से कसा तो वह टूटकर आधा उसके हाथ में आ गया। उसने उसे उँगली में लपेट लिया और बाहर निकल आया।

बाहर आकर उसे कितनी ही चीज़ों का ध्यान आने लगा, जिन्हें उसने समय-समय पर खरीदना चाहा था। ह्वाइटवेज़ में उसने एक बहुत ख़ूबसूरत टेबल लैम्प

देखा था कि जिसका हलका नीला शेड उसे बहुत पसन्द था। आर्मी नेवी स्टोर में एक सफ़ेद पलटे का चाकू रखा था जिसकी धार देखते हुए कुछ दिन हुए उसने अपनी उँगली पर ज़ख्म कर लिया था। फ्लोरा फाउंटेन के फुटपाथ पर दो दिन पहले उसने एक लड़के के पास बहुत अच्छी नेकटाइयाँ देखी थीं। रास्ते में चलते हुए अब कई चीज़ें उसका ध्यान खींच रही थीं। वह सोचने लगा कि वह अपनी चायदानी खरीद ले तो उसकी चार-छह आने रोज़ की बचत हो सकती है, और उसकी टूटी हुई साबुनदानी भी उसके पास ज़रूर होनी चाहिए।

क्राफर्ड मार्केट में एक चक्कर लगाकर वह बोरीबन्दर की तरफ़ चल दिया। बोरीबन्दर के ट्राम-जंक्शन पर आकर वह काफ़ी देर ट्राम की प्रतीक्षा में खड़े लोगों को देखता रहा। उसे एव: व्यक्ति के हाथ में बँधा हुआ घड़ी का जालीदार फ़ीता बहुत पसन्द आया। एक लड़की सफ़ेद डोरेदार रूमाल में नाक साफ़ कर रही थी। राय ने हाथ पतलून की ज़ेब में डालकर अपनी उँगलियों को मसला। उसे मालूम हुआ कि इंसान के पास एक रूमाल का होना भी बहुत ज़रूरी है।

एक ट्राम फ्लोरा फाउंटेन की तरफ़ से आई और आधे से अधिक लोगों को लेकर चली गई। राय ट्राम-स्टैंड से हटकर फ्लोरा फाउंटेन की तरफ़ चल पड़ा। हार्नबी रोड से गुज़रते हुए एक दुकान पर उसे बहुत भीड़ दिखाई दी तो वह अनजाने ही उस भीड़ में सम्मिलित हो गया। अन्दर पहुँचकर उसने देखा कि दुकान तो कपड़े की है, पर अधिकांश लोग बरसातियाँ खरीद रहे हैं। चारों तरफ़ तरह-तरह की बरसातियों के ढेर लगे थे। सेल्ज़मैन बता रहा था कि गवार्डिन की बरसाती का दाम तीस रुपया है, रबड़ की बरसाती का दाम पन्द्रह रुपया है और प्लास्टिक की बरसातियाँ दस-दस रुपए में हैं।

बरसातियों को देखकर राय को ध्यान आया कि आते हुए रास्ते में उस पर हलकी-हलकी बूँदें पड़ रही थीं। दो-तीन दिन पहले एक अच्छी बारिश हो चुकी थी। उसे याद आया कि पिछले साल बारिश में कहीं आने-जाने में उसे कितनी तकलीफ़ होती रही है। कभी उसने एक छाता खरीदा था जो खरीदने के पन्द्रह दिन बाद ही गुम हो गया था। महीना-बीस दिन की बात हो तो आदमी किसी तरह चला भी ले, पर बारिश के पूरे चार महीने बिना बरसाती के निकलना लगभग असम्भव ही था। उसने सोचा कि अगर वह जूते की बजाय आठ-दस रुपए की चप्पल ले ले और कमीज़-पतलून के लिए भी कोई कपड़ा आठ-दस रुपए का मिल जाए तो दस रुपए का बरसाती कोट लिया जा सकता था। उसने प्लास्टिक की बरसाती को हाथ में मसला और कन्धे पर रखकर देखा और उसे रखकर सेल्ज़मैन से कमीज़ों का कपड़ा दिखाने के लिए कहा।

''कैसा कपड़ा चाहिए?'' सेल्ज़मैन ने पूछा।

"कैसा भी हो," कहते हुए राय ने चेष्टापूर्वक अपने दाँतों को होंठों से ढाँप लिया।

"सफ़ेद पापलीन दिखाऊँ?"

राय ने सिर हिला दिया। सेल्ज़मैन ने बढ़िया सफ़ेद पापलीन का थान उसके सामने खोल दिया। राय ने उस कपड़े का वज़न हाथ पर महसूस करते हुए उसका भाव पूछा।

"चार रुपया।"

"चार रुपया गज़!" राय के मुँह से अनायास निकल गया। कह चुकने के अगले क्षण उसे ध्यान आया कि उसके आश्चर्य की ध्वनि कुछ और भी व्यंजित कर गई है।

सेल्ज़मैन ने गहरी नज़र से उसकी ओर देखा। उसकी आँखों से मिलते ही राय की आँखें दूसरी ओर घूम गईं। सेल्ज़मैन के माथे पर बल पड़ गए और उसके दाँत आपस में मिल गए। राय की कमीज़ के फटे हुए कॉलरों पर आँख स्थिर किए हुए उसने होंठ चबाकर कहा, "जी हाँ, चार रुपया गज़।"

राय ने चुपचाप सिर हिलाया। सेल्ज़मैन अब सीधी आँखों से उसकी तरफ़ देख रहा था। राय कपड़े के थान के पास से हटकर फिर प्लास्टिक की बरसाती देखने लगा। बरसाती को छोड़कर उसने एक उड़ती हुई नज़र ऊपर के खानों में रखे छींट के थानों पर डाली और जैसे कुछ विचार करता हुआ बाहर की तरफ़ चल पड़ा। चलते-चलते उसने लक्षित किया कि सेल्ज़मैन थान लपेटता हुआ उसी की तरफ़ देखे जा रहा था। उसने दुकान से उतरते हुए तीनों नोट ज़ेब से निकाल लिए और जैसे कोई कागज़ ढूँढ़ना हो, इस तरह ज़ेब में टटोलकर उन्हें फिर वापस ज़ेब में रख लिया, उसके बाद फिर सेल्ज़मैन से नज़र मिलाकर वह आगे चल पड़ा।

बहुत हलकी-हलकी बूँदें अब भी पड़ रही थीं। अँधेरा हो जाने से चारों तरफ़ सड़कों और दुकानों की बत्तियाँ जगमगाने लगीं थीं। राय फ्लोरा फाउंटेन से आगे निकलकर दाएँ हाथ को मुड़ गया। रास्ते में दो-एक जगह रुककर उसने मोज़े का जोड़ा, मफलर, बिस्कुट का डब्बा, फाउंटेन पेन और सिगरेट-केस जैसी कई छोटी-मोटी चीज़ों के भाव पूछे, परन्तु यह दिक़्क़त हर जगह बनी रही कि जहाँ दाम ठीक थे वहाँ चीज़ अच्छी नहीं थी और जहाँ चीज़ मनपसन्द थी, वहाँ दाम ज़रूरत से ज़्यादा थे। जिस समय वह उस बड़े रेस्तराँ के सामने पहुँचा जिसके अन्दर से रंगीन कुर्सियाँ प्रायः उसे निमन्त्रण देती प्रतीत हुआ करती थीं, तो वह चलते-चलते और सोचते-सोचते काफ़ी थक गया था। बहुत दिनों से उसकी उस रेस्तराँ में बैठकर चाय पीने की इच्छा थी। गले के बटन के पास से कमीज़ को ठीक करता हुआ वह रेस्तराँ के अन्दर चला गया।

रेस्तराँ में उस समय काफ़ी भीड़ थी। एक बैरा आकर उसे एक ख़ाली मेज़ के पास ले गया। राय हरे रंग की बेंत की कुर्सी पर बैठकर वहाँ के वातावरण को चकाचौंध नज़रों से देखने लगा। एक तरफ़ आर्केस्ट्रा बज रहा था और दो-एक जोड़े नाच रहे थे। आसपास बहुत-से लोग शीशे के गिलासों में बियर या ह्विस्की लिये बैठे थे। काली और सफ़ेद वर्दीवाले बैरे व्यवस्थापूर्वक इधर-उधर आ-जा रहे थे। उसके बैरे ने दूसरी जगह से मेन्यू उठाकर उसके सामने ला रखा। राय मेन्यू देखने लगा—उसकी आँखें पहले दाईं ओर छपी कीमतों पर पड़तीं, फिर बाईं ओर छपे नामों पर। बैरा आर्डर लेने के लिए ज़रा झुक गया।

"अभी ठहरो," राय ने मेन्यू पर नज़र गड़ाते हुए कहा और चेष्टापूर्वक होंठ बन्द करके दाँतों को छिपा लिया। बैरा चला गया।

मेन्यू को एक सिरे से दूसरे तक देखकर जब राय ने आँख उठाई तो एक एंग्लो-इंडियन लड़की बाहर से अन्दर आ रही थी। राय की आँखें उसके शरीर पर स्थिर हो रहीं। उसने बिना बाँह का ब्लाउज़ पहन रखा, जिनसे उसका गोरा मांस दूर तक दिखाई दे रहा था। वह उड़ती हुई नज़र चारों तरफ़ डालकर सीधी उसी की मेज़ के पास आ गई तो राय को आश्चर्य हुआ। जब उसने मुलायम स्वर में उससे पूछा, "मैं यहाँ बैठ सकती हूँ?" तो उसने एक बार हड़बड़ाकर इधर-उधर देखा और यह लक्षित करके कि आसपास कहीं जगह ख़ाली नहीं है, कुछ नम्रता, कुछ अभिलाषा और कुछ घबराहट के साथ कहा, "बैठिए।"

वह धन्यवाद देकर पास की कुर्सी पर बैठ गई। राय को उसका बैठने, पर्स खोलने और पर्स में से सिगरेट-केस निकालने का ढंग बहुत आकर्षक लगा। उसकी लम्बी पतली उँगलियाँ बहुत ही सुन्दर थीं।

लड़की ने अपना सिगरेट-केस खोला और एक सिगरेट अपने मुँह में लगाकर सिगरेट-केस राय की ओर बढ़ाते हुए कहा, "सिगरेट लीजिए।"

राय ने धन्यवाद देकर सिगरेट ले लिया। अभ्यासवश उसका हाथ दियासलाई की डिबिया निकालने के लिए पतलून की ज़ेब में चला गया, पर तब तक लड़की ने अपना सिगरेट सुलगाकर लाइटर उसकी तरफ़ बढ़ा दिया।

राय की समझ में नहीं आ रहा था कि उस दयामयी से किस तरह बात करनी चाहिए। बात करने को तो ख़ैर कुछ नहीं था, कुछ भी बात की जा सकती थी, परन्तु बात को शुद्ध अंग्रेजी में कह पाना बहुत बड़ी समस्या थी। वह व्यस्त रहने के लिए लगातार सिगरेट के कश खींचता रहा। कुछ देर बाद लड़की ने आँख ज़रा कुंचित करके मुँह से धुआँ निकालते हुए पूछा, "इस तम्बाकू की गन्ध आपको कैसी लगती है?"

"बहुत अच्छी गंध है," यह वाक्य अंग्रेजी में इतनी आसानी से बन गया कि राय को स्वयं अपनी योग्यता पर आश्चर्य हुआ।

"यह फ्रांसीसी तम्बाकू है," लड़की सिगरेट की राख झाड़ती हुई बोली, "मेरा एक मित्र पेरिस से ये सिगरेट लाया था।"

"बहुत अच्छी गन्ध है," राय ने फिर कहा और आँखों में प्रशंसात्मक भाव लाकर सिर हिलाया। होंठों को ज़रा गोल करके उसने चेष्टा की कि उसके मुँह से भी धुआँ उसी तरह निकले जैसे उस रूपसी के मुँह से निकलता है।

"आप नौकरी करते हैं?" लड़की ने पूछा।

"नहीं, बिज़नेस करता हूँ," यह राय ने इसलिए कह दिया कि अंग्रेजी में यह उससे आसानी से कहा गया।

"किस चीज़ का बिज़नेस?"

"चीड़-फाड़ के औज़ारों का।"

"उसमें तो काफ़ी नफा होता होगा।"

राय ने कहना चाहा कि हाँ गुजारे लायक कुछ हो ही जाता है, पर जल्दी में वह इसका ठीक अनुवाद नहीं सोच पाया, इसलिए उसने कह दिया, "हाँ, काफ़ी हो जाता है।"

दो क्षण चुप्पी के बाद राय ने अपनी ओर से प्रश्न किया, "मैं आपका नाम जान सकता हूँ?"

"जेनी डि'सूजा। और आपका नाम?"

"राय।"

"सिर्फ़ राय?"

"नहीं, दामोदर दास चिन्तामणि राय।"

"डामोडर डास चिंटामोनी राय?" जेनी ने दोहराया। राय को इस रूप में अपने नाम का उच्चारण बहुत अच्छा लगा और उसके होंठ फैलने को हुए, पर दाँतों का ध्यान आ जाने से वह उन्हें संकुचित किए रहा।

"आप भी कहीं काम करती हैं?" उसने दूसरा प्रश्न पूछा।

जेनी उसे बतलाने लगी कि वह एक फर्म में असिस्टेंट के रूप में काम करती है। काम उसके मन का नहीं है, फिर भी पैसे की वजह से उसे करना पड़ता है। शाम को कुछ देर वह सैल्वेशन आर्मी का काम करती है। उसके बाद थकान दूर करने के लिए किसी रेस्तराँ में चली जाती है। वहाँ कभी कोई साथी मिल जाता है तो शाम अच्छी बीत जाती है।

राय की आँखें उसके शरीर की गोलाइयों पर घूम रही थीं। चर्च गेट, रीगल के फुटपाथ और काला घोड़ा के चौराहे पर ऐसी युवतियों को उसने अनेक बार देखा था। उनके पास से गुज़रते हुए शरीर की दबी हुई भूख जैसे अंग-अंग में लहरा जाती थी। परन्तु कभी उसके पास इतने पैसे नहीं हुए थे कि वह उस भूख को शान्त कर

सकता। आज ज़िन्दगी में पहला अवसर था जब कि एक लड़की उसके बगल में बैठी थी, और बैठी ही नहीं थी, उसकी आँखें उससे प्रस्ताव कर रही थीं और उसकी ज़ेब में दस-दस के तीन नोट थे। जिनकी सामर्थ्य से वह उसे पा सकता था...

जेनी की गोरी पिंडलियों से हटकर उसकी आँखें पल-भर उसके हरे रंग के सैंडलों पर टिकी रहीं और वहाँ से उठकर सहसा अपने पाँव में पड़े जूते से टकरा गईं, जो होटल के चिकने फ़र्श पर मटमैले दाग-सा लगता था। जूते के पंजे बीच से बल खाकर थोड़ा-थोड़ा ऊपर को उठ आए थे और मैल से भरी एड़ियाँ कोनों से तीन-चौथाई घिस चुकी थीं। पैरों के पास से ही पतलून के फुँदने निकल रहे थे, जिन्हें काटने के लिए ही उसने कैंची खरीदने की बात सोची थी। राय ने सिगरेट का टुकड़ा एश-ट्रे में डालकर मसल दिया और होंठों को ज़बान फेरकर गीला किया।

बैरा फिर उसके पास जाकर थोड़ा झुक गया। उसकी आँखें जेनी की आँखों से मिलीं।

''मेरे लिए जिन के साथ जिंजर,'' जेनी ने कोमल स्वर में कहा।

''इनके लिए ज़िन के साथ जिंजर,'' राय ने दोहराया।

"और?" बैरा उसी तरह झुका रहा।

''और अभी ठहर जाओ...'' और वह फिर झुककर मेन्यू देखने लगा। बैरा चला गया।

जेनी ने दूसरा सिगरेट सुलगाकर सिगरेट-केस उसकी ओर बढ़ाया तो उसने धन्यवाद देकर मना कर दिया। जेनी के मुँह से हलका नीला धुआँ बहता हुआ-सा निकलता और कुछ देर हवा में लचककर विलीन हो जाता। राय के हाथ के पसीने से मेज़ का शीशा कुछ गँदला हो गया था। उसने हथेली के कोने से उसे साफ़ किया और हटा लिया। बैरा जिन और जिंजर लाकर जेनी के सामने रख गया। जेनी छोटे-छोटे घूँट भरने लगी।

आर्केस्ट्रा पर नाच की धुन बजनी आरम्भ हुई तो जेनी ने फिर उसकी ओर देखा और पूछा, ''आप नाचना पसन्द करेंगे?''

''मैं नाचना नहीं जानता,'' राय ने एक हाथ की हथेली की उँगलियों को दूसरे हाथ से मसलते हुए उत्तर दिया, उसकी आँखें झुककर फिर जूते पर जा टिकीं। आसपास बहुत-लोग नाचने के लिए उठ रहे थे। पास की एक टेबल से एक नवयुवक ने जेनी के पास आकर उससे नाचने का प्रस्ताव किया। जेनी गिलास उसी तरह छोड़कर उठ खड़ी हुई और उसके साथ नाचने लगी। दूर से उसके शरीर की लचक राय को और भी आकर्षक लगी। नाचती हुई एक बार उसकी तरफ़ देखकर मुस्कुराई तो राय के मस्तिष्क में भँवर-सा घूम गया। उसने तीनों नोटों को ज़ेब से निकालकर देखकर और दूसरी ज़ेब में रख लिया। उसे कुछ गर्मी महसूस हो रही थी। उसने ऊपर

छत के पंखे को देखा और उसे लगा कि वह बहुत धीमी गति से चल रहा है। उसका मन हुआ कि बैरे को बुलाकर उससे पंखा तेज़ करने को कहे, पर बैरे का ध्यान आते ही उसे मेन्यू का ध्यान हो आया। सामने जेनी का जिन का गिलास रखा था जिसमें से दो-चार घूँट ही भरे गए थे। लोगों के नाचने के लिए उठ जाने से आसपास आधी से अधिक कुर्सियाँ ख़ाली हो गई थीं। सामने दरवाज़े की जाली में से बाहर फुटपाथ की हलकी-हलकी झलक दिखाई दे रही थी। मेज़ का शीशा उसकी बाँह के पसीने से फिर गँदला हो गया था। आर्केस्ट्रा की धुन तेज़ हो गई थी, लेकिन छत पर पंखा बहुत धीमे-धीमे चल रहा था। बाईं ओर लगी घड़ी ने जल्दी-जल्दी आठ बजा दिए। राय सहसा जैसे चौंककर उठ खड़ा हुआ और दरवाज़े की ओर चल दिया।

जालीदार दरवाज़े से निकलकर जब वह फुटपाथ पर पहुँचा तो यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हलकी-हलकी बूँदें अब भी पड़ रही हैं। फुटपाथ गीला होकर और भी चिकना हो गया था। उसने पीछे की ओर देखा। जालीदार दरवाज़ा बन्द था। अन्दर पड़ी रंगीन कुर्सियों पर एक नज़र डालकर वह वहाँ से चल पड़ा। फ्लोरा फाउंटेन के पास से ट्राम की पटरी पार करते हुए उसका पाँव फिसल गया और बहुत बड़ी मुश्किल से गिरने से बचा। परन्तु फिसलने से दायें पैर के जूते का मुँह आगे से खुल गया और वह बोलने लगा—तपत् तपत् तपत्...

राय एक-एक करके उन सब दुकानों के पास से गुज़र गया जिनमें आते हुए वह एक दूसरी चीज़ का भाव पूछने के लिए रुका था। जूते की दुकान के बाहर शो-केस में रखे सफ़ेद-ब्राउन जूते के पास से तो वह जैसे आँख चुराकर आगे निकला। किन्तु प्रिंसेस स्ट्रीट के मोड़ पर पहुँच वह भौंचक-सा होकर पटरियों और ट्रामों को देखने लगा।

सामने थोड़ी दूर पर वह इमारत थी जिसकी चौथी मंजिल पर उसका कमरा था। उससे पहले बाईं ओर वह ढाबा था जहाँ वह रोटी खाया करता था। उसने मन-ही-मन हिसाब किया कि ढाबेवाले के उसकी ओर पुराने हिसाब में तेईस-चौबीस रुपए के लगभग निकलते हैं। ढाबे के पास ही पनवाड़ी की दुकान थी जिसके नौ रुपए में से इस बार कुल पाँच रुपए ही चुकाए गए थे। इसके अतिरिक्त कुछ पैसे बिसाती के रहते थे। और पन्द्रह रुपए नकद उधार के थे, जो उसने चार महीने पहले तुलुजा से लिये थे। तुलुजा पिछले सप्ताह ही उससे अपने पैसों के लिए तकाज़ा कर रहा था।

राय के कदम ढाबे की ओर चढ़ गए। वहाँ से खना खाकर और पानवाले से कैंची की डिबिया लेकर वह अपने कमरे में आ गया। कमरे में आकर उसने मेज़ और कुर्सियों को कोने की तरफ़ हटा दिया और छज्जे से लगकर गद्दा फ़र्श पर बिछा दिया। तीनों नोट उसने ज़ेब से निकालकर तकिए के नीचे रख दिए और जूता उतारकर गद्दे पर लेट गया। हवा बन्द हो गई थी और कमरे में बहुत उमस हो रही

थी। उसने उठकर बत्ती बन्द कर दी तो भी सामने के घर की खिड़की से रोशनी उसके कमरे में आती रही। रोशनी उमस को और बढ़ा रही थी, जिससे उसकी तबीयत बेचैन हो रही थी। सामने की अलमारी में चीर-फाड़ के औज़ार चमक रहे थे। उधर कोने में मैले कपड़े गोल किए थे जो सब-के-सब जर्जर हालत में थे। कमरे में उन कपड़ों की वजह से, या वैसे ही एक गन्ध-सी बस गई थी और सामने फ़र्श पर उसका फटा हुआ जूता रखा था, जिसकी पिछली सीवनें पहले से ज़्यादा उधड़ी हुई मालूम होती थीं।

राय कई क्षण जूते की घिसी हुई एड़ियों और उधड़ी हुई सीवनों को देखता रहा। फिर उसने आखें मूँद लीं और वे सब चीज़ें एक-एक करके उसके सामने आने लगीं जिन्हें वह थोड़ी देर पहले बहुत पास से देखकर आया। सफ़ेद-ब्राउन जूता, बरसाती कोट, मोजा, सिगरेट-केस, रंगीन कुर्सियाँ और...और जेनी डि'सूजा, जिसकी उँगलियाँ बहुत पतली थीं और जिसके होंठों में से निकलता हुआ नीला धुआँ बहुत ख़ूबसूरत मालूम होता था...।

उसने आँखें खोलीं तो वे उधड़ी हुई सीवनें और घिसी हुई एड़ियाँ ही सामने थीं। उसने करवट बदलकर जूते की ओर पीठ कर ली और हाथ तकिए के नीचे नोटों तक पहुँचाकर आँख धीरे-धीरे फिर मूँद लीं और सब चीज़ों के बारे में नए सिरे से सोचने लगा...।

भूखे

पहली बार उस महिला को मैंने शिमले की मालरोड पर देखा था।

तब वह शिमले में नई ही आई थी। शिमले में नए आनेवाले लोग, यदि उनमें कुछ भी विशेषता हो, तो बहुत जल्दी पहचाने जाते हैं, और मेरे दोस्त सतीश जैसे लोग चार-छह दिनों में उसकी आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का पूरा ब्योरा भी ढूँढ़ निकालते हैं। सतीश यह सब पता किस प्रकार पा लेता था यह मैं नहीं कह सकता, अलबत्ता इतना ज़रूर है कि उसकी बात कभी गलत नहीं निकलती थी। इसीलिए हम उसे चलता-फिरता एन्साइक्लो-पीडिया कहा करते थे। जिस समय हमने उस महिला को पहली बार देखा उसी समय मैंने सोच लिया था कि सतीश ज़रूर उसकी खोज-ख़बर निकालेगा। वह सुन्दर तो थी ही पर उससे भी बड़ी बात यह थी कि भारतीय न होने पर भी उसके शरीर पर सलवार-कमीज़ बहुत खिल रही थी। वैसे तो मालरोड पर कोई-न-कोई अंग्रेज़ या एंग्लो-इंडियन लड़की गाहे-बगाहे सलवार-कमीज़ पहने नज़र आ जाती थी, पर अक्सर उसके शरीर पर वे वस्त्र पराए-से लगते थे। शायद उनके कन्धों की बनावट ज़रा भिन्न होती है या शायद उनका बाँहें हिलाने का अन्दाज़ ज़रा और-सा होता है। पर वह उन वस्त्रों में उसी स्वाभाविक ढंग से चल रही थी जैसे पंजाबी लड़कियाँ चलती हैं। उसकी उम्र तीस-बत्तीस वर्ष के लगभग होगी पर उसका शरीर ज़रा भी नहीं ढला था और पहली नज़र में तो वह बीस-बाईस वर्ष की ही प्रतीत होती थी। उसकी आँखें नीली थीं और बाल घुँघराले और सुनहरे थे। उसका पाँच-छह वर्ष का बच्चा उसके साथ था जो खूब गोरा-चिट्टा था और लाल और सफ़ेद ऊन के वस्त्रों में और भी सुन्दर लगता था। वह माँ से अंग्रेज़ी में पूछ रहा था, ''ममी, शिमला कौन-सी जगह का नाम है?'' और वह उसे समझा रही थी कि वह सारा शहर ही शिमला है, उनके घर से बहुत आगे तक।

''यह सड़क भी शिमला है?''

''हाँ, यह भी शिमला है।''

''और यह बर्फ़वाला पहाड़ भी?''

''नहीं, वह शिमला नहीं है।''

"वह शिमला क्यों नहीं है?"

और वह उसे समझाने लगी कि वह पहाड़ वहाँ से बहुत दूर है और शिमला का विस्तार उतनी दूर तक नहीं है।

"खूब चीज़ है!" उसके पास से निकल जाने पर सतीश ने कहा।

और मुझे उसी समय निश्चय हो गया कि सतीश उसका इतिहास जानने में ज़रूर दिलचस्पी लेगा।

और सचमुच एक दिन बाद रिज से ऊपर 'दो पैसा बेंच' पर बैठे हुए उसने मुझे उसका पूरा इतिहास सुना दिया।

लगभग सात वर्ष पहले सत्यपाल नामक एक पंजाबी युवक, जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट से चित्रकला में डिप्लोमा लेकर, आगे और विशेष अध्ययन करने के उद्देश्य से, अपने मित्रों से डेढ़ हज़ार रुपया लेकर फ्रांस चला गया था। वहाँ रहकर छह महीने उसने किसी तरह निकाल लिए, परन्तु उसके बाद गुज़ारा करना कठिन हो गया तो वह काम करके कुछ पैसे बनाने के इरादे से इंगलैंड चला आया। वहाँ वह एक जूता बनाने के कारखाने में कुछ दिन चमड़ा साफ़ करने का काम करता रहा। वहाँ काम करते हुए ही उसका एवलीन बार्कर से परिचय हुआ जो कारखाने के एक क्लर्क फ्रेंड बार्कर की चचेरी बहन थी और कभी-कभी उससे मिलने आया करती थी। फ्रेंड बार्कर को भी चित्रकला का थोड़ा शौक था और वह उसे अपने पेंसिल के खाके दिखाने के लिए आया करती थी। सत्यपाल के बनाए हुए कुछ खाके और चित्र देखने के बाद वह अपने खाके उसके पास भी ले जाने लगी और धीरे-धीरे उनका परिचय प्रेम में बदल गया और उन्होंने विवाह कर लिया। एवलीन के पास अपनी चार सौ पौंड की पूँजी थी। उन्होंने निश्चय किया कि उस पूँजी की सहायता से साल-भर फ्रांस में रहकर, सत्यपाल अपना अध्ययन पूरा कर ले, फिर वे भारत में जाकर रहेंगे। साल-भर बाद जब वे भारत पहुँचे तो एवलीन एक बच्चे की माँ बन चुकी थी। भारत आकर उन लोगों को एक नई आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ा। सत्यपाल का ख़याल था कि वह बम्बई में अपना छोटा-सा स्टुडियो बना लेगा, पर बम्बई में बग़ैर अच्छी पगड़ी दिए जगह मिलना असम्भव था। वह अकेला होता तो चार-छह महीने इधर-उधर धक्के खा लेता, पर एवलीन और बच्चे के साथ होने से उसके लिए तुरन्त आय का कोई-न-कोई ज़रिया पा लेना आवश्यक था। बम्बई में रहकर वह ज़्यादा-से-ज़्यादा किसी कमर्शियल स्टूडियो में नौकरी कर सकता था, जो उसे पसन्द नहीं था। पर क्योंकि और कोई चारा नहीं था, इसलिए उसने वही काम आरम्भ कर दिया और तीन साढ़े तीन साल उस चक्कर में फँसा रहा। इस बीच उसने कई दूसरे चित्र भी बनाए जिन्हें चित्रकारों के सर्किल में काफ़ी पसन्द किया गया, पर ऊँची कीमत के समझे जाने पर भी उसके चित्र उसके लिए आय

का ज़रिया नहीं बन सके। अन्त में वह बम्बई से दिल्ली चला आया और छह-आठ महीने वहाँ भटकता रहा। लगातार चिन्ता और संघर्ष के कारण उसका स्वास्थ्य काफ़ी गिर गया था और तभी एक डाक्टर से उसे पता चला कि उसे टी.बी. हो गई है।

एवलीन अपना सबकुछ बेच-बाचकर उसे शिमले ले आई थी। हालाँकि पहाड़ पर रहकर भी उसके रोगमुक्त हो जाने की आशा नहीं थी, फिर भी वह उसे अपने पास एकान्त में रखना चाहती थी। उसने समरहिल में एक छोटा-सा खस्ताहाल घर किराए पर लिया था। वह खुद घर की सफ़ाई करती थी, खाना बनाती थी, अस्पताल से दवाई लाती थी और एक ओर पति की और दूसरी ओर बच्चे की देखभाल करती थी। बच्चे को पति से दूर रखने के लिए उसे जो चेष्टा करनी पड़ी थी वह कई बार उसे रुला देती थी। पर वह यथासम्भव आत्मवश रहकर बच्चे को टहलाने भी ले आती थी और उसे गुब्बारे भी खरीद देती थी।

कहानी पूरी करने तक सतीश काफ़ी भावुक हो गया। उसने सामने दूर की पहाड़ियों पर दृष्टि गड़ाए हुए कहा, ''इसे प्यार कहते हैं दोस्त! है न एक मिसाल?... फिर लोग कहते हैं कि ज़िन्दगी में पैसा ही सबकुछ है। क्या चीज़ है पैसा? इंसान की भूख पैसे से नहीं मिटती, प्यार से मिटती है।''

और वह आँखें मूँदकर सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा।

कुछ दिन बाद मैंने एक होटल में छह-सात तैलचित्र लगे हुए देखे जिनके साथ यह नोटिस लगा था कि वे बिकाऊ हैं। साथ पूछताछ के लिए एवलीन कपूर का समरहिल पता दिया हुआ था।

दिन के दस-ग्यारह बजे का समय था जबकि होटलों में प्रायः सभी सीटें ख़ाली होती हैं। उस समय सारे हाल में मैं अकेला ही था। होटल की शीशेवाली खिड़कियों से छनकर धूप उस चित्र पर आकर पड़ रही थी। उन चित्रों में धूमिल से लाल और मटमैले रंग का विशेष प्रयोग किया गया था। मैं काफ़ी देर तक उन चित्रों को देखता रहा। मुझे चित्रों की ज़्यादा समझ नहीं है, फिर भी मेरे हृदय पर उनका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा जैसे कोई मेरी ओर देखकर दीवानावार प्रलाप कर रहा हो। एक चित्र का शीर्षक था 'गिद्ध'। उसमें गिद्धों की आँखें कुछ ऐसी थीं जैसे वह दुनिया की हर चीज़ का मज़ाक उड़ा रही हों और चोंचें कुछ इस तरह खुली थीं जैसे वह हर चीज़ को निगल जाना चाहती हों। चोंचों और पंजों पर पुराने जमे हुए लहू के निशान थे। वह एक ऐसा चित्र था जिसे देखकर लेने को मन होता था और आँखें हटा लेने पर फिर देखने की कामना होती थी। 'दाता' शीर्षक चित्र भी कुछ ऐसा ही था। उसमें एक हड्डियों का ढाँचा एक ठूँठ के नीचे बैठा हाथ का ख़ाली कटोरा शून्य की ओर उठाए था। वे ऐसे चित्र थे जो डरावनी छायाओं की तरह दिमाग़ में घर कर जाते थे। मैं

होटल के मैनेजर के पास जाकर उससे पूछ आया, उन चित्रों में से कोई बिका भी है या नहीं!

"इन भूतों की तस्वीरों को कौन खरीदेगा?" उसने बिल-बुक खोलकर पेंसिल से बिल बनाते हुए कहा, "मैंने उस औरत का दिल रखने के लिए यहाँ पर लगा दी थीं, अब चार-छह दिन में उतारकर भेज दूँगा।"

"कोई तुम्हारे पास कीमत पूछने के लिए भी नहीं आया?" मैंने उससे पूछा।

"कीमत तो लोग शौकिया पूछ लेते हैं," वह बोला, "पर किसी का दिमाग़ बिगड़ा है कि हज़ार-हज़ार रुपया देकर इन तस्वीरों को खरीदेगा? मैं तो कहता हूँ कि कोई दस-दस रुपए में भी खरीदने को तैयार हो जाए, तो बहुत मेहरबानी करेगा। मगर वह जाने इन्हें क्या समझती है?"

"कितने दिन हो गए इन तस्वीरों को यहाँ लगे हुए?"

"चौदह-पन्द्रह दिन हो गए हैं।"

"इतने दिनों में कोई भी उससे बात करने नहीं आया?"

"अरे यार," वह होंठों को ज़रा सिकोड़कर बोला, "बात करने के लिए तो पचास आदमी जाते हैं मगर उनका बात करने का मकसद तस्वीरें खरीदना थोड़े ही होता है? वे तो इसलिए जाते हैं कि दस मिनट बात का लुत्फ़ ले लें।...तुम भी हो आओ। पहले तो तीन-चार दिन वह खुद ही यहाँ आती रही है, मगर अब नहीं आती। समरहिल से दिन में दो-दो बार यहाँ तक पैदल आती थी और पैदल वापस जाती थी। एक सरदार तो उस पर बुरी तरह रीझ गया था।" और वह बिल मेरी ओर बढ़ाता हुआ दाँत निकालकर मुस्कुरा दिया।

दूसरी बार जब मैंने उसे देखा तब उसके पति की मृत्यु हो चुकी थी।

लोअर बाज़ार के आरम्भ में ही तीन-चार ढाबे हैं जिनमें मज़दूर, छोटे-मोटे दुकानदार और दफ़्तरों के बाबू रोटी खाते हैं। उन्हीं में से एक ढाबे में एक रात खाना खा रहा था, जब वह बच्चे की उँगली पकड़े हुए ढाबे के पास से निकलकर आगे चली गई। बच्चा चलता हुआ किसी चीज़ की ज़िद कर रहा था और वह मनाने की कोशिश कर रही थी। थोड़ी देर बाद वह लौटकर आई और इस बार ढाबे के सामने रुक गई। बच्चा उसका हाथ पकड़कर उसे ढाबे की ओर खींचने लगा। होटल के लाला, नौकरों और वहाँ बैठकर खाना खानेवाले सब लोगों की नज़रें उस पर केन्द्रित हो गईं। उसने क्षण-भर दुविधा में इधर-उधर देखा और फिर बच्चे को साथ लिये हुए ढाबे के अन्दर आ गई। अन्दर बैठे हुए लोग आँखों ही आँखों में एक-दूसरे की ओर इशारा करके मुस्कुराए। एक सरकारी दफ़्तर का क्लर्क स्वर के साथ उँगलियाँ चाटने लगा। एक नौकर के हाथ से दाल की कटोरी गिर गई। वह बच्चे को लिये हुए कोने में बने हुए लकड़ी के केबिन में गई और महीनों का मैला पर्दा उसने आगे खींच

लिया। नौकर उधर आर्डर लेने जाने लगा तो लाला ने उसे इशारे से रोक दिया और स्वयं उठकर आर्डर लेने पहुँच गया। पीछे से एक बाबू ने फबती कसी, "हम भी बैठे हैं सूद साहब!"

लाला आर्डर लेकर मुस्कुराता हुआ अपनी गद्दी पर लौट आया और नौकर से बोला कि अन्दर एक आलू की टिकिया दे आए।

लोगों की बातचीत प्रायः बन्द हो गई थी और ख़ामोशी से खाना खाया जा रहा था। लोगों की आँखें, नासिकाएँ और होंठ मुस्कुरा रहे थे। जो बातें कही नहीं जा सकती थीं उनका चटखारा लोग इशारों में ले रहे थे। नौकर जब आलू की टिकिया प्लेट में डालकर अन्दर ले गया तो सहसा अन्दर से बच्चे के रुआँसे स्वर में चिल्लाने का शब्द सुनाई दिया।

"मैं अंडे खाऊँगा, मैं अंडे खाऊँगा।"

"मैं तुझे अंडे खिलाऊँगी, ज़रूर खिलाऊँगी," उसकी माँ का संयत स्वर सुनाई दिया, "पर इस समय नहीं, फिर कभी आएँगे।"

"मैं अभी खाऊँगा!" बच्चा फिर उसी तरह रोया।

"तुझसे कहा अभी नहीं," माँ बोली, "मैं तुझे रोज़ अंडे खिलाया करूँगी, थोड़े दिन ठहर जा।"

बाहर ख़ामोशी और गहरी हो गई थी। इशारेबाज़ी भी बन्द हो गई थी। लोगों के चेहरे पर हलका खिसियानापन दिखाई दे रहा था।

"रोज़ नहीं खाऊँगा, सिर्फ़ आज ही खाऊँगा!" बच्चा मचल रहा था।

"आज तुम टिकिया खाओगे! खाओ!"

"नहीं, मैं सिर्फ़ टिकिया नहीं खाऊँगा।"

लाला अपनी जगह से फिर उठा और प्लेट में दो उबले हुए अंडे रखकर अन्दर ले चला। लोगों की दृष्टियों का भाव फिर बदल गया और एक आदमी थोड़ा खाँस दिया।

"यह बच्चे को दे दीजिए," उसने अन्दर जाकर कहा।

"आपसे किसने लाने को कहा है?"

"कहा तो किसी ने नहीं, ये मैं अपनी तरफ़ से...।"

"इन्हें वापस ले जाइए।"

वह बुदबुदाता हुआ वापस लौट आया।

एक आवाज़ सुनाई दी, "सूद साहब, अंडे घर की मुर्गियों के हैं या बाज़ार की?"

लाला ने एक बार आग्नेय दृष्टि से कहनेवाले की ओर देखा और फिर हिसाब की कापी के पन्ने पलटने लगा।

अन्दर से बच्चे के सुबकने का स्वर सुनाई दे रहा था।

"तू यह खाएगा या नहीं?" माँ ने उससे तीखे स्वर में पूछा।

बच्चा कुछ उत्तर न देकर सुबकता रहा।

"तो उठ चल यहाँ से।" उसने और भी सख़्त स्वर में कहा, और बच्चे को लगभग घसीटती हुई बाहर निकल आई।

उसके बाहर आने पर मैंने उसे गौर से देखा। वह पहले से काफ़ी बदली हुई थी। उसकी नीली आँखों के नीचे हलके-हलके काले दायरे बन गए थे। उसके होंठों पर पपड़ियाँ जम रही थीं और गालों पर खुश्क सफ़ेदी झलक आई थी। यद्यपि उसके शरीर का कसाव पहले जैसा ही था, फिर भी चेहरे पर प्रौढ़ता आ गई थी। पंजाबी वस्त्र उस समय उसके शरीर पर उतने स्वाभाविक नहीं लग रहे थे। उसका बच्चा भी पहले से कुछ दुबला हो गया था और उसके होंठ लगातार रोनेवाले बच्चे के-से लग रहे थे। उसके नरम बाल सिर पर उलझ रहे थे और पलकों में दो आँसुओं की दो बूँदें अटकी हुई थीं। वह केबिन के बाहर आते ही तेज़ी से अपना हाथ झटककर माँ से पहले ढाबे के बाहर चला गया। एवलीन ने गद्दी के पास रुककर पैसों के विषय में पूछा तो लाला ने त्योरी चढ़ाए हुए उत्तर दिया, "चार आने!"

वह जानती थी कि एक टिकिया के उसे दो आने चाहिए, इसलिए उसने तीखी नज़र से लाला को देखा मगर बिना कुछ कहे दो दुअन्नियाँ उसकी गद्दी पर फेंककर बाहर चली गई।

"आज रेट बढ़ा दिए हैं सूद साहब?" उसके चले जाने पर एक आवाज़ सुनाई दी।

"बड़ा दिमाग़ दिखा रही थी," लाला सब खानेवालों को लक्षित करके बोला, "अब सारा दिमाग़ निकल गया कि नहीं?"

और फिर सबकुछ पहले की तरह चलने लगा—बातें, कहकहे और दाल-सब्ज़ी के लिए ज़ोर-ज़ोर की पुकार। थोड़ी देर के लिए जो विराम आया था उसने लोगों की भूख और बढ़ा दी थी क्योंकि तन्दूर में रोटी लगानेवाला बहुत फुर्ती करता हुआ भी लोगों की माँग पूरी नहीं कर पाया।

तीसरी बार मैंने उसे काफ़ी दिनों में देखा।

सतीश और मैं शाम को बालरूम की तरफ़ जा रहे थे। महीने के पहले सप्ताह में हम लोग एकाध बार यह ऐयाशी कर लिया करते थे। हमें खुद नाचना नहीं आता था और न ही वहाँ हमारा किन्हीं लोगों से परिचय था। मगर अपने लिए इतना ही बहुत था कि कोने में बैठकर वहाँ नाचती हुई आकृतियों को देख लेते थे। सतीश उनमें से कइयों के इतिहास भी सुनाया करता था। शिमले की प्रायः सभी सोसायटी गर्ल्ज़ वहाँ आती थीं। उनका मेकअप और उनकी मुस्कुराहटें दूर से बहुत सुन्दर लगती थीं। वहाँ मित्रता के नाम पर वे सौदे आसानी से हो जाते थे जिन्हें सरेआम करना अपराध था।

वह हमें बालरूम से थोड़ी दूर कच्चे रास्ते पर दिखाई दी। वह अपने बच्चे को साथ लिये इलीज़ियम होटल की तरफ़ से आ रही थी। उसने साधारण छींट का फ्राक पहन रखा था। उसके बच्चे ने वही लाल और सफ़ेद ऊन के कपड़े पहन रखे थे जो अब मैले हो रहे थे। वह बच्चे की उँगली पकड़े ऐसी सूनी नज़र से सामने देखती चल रही थी जैसे उसे आसपास किसी वस्तु की स्थिति का आभास ही न हो। उसे देखकर मेरे हृदय पर उस समय कुछ वैसे ही छाप पड़ी जैसी कि उसके पति के बनाए हुए चित्रों को देखकर पड़ी थी। उसके चेहरे के सौन्दर्य में विशेष अन्तर नहीं आया था। परन्तु चेहरे का भाव इतना बदल रहा था कि मैं उसे शिमले में न देखकर और कहीं देखता तो शायद पहचान भी नहीं पाता। वह जैसे स्वाभाविक रूप से एक व्यंग्याकृति में बदल गई थी।

सड़क के मोड़ के पास आकर मूँगफलीवाले के पास रुक गई। वह दो पैसे निकालकर मूँगफलीवाले को देने लगी तो बच्चे ने उसका हाथ पकड़कर मचलकर कहा, ''नहीं, मैं नहीं लूँगा।''

उसने बच्चे की ठुड्डी को छूकर उसे पुचकारा और कहा, ''तू मेरा कितना अच्छा बेटा है! ममी की हर बात मानता है। देख न कितनी अच्छी मूँगफली है!''

''नहीं मैं यह नहीं खाऊँगा,'' लड़का हठ पकड़कर बोला, ''मै कबाब खाऊँगा, मैं आलू की टिकिया खाऊँगा।''

''नहीं बेटे,'' वह फिर समझाती हुई बोली, ''ममी की तू इतनी बात नहीं मानता? मैं तुझे आलू की टिकिया भी खिलाऊँगी, सबकुछ खिलाऊँगी मगर कुछ दिन ठहर जा। समझा न? इस वक़्त तू यह मूँगफली ले ले, बहुत अच्छी भुनी हुई मूँगफली हैं।''

''नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊँगा। कुछ नहीं खाऊँगा!'' लड़का और अधिक मचलकर उसका हाथ छोड़कर आगे-आगे चल दिया। वह क्षण-भर मूँगफली के पास रुकी रही। फिर वह भी चल दी।

''इसके पास इसके पति की बनाई हुई बहुत-सी तस्वीरें हैं,'' सतीश मुझसे बोला।

''मुझे पता है!'' मैंने कहा।

''यह समझती है कि किसी दिन वे तस्वीरें अच्छी कीमत पर बिक जाएँगी। यहाँ अक्सर लोग इससे तस्वीर खरीदने की बात करते हैं, मगर फिर आपस में इसका मज़ाक उड़ाते हैं। असल में वे चाहते कुछ और ही हैं।''

''मुझे पता है!'' मैंने कहा।

हम सब लोग बालरूम के सामने पहुँच गए थे। बालरूम की खिड़कियों से छनकर आती हुई रोशनी बहुत सुन्दर लग रही थी। ऊपर से आर्केस्ट्रा की मीठी धुन सुनाई दे रही थी। बालरूम के समाज की दो सुन्दर लड़कियाँ चहकती हुई बालरूम की सीढ़ियाँ चढ़ रही थीं।

एवलीन का लड़का सड़क पर मुँह फैलाए खड़ा था। एवलीन ने एक नज़र ऊपर जाती हुई लड़कियों पर डाली और बालरूम की रोशनी से चमकती हुई पर्देदार खिड़कियों पर से फिसलती हुई उसकी दृष्टि हमसे मिली, फिर बच्चे के कन्धे पर हाथ रखकर पुचकारती हुई वह आगे चल दी।

सीढ़ियों पर चढ़ते हुए हमने तालियों का शब्द सुना। शायद तभी कोई धुन बजकर समाप्त हुई थी।

छोटी-सी चीज़

यह नन्हे यशवीर के जीवन में एक ऐतिहासिक परिवर्तन था कि उसे अपने मैदानी शहर से छह हज़ार फुट ऊँचे पहाड़ पर ले आया गया और घर के एक-तार जीवन से निकालकर राबर्ट्सन पब्लिक स्कूल के खुले अपरिचित वातावरण में छोड़ दिया गया।

स्कूल में देखने और सीखने की कई चीज़ें थीं। पहली चीज़ जो उसने सीखी, वह थी हर काले गाउनवाले मास्टर को देखकर हाथ पीठ-पीछे करके कहना, 'गुड आफ्टरनून, सर!' जब शब्द उसने ठीक से ज़बान पर चढ़ा लिये, तो उसे लगा कि उसने जो सीखा है गलत है क्योंकि और लड़के अब 'गुड आफ्टरनून' नहीं 'गुड ईवनिंग' कह रहे थे। उसने अपने को सुधारा और अब उन नए शब्दों को कहने का अभ्यास करने लगा।

शब्द उसने अच्छी तरह रट लिए। रात को हाउस-मास्टर मिस्टर बर्टन ने उसके पलंग के पास आकर उसे थपथपाया, तो अपने होनहार होने का परिचय देने के लिए उसने उत्साह के साथ कहा, "गुड ईवनिंग, सर!" कमरे के और लड़के इस पर हँस दिए, तो उसे लगा कि शायद इस बार जो चीज़ उसने सीखी है, वह गलत है। उसे ठीक चीज़ भी आती है, यह बताने के लिए उसने अपने को सुधारकर फिर कहा, "गुड आफ्टरनून, सर!" मगर लड़के इस पर भी हँस दिए, तो उसने शर्मिन्दा होकर सिर-मुँह कम्बल में ढाँप लिया। मिस्टर बर्टन ने उसके मुँह पर से कम्बल हटाकर उसके गाल पर हलकी-सी चपत लगाई और दूसरे लड़कों से अंग्रेजी में कुछ कहकर कमरे से चले गए।

सवेरे उठने पर यशवीर ने निश्चय किया कि बिना पूरी जानकारी हासिल किए वह कोई भी बात मुँह से नहीं निकालेगा। वहाँ के खान-पान को लेकर भी उसके मन में कई तरह की शंकाएँ थीं। खाने की मेज़ के पास खड़े होकर एक मास्टर के कहे कुछ शब्द सुनना, 'आमेन' कहना और फिर खाने बैठना—यह सबकुछ उसने कल भी देखा था और उसे बहुत अजीब लगा था। प्लेट के तीन तरफ़ काँटे, छुरियाँ और चम्मच रखने का रहस्य भी उसकी समझ में नहीं आया था। यह भी नहीं कि चावल

चम्मच से खाने की जगह सब लोग काँटे से क्यों खा रहे हैं। सुबह नाश्ते के वक़्त भी उसने वे तीनों चीज़ें उसी तरह रखी देखीं, तो इस नतीजे पर पहुँचा कि शायद वे इस बात का संकेत देने के लिए हैं कि प्लेट को उतनी ही सीमा में रखना चाहिए। वरना दूध-दलिए के साथ उन चीज़ों का किसी भी तरह का सीधा सम्बन्ध उसकी समझ से बाहर था।

मगर थोड़ी देर में जब अंडे-टोस्ट की प्लेट सामने आ गई तो यह समस्या सुलझ गई। उसे बताया गया कि वह सब उसे भी हाथ से नहीं, छुरी-काँटे से खाना होगा। कल उसे किसी ने इसके लिए नहीं टोका था। उसने थोड़ी देर उन दोनों औज़ारों के साथ संघर्ष करने के बाद उन्हें वापस अपनी प्लेट के दाएँ रख दिया और कुछ देर चुपचाप अंडों की फैली हुई ज़र्दी को देखता बैठा रहा। तभी एक बैरा आकर वह बिस्कुटों का डब्बा उसके सामने रख गया जो उसकी बीवी-बाऊजी जाते समय उसके लिए मिस्टर बर्टन को दे गए थे। डब्बा खोलकर उसने दो बिस्कुट उसमें से निकाले, डब्बे के पतले कागज़ को ठीक किया और बिस्कुट प्लेट में रखकर आसपास देखा कि कहीं वे भी तो उसे छुरी-काँटे से नहीं खाने पड़ेंगे। तभी उसके साथ बैठे लड़के ने अपने जैम के डब्बे से चम्मच-भर जैम निकालकर उसके बिस्कुटों पर लगा दिया और कहा, ''इसके साथ खाओ।''

यशवीर ने कुछ संशय और सन्देह के साथ लड़के की तरफ़ देखा। फिर अपने दो बिस्कुटों में से एक उठाकर उस लड़के की तरफ़ बढ़ा दिया और कहा, ''तुम मेरा एक बिस्कुट ले लो।''

''मुझे नहीं चाहिए,'' लड़का उपेक्षा के साथ बोला और अपने टोस्ट पर जैम लगाकर खाता रहा। यशवीर को बुरा लगा कि अपना जैम तो उसने बिना पूछे उसे दे दिया और उसका बिस्कुट वह कहने पर भी नहीं ले रहा। उसने एक बिस्कुट उठाकर जबर्दस्ती उस लड़के की प्लेट में रख दिया।

''मुझे नहीं चाहिए,'' उस लड़के ने बिना उसकी तरफ़ देखे फिर सरसरी तौर पर कहा।

''तुमने मुझे अपना जैम क्यों दिया था?'' यशवीर शिकायत-भरी चुनौती के स्वर में बोला और अपनी प्लेट उसने सरका ली जिससे वह लड़का बिस्कुट वापस उसकी प्लेट में न रख दे।

उस लड़के ने अब कुछ नहीं कहा। अपना टोस्ट खाकर वह जैम का डब्बा लिये हुए उठा और दूसरी टेबल के एक बड़े लड़के के पास जाकर थोड़ा जैम उसे दे आया। यशवीर के मन में ईर्ष्या भर आई। उसने अपना बिस्कुटों का डब्बा उठाया और उसी लड़के के पास जाकर बोला, ''इसमें से एक बिस्कुट ले लो।''

''मुझे नहीं चाहिए,'' उस लड़के ने भी उसी उपेक्षा के साथ कहा।

"एक ले लो," यशवीर ने अनुरोध किया। बिना बिस्कुट दिए लौट जाने में उसकी हार थी।

उस लड़के ने डब्बे में हाथ डालने से पहले डब्बे का पतला कागज़ आधा फाड़ दिया। यशवीर ने किसी तरह अपने पर काबू पाकर उसकी यह हिमाकत सह ली। फिर हाथ डालकर उस लड़के ने पूरे डब्बे का हुलिया बिगाड़ दिया। जब उसका हाथ बाहर निकला, तो उसमें पाँच-छह बिस्कुट थे। अपने बिस्कुटों के साथ यह ज़्यादती यशवीर से सही नहीं गई। उसने झट-से उस लड़के का हाथ पकड़ लिया और रुआँसे स्वर में खीझकर कहा, "इतने नहीं, एक।"

"एक?" उस लड़के ने आँख चढ़ाकर यशवीर को देखा।

यशवीर ने सिर हिलाया और बह आती नाक को अन्दर से सुड़क लिया।

उस लड़के ने अपने हाथ को ज़रा-सा भींचा और सारे बिस्कुट चूरा करके वापस डब्बे में डाल दिए। साथ कहा, "जाओ।"

यशवीर किसी तरह आँसू रोकता हुआ अपनी जगह पर लौट आया।

नाश्ते के बाद भी उसे कितनी ही देर रुलाई आती रही और वह कोशिश से अपने आँसुओं को रोकता रहा। जिस समय इंस्पेक्शन की घंटी बजी, यह अभी तैयार नहीं हुआ था। और कपड़े जैसे उसे बताया गया था, वैसे उसने पहन लिये थे, पर टाई उससे नहीं बँध रही थी। गाँठ तो किसी तरह उसने कस ली थी, पर नीचे का हिस्सा ऊपर के हिस्से से काफ़ी बड़ा निकल आया था। टाई को ठीक करते-करते अचानक उसका ध्यान अपने पैरों की तरफ़ चला गया। मोज़ा उसने अभी एक ही पहना था और जूते के अभी दोनों पैर पहनने रहते थे। टाई को छोड़कर वह दूसरा मोज़ा पहनने के लिए झुका ही था कि मिस्टर बर्टन इंस्पेक्शन करते हुए उसके पास आ पहुँचे। उन्हें देखते ही वह अपने प्रीफ़ेक्ट की हिदायत के मुताबिक हाथ पीठ-पीछे करके इंस्पेक्शन के लिए तैयार हो गया। अपनी पतलून के खुले बटनों की तरफ़ उसका ध्यान अकड़कर खड़े होने के बाद गया। इससे वह इतना सकपका गया कि मिस्टर बर्टन से 'गुड मार्निंग, सर' कहना भी भूल गया। हालाँकि ये शब्द उसने बहुत विश्वास के साथ रटे थे और निश्चय कर लिया था कि दिन के बारह बजे तक उनका प्रयोग किया जा सकता है।

मिस्टर बर्टन ने रुककर उसे सिर से पैर तक देखा और उससे शाम को पाँच बजे अपनी स्टडी में आने को कहकर आगे चले गए। एक दूसरे लड़के से उन्होंने कह दिया कि वह उसे उनका स्टडी का कमरा दिखा दे।

गिरजे में जाने से पहले उसे वह कमरा दिखाया गया, तो उसने डरते-डरते पूछ लिया, "वहाँ क्या होता है?"

"मिस्टर बर्टन से स्टिक मिलती है," उस लड़के ने उसके कान में फुसफुसा दिया।

कुछ मिलता है, यह जानकर यशवीर को थोड़ी तसल्ली हुई। वह चीज़ क्या है, यह जानने के लिए उसने पूछ लिया, "स्टिक क्या होती है?"

"बेंत की छड़ी," उसे उत्तर मिला।

यशवीर को अपने पिता की छड़ी की याद आई जिससे उसे कभी खेलने नहीं दिया जाता था। "हर लड़के को एक मिलती है?" उसने यह सोचते हुए पूछा कि छड़ी मिलने पर वह उसे लेकर किस तरह चला करेगा।

इस पर जब उसे बताया गया कि छड़ी मिलने का अर्थ है मिस्टर बर्टन के सामने झुककर जिस्म के पिछले हिस्से पर उसकी मार लेना, तो उसके शरीर में कँपकँपी दौड़ गई।

"फिर क्या होता है?" उसने पूरी जानकारी हासिल कर लेने के लिए पूछा।

"कुछ नहीं। 'थैंक यू, सर' कहकर चले आते हैं।"

"थैंक यू, सर!" यशवीर अब इन शब्दों का अभ्यास करने लगा। पीछे से मार खाने की बात उसे भूल गई और वही शब्द रह-रहकर उसकी ज़बान पर उभरने लगे, "थैंक यू, सर! थैंक यू, सर! थैंक यू, सर!"

डिंग डांग डिंग डांग—गिरजे की घंटियाँ बजने लगीं। अन्दर पहुँचने तक लाइन में चलता हुआ वह लगातार इन शब्दों को दोहराता रहा।

गिरजे में प्रार्थना शुरू हुई।

यशवीर को प्रार्थना के शब्द नहीं आते थे। शब्दों की लय ऐसी थी कि उसका मन हो रहा था कि उस लय के साथ-साथ पीछे की तरफ़ टाँगें हिलाए मगर यह सोचकर कि ऐसा करने से कहीं ईश्वर नाराज न हो जाए, वह अपनी टाँगों पर काबू पाए रहा।

आसपास सब लड़कों को प्रार्थना के शब्द आते थे। सबने आँखों पर हाथ रख रखे थे। यशवीर को आश्चर्य हो रहा था कि सबके मुँह से वे शब्द एकसाथ कैसे निकल आते हैं। न किसी का कोई शब्द पीछे रहता था न आगे। फिर आँखों पर हाथ रखने की ऐसी क्या बात थी? और ईश्वर वहाँ कहाँ था! सामने रखी मोमबत्तियों के बीचोबीच सफ़ेद चोगेवाले पादरी के पीछे? लड़कों की देखादेखी उसने भी आँखों पर हाथ रख लिए थे, पर उँगलियों के सूराखों से वह चोरी-चोरी सब देख रहा था। एक बार हाथ ज़्यादा खुल गए तो उसने झट-से उन्हें पूरा बन्द कर लिया कि कहीं ईश्वर उसे ऐसा करते देख न ले।

लंच के वक़्त मिस और मास्टर भी उनके साथ खाना खाने बैठे। अब फिर वही मुसीबत सामने थी। रोटी को छुरी से काटना था और मटर के दानों को काँटे से पकड़ना था। उसने छुरी-काँटा हाथों में ले तो लिया पर सुबह की तरह अब भी कोई हल उसे न मिला कि उसका इस्तेमाल किस तरह से किया जाए। छुरी का तीखा सिरा

रोटी पर लाकर उसने नीचे को दबाया पर इससे रोटी नहीं कटी। फिर काँटे को घुमा-फिराकर कई तरह से मटर के दानों को पकड़ने की कोशिश की, मगर एक भी दाना उसकी पकड़ में नहीं आया। उधर से हारकर उसने फिर छुरी को रोटी पर रखा और अपना पूरा ज़ोर डालकर उसे नीचे को दबाया। उधर काँटेवाले हाथ ने तरकारी वाली बड़ी प्लेट पर भी उतना ही ज़ोर डाल दिया। इधर से रोटीवाली प्लेट उछली, उधर से तरकारीवाली प्लेट औंधी होकर उसके घुटनों पर आ रही। पल-भर के लिए सारे हाल में छुरी-काँटों की आवाज़ रुक गई। हलके विराम के बाद, लोगों ने मुस्कुराते हुए फिर खाना शुरू कर दिया। एक मिस उठकर उसके पास चली आई। यशवीर की आँखें मिस्टर बर्टन की तरफ़ मुड़ गईं। वे मेज़ के सिरे पर बैठे स्थिर आँखों से उसे देख रहे थे। उनसे आँख मिलते ही यशवीर की ज़बान पर फिर वही शब्द दौड़ लगाने लगे, ''थैंक यू, सर! थैंक यू, सर! थैंक यू, सर!''

मिस उसे साथ बाहर ले जाकर उसके कपड़े धुला लाई। लौटकर वह उसके पास बैठकर उसे छुरी-काँटे से खाना खाना सिखाने लगी। मगर यशवीर अपने छुरी-काँटे के अनुभव से कुछ इतना घबरा गया कि वह अपनी भूख से एक-तिहाई भी खाना नहीं खा पाया।

पाँच बज गए। यशवीर ने कई-कई बार दोहराकर अच्छी तरह अपनी परीक्षा कर ली थी कि 'थैंक यू, सर!' उस अच्छी तरह याद हो गया है। उसके मन में था कि सुबह से अब तक तो उससे भूलें होती जा रही हैं, मगर इस बार 'थैंक यू, सर!' कहने में बिलकुल भूल नहीं होनी चाहिए। जब वह मिस्टर बर्टन की स्टडी में पहुँचा, तो मन में बिलकुल तैयार था कि कब झुकने और बेंत खाने की प्रक्रिया समाप्त हो और कब वह झट-से कहे, ''थैंक यू, सर!''

मगर मिस्टर बर्टन ने न तो उससे झुकने को कहा और न ही अपनी स्टिक कोने से उठाई। सिर्फ़ इतना पूछकर कि उसे स्कूल कैसा लग रहा है, उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरा और दो टाफियाँ उसे देकर कहा, ''जा, छोटी-सी चीज़! सब आ जाएगा तुझे। उदास होने की कोई बात नहीं।''

यशवीर ने एक बार स्टिक की तरफ़ देखा, एक बार मिस्टर बर्टन की तरफ़ और स्टडी से बाहर निकल आया। मन में उसे अफसोस हो रहा था कि दिन-भर 'थैंक यू, सर!' रटने के बाद भी वे शब्द कहने का मौका उसे नहीं मिला। उसे लग रहा था कि दूसरा मौका आने तक ज़रूर उसे ये शब्द भूल जाएँगे। एकाएक रुककर उसने मिस्टर बर्टन की स्टडी की तरफ़ मुँह किया और ऊँची आवाज़ में कहा, ''थैंक यू, सर!' और तेज़ी से वहाँ से भाग खड़ा हुआ। अब गलत चीज़ कह आने का एहसास तो उसके मन में था, पर साथ ही यह आशा भी थी कि मिस्टर बर्टन उसे फिर अपनी ओर स्टडी में बुलाएँगे और शायद दो टाफियाँ उसे और मिल जाएँगी।

जानवर और जानवर (1958)

काला रोज़गार (रोज़गार)

वह दुबली-सी लड़की साधना रेस्तराँ के बाहर टैक्सी से उतरी, और अन्दर जाकर कोने की मेज़ के पास बैठ गई।

साधना रेस्तराँ, निस्सन्देह, किसी कवि-मस्तिष्क की उपज है। वहाँ के किवाड़ पुरानी आबनूस की लकड़ी के हैं, जिनका निर्माण-काल सत्रहवीं शताब्दी है। अन्दर खाने-बैठने की मेज़ों के पीछे बुक-स्टाल है। दाईं तरफ़ एक प्लेटफार्म है, जहाँ कोई बड़ी पार्टी हो तो डिनर की मेज़ें लगा दी जाती हैं, वरना चार-पाँच शतरंज की मेज़ें बिछी रहती हैं, सफ़ेद बालोंवाले कई बुज़ुर्ग वहाँ बैठे मोहरों की साधना में लीन रहते हैं। रेस्तराँ में कोई ज़ोर से बात करे, या कहकहा लगाए, तो सहसा उन बुज़ुर्गों की भौंहें तन जाती हैं, और चेहरे इस तरह सिकुड़ जाते हैं जैसे उन्हें सख़्त चोट पहुँचाई गई हो। यूँ प्रायः रेस्तराँ में सर्द ख़ामोशी छाई रहती है, और केवल छुरी-काँटों और मोहरों के चलने की आवाज़ ही सुनाई देती है। वहाँ बैठकर खेलनेवालों को मौन साधना का कुछ ऐसा अभ्यास है कि बाज़ी का अन्तिम मोहरा चलते हुए वे मुँह से बात तक नहीं कहते।

वह लड़की मेज़ पर कुहनियाँ रखे, सीधी नज़र से प्लेटफार्म की तरफ़ देखती रही, उसकी नज़र में एक जड़ता थी, जैसे उसके लिए काठ के मोहरों और उन्हें चलानेवाले हाथों में विशेष अन्तर न हो। बैरा कॉफी और सैंडविच लाकर उसके सामने रख गया तो वह सैंडविच के ज़रा-ज़रा-से टुकड़े दाँतों से काटकर धीरे-धीरे चबाने लगी ऐसे, जैसे उस काम में काफ़ी मेहनत पड़ती हो। प्याली में कॉफी उँडेलकर वह देर तक उसे चम्मच से हिलाती रही, फिर हलके-हलके घूँट भरने लगी। उसकी आँखें प्लेटफार्म से हटतीं, तो दीवार पर स्थिर हो रहतीं। बीच-बीच में वह सतर्क नज़र से इधर-उधर देख लेती। कॉफी समाप्त करके उसने आँख के इशारे से बिल मँगवाया और सवा रुपया तश्तरी में डालकर उठ खड़ी हुई।

फुटपाथ पर आकर वह भटकी हुई मुद्रा में कुछ क्षण इधर-उधर देखती रही। रूखे-मुरझाए चेहरों का एक जुलूस फ्लोरा फाउंटेन की तरफ़ जा रहा था, दूसरा उस तरफ़ से आ रहा था। स्त्री और पुरुष के भेद से रहित प्रायः एक से चेहरे—हैट, कोट,

फ्रॉक, स्कर्ट और कॉलर। बस पकड़नेवालों के लम्बे-लम्बे क्यू धीरे-धीरे आगे को सरक रहे थे। घंटियों की टन्-टन् और इंजनों की घबराहट के बीच कई-कई आकृतियाँ जल्दी-जल्दी सड़क पार कर रही थीं। कई एक पहिए, एक-दूसरे के पीछे घूमते हमवार सड़क पर फिसलते जाते थे। लड़की ने दो-एक बार होंठों पर ज़बान फेरी और एडवर्ड्स होटल की तरफ़ मुड़ गई।

एडवर्ड्स होटल और साधना रेस्तराँ के बीच सिर्फ़ एक गली का फासला है, जो अक्सर वीरान पड़ी रहती है। गली में घूमते ही लिफ्टमैन रहमान ड्योढ़ी में कुर्सी डाले बैठा नज़र आता है। लिफ्ट हफ्ते में चार दिन ख़राब रहती है, इसलिए ज़्यादातर उसे अपनी मूँछों पर हाथ फेरते रहने के सिवा कोई काम नहीं होता। लड़की ड्योढ़ी के पास पहुँची, तो रहमान उसे सलाम करने के लिए नहीं उठा। मूँछ के कोने को उँगली और अँगूठे के बीच मसलते हुए उसने उसे तिरछी आँख से देखा, और वह ज़ीने का पहला मोड़ मुड़ गई, तो पहले की तरह गली के शून्य को गम्भीर दृष्टि से देखने लगा।

लड़की अँधेरे में रास्ता टटोलकर कदम रखती हुई सीढ़ियाँ चढ़ती गई। रूबी एंड कम्पनी, दिनशा ब्रदर्स और मोटर पार्ट्स प्राइवेट लिमिटेड के दफ़्तरों के पास से गुज़रकर वह चौथी मंज़िल पर पहुँची। उसकी आँखें फीरोजी शीशे में जड़े मैले अक्षरों से टकराईं–राइट्स ऑफ एडमिशन रिज़र्व्ड। पल-भर साँस लेकर उसने अन्दर पोर्टिको में कदम रखा, जिसमें एक टूटा सोफा सेट, एक पैबन्द-लगी दरी, एक तिपाई पर कुछ कुर्सियाँ लगाकर मिसेज़ एडवर्ड्स ने ड्राइंग-रूम का नाम दे रखा था। लड़की के अन्दर पहुँचते ही वहाँ बैठकर अखबार पढ़ते तीन-चार लोगों की आँखें उसकी तरफ़ उठ गईं। दो-एक भौंहों पर सवालिया निशान उभर आए।

लड़की ने छह नम्बर कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। कुछ क्षणों में दरवाज़ा खुला और वह अन्दर चली गई। दरवाज़ा बन्द हो गया।

ड्राइंग-रूम में कानाफूसी होने लगी।

"कौन है यह?"

"उसकी बहन है।"

"उस हरामी की...?"

"हाँ, उसकी बड़ी बहन है।"

"सगी बहन?"

"सुना यही है कि सगी बहन है।"

"और इनके माँ-बाप?"

"माँ-बाप का पता नहीं है। यह बहन ही कभी-कभी यहाँ आती है।"

"वैसे यह रहती कहाँ है?"

"यह भी ठीक पता नहीं है।...सुना है यह टैक्सी है...।"

कुछ होंठों पर मुस्कुराहटें फैल गईं। आवाज़ और धीमी हो गई।

"यूँ तो काफ़ी दुबली-सी है।"

"पर कट अच्छा है।"

"वैसे उम्र भी ज़्यादा नहीं है। बाईस-तेईस साल की होगी।"

"अट्ठाईस-तीस का तो वही लगता है।"

"पर वह अभी इक्कीस का भी नहीं है। अन्दर से खोखला हो चुका है, इसलिए बड़ा लगता है।"

"वह तो कुछ करता-धरता नहीं। दिन-रात यहीं पड़ा रहता है।"

"साले की बहन जो कमाती है।"

इस पर मुस्कुराहटें और लम्बी हो गईं।

थोड़ी देर में छह नम्बर का दरवाज़ा खुला और वह लड़की और उसका भाई साथ-साथ बाहर निकले। लड़की ने मिसेज़ एडवर्ड्स के कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। मिसेज़ एडवर्ड्स, जिसके पतले चेहरे की सब लकीरें ठोड़ी की तरफ़ जाती हैं, माथे पर दो स्थाई बल डाले बाहर निकली।

"यू मिस दारूवाला...?"

"येस् मिसेज़ एडवर्ड्स।"

मिसेज़ एडवर्ड्स के जबड़े सख़्त हो गए। उसने दोनों को अपने कमरे में दाखिल करके दरवाज़ा बन्द कर लिया।

"मैं कहती हूँ इस बार तुम अपने भाई को साथ ही लेती जाओ," उसने काँपते हाथों से अपने लिए कुर्सी खींचते हुए कहा, "यह और यहाँ रहेगा, तो एक दिन मैं ही अपना होटल छोड़कर चली जाऊँगी।"

लड़की सामने की कुर्सी पर बैठ गई। उसका भाई खड़ा रहा।

"मैं तुम्हारा बिल देने आई हूँ," उसने कहा।

"तुम मेरा आज तक का बिल अदा कर दो, और इसे यहाँ से ले जाओ।"

लड़की की आँखों में नमी उभर आई। उसका भाई मुस्कुराता रहा।

"इसे हँसी आ रही है!" मिसेज़ एडवर्ड्स तेज़ आँखों से उसे देखती हुई बोली, "अपनी करतूतों पर इसे शरम नहीं आती।"

"मैं पैसे देकर यहाँ रहता हूँ, मुफ़्त में नहीं रहता।" लड़के का चेहरा अकड़ गया, और गर्दन कुछ बाहर को फैल आई।

"तू पैसे देता है?" मिसेज़ एडवर्ड्स रजिस्टर खोलकर गुस्से में उसके पन्ने उलटने लगी। कमाकर पैसे देता, तो तेरे होश-हवास दुरुस्त रहते। तूने तो ज़िन्दगी में एक ही काम सीखा है, और वह है खाना और पड़े रहना।"

"जैसे तुम्हारे यहाँ का खाना किसी से खाया जा सकता है!"

मिसेज़ एडवर्ड्स की आँखों से चिनगारियाँ फूटने लगीं।

"तो कौन कहता है तुझसे खाने के लिए? क्यों नहीं आज ही छोड़कर चला जाता?"

वह रसीद-बुक में लगाने के लिए कार्बन ढूँढ़ने लगी, पर अपनी उत्तेजना में कार्बन उसे मिला नहीं। कार्बन रजिस्टर के नीचे दब गया था। लड़की ने वह निकालकर उसके सामने कर दिया।

"इसकी किसी बात का बुरा क्यों मानती हो मिसेज़ एडवर्ड्स?" उसने मुलायम स्वर में कहा, "तुम्हें पता है, यह बीमार है।"

"यह बीमार है—यह?" मिसेज़ एडवर्ड्स पेंसिल को दबा-दबाकर रसीद में संख्याएँ भरने लगी। "मैं तुमसे ठीक कहती हूँ मिस दारूवाला, इसकी बीमारी-ईमारी सब बहाना है। यह घोड़े की तरह तन्दुरुस्त है, और घोड़े की तरह ही खाता है।"

"जो कुछ तुम्हारे यहाँ बनता है, वह घोड़ा ही खा सकता है, आदमी नहीं।"

मिसेज़ एडवर्ड्स बहुत अधिक उत्तेजित होने के बाद हताशा की एक साँस लेकर ठंडी पड़ गई। लड़की ने नोट गिनकर उसके सामने रख दिए। उसने रसीद फाड़कर दे दी।

"सुन रही हो इसकी बात?" वह फरियादी की तरह बोली, "अगर यह तुम्हारा भाई न हो, तो मैं इसे एक दिन भी यहाँ न रहने दूँ। इसी वक़्त इसका बोरिया-बिस्तर सड़क पर पहुँचवा दूँ।"

उसने नोट उठा लिए और दो बार गिनकर ज़ेब में डाल लिए।

"इसे सुबह एक प्याली दूध और दे दिया करो," लड़की ने उठते हुए कहा। "मैं उसके पैसे अलग से दे दिया करूँगी।"

मिसेज़ एडवर्ड्स ने तिरस्कार-भरी नज़र से उसके भाई की तरफ़ देखा।

"न जाने किस खुशक़िस्मती से परमात्मा ने तुझे ऐसी बहन दी है, जमशेद दारूवाला!" वह बोली, "तू कतई ऐसी बहन का भाई होने के लायक नहीं।"

जमशेद दारूवाला ने कन्धा मोड़कर नाटकीय ढंग से अपना रुख बदल लिया।

"मुझसे दोपहर के वक़्त रोज़ ठंडा गोश्त नहीं खाया जाता," वह बहन की आँखों में देखता हुआ बोला, "इससे कह दो कि मेरे लिए यह उस वक़्त तरीवाला गोश्त... ।"

"मैं तरीवाला गोश्त नहीं दे सकती।" मिसेज़ एडवर्ड्स ने ज़ोर से रजिस्टर बन्द कर दिया, "मैंने एक बार नहीं, दस बार तुमसे कह दिया है, और अब रोज़ इस बारे में बक-झक नहीं करना चाहती। पाँच रुपए आठ आने रोज़ में बम्बई का जो दूसरा होटल तुझे कमरा और चार वक़्त का खाना दे सकता हो, वहाँ चला जा। इसे यह चाहिए, वह चाहिए। मैंने कह दिया है, मैं एफोर्ड नहीं कर सकती—तरीवाला गोश्त...!"

"और यह मेरे आमलेट में टमाटर नहीं डालती।"

"यही बहुत है कि मैं तुझे रोज़ दो अंडे का आमलेट दे देती हूँ। इससे ज़्यादा मैं कुछ नहीं कर सकती।"

लड़की चुपचाप उठ खड़ी हुई, और मिसेज़ एडवर्ड्स से 'बाई बाई' कहकर बाहर निकल आई। उसका भाई कुर्सी को पीठ से पकड़े पल-भर खड़ा रहा, फिर कन्धे हिलाकर वह भी बाहर चला आया। लड़की ज़ीने की तरफ़ मुड़ गई तो वह ड्राइंग-रूम के सोफे पर बिखर गया।

"आज तुम्हारा जोड़ का दर्द कैसा है?" किसी ने उससे पूछा।

"जैसा रोज़ रहता है," उसने होंठ सिकोड़कर कहा, "रॉटन!"

मिसेज़ एडवर्ड्स अन्दर कुर्सी पर बैठी देर तक बड़बड़ाती रही।

यह शुरू अक्टूबर की बात थी। उसके बाद नवम्बर के अन्त तक छह-सात हफ्ते वह लड़की नहीं आई। वैसे वह हर आठवें-दसवें रोज़ आकर अपने भाई से मिल जाती थी, और उसका बिल चुका जाती थी। इतना लम्बा वक्फ़ा पड़ जाने से बिल के साथ-साथ मिसेज़ एडवर्ड्स के गुस्से का मवाद भी बरदाश्त की हद को पार करने लगा। वह रोज़ जमशेद से पूछती कि उसे अपनी बहन की कुछ खबर है या नहीं। जमशेद एक ही जवाब देता कि उसकी बहन जहन्नुम में चली गई है, और जल्द ही वह भी वहाँ जानेवाला है। मिसेज़ एडवर्ड्स कुढ़ती हुई अपने दरवाज़े तक आती और ड्राइंग-रूम में बैठे लोगों के सामने अपना रोना रोने लगती। कहती कि वह औरत है, इसीलिए लोग उसे इतना तंग कर लेते हैं। उसका पति ज़िन्दा होता तो किसकी मजाल थी जो इस तरह का व्यवहार करता।

मिसेज़ एडवर्ड्स और उसके परिवार के अलावा जमशेद दारूवाला ही उस होटल की एक निश्चित इकाई था। कोई बैरा या खानसामा भी वहाँ साल-भर से ज़्यादा नहीं टिकता था, जबकि जमशेद को वहाँ रहते डेढ़ साल से ऊपर हो गया था। वह भी पहले दो-तीन होटलों में हंगामा करने के बाद वहाँ आया था, वहाँ से भी दूसरे-तीसरे महीने उसे चले जाना पड़ता, पर मिसेज़ एडवर्ड्स को एक ख़ास वजह से उसकी बहन का लिहाज़ रखना पड़ता था। जब-तब पाँचवीं मंजिल के किसी कमरे के लिए उसकी ज़रूरत पड़ जाती थी, और वह हरबंससिंह टैक्सी-ड्राइवर को भेजकर उसे बुलवा लिया करती थी।

जमशेद दारूवाला पहले दिन से ही अपनी बीमारी की लम्बी-चौड़ी तफसील के साथ वहाँ आया था। उसके फेफड़े कमज़ोर थे, उसे जोड़ का दर्द था, और जब-तब

उसका ब्लड-प्रेशर बढ़ जाता था। दो साल घर से गायब रहकर वह ये सब बीमारियाँ साथ ले आया था, और यहाँ डाक्टरी हिदायत भी कि कुछ दिन उसे पूरा आराम करना चाहिए, बहन के साथ उसके फ़्लैट में रहने में दोनों को असुविधा थी, इसलिए उसके रहने का प्रबन्ध बहन ने होटल में कर दिया था।

जमशेद सवेरे देर से उठता। जब और लोग तैयार होकर बाहर जा रहे होते, तो वह दाँतों पर ब्रश करता हुआ बाथरूम की तरफ़ जाता। जब खाने का समय होता, तो वह नहाने के लिए गरम पानी की माँग करता। लगभग अढाई बजे, जब बैरे छुट्टी कर जाते तो वह डाइनिंग रूम में आकर खाने के लिए चिल्लाने लगता। उस समय प्रायः मिसेज़ एडवर्ड्स की उससे झड़प हो जाती थी। मिसेज़ एडवर्ड्स इस कानूनी नुक्ते को लेकर लड़ती कि बाहर लगे बोर्ड के अनुसार खाने का वक़्त बारह से दो बजे तक है—उसके बाद उसे गरम खाना नहीं दिया जा सकता। जमशेद की नज़र में मिसेज़ एडवर्ड्स को ऐसा कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं था। एक बोर्डर की हैसियत से उसे वह हक हासिल था कि वह जिस समय चाहे, गरम खाने की माँग करे। मिसेज़ एडवर्ड्स बड़बड़ाती हुई खुद उसका खाना गरम करके देती थी। और जो भी बना होता, उसे लेकर फिर उनमें बहस हो जाती थी।

"खूब!" जमशेद प्लेट पर नज़र डालते ही कहता, "आज का क्या मीनू है; मिसेज़ एडवर्ड्स? स्लाइस, काले पत्थर के टुकड़े और समुन्दर का पानी! सभी सेहतअफ़ज़ा चीज़ें हैं।"

"परमात्मा के घर से अपनी अम्माँ को बुला ला, जो तेरे लिए इससे अच्छी चीज़ें बना दिया करे।"

"कुछ दिन और यहाँ का खाना खाऊँगा, तो मैं आप ही उसके पास पहुँच जाऊँगा।"

और मिसेज़ एडवर्ड्स रोज़ किसी-न-किसी के सामने घोषणा करती थी कि वह चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर उससे कमरा ख़ाली करवा लेगी।

मिसेज़ एडवर्ड्स के अलावा आसपास के कमरों में रहनेवाले लोगों से भी जमशेद के आदान-प्रदान चलते रहते थे। हर कमरे में जाकर वहाँ ठहरे हुए लोगों से परिचय कर लेना उसकी हॉबी थी। परिचय के बाद शीघ्र ही वह हरएक से बेतकल्लुफ़ हो जाता, और उससे ड्रिंक की या छोटे-मोटे कर्ज की माँग करने लगता। डेढ़ साल के इतिहास में उसने किसी का कर्ज कभी लौटाया नहीं था—सिवाय एक कर्ज के, जो मारपीट की नौबत आ जाने से मिसेज़ एडवर्ड्स ने उसकी तरफ़ से अदा कर दिया था, और उसके हिसाब में उसकी बहन से वसूल कर लिया था। नीले या पीले रंग की टी-शर्ट पहने वह ड्राइंग-रूम के सोफे पर लेटा सीटी बजाता रहता। किसी भी जवान लड़की के पास से गुज़रने पर उसकी सीटी की आवाज़ ऊँची हो जाती। उसका

एक हाथ माथे की लटों से खेलता रहता और दूसरा तरह-तरह की नाटकीय मुद्राओं में अभिनय करता रहता। कोई उससे उसका परिचय पूछता, तो वह माथे की लट को पीछे झटककर अदा के साथ कहता, ''मैं एक आर्टिस्ट हूँ।''

फिर वह यह स्पष्ट करता कि अभी वह बीमार है—ठीक होने पर फ़ैसला करेगा कि अपने किस आर्ट को डिवेलप करे। शौक़ उसे सभी कलाओं का था, जिनका थोड़ा-बहुत प्रदर्शन वह वहाँ करता रहता था। कभी कार्टून बनाता और कभी अभिनय के साथ फ़िल्मी धुनें गाया करता। बहुत दिनों से कोई उसे ड्रिंक देने या सिनेमा दिखानेवाला नहीं मिला था, इसलिए आजकल उस पर निराशा का भूत सवार था। वह प्रायः बगलों में हाथ दबाए खिड़की के पास सड़क से गुज़रती बसों और ट्रामों को देखता रहता। उसकी दाढ़ी तीन-तीन दिन की बढ़ी रहती। मिसेज़ एडवर्ड्स की छोटी लड़की रोज़ा जब भी उसके पास से गुज़रती, वह उसके गाल मसल देता। उसका नहाने-खाने का वक़्त अब पहले से भी अनिश्चित हो गया था। कभी कोई उसकी बहन के बारे में पूछ लेता, तो वह दाँत भींचकर कहता, ''अपने किसी यार के साथ भाग गई होगी...कुतिया!''

कभी वह उतरकर नीचे सड़क पर चला जाता और मुँह उठाए बस-स्टाप के पास खड़ा रहता। घरघराहट, घंटियों की टन्-टन् और हिस्सु-हिस्सु-हिस्सु की आवाज़... वह जड़ नज़र के पास से गुज़रती दुनिया को देखता रहता। अँधेरा होने पर कई छायाएँ फुटपाथ के खम्भों के साथ सटी हुई नज़र आतीं—टाँगें सीधी, जिस्म तने हुए और आँखें इधर-उधर देखती हुई सामने रीगल की बत्तियाँ चमकती दिखाई देतीं। बस-स्टैंड के अँधेरे में खड़ी कोई आकृति व्यस्तता प्रकट करती हुई बार-बार घड़ी की तरफ़ देखती। टैक्सियों के दायरे के पास खड़ी कोई आकृति वातावरण के प्रति उदासीनता प्रकट करती हुई बार-बार गले का पसीना पोंछती, या मुँह के आगे रूमाल रखकर ज़रा-ज़रा खाँसती। वह आँखें गड़ाकर उन सबको देखता। पेट्रोल-पम्प के पास खड़े छोकरे, रूखे बालों पर हाथ फेरते हुए, एक-दूसरे को आँखों से इशारा करते। थोड़ी देर में वे आकृतियाँ टैक्सियों में दाखिल हो जातीं, और टैक्सियाँ दाएँ और बाएँ को मुड़कर भीड़ में खो जातीं। उसकी आँखें उधर से हटतीं, तो रीगल की बत्तियों से चुँधियाँ जातीं—इन्ग्रिड बर्गमेन और ग्रेगरी पेक एक अभिजात भावातिरेक की मुद्रा में...जेनिफर जोन्स, विभोर होकर क्रॉस के सामने झुकी हुई...।

तभी वह चौंककर किसी बस या ट्राम की खिड़की की तरफ़ देखता, जो आँखें स्थिर होने से पहले ही सामने से ओझल हो जाती।

दिन में एकाध बार वह बहन के फ़्लैट पर भी हो आता। वहाँ हर समय उसे ताला लगा मिलता। हरबंससिंह टैक्सी-ड्राइवर ने बताया था कि वह जब भी वहाँ गया है, उसने भी ताला ही लगा देखा है। छह-सात हफ़्ते से किसी टैक्सी-ड्राइवर को वह नहीं मिली थी। लगता यही था कि किसी के साथ बम्बई से बाहर चली गई होगी, या शायद...।

जमशेद रात को देर-देर तक मैरीन ड्राइव पर या इंडिया गेट के पास घूमता रहता। नैरीमन पाइंट की सीढ़ियों पर वह तब तक बैठा रहता, जब तक समुद्र का पानी उसकी टाँगों तक न बढ़ आता। रात की रोशनी में चमकती सुनसान सड़कों पर से लौटते हुए उसे लगता कि वह चल नहीं रहा, किसी तरह अपने को घसीटकर आगे ले जा रहा है। वह देर से वापस आकर उस बिल्डिंग का दरवाज़ा खटखटाता, तो पहले उसे चौकीदार की बड़बड़ाहट सुननी पड़ती। फिर ज़ीने में बिखरकर सोए व्यक्तियों के ऊपर से लाँघना पड़ता। कमरा खोलते हुए साथ के किसी कमरे में खाँसी की आवाज़ सुनाई देती। वह पलंग पर लेट जाता, तो खाँसी की आवाज़ आसपास के सारे वातावरण को छा लेती। वह कई-कई बार तकिए की स्थिति बदलता, या पैताने होकर सोने की कोशिश करता। खाँसी की आवाज़ बन्द होती, तो कहीं से घड़ी की टिक्-टिक् सुनाई देने लगती।...सुबह जब उसकी आँख खुलती तो बारह-साढ़े बारह बज चुके होते। कमरे से निकलते ही मिसेज़ एडवर्ड्स से उसका टकराव हो जाता। उसे देखते ही मिसेज़ एडवर्ड्स की त्योरियाँ चढ़ जातीं, और वह किसी और की तरफ़ देखकर कहती, ''लो, साहब उठ खड़ा हुआ है!''

वह दाँतों को ब्रश से रगड़ता हुआ उसके पास से निकलकर चला जाता।

उधर से लौटकर आता, तो भी मिसेज़ एडवर्ड्स कोई वैसी ही बात कह देती, ''अब दो बजे साहब नाश्ता करेगा।''

''दो बजे नहीं, तीन बजे करेगा साहब नाश्ता!'' एक दिन जमशेद बुरी तरह भड़क उठा, ''तुम्हारे पेट में क्यों तकलीफ़ होती है?''

मिसेज़ एडवर्ड्स तमककर खड़ी हो गई, ''मुझे तकलीफ़ होती है क्योंकि मेरा पैसा लगता है। तेरा बाप यहाँ मेरे लिए अपनी जायदाद नहीं छोड़ गया है।''

''बक नहीं, हरामज़ादी।''

''क्याऽऽ?'' मिसेज़ एडवर्ड्स गुस्से में सबकुछ भूल गई। तू शरम से डूब नहीं मरता? बहन के पाप की कमाई से रोटी खाता है, और मेरे सामने आँखें तरेरता है! थू है तेरे जैसे आदमी पर! थू...थू...''

जमशेद के हाथ ऐसे हिले जैसे अभी उसे गले से पकड़ लेगा। पर उसके घुटने नहीं हिले और वह जकड़ा-सा अपनी जगह खड़ा रहा। मिसेज़ एडवर्ड्स पाँच नम्बर के सेठ के सामने जाकर रोने लगी, ''सुना तुमने सेठजी! यह आदमी मुझे हरामज़ादी कह रहा है। मेरे होटल में रहकर, मेरी रोटी खाकर मुझे गाली देते इसे शरम नहीं आई। बेशरम, बेहया! मेरा मर्द आज ज़िन्दा होता तो देखती कि कौन मुझे इस तरह गाली देता!''

जमशेद दाँत भींचे तेज़ी से मुड़ा, और उसने कमरे में जाकर धम् से दरवाज़ा बन्द कर लिया। कुछ देर बाद पतलून-कमीज़ पहने वह उसी ओर तेज़ी के साथ निकला, और किवाड़ ज़ोर से पीछे को धकेलकर ज़ीने से नीचे चला गया।

उसके बाद वह फिर लौटकर नहीं आया।

रात के ग्यारह बजे तक मिसेज़ एडवर्ड्स इन्तज़ार करती रही। उसके बाद उसने कमरे को ताला लगवा दिया। तीन दिन वह ड्राइंग-रूम में हरएक के सामने रोती-कलपती रही। चौथी रात उसने दो आदमियों के सामने ताला खोला और सामान की जाँच की। कपड़ोंवाला ट्रंक खुला था। मुचड़ा हुआ नाइट-सूट चारपाई पर पड़ा था। मेज़ पर दवाई की कुछ शीशियाँ और एक ख़ाली पोस्टकार्ड रखा था। एक टॉनिक की शीशी अभी खोली नहीं गई थी। फ़र्श पर टूटी हुई काली बाथरूम चप्पल, दो-एक बकल्ज और पुराने बदबूदार मोजे पड़े थे। जंग खाए शीशी के पास टूटी हुई कंघी और बदनुमा-सा शेव का सामान रखा था। तकिए के नीचे एक फटी हुई किताब थी–"हाऊ टु विन फ्रेंड्स एंड एन्फ्लुएंस पीपल!"

वे सब चीज़ें बैरे से उठवाकर उसने अपने कमरे के एक कोने में रखवा दीं। सारा समय वह दूसरों को सुनाकर कहती रही, "यह कूड़ा मेरे लिए छोड़ गया है? मैं इसे हाथ से छुऊँगी भी नहीं। मेरे सात हफ्ते का बिल है। लोग मेरे एहसान का मुझे यह बदला देते हैं...!"

अगले दिन छह नम्बर कमरे में नया किराएदार आ गया।

इसके अठारह-बीस दिन बाद एक शाम को, जब दो-एक व्यक्ति ड्राइंग-रूम में चाय पी रहे थे, वह दुबली लड़की ज़ीने से आकर क्षण-भर के लिए ड्योढ़ी में रुकी, फिर रूमाल से माथे का पसीना पोंछती हुई अन्दर आ गई। ड्राइंग-रूम में बैठे व्यक्तियों की आँखों में फिर सवालिया संकेत पैदा हुए। एक ने कन्धे झटक दिए, दूसरा मुँह बनाकर चाय पीने में व्यस्त हो रहा।

लड़की ने छह नम्बर कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खुलने पर वह थोड़ी अचकचा गई।

"जमशेद दारूवाला यहाँ नहीं है?" उसने पूछा।

"उस कमरे में जाकर पूछना माँगता है," उसे जवाब मिला, "होटल का प्रोप्राइट्रेस उधर रहता है।"

लड़की ने मिसेज़ एडवर्ड्स का दरवाज़ा खटखटाया। मिसेज़ एडवर्ड्स उसे देखकर अचकचा गई।

"यू मिस दारूवाला...?"

"येस् मिसेज़ एडवर्ड्स।"

"आओ, आओ!" उसने उसे अन्दर दाखिल करते हुए कहा, "लेकिन वह... तुम्हारा भाई...वह कहाँ है?"

"वह यहाँ नहीं है?"

"यहाँ?" मिसेज़ एडवर्ड्स के गले से एक अजीब-सी आवाज़ पैदा हुई। "यहाँ से तो वह कई दिन हुए भाग गया है। बट ए मैन! बैठो, कुर्सी लो।"

लड़की कुर्सी की बाँहें पकड़कर बैठ गई। मेज़ पर हिसाब का रजिस्टर और रसीद की कापियाँ करीने से रखी थीं। टाइम-पीस के काले डायल के आगे सफ़ेद सुइयाँ चमक रही थीं। हर चीज़ जैसे घड़ी की आवाज़ के साथ टिक्-टिक् कर रही थी। लड़की ने होंठों पर ज़बान फेरी। मिसेज़ एडवर्ड्स ने अपनी कुर्सी का रुख बदल लिया।

''कितने दिन हुए उसे यहाँ से गए?'' लड़की के गले में कुछ खराश आ गई थी।

''आज बाईस-तेईस दिन हो गए।''

लड़की सूनी आँखों से मिसेज़ एडवर्ड्स के चेहरे को देखती रही—जैसे वह चेहरा न होकर कोई बेजान चीज़ हो। उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलक आईं।

''तुम इतने दिन कहाँ थीं?'' मिसेज़ एडवर्ड्स ने पूछा, ''मैं रोज़ हरबंशसिंह से पता कराती रही हूँ। वह कहता था...।''

''मैं अस्पताल में थी,'' लड़की कठिनाई से शब्दों को ज़बान पर ला पाई।

''अस्पताल में?'' मिसेज़ एडवर्ड्स के चेहरे पर थोड़ी कोमलता आ गई। ''बीमार थीं?''

लड़की ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछ लिया। ''मेरा ऑपरेशन हुआ था।''

''ऑपरेशन? किस चीज़ का ऑपरेशन?''

लड़की की आँखें ऊपर उठीं, और झुक गईं। मिसेज़ एडवर्ड्स की आँखें उसके चेहरे को टटोलती रहीं।

''तुम्हारा मतलब है तुमने...?''

लड़की की आँखें फिर उठीं और झुक गईं।

''चूच् चूच्...!'' मिसेज़ एडवर्ड्स की त्योरियाँ गहरी हो गईं।

लड़की की आँखें कई क्षण उठी रहीं और उसके होंठ काँपते रहे। मिसेज़ एडवर्ड्स ने एक लम्बी साँस ली। लड़की कुछ क्षण अपने में खोई रही। फिर सहसा उठ खड़ी हुई।

''तुम्हारे भाई का सामान पड़ा है,'' मिसेज़ एडवर्ड्स ने कोने की तरफ़ इशारा कर दिया।

लड़की कई क्षण कोने में पड़ी चीज़ों को देखती रही।

''इन्हें बेचकर पैसे हिसाब में जमा कर लेना,'' उसने कहा।

''लेकिन,'' मिसेज़ एडवर्ड्स भी बिल-बुक को सहलाती हुई खड़ी हो गई। ''इनमें बिकनेवाली चीज़ तो कोई भी नहीं है। उसका सात हफ्ते तीन दिन का बिल बाक़ी है।''

''जितना बाक़ी है, मैं दे जाऊँगी।''

''यही समझो कि पूरा ही बाक़ी है।''

"मैं दे जाऊँगी।"

और जल्दी से दरवाज़ा खोलकर वह ज़ीने की तरफ़ बढ़ गई। फुटपाथ पर आकर वह सड़क पर से जाती धुँधली रेखाओं को देखती रही। फिर साधना रेस्तराँ के अन्दर चली गई। सामने प्लेटफार्म पर कई जगह शतरंज की बाजियाँ चल रही थीं। गम्भीर चेहरे, गम्भीर आँखें और बगुलों की तरह मोहरों पर पड़ते हाथ...। लड़की ने चेहरा सख़्त किए हुए दो-एक बार आँखों पर रूमाल फेरा, फिर अच्छी तरह आँखों को रूमाल से दबा लिया। मोहरों को उठाते हाथ क्षण-भर के लिए रुके, और गम्भीर चेहरों की रेखाएँ कुछ और गहरी हो गईं। बैरा पास आया, तो लड़की ने धुँधली आँखों से बैरे की तरफ़ देखा और सहसा उठकर रेस्तराँ से बाहर आ गई। पटरी के चिकने पत्थरों पर अस्थिर कदम रखती हुई वह बस-स्टॉप के पास आकर खड़ी हो गई।

भीड़ से लदी बसें और ट्रामें म्यूजियम की तरफ़ जा रही थीं, या उधर से इस तरफ़ आ रही थीं। टैक्सियों के दायरे में कितनी ही टैक्सियाँ जमा थीं। आर्ट गैलरी के बाहर बहुत भीड़ थी। शायद वहाँ कोई प्रदर्शनी चल रही थी। बस पकड़नेवालों के क्यू धीरे-धीरे आगे को सरक रहे थे। लड़की देर तक जड़-सी अपनी जगह पर खड़ी रही और इधर से उधर और उधर से इधर देखती रही।

परमात्मा का कुत्ता

बहुत-से लोग यहाँ-वहाँ सिर लटकाए बैठे थे जैसे किसी का मातम करने आए हों। कुछ लोग अपनी पोटलियाँ खोलकर खाना खा रहे थे। दो-एक व्यक्ति पगड़ियाँ सिर के नीचे रखकर कम्पाउंड के बाहर सड़क के किनारे बिखर गए थे। छोले-कुलचेवाले का रोज़गार गरम था, और कमेटी के नल के पास एक छोटा-मोटा क्यू लगा था। नल के पास कुर्सी डालकर बैठा अर्ज़ीनवीस धड़ाधड़ अर्ज़ियाँ टाइप कर रहा था। उसके माथे से बहकर पसीना उसके होंठों पर आ रहा था, लेकिन उसे पोंछने की फुर्सत नहीं थी। सफ़ेद दाढ़ियोंवाले दो-तीन लम्बे-ऊँचे जाट, अपनी लाठियों पर झुके हुए, उसके ख़ाली होने का इन्तज़ार कर रहे थे। धूप से बचने के लिए अर्ज़ीनवीस ने जो टाट का परदा लगा रखा था, वह हवा से उड़ा जा रहा था। थोड़ी दूर मोढ़े पर बैठा उसका लड़का अंग्रेजी प्राइमर को रट्टा लगा रहा था—सी ए टी कैट—कैट माने बिल्ली; बी ए टी बैट—बैट माने बल्ला; एफ ए टी फैट—फैट माने मोटा...। कमीज़ों के आधे बटन खोले और बगल में फ़ाइलें दबाए कुछ बाबू एक-दूसरे से छेड़खानी करते, रजिस्ट्रेशन ब्रांच से रिकार्ड ब्रांच की तरफ़ जा रहे थे। लाल बेल्टवाला चपरासी, आसपास की भीड़ से उदासीन, अपने स्टूल पर बैठा मन-ही-मन कुछ हिसाब कर रहा था। कभी उसके होंठ हिलते थे, और कभी सिर हिल जाता था। सारे कम्पाउंड में सितम्बर की खुली धूप फैली थी। चिड़ियों के कुछ बच्चे डालों से कूदने और फिर ऊपर को उड़ने का अभ्यास कर रहे थे और कई बड़े-बड़े कौए पोर्च के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चहलकदमी कर रहे थे। एक सत्तर-पचहत्तर की बुढ़िया, जिसका सिर काँप रहा था और चेहरा झुर्रियों के गुंझल के सिवा कुछ नहीं था, लोगों से पूछ रही थी कि वह अपने लड़के के मरने के बाद उसके नाम एलाट हुई ज़मीन की हकदार हो जाती है या नहीं...?

अन्दर हाल कमरे में फ़ाइलें धीरे-धीरे चल रही थीं। दो-चार बाबू बीच की मेज़ के पास जमा होकर चाय पी रहे थे। उनमें से एक दफ़्तरी कागज़ पर लिखी अपनी ताज़ा गज़ल दोस्तों को सुना रहा था और दोस्त इस विश्वास के साथ सुन रहे थे कि वह गज़ल उसने 'शमा' या 'बीसवीं सदी' के किसी पुराने अंक में से उड़ाई है।

"अज़ीज़ साहब, ये शेअर आपने आज ही कहे हैं, या पहले के कहे हुए शेअर आज अचानक याद हो आए हैं?" साँवले चेहरे और घनी मूँछोंवाले एक बाबू ने बाईं आँख को ज़रा-सा दबाकर पूछा। आसपास खड़े सब लोगों के चेहरे खिल गए।

"यह बिलकुल ताज़ा गज़ल है," अज़ीज़ साहब ने अदालत में खड़े होकर हलफिया बयान देने के लहज़े में कहा, "इससे पहले भी इसी वज़न पर कोई और चीज़ कही हो तो याद नहीं।" और फिर आँखों से सबके चेहरों को टटोलते हुए वे हलकी हँसी के साथ बोले, "अपना दीवान तो कोई रिसर्चदाँ ही मुरत्तब करेगा...।"

एक फरमायशी कहकहा लगा जिसे 'शी-शी' की आवाज़ों ने बीच में ही दबा दिया। कहकहे पर लगाई गई इस ब्रेक का मतलब था कि कमिश्नर साहब अपने कमरे में तशरीफ ले आए हैं। कुछ देर का वक्फ़ा रहा, जिसमें सुरजीत सिंह वल्द गुरमीत सिंह की फ़ाइल एक मेज़ से एक्शन के लिए दूसरी मेज़ पर पहुँच गई, सुरजीत सिंह वल्द गुरमीत सिंह मुस्कुराता हुआ हाल से बाहर चला गया, और जिस बाबू की मेज़ से फ़ाइल गई थी, वह पाँच रुपये के नोट को सहलाता हुआ चाय पीनेवालों के जमघट में आ शामिल हुआ। अज़ीज़ साहब अब आवाज़ ज़रा धीमी करके गज़ल का अगला शेअर सुनाने लगे।

साहब के कमरे से घंटी हुई। चपरासी मुस्तैदी से उठकर अन्दर गया, और उसी मुस्तैदी से वापस आकर फिर अपने स्टूल पर बैठ गया।

चपरासी से खिड़की का पर्दा ठीक कराकर कमिश्नर साहब ने मेज़ पर रखे ढेर-से कागज़ों पर एकसाथ दस्तखत किए और पाइप सुलगाकर 'रीडर्ज़ डाइजेस्ट' का ताज़ा अंक बैग से निकाल लिया। लेटीशिया बाल्ड्रिज का लेख कि उसे इतालवी मर्दों से क्यों प्यार है, वे पढ़ चुके थे। और लेखों में हृदय की शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में जे.डी. रैटक्लिफ का लेख उन्होंने सबसे पहले पढ़ने के लिए चुन रखा था। पृष्ठ एक सौ ग्यारह खोलकर वे हृदय के नए ऑपरेशन का ब्योरा पढ़ने लगे।

तभी बाहर से कुछ शोर सुनाई देने लगा।

कम्पाउंड में पेड़ के नीचे बिखरकर बैठे लोगों में चार नए चेहरे आ शामिल हुए थे। एक अधेड़ आदमी था जिसने अपनी पगड़ी ज़मीन पर बिछा ली थी और हाथ पीछे करके तथा टाँगें फैलाकर उस पर बैठ गया था। पगड़ी के सिरे की तरफ़ उससे ज़रा बड़ी उम्र की एक स्त्री और एक जवान लड़की बैठी थीं; और उनके पास खड़ा एक दुबला-सा लड़का आसपास की हर चीज़ को घूरती नज़र से देख रहा था, अधेड़ मर्द की फैली हुई टाँगें धीरे-धीरे-पूरी खुल गई थीं और आवाज़ इतनी ऊँची हो गई थी कि कम्पाउंड के बाहर से भी बहुत-से लोगों का ध्यान उसकी तरफ़ खिंच गया था। वह बोलता हुआ साथ अपने घुटने पर हाथ मार रहा था। "सरकार वक़्त ले

रही है! दस-पाँच साल में सरकार फैसला करेगी कि अर्ज़ी मंजूर होनी चाहिए या नहीं। सालो, यमराज भी तो हमारा वक़्त गिन रहा है। उधर वह वक़्त पूरा होगा और इधर तुमसे पता चलेगा कि हमारी अर्ज़ी मंजूर हो गई है।''

चपरासी की टाँगें ज़मीन पर पुख़्ता हो गईं, और वह सीधा खड़ा हो गया। कम्पाउंड में बिखरकर बैठे और लेटे हुए लोग अपनी-अपनी जगह पर कस गए। कई लोग उस पेड़ के पास आ जमा हुए।

''दो साल से अर्ज़ी दे रखी है कि सालो, ज़मीन के नाम पर तुमने मुझे जो गड्ढा एलाट कर दिया है, उसकी जगह कोई दूसरी ज़मीन दो। मगर दो साल से अर्ज़ी यहाँ के दो कमरे ही पार नहीं कर पाई!'' वह आदमी अब जैसे एक मजमे में बैठकर तकरीर करने लगा, ''इस कमरे से उस कमरे में अर्ज़ी के जाने में वक़्त लगता है! इस मेज़ से उस मेज़ तक जाने में भी वक़्त लगता है! सरकार वक़्त ले रही है! लो, मैं आ गया हूँ आज यहीं पर अपना सारा घर-बार लेकर। ले लो जितना वक़्त तुम्हें लेना है!...सात साल की भुखमरी के बाद सालों ने ज़मीन दी है मुझे—सौ मरले का गड्ढा! उसमें क्या मैं बाप-दादों की अस्थियाँ गाड़ूँगा? अर्ज़ी दी थी कि मुझे सौ मरले की जगह पचास मरले दे दो—लेकिन ज़मीन तो दो! मगर अर्ज़ी दो साल से वक़्त ले रही है! मैं भूखा मर रहा हूँ, और अर्ज़ी वक़्त ले रही है!''

चपरासी अपने हथियार लिये हुए आगे आया—माथे पर त्योरियाँ और आँखों में क्रोध। आसपास की भीड़ को हटाता हुआ वह उसके पास आ गया।

''ए मिस्टर, चल यहाँ से बाहर!'' उसने हथियारों की पूरी चोट के साथ कहा, ''चल...उठ...!''

''मिस्टर आज यहाँ से नहीं उठ सकता!'' वह आदमी अपनी टाँगें थोड़ी और चौड़ी करके बोला, ''मिस्टर आज यहाँ का बादशाह है। पहले मिस्टर देश के बेताज बादशाहों की जय बुलाया था। अब वह किसी की जय नहीं बुलाता। अब वह खुद यहाँ का बादशाह है...बेलाज बादशाह। उसे कोई लाज-शरम नहीं है। उस पर किसी का हुक्म नहीं चलता। समझे, चपरासी बादशाह!''

''अभी तुझे पता चल जाएगा कि तुझ पर किसी का हुक्म चलता है या नहीं,'' चपरासी बादशाह और गरम हुआ, ''अभी पुलिस के सुपुर्द कर दिया जाएगा तो तेरी सारी बादशाही निकल जाएगी...।''

''हा-हा!'' बेलाज बादशाह हँसा। ''तेरी पुलिस मेरी बादशाही निकालेगी? तू बुला पुलिस को। मैं पुलिस के सामने नंगा हो जाऊँगा और कहूँगा कि निकालो मेरी बादशाही! हममें से किस-किसकी बादशाही निकालेगी पुलिस? ये मेरे साथ तीन बादशाह और हैं। यह मेरे भाई की बेवा है—उस भाई की जिसे पाकिस्तान में टाँगों से पकड़कर चीर दिया गया था। यह मेरे भाई का लड़का है जो अभी से तपेदिक

का मरीज़ है। और यह मेरे भाई की लड़की है जो अब ब्याहने लायक हो गई है। इसकी बड़ी कुँवारी बहन आज भी पाकिस्तान में है। आज मैंने इन सबको बादशाही दे दी है। तू ले आ जाकर अपनी पुलिस, कि आकर इन सबकी बादशाही निकाल दे। कुत्ता साला...!''

अन्दर से कई-एक बाबू निकलकर बाहर आ गए थे। 'कुत्ता साला' सुनकर चपरासी आपे से बाहर हो गया। वह तैश में उसे बाँह से पकड़कर घसीटने लगा। ''तुझे अभी पता चल जाता है कि कौन साला कुत्ता है! मैं तुझे मार-मारकर...'' और उसने उसे अपने टूटे हुए बूट की एक ठोकर दी। स्त्री और लड़की सहमकर वहाँ से हट गईं। लड़का एक तरफ़ खड़ा होकर रोने लगा।

बाबू लोग भीड़ को हटाते हुए आगे बढ़ आए और उन्होंने चपरासी को उस आदमी के पास से हटा लिया। चपरासी फिर भी बड़बड़ाता रहा। ''कमीना आदमी, दफ़्तर में आकर गाली देता है। मैं अभी तुझे दिखा देता कि...''

''एक तुम्हीं नहीं, यहाँ तुम सबके-सब कुत्ते हो,'' वह आदमी कहता रहा, ''तुम सब भी कुत्ते हो, और मैं भी कुत्ता हूँ। फ़र्क सिर्फ़ इतना है कि तुम लोग सरकार के कुत्ते हो—हम लोगों की हड्डियाँ चूसते हो और सरकार की तरफ़ से भौंकते हो। मैं परमात्मा का कुत्ता हूँ। उसकी दी हुई हवा खाकर जीता हूँ, और उसकी तरफ़ से भौंकता हूँ। उसका घर इंसाफ़ का घर है। मैं उसके घर की रखवाली करता हूँ। तुम सब उसके इंसाफ़ की दौलत के लुटेरे हो। तुम पर भौंकना मेरा फर्ज़ है, मेरे मालिक का फरमान है। मेरा तुमसे अज़ली बैर है। कुत्ते का बैरी कुत्ता होता है। तुम मेरे दुश्मन हो, मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ। मैं अकेला हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर मुझे मारो। मुझे यहाँ से निकाल दो। लेकिन मैं फिर भी भौंकता रहूँगा। तुम मेरा भौंकना बन्द नहीं कर सकते। मेरे अन्दर मेरे मालिक का नर है, मेरे वाहेगुरु का तेज़ है। मुझे जहाँ बन्द कर दोगे, मैं वहाँ भौंकूँगा, और भौंक-भौंककर सबके कान फाड़ दूँगा। साले, आदमी के कुत्ते, जूठी हड्डी पर मरनेवाले कुत्ते, दुम हिला-हिलाकर जीनेवाले कुत्ते...!''

''बाबाजी, बस करो, एक बाबू हाथ जोड़कर बोला, ''हम लोगों पर रहम खाओ, और अपनी यह सन्तबानी बन्द करो। बताओ तुम्हारा नाम क्या है, तुम्हारा केस क्या है...?''

''मेरा नाम है बारह सौ छब्बीस बटा सात! मेरे माँ-बाप का दिया हुआ नाम खा लिया कुत्तों ने। अब यही नाम है जो तुम्हारे दफ़्तर का दिया हुआ है। मैं बारह सौ छब्बीस बटा सात हूँ। मेरा और कोई नाम नहीं है। मेरा यह नाम याद कर लो। अपनी डायरी में लिख लो। वाहेगुरु का कुत्ता—बारह सौ छब्बीस बटा सात।''

''बाबाजी, आज जाओ, कल या परसों आ जाना। तुम्हारी अर्ज़ी की कार्रवाई तकरीबन-तकरीबन पूरी हो चुकी है...।''

"तकरीबन-तकरीबन पूरी हो चुकी है! और मैं खुद ही तकरीबन-तकरीबन पूरा हो चुका हूँ! अब देखना यह है कि पहले कार्रवाई पूरी होती है, कि पहले मैं पूरा होता हूँ! एक तरफ़ सरकार का हुनर है और दूसरी तरफ़ परमात्मा का हुनर है! तुम्हारा तकरीबन-तकरीबन अभी दफ़्तर में ही रहेगा और मेरा तकरीबन-तकरीबन कफन में पहुँच जाएगा। सालों ने सारी पढ़ाई ख़र्च करके दो लफ़्ज़ ईजाद किए हैं—शायद और तकरीबन। 'शायद आपके कागज़ ऊपर चले गए हैं—तकरीबन-तकरीबन कार्रवाही पूरी हो चुकी है!' शायद से निकालो और तकरीबन में डाल दो! तकरीबन से निकालो और शायद में गर्क कर दो। 'तकरीबन तीन-चार महीने में तहकीकात होगी।...शायद महीने-दो महीने में रिपोर्ट आएगी।' मैं आज शायद और तकरीबन दोनों घर पर छोड़ आया हूँ। मैं यहाँ बैठा हूँ और यहीं बैठा रहूँगा। मेरा काम होना है, तो आज ही होगा और अभी होगा। तुम्हारे शायद और तकरीबन के गाहक ये सब खड़े हैं। यह ठगी इनसे करो...।"

बाबू लोग अपनी सद्भावना के प्रभाव से निराश होकर एक-एक करके अन्दर लौटने लगे।

"बैठा है, बैठा रहने दो।"

"बकता है, बकने दो।"

"साला बदमाशी में काम निकालना चाहता है।"

"लेट हिम बार्क हिमसेल्फ टु डेथ।"

बाबुओं के साथ चपरासी भी बड़बड़ाता हुआ अपने स्टूल पर लौट गया। "मैं साले के दाँत तोड़ देता। अब बाबू लोग हाकिम हैं और हाकिमों का कहा मानना पड़ता है, वरना..."

"अरे बाबा, शान्ति से काम ले। यहाँ मिन्नत चलती है, पैसा चलता है, धौंस नहीं चलती," भीड़ में से कोई उसे समझाने लगा।

वह आदमी उठकर खड़ा हो गया।

"मगर परमात्मा का हुक्म हर जगह चलता है," वह अपनी कमीज़ उतारता हुआ बोला, "और परमात्मा के हुक्म से आज बेलाज बादशाह नंगा होकर कमिश्नर साहब के कमरे में जाएगा। आज वह नंगी पीठ पर साहब के डंडे खाएगा। आज वह बूटों की ठोकरें खाकर प्राण देगा। लेकिन वह किसी की मिन्नत नहीं करेगा। किसी को पैसा नहीं चढ़ाएगा। किसी की पूजा नहीं करेगा। जो वाहेगुरु की पूजा करता है, वह और किसी की पूजा नहीं कर सकता। तो वाहेगुरु का नाम लेकर..."

और इससे पहले कि वह अपने कहे को किए में परिणत करता, दो-एक आदमियों ने बढ़कर तहमद की गाँठ पर रखे उसके हाथ को पकड़ दिया। बेलाज बादशाह अपना हाथ छुड़ाने के लिए संघर्ष करने लगा।

"मुझे जाकर पूछने दो कि क्या महात्मा गांधी ने इसीलिए इन्हें आज़ादी दिलाई थी कि यह आज़ादी के साथ इस तरह सम्भोग करें? उसकी मिट्टी ख़राब करें? उसके नाम पर कलंक लगाएँ? उसे टके-टके की फ़ाइलों में बाँधकर ज़लील करें? लोगों के दिलों में उसके लिए नफरत पैदा करें? इंसान के तन पर कपड़े देखकर बात इन लोगों की समझ में नहीं आती। शरम तो उसे होती है जो इंसान हो। मैं तो आप कहता हूँ कि मैं इंसान नहीं, कुत्ता हूँ...!"

सहसा भीड़ में एक दहशत-सी फैल गई। कमिश्नर साहब अपने कमरे से बाहर निकल आए थे। वे माथे की त्योरियों और चेहरे की झुर्रियों को गहरा किए भीड़ के बीच में आ गए।

"क्या बात है? क्या चाहते हो तुम?"

"आपसे मिलना चाहता हूँ, साहब," वह आदमी साहब को घूरता हुआ बोला, "सौ मरले का एक गड्ढा मेरे नाम एलाट हुआ है। वह गड्ढा आपको वापस करना चाहता हूँ ताकि सरकार उसमें एक तालाब बनवा दे, और अफसर लोग शाम को वहाँ जाकर मछलियाँ मारा करें। या उस गड्ढे में सरकार एक तहखाना बनवा दे और मेरे जैसे कुत्तों को उसमें बन्द कर दे...।"

"ज़्यादा बक-बक मत करो, और अपना केस लेकर मेरे पास आओ।"

"मेरा केस मेरे पास नहीं है, साहब! दो साल से सरकार के पास है—आपके पास है। मेरे पास अपना शरीर और दो कपड़े हैं। चार दिन बाद ये भी नहीं रहेंगे, इसलिए इन्हें भी आज ही उतारे दे रहा हूँ। इसके बाद बाक़ी सिर्फ़ बारह सौ छब्बीस बटा सात रह जाएगा। बारह सौ छब्बीस बटा सात को मार-मारकर परमात्मा के हुजूर में भेज दिया जाएगा...।"

"यह बकवास बन्द करो और मेरे साथ अन्दर आओ।"

और कमिश्नर साहब अपने कमरे में वापस चले गए। वह आदमी भी कमीज़ कन्धे पर रखे उस कमरे की तरफ़ चल दिया।

"दो साल चक्कर लगाता रहा, किसी ने बात नहीं सुनी। खुशामदें करता रहा, किसी ने बात नहीं सुनी। वास्ते देता रहा, किसी ने बात नहीं सुनी...।"

चपरासी ने उसके लिए चिक उठा दी और वह कमिश्नर साहब के कमरे में दाखिल हो गया। घंटी बजी, फ़ाइलें हिलीं, बाबुओं की बुलाहट हुई, और आधे घंटे के बाद बेलाज बादशाह मुस्कुराता हुआ बाहर निकल आया। उत्सुक आँखों की भीड़ ने उसे आते देखा, तो वह फिर बोलने लगा, "चूहों की तरह बिटर-बिटर देखने में कुछ नहीं होता। भौंको, सबके-सब भौंको। अपने-आप सालों के कान फट जाएँगे। भौंको कुत्तो, भौंको..."

उसकी भौजाई दोनों बच्चों के साथ गेट के पास खड़ी इन्तज़ार कर रही थी। लड़के और लड़की के कंधों पर हाथ रखते हुए वह सचमुच बादशाह की तरह सड़क पर चलने लगा।

''हयादार हो, तो सालहा-साल मुँह लटकाए खड़े रहो। अर्ज़ियाँ टाइप कराओ और नल का पानी पियो। सरकार वक़्त ले रही है! नहीं तो बेहया बनो। बेहयाई हज़ार बरकत है।''

वह सहसा रुका और ज़ोर से हँसा।

''याने, बेहयाई हज़ार बरकत है।''

उसके चले जाने के बाद कम्पाउंड में और आसपास मातमी वातावरण पहले से और गहरा हो गया। भीड़ धीरे-धीरे बिखरकर अपनी जगहों पर चली गई। चपरासी की टाँगें फिर स्टूल पर झूलने लगीं। सामने के कैंटीन का लड़का बाबुओं के कमरे में एक सेट चाय ले गया। अर्ज़ीनवीस की मशीन चलने लगी और टिक-टिक की आवाज़ के साथ उसका लड़का फिर अपना सबक दोहराने लगा। ''पी ई एन पेन–पेन माने कलम; एच ई एन हेन–हेन माने मुर्गी; डी ई ऐन डेन–डेन माने अँधेरी गुफा...!''

मवाली

उस लड़के का परिचय केवल इतना ही है कि वह शाम के वक़्त चौपाटी के मैदान में जमा होनेवाली भीड़ में घूम रहा था। चौपाटी का मैदान काफ़ी खुला है, और जब समुद्र भाटे पर हो, तो और भी खुला हो जाता है। शाम के वक़्त वहाँ पर सब तरह के लोग जमा होते हैं–वे जो वहाँ तफरीह के लिए आते हैं, और वे जो वहाँ आनेवालों के लिए तफरीह का सामान प्रस्तुत करते हैं, और वे जो दूसरों को तफरीह करते देखकर लुत्फ़ ले लेते हैं। वहाँ धार्मिक प्रवचनों से लेकर आदम और हौवा की परम्परा के पालन तक, सभी कुछ होता है। अँधेरे और रोशनी में इतना सुन्दर समझौता और कहीं नहीं होता जितना चौपाटी के मैदान में है।

और वह लड़का नंगे पाँव, नंगे सिर, सिर्फ़ घुटनों तक की लम्बी मैली कमीज़ पहने, वहाँ एक सिरे से दूसरे सिरे की तरफ़ चल रहा था। एक जगह एक नेता का भाषण समाप्त हुआ था, और मज़दूर शामियाना उखाड़ रहे थे। ज़मीन पर फैले शामियाने पर से गुज़रते हुए, लड़के ने रुककर चारों तरफ़ देखा, और हाथ उठाकर भाषण देने की मुद्रा से गले में कुछ अस्पष्ट आवाज़ें पैदा कीं। जब एक मज़दूर उसे हटाने के लिए उसकी तरफ़ लपका, तो वह उसे जीभ दिखाकर भाग खड़ा हुआ। भागते हुए वह एक ऐसे आदमी से टकरा गया, जो ज़मीन पर लेटकर कराहता हुआ भीख माँग रहा था। वह आदमी ऊँची आवाज़ में उसे गाली देने लगा। लड़के ने उसकी तरफ़ होंठ बिचका दिए, और एक पत्थर को पैर से ठोकर मारकर दूर उड़ा दिया। फिर उसकी नज़र मलाबार हिल की तरफ़ से आती बसों और कारों की पंक्ति पर स्थिर हो गई। उधर देखते हुए अनायास उसके पैरों का रुख बदल गया और वह दूसरी दिशा में चलने लगा।

उसकी उम्र तेरह या चौदह साल की होगी। रंग साँवला था और नक्श भी ख़ास अच्छे नहीं थे। मगर उसकी आँखों में अजब बेबाकी और आवारगी थी। आँखें सड़क की तरफ़ रहने से वह एक रेत में पड़े बड़े-से पत्थर से ठोकर खा गया, जिससे उसका घुटना थोड़ा छिल गया। उसने छिले हुए घुटनों पर थोड़ी रेत डाल ली, और थोड़ी-सी रेत अपनी हथेली पर लेकर उसे फूँक से उड़ा दिया।

पचास गज़ दूर से समुद्र की उमड़ती लहरों का शब्द सुनाई दे रहा था। वह कुछ देर लहरों को किनारे की तरफ़ आते, और एक फेनिल लकीर छोड़कर वापस जाते देखता रहा। हर लहर के बाद दूसरी लहर और आगे तक बढ़ आती थी। पच्छिमी क्षितिज के पास बादलों के दो लम्बे सुरमई टुकड़े, समुद्र से निकले बड़े-बड़े मगरमच्छों की तरह, एक-दूसरे से उलझे हुए थे। लड़का उन मगरमच्छों को एक-दूसरे में विलीन होते देखता रहा। फिर वह बैठकर रेत में से सीपियाँ बटोरने लगा। केकड़े और उसी तरह के दूसरे जन्तु उछलते हुए समुद्र की तरफ़ से आते थे और पास से निकल जाते। लड़का टूटी हुई सीपियों को दूर फेंक देता, और साबुत सीपियों में से जो उसे ख़ूबसूरत लगतीं उन्हें कमीज़ से साफ़ करके ज़ेब में डाल लेता। अँधेरा धीरे-धीरे गहरा हो रहा था, इसलिए सीपियाँ ढूँढ़ना कठिन हो रहा था। लड़का एक बड़ी-सी सुन्दर सीपी को, जो एक ओर से टूटी हुई थी, हाथ में लेकर अनिश्चित दृष्टि से देखता रहा कि उसे ज़ेब में रख लेना चाहिए या नहीं? पर उसकी आँख ने टूटी हुई सीपी को स्वीकार नहीं किया। उसने उसे वहीं रेत में रख दिया और उठ खड़ा हुआ। उसकी आँखें कई पल गरजती हुई लहरों पर टिकी रहीं, फिर उधर को मुड़ गईं जिधर चौराहे की बत्ती का रंग लाल से पीला और पीले से हरा हो रहा था, और लाल रंग की बसें घरघराती हुई एक-दूसरी के पीछे दौड़ रही थीं।

एक बच्चा अपनी माँ की उँगली पकड़े नाचता हुआ आ रहा था। यह उसकी तरफ़ देखकर मुस्कुराया। एक गुब्बारेवाले के पास से निकलते हुए उसने उसके गुब्बारों को छेड़ दिया। गुब्बारेवाले ने घूरकर गुस्से से उसे देखा, तो उसने उसकी तरफ़ मुँह करके ज़ोर की सीटी बजाई और हाथ से ज़ेब में भरी हुई सीपियों का वज़न और फैलाव महसूस करता हुआ, तेज़-तेज़ चलने लगा।

सड़क के उस पार, चरनी रोड स्टेशन पर, एक लोकल गाड़ी मैरीन लाइंज़ से आकर रुकी थी, जो सीटी देकर अब ग्रांट रोड की तरफ़ चल दी। कुछ ही देर में गाड़ी से उतरे हुए लोगों की भीड़ चरनी रोड के पुल पर आ गई। भइया लोग दूध बेचकर ख़ाली पीपे लिये आ रहे थे। कुछ घाटी युवतियाँ एक-दूसरी को छेड़ती हुई पुल की सीढ़ियाँ उतर रही थीं। लड़के की आँखें काफ़ी देर पुल के उस हिस्से पर लगी रहीं, जहाँ से हर पल नए-नए चेहरे प्रकट होकर पास आने लगते थे, और कुछ ही देर में सीढ़ियों से उतरकर अदृश्य हो जाते थे।

"खिप्खिप्-खिर्र्र्र्," लड़के ने मुँह में दो उँगलियाँ डालकर आवाज़ पैदा की और मुस्कुराकर चारों तरफ़ देखा कि लोगों पर उस आवाज़ की क्या प्रतिक्रिया हुई है। यह देखकर कि उसकी आवाज़ की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं गया, उसने बाँहें फैला लीं और तनकर चलने लगा। काले पत्थर के बुत के पास पहुँचकर उसने उसकी दो परिक्रमाएँ लीं, और भागता हुए वहाँ पहुँच गया जहाँ एक परिवार के छह-सात लोगों

में एक गेंद को ऊँची-से-ऊँची उछालने की प्रतियोगिता चल रही थी। वह अपने रूखे बालों को खुजलाता और बीच-बीच में बाईं पिंडली को दाएँ पैर से मलता हुआ, उनका खेल देखने लगा। एक पन्द्रह-सोलह साल की लड़की, जिसने अपना नीला दोपट्टा कसकर कमर से लपेट रखा था, गेंद के साथ ऊपर को उछलती, तो लड़के की एड़ियाँ भी ज़मीन से तीन-चार इंच ऊपर उठ जातीं।

"ए लड़के!" किसी ने पास से उसे आवाज़ दी।

उसने घूमकर देखा। एक पारसी अपने सोए हुए बच्चे को कन्धे से लगाए खड़ा था और उसे हाथ के इशारे से बुला रहा था। उसने होंठ गोल करके एक बार पारसी की तरफ़ देख लिया, फिर खेल देखने में व्यस्त हो गया।

"ए लड़के, इधर आ," पारसी ने फिर आवाज़ दी, "इस बच्चे को उठाकर सीतल बाग़ तक ले चल। एक आना मिलेगा।"

"ख़ाली नहीं है," लड़के ने सिर और हाथ हिलाकर मना कर दिया।

"साले का दिमाग़ तो देखो," पारसी बड़बड़ाया, "ख़ाली नहीं है।...चल, आ इधर, दो आना मिलेगा।"

"ख़ाली नहीं है," लड़के ने और भी बेरुखी के साथ कहा, और ज़ेब से एक सीपी निकालकर उसे हवा में उछाला और दबोच लिया।

"साला बदमाश है," पारसी ने अपनी पत्नी से, जो गर्दन एक तरफ़ को झुकाए ढीले-ढाले ढंग से खड़ी थी, कहा। फिर बच्चे को उठाए वह सड़क की तरफ़ चल दिया।

गेंद उछालने की प्रतियोगिता समाप्त हो गई थी। वह लड़की अब अकेली ही बाँह घुमा-घुमाकर गेंद को पीछे की तरफ़ उछाल रही थी। एक बार बाँह घुमाने में गेंद ज़्यादा घूम गई और तेज़ी से समुद्र की तरफ़ बढ़ चली। लड़की के मुँह से हलकी-सी 'ओह' निकली। तभी वह लड़का तेज़ी से गेंद के पीछे भाग खड़ा हुआ। इससे पहले कि गेंद सामने से आती लहर की लपट में चली जाती, उसने टखने-टखने पानी में जाकर उसे पकड़ लिया—हालाँकि अँधेरा इतना हो चुका था कि गेंद और पत्थर में फ़र्क पर पाना मुश्किल था। लड़का गीली गेंद को ज़रा-ज़रा उछालता हुआ, उन लोगों के पास आया।

"बड़ी तेज़ आँख है तेरी!" भारी गर्दनवाले अधेड़ व्यक्ति ने, जो उस परिवार का पिता था, गेंद उसके हाथ से लेते हुए गिलगिली हँसी के साथ कहा।

"किस तरह चिमगादड़ की तरह लपका था!" नीले दोपट्टेवाली लड़की बोली। इन बातों के उत्तर में लड़के के गले से सिर्फ़ खुश्क-सी हँसी का स्वर सुनाई दिया।

"चल, हमारा सामान उठाकर ले चल," सूखी हड्डियोंवाली स्त्री, जो शायद उस लड़की की माँ थी, अहसास जताती हुई बोली।

"चलेगा?" पुरुष ने उसे ख़ामोश देखकर झिड़कने के स्वर में पूछ लिया।

''चलेगा,'' लड़के ने उत्तर दिया।

''तो यह दरी तह कर ले और बाक़ी सामान समेटकर टोकरी में रख ले,'' उस व्यक्ति ने दरी पर रखी प्लेटों और चम्मचों की तरफ़ इशारा किया।

लड़के ने एक झिझक के साथ बिखरे हुए सामान को देखा, एक निगाह लड़की पर डाली, और झुककर वे चीज़ें इकट्ठी करने लगा।

''सब चीज़ें ठीक से रख, और जा, पहले प्लेटें और चम्मच धो ला,'' स्त्री ने उसे आदेश दिया।

उसने जूठी प्लेटें और चम्मच इकट्ठी कीं और समुद्र की तरफ़ चला गया। वहाँ उसे उन सबको रेत से मलकर साफ़ किया और अच्छी तरह अपनी कमीज़ से पोंछ लिया। एक प्लेट लोटती लहर के साथ बह चली, तो उसने झपटकर उसे पकड़ लिया, और फिर से साफ़ करने लगा। जब उसे तसल्ली हो गई कि सब चीज़ें ठीक से चमक गई हैं, तो वह सीटी बजाता हुआ उन्हें उन लोगों के पास ले आया।

''इतनी देर क्या करता रहा वहाँ?'' स्त्री ने आते ही उसे झिड़क दिया। ''हम लोग रात तक यहीं बैठे रहेंगे क्या? अब जल्दी कर!''

वह बैठकर प्लेटों को टोकरी में रखने लगा। स्त्री बिलकुल उसके पास आकर खड़ी हो गई, और बोली, ''सब चीज़ें गिनकर रखना। प्लेटें पूरी छह हैं न?''

लड़के ने प्लेटें गिनीं और सिर हिलाया।

''और चम्मच?'' स्त्री झुककर देखती हुई बोली, ''चम्मच तो मुझे पाँच नज़र आ रही हैं।''

लड़के ने उन्हें गिना और कहा, ''हाँ, चम्मच पाँच ही हैं।''

''पाँच कैसे हैं?'' स्त्री कुछ सख़्त स्वर में बोली, ''पूरी छह हैं। एक चम्मच कहाँ छोड़ आया है?''

''छोड़ कहाँ आया होगा, ज़ेब में रख ली होगी। इसकी ज़ेब में देखो,'' पुरुष ने पास आते हुए कहा।

लड़के का हाथ सहसा अपनी ज़ेब पर चला गया, और सीपियों के फैलाव को छूकर, उनके बचाव के लिए वहीं रुका रहा।

''निकाल चम्मच, ज़ेब पर हाथ क्यों रखे हुए है?'' पुरुष ने उसे डाँटा। लड़का सहमा-सा टोकरी के पास से उठकर दो कदम पीछे हट गया।

''मैंने चम्मच नहीं ली,'' उसने कमज़ोर आवाज़ में कहा, ''मुझे नहीं पता वह चम्मच कहाँ है।''

''तुझे नहां तो तेरे बाप को पता है?'' कहते हुए उस व्यक्ति ने लड़के को बालों से पकड़ लिया और उसके मुँह पर एक तमाचा जड़ दिया।

''दे दे चम्मच, तुझसे कुछ भी नहीं कहेंगे।'' स्त्री ने जैसे उस पर तरस खाकर कहा।

"मेरे पास चम्मच नहीं है," लड़का उसी स्वर में बोला, "मेरी ज़ेब में मेरी अपनी चीज़ें हैं।"

"तेरी अपनी चीज़ें हैं!" पुरुष बड़बड़ाया। अभी देखता हूँ तेरी कौन-सी अपनी चीज़ें हैं! और उसने लड़के के बालों को अच्छी तरह झिंझोड़कर उसकी ज़ेब पर रखा हाथ अपने मोटे हाथ में कस लिया। उस हाथ के दबाव से लड़के ने महसूस किया कि उसकी ज़ेब में सीपियाँ टूट रही हैं। उसे जैसे उन सब सीपियों के चेहरे याद थे, और उसका हाथ पहचान रहा था कि उनमें कौन-कौन-सी सीपी टूट रही है। उसने झटके से पुरुष के हाथ से अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश की। मगर हाथ तो क्या छूट पाता, पुरुष ने गर्दन को और दबोच लिया।

"साले, भागना चाहता है?" पुरुष होंठ चबाता हुआ बोला, "देखो, मैं कैसे अभी तेरी गत बनाता हूँ! हटा हाथ!"

लड़के का हाथ उस मोटे हाथ के शिकंजे में निर्जीव-सा होकर हट गया। पुरुष ने उसकी ज़ेब को बाहर से दबाया, जिससे कितनी ही सीपियाँ टूट गईं।

"है चम्मच।" उसने स्त्री की तरफ़ देखकर कहा, "हरामी ने जाने ज़ेब में और क्या-क्या चीज़ें भर रखी हैं!"

"चोर कहीं का!" लड़की अपने छोटे भाइयों को लेकर अलग खड़ी थी, बोली।

लड़के का संघर्ष समाप्त हो गया था। पुरुष ने उसकी ज़ेब में हाथ डालकर ज़ेब की सब चीज़ें बाहर निकाल लीं। अधिकांश टूटी हुई सीपियाँ ही थीं। उनके अलावा और जो माल बरामद हुआ, वह था एक ताँबे का तावीज़, एक आधा खाया हुआ अमरूद, कुछ कौड़ियाँ और एक पैसा...।

"नहीं निकली?" स्त्री ने सब चीज़ों पर नज़र डालकर पूछा।

"नहीं," पुरुष खिसियाने स्वर में बोला, "जाने सूअर का बच्चा कहाँ छिपा आया है!"

"उधर धोने ले गया था, वहीं कहीं रख आया होगा।" लड़की दूर से बोली।

"ज़रा-सी उम्र में साले सबकुछ सीख जाते हैं!" पुरुष ने लड़के की चीज़ें गुस्से में दूर फेंकते हुए कहा, "जा, ले जा अपनी चीज़ें माँ के पास।"

अँधेरे में ताँबे की चमक कुछ दूर तक दिखाई दी, फिर पता नहीं क्या कहाँ जा गिरा। सीपियाँ हलकी थीं इसलिए वे अधिक दूर नहीं गईं।

लड़का तेज़ी से उस तरफ़ भागा जिधर उसकी चीज़ें फेंकी गई थीं। वह अँधेरे में आँखें गड़ा-गड़ाकर देखने लगा। लोगों के फेंके हुए जूठे दोने, ख़ाली नारियल और बहुत-सी मसली हुई थैलियाँ जहाँ-तहाँ पड़ी थीं। एक चमकती चीज़ को देखकर वह उसे उठाने के लिए झुका। वह सिगरेट का बरक था। एक जगह एक पत्थर को देखकर भी उसे तावीज़ का भ्रम हुआ। उसे उठाकर उसने ज़ोर से वापस पटक दिया। फिर वह थैलियों और पत्तों को पैरों से दबा-दबाकर टटोलने लगा। दो-एक ख़ाली

नारियलों को भी उसने झटककर देखा। काफ़ी देर देखने पर भी कुछ नहीं मिला, तो वह सीधा खड़ा हो गया। वह पुरुष समुद्र के पास होकर वापस आ रहा था। लड़का तेज़ी से उसकी तरफ़ लपका।

"मेरा टिक्का दो!" उसने पुरुष के पास पहुँचकर गुस्से के साथ कहा।

"हट!" पुरुष उसे बाँह से धकेलकर आगे बढ़ गया।

लड़के ने पीछे उसकी बाँह पकड़ ली। बोला, "पहले मेरा टिक्का दो। मैं तुम्हें ऐसे नहीं जाने दूँगा।"

"हट जा, नहीं तेरा सिर फोड़ दूँगा," पुरुष बाँह छुड़ाने की चेष्टा करने लगा। "भैन... मवालीगीरी करता है?"

"बहन की गाली मत दो!" लड़के का स्वर बहुत तीखा हो गया।

"कह रहा हूँ हट जा, नहीं तो..." पुरुष ने उससे बाँह छुड़ाकर उसे धक्का दे दिया। लड़के ने गिरते-गिरते किसी तरह अपने को सँभाल लिया और झपटकर उसकी बाँह में दाँत गड़ा दिए। इससे वह पुरुष एक बार तड़प गया। फिर लड़के को ज़मीन पर गिराकर वह उसे जूते से ठोकरें लगाने लगा। उसकी स्त्री और बच्चे पास आ गए। आसपास और भी कई लोग जमा हो गए। लड़का चिल्ला रहा था, "मार दे। मेरी जान ले ले, लेकिन मैं अपना टिक्का लिये बिना नहीं छोड़ूँगा। तू मार, और मार...।"

तीन-चार व्यक्तियों के रोकने पर वह व्यक्ति मारने से हटा। उसकी पत्नी लोगों को सुनाकर कहने लगी, "इतना-सा है, मगर है पक्का चोर। हमने उसे सामान उठाने के लिए तय किया और सामान टोकरी में रखने को कहा। पर हमारे देखते-देखते ही इसने एक चम्मच गायब कर दी। पूछा, तो भाग खड़ा हुआ। अब उनकी बाँह पर दाँत काट रहा था। दुनिया में ऐसे-ऐसे नालायक भी होते हैं!"

और वह व्यक्ति रोकनेवालों से कह रहा था, "मैंने तो इसे कुछ ठोकरें ही लगाई हैं। ऐसे हरामी को तो गोली से उड़ा देना चाहिए। साले एक तो चोरी करते हैं, ऊपर से मवालीगीरी करके दिखाते हैं।"

लड़का रो रहा था। दो व्यक्तियों की पकड़ में छटपटाता हुआ कह रहा था, "मेरा टिक्का मेरी माँ ने मुझे दिया था। मेरी माँ मर चुकी है। अब मुझे वह टिक्का कहाँ से मिलेगा? मैं इससे अपना टिक्का लेकर रहूँगा। या यह मेरी जान ले ले, या मैं इसकी जान ले लूँगा।" और वह पकड़ से छूटने के लिए और भी संघर्ष करने लगा।

उधर वह व्यक्ति कह रहा था, "मैं कहता हूँ, इसे हवालात में दे देना चाहिए। इसकी तलाशी ली, तो इसकी ज़ेब से ताँबे का एक तावीज़-सा निकला। यह भी साले ने किसी का उठाया होगा। अब भी वह यहीं कहीं पड़ा है, पर उसके बहाने यह ख़ून करने पर उतारू हो रहा है।"

"छोड़िए भाई साहब," कोई उसे समझाता हुआ बोला, "आप शरीफ आदमी हैं। आप क्यों इसे मुँह लगाते हैं? चोरी करना और ज़ेब काटना तो इन लोगों का धन्धा ही है। आपके साथ बाल-बच्चे हैं, आप चलिए यहाँ से।"

पास से गुज़रते हुए व्यक्ति ने दूसरे से पूछा, "क्या बात हुई है यहाँ?"

"पता नहीं," उसे उत्तर मिला, "एक लड़के ने कुछ चोरी-ओरी की है। उसी के लिए उसे मार-आर पड़ रही है।"

"बम्बई में इन लोगों के मारे नाक में दम है।" उस व्यक्ति ने कहा।

"चौपाटी तो इन लोगों का ख़ास अड्डा है!" दूसरे ने समर्थन किया।

"देखो कैसे गालियाँ बक रहा है!"

"बकने दीजिए। आप क्यों अपना वक़्त ख़राब करते हैं?"

वह व्यक्ति दूसरों के कहने-कहाने से स्त्री और बच्चों को साथ लेकर वहाँ से चल दिया। चलते हुए वह दूसरों को समझाने लगा कि ऐसे लड़कों के साथ सख़्ती का बर्ताव करना क्यों ज़रूरी है। दो व्यक्ति अब भी लड़के को पकड़े हुए थे और वह उनके हाथ से छूटने की चेष्टा करता हुआ सबको गालियाँ दे रहा था। लोग उसे खींचते हुए दूसरी तरफ़ ले गए। जब उसे छोड़ा गया, तो वह थोड़ी दूर जाकर और ज़ोर से गालियाँ देने लगा। फिर वह सिसकियाँ भरता हुआ रेत पर औंधा पड़ गया।

चौपाटी के अँधेरे भागों में अँधेरा पहले से गहरा हो गया था। मैदान में टहलनेवाले लोगों की संख्या बहुत कम हो गई थी। कहीं-कहीं कोई इक्का-दुक्का आदमी ही नज़र आता था। दूर कोने में एक आदमी एक लड़की की कमर में बाँह डाले बेंच पर बैठा उसे चूम रहा था। धीरे-धीरे समुद्र की लहरों और किनारे की बेंचों के बीच का फासला कम हो रहा था। 'स्पाश् शी' की आवाज़ के साथ हर लहर दूसरी लहर से आगे बढ़ आती थी। दूर क्षितिज के पास मछुआ-नावों की बत्तियाँ टिमटिमा रही थीं। टिट् टिट् टिट्...टिट् टिट् टिट्...टिट् टिट् टिट्! वातावरण में तरह-तरह की आवाज़ें फैली थीं। अरब सागर की हवा 'हुआँ-हुआँ' करती सामने की इमारतों से टकरा रही थी।

काफ़ी देर पड़े रहने के बाद लड़का रेत से उठ खड़ा हुआ, और आँखों से ज़मीन को टटोलता घिसटते पैरों से चलने लगा। सहसा उसका पैर एक नारियल पर से उलटा हो गया। उसने नारियल को कसकर गाली दी और ज़ोर की एक ठोकर लगाई। नारियल लुढ़कता हुआ समुद्र की लहरों की तरफ़ चला गया। उसने पास जाकर उसे दूसरी ठोकर लगाई। नारियल सामने से आती लहर में खो गया। उस लहर के लौटते-लौटते उसे नारियल फिर दिखाई दे गया। एक और लहर उमड़ती आ रही थी। इसलिए पास न जाकर उसने वहीं से एक पत्थर नारियल को मारा, और साथ भरपूर गाली दी, "तेरी माँ को..."

और फिर वह सामने से आती हर लहर को ज़ोर-ज़ोर से पत्थर मारने लगा, "तेरी माँ को...तेरी बहन को...।"

आर्द्रा

बचन को थोड़ी ऊँघ आ गई थी, पर खटका सुनकर वह चौंक गई। इरावती ड्योढ़ी का दरवाज़ा खोल रही थी। चपरासी गणेशन आ गया था। इसका मतलब था कि छह बज चुके थे। बचन के शरीर में ऊब और झुँझलाहट की झुरझुरी भर गई। बिन्नी न रात को घर आया था, न सुबह से अब तक उसने दर्शन दिए थे। इस लड़के की वजह से ही वह यहाँ परदेस में पड़ी थी, जहाँ न कोई उसकी ज़बान समझता था, न वह किसी की ज़बान समझती थी। एक इरावती ही थी जिससे वह टूटी-फूटी हिन्दी में बात कर लेती थी, हालाँकि उसकी पंजाबी हिन्दी और इरावती की कोंकणी हिन्दी में ज़मीन-आसमान का फ़र्क था। जब इरावती भी उसका सीधे-सादे शब्दों में कही साधारण-सी बात को न समझ पाती, तो वह बुरी तरह अपनी विवशता के खेद से दब जाती। और इस लड़के को रत्ती चिन्ता नहीं थी कि माँ किस मुश्किल से दिन काटती है और किस बेसब्री से इसका इन्तज़ार करती है। मन में आया, तो घर आ गए, नहीं तो जहाँ हुआ पड़ रहे।

एक मादा सूअर अपने छह बच्चों के साथ, जो अभी नौ-नौ इंच से बड़े नहीं हुए थे, कुएँ की तरफ़ से आ रही थी। तूत के बुड्ढे पेड़ के पास पहुँचकर उसने हूँफ़्-हूँफ़् करते हुए दो-तीन बार नाली को सूँघा और फिर पेड़ के नीचे कीचड़ में लोटने लगी। उसके नन्हे आत्मज उसके उठने की राह देखते हुए वहीं आसपास मँडराते रहे।

दिन-भर गली में यही सिलसिला चलता था। आसपास के सभी घरों ने सूअर पाल रखे थे। उस बस्ती में लोगों के दो ही धन्धे थे–सूअर पालना और नाजायज़ शराब निकालना। ये दोनों चीज़ें उनके रोज़ के खान-पान में शामिल थीं। बस्ती, सान्ता क्रुज़ हवाई अड्डे से कुल आधा मील के फासले पर थी, पर पुलिस की आँख वहाँ नहीं पहुँचती थी। मोनिका का बाप जेकब गली में ही भट्ठी लगाता था। वह गली का सबसे बड़ा पियक्कड़ था और अक्सर पीकर गाता हुआ गली में चक्कर लगाया करता था : ''ओ दैट आई हैड विंग्ज़ ऑफ़ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ्लाऽऽई... ।''

उस वक़्त भी वह रोज़ की तरह कुएँ के मोड़ के पास से लड़खड़ाता हुआ आ रहा था। उसके लफ्ज़ बचन की समझ से बाहर थे, मगर उसकी आवाज़ ही उसके दिल में दहशत पैदा करने के लिए काफ़ी थी। ''ओ दैट आई हैड विंग्ज़ ऑफ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ्लाऽऽई! आई वुड सीक द गेट्स ऑफ सायन, फार बियांड द स्टाऽऽरी स्काऽऽई! होइ-हो! हो-हो-होऽऽ! ओ दैट आई हैड विंग्ज़ ऑफ़ एंजल्स...!''

उसका चौड़ा चौकोर चेहरा वैसे ही भयानक था—अपने ढीले-ढीले काले सूट में वह और भी भयानक दिखाई देता था। चेचक के दागों और झुर्रियों से भरा उसका चेहरा दीमक खाई लकड़ी की तरह जान पड़ता था। दूर से ही उस आदमी की आवाज़ सुनकर बचन का दिल धड़कने लगता और वह अपना दरवाज़ा बन्द कर लेती। उसने कितनी ही बार बिन्नी से कहा था कि वह उस बस्ती से मकान बदल ले, मगर वह हर बार यह कहकर टाल देता था कि बम्बई की और किसी बस्ती में बीस रुपए महीने में मकान नहीं मिल सकता। बचन डर के मारे बिन्नी के आने तक लालटेन की लौ भी ज़्यादा ऊँची नहीं करती थी। अँधेरा बहुत बोझिल महसूस होता था, मगर वह मन मारे बैठी रहती थी।

लालटेन की चिमनी नीचे से आधी काली हो गई थी। बचन को उसे साफ़ करने का उत्साह नहीं हुआ। अँधेरा होने लगा, तो उसने जैसे फर्ज पूरा करने के लिए उसे जला दिया और एक अज्ञात देवता के सामने हाथ जोड़ने की प्रक्रिया पूरी करके घुटनों पर बाँहें रखे वहीं बैठी रही। सामने मोढ़े के नीचे लाली का कार्ड रखा था। वह अक्षरों की बनावट से परिचित थी, पर हज़ार आँखें गड़ाकर भी उनका अर्थ नहीं जान सकती थी। बिन्नी के सिवा हिन्दी की चिट्ठी पढ़नेवाला वहाँ कोई नहीं था, हालाँकि बिन्नी से चिट्ठी पढ़वाकर भी उसे सुख नहीं मिलता था। वह लाली की चिट्ठी इस तरह पढ़कर सुनाता था जैसे वह उसके बड़े भाई की चिट्ठी न होकर गली के किसी ग़ैर आदमी के नाम आई किसी नावाकिफ आदमी की चिट्ठी हो। दो मिनट में ही वह पहली सतर से लेकर आख़िरी सतर तक सारी चिट्ठी गुन-गुन करके बाँच देता था, और फिर उसे कोने में फेंककर इधर-उधर की हाँकने लगता था। हर बार उससे चिट्ठी सुनकर वह कुढ़ जाती थी। पर बिन्नी उसे नाराज़ देखता, तो तरह-तरह की बातें बनाकर खुश कर लिया करता था।

उसे खुश होते देर नहीं लगती थी। बिन्नी इतना बड़ा होकर भी जब-तब उससे बच्चों की तरह लाड़ करने लगता था। कभी उसकी गोदी में सिर रखकर लेट जाता, और कभी उसके घुटनों से गाल सहलाने लगता। ऐसे क्षणों में उसका दिल पिघल जाता और वह उसके बालों पर हाथ फेरती हुई उसे छाती से लगा लेती।

''माँ, तेरा छोटा लड़का कपूत है न?'' बिन्नी कहता।

"हा-ह", वह हटकने के स्वर में कहती। "तू कपूत है? तू तो मेरा चन्न है", और वह उसका माथा चूम लेती।

लेकिन अक्सर वह बहुत तंग पड़ जाती थी। बहुत-सी रातें ऐसी गुज़रती थीं जब वह घर आता ही नहीं था। अँधेरे घर की छत उसे दबाने को आती थी और वह सारी-सारी रात करवटें बदलती रहती थी। ज़रा आँख झपक जाती, तो उसे बुरे-बुरे सपने दिखाई देने लगते। इसलिए कई बार कोशिश करके आँखें खुली रखती थी।

और बिन्नी आता, तो अपने में ही उलझा हुआ और व्यस्त-सा। वह समझ नहीं पाती थी कि उस लड़के को किस चीज़ की व्यस्तता रहती है। जहाँ तक कमाने का सवाल था, वह महीने में मुश्किल से साठ-सत्तर रुपए घर लाता था। कभी दस रुपए ज़्यादा ले आता, तो साथ अपनी माँगें सामने रख देता—"इस बार माँ, दो कमीज़ें सिल जाएँ और एक बढ़िया-सा जूता ले लिया जाए।" उसकी बातों से बचन के होंठों पर रूखी-सी मुस्कुराहट आ जाती थी। दस रुपए में ही उसे दुनिया-भर का सामान चाहिए! और जब वह साठ से भी कम रुपए लाता, तो महीने-भर की बड़ी आसान-सी योजना उसके सामने पेश कर देता—'दूध-सब्ज़ी का नागा। दाल, प्याज़, खुश्क फुलके और बस!'

वह जानती थी कि ये रुपए भी वह ट्यूशन-ऊशन करके ले आता है, वरना सही माने में वह बेकार ही है। उसके दिल में बड़े-बड़े मनसूबे ज़रूर थे और उनका बखान करते वक़्त वह छोटा-मोटा भाषण दे डालता था। मगर उन मनसूबों को पूरा करने के लिए जिस दुनिया की ज़रूरत थी, वह दुनिया अभी बनी नहीं थी। वह जोश से उँगलियाँ नचा-नचाकर कहता, "माँ, जब वह दुनिया बन जाएगी, तो तुझे पता चलेगा कि तेरा नालायक बेटा कितना लायक है!"

"चुप कर खसम खाना!" वह प्रशंसा की नज़र से उसे देखती हुई कहती, "बड़ा लायक एक तू ही है।"

"माँ, मेरी लियाकत मेरे पेट में बन्द है!" वह हँसता। "जिस तरह हिरन के पेट में कस्तूरी बन्द होती है न, उसी तरह। जिस दिन वह खुलकर सामने आएगी, उस दिन तू अचम्भे से देखती रह जाएगी।"

उसे बिन्नी की बातें सुनकर गर्व होता था। मगर जब वह लड़का बहुत गुमसुम और बन्द बन्द-सा हो रहता, तो उसे उलझन होने लगती थी।

बिन्नी के साथ उसके अजीब-अजीब दोस्त घर आया करते थे। उन लोगों का शायद कोई ठौर-ठिकाना था ही नहीं, क्योंकि वे आते तो दो-दो दिन वहीं पड़े रहते थे, और खाने-पीने में किसी तरह का शरम-लिहाज नहीं बरतते थे। तवे से उतरती रोटी के लिए जब वे आपस में छीना-झपटी करने लगते, तो उसे मन में बहुत खुशी

का अनुभव होता। मगर अक्सर उसकी दाल की पतीली ख़ाली हो जाती, और यह देखकर कि उन लोगों की भूख अभी बनी है, उसे घर की गरीबी अपना अपराध प्रतीत होती। ऐसे समय उसकी आँखों में नमी भर जाती और वह ध्यान बँटाने के लिए दूसरे काम करने लगती। वे लोग रूखी नमकीन रोटियों की फरमाइश करते, तो वह चुपचाप उन्हें बना देती। मगर उन्हें खिलाने का उसका सारा उत्साह तब तक समाप्त हो चुका होता।

और उन लोगों के बहस-मुबाहिसे कभी समाप्त नहीं होते थे। वे सब ज़ोर-ज़ोर से बोलते थे और इस तरह आपस में उलझ जाते थे जैसे उनकी बहस पर ही धरती और ईश्वर का दारोमदार हो। कई बार वे इतने गरम हो जाते थे कि लगता था अभी एक-दूसरे को नोंच लेंगे, मगर सहसा उस उत्तेजना के बीच से एक कहकहा फूट पड़ता और वे उठ-उठकर एक-दूसरे से बगलगीर होने लगते। बिन्नी बचपन में बहुत ख़ामोश लड़का था। अब उसे इस तरह हुड़दंग करते देखकर उसे हैरानी होती थी। कई-कई घंटे घर में तूफान मचा रहता था। उसके बाद फिर ख़ामोशी छा जाती जो बहुत ही अस्वाभाविक और दम घोटनेवाली महसूस होती। जब बिन्नी दो-दो दिन घर न आता, तो उस ख़ामोशी के ओर-छोर गुम हो जाते और वह अपने को सदा से एक गहरे शून्य में घिरी हुई महसूस करती।

अँधेरा गहरा होने लगा और मोनिका का बाप जाकर अपने कमरे में बन्द हो गया तो उसने फिर दरवाज़ा खोल लिया। मादा सूअर और उसके बच्चे अब सामने घर के अहाते में डेरा जमाए थे और एक मोटा सूअर नाली के पास हुँफ़्-हुँफ़् कर रहा था। हवा तेज़ हो गई थी, और तूत के बुड्ढे पेड़ की डालियाँ बुरी तरह हिल रही थीं। आसमान का जो छोर दिखाई देता था, वहाँ रह-रहकर बिजली चमक जाती थी। दो महीने से प्रायः रोज़ वर्षा हो रही थी। घर से कुएँ तक गली में कीचड़ ही कीचड़ रहता था। इस कीचड़ के लिए बचन को लड़के-लड़कियों की उन टोलियों से शिकायत थी जो वर्षा शुरू होने से पहले आधी-आधी रात तक गली में घूमती हुई ऊँचे स्वर में ईश्वर से पानी बरसाने के लिए प्रार्थना किया करती थीं। अब जैसे उन्हीं की वजह से सारा दिन गली में चिपड़-चिपड़ होती रहती थी।

ड्योढ़ी के दरवाज़े पर फिर दस्तक हुई। इरावती ने दरवाज़ा खोल दिया और बिन्नी मुस्कुराता हुआ उधर से अन्दर आ गया।

''आगे की तरफ़ बहुत कीचड़ है भाभी, माफ करना'', कहता हुआ वह अपने कमरे में आ गया। इरावती ने उस पर एक शिकायत की नज़र डालकर दरवाज़ा बन्द कर लिया। उसके सिर के बाल बुरी तरह उलझे थे और कुरता-पाजामा बहुत मुचड़ गया था। जाहिर था कि वह सुबह जिस हाल में सोकर उठा था, अब तक उसी हाल में था, और उसे मुँह-हाथ धोने का भी वक़्त नहीं मिला था।

"माँ, जल्दी से रोटी डाल दे, भूख लगी है!" आते ही चारपाई पर फैलते हुए उसने आदेश दिया। बचन चुपचाप अपनी जगह बैठी रही। न उठी, और न ही उसने मुँह से कुछ कहा। कुछ क्षण प्रतीक्षा करने के बाद बिन्नी ने सिर उठाया और कहा, "माँ, रोटी...।"

"रोटी आज नहीं बनी है", वह बोली। "मुझे क्या पता था कि लाटसाहब आज भी घर आएँगे कि नहीं! रात की रोटी मैंने सवेरे खाई, सवेरे की अब खाई है। मैं क्यों रोज़-रोज़ बासी रोटी खाती रहूँ? जा, किसी तन्दूर पर जाकर खा ले।"

बिन्नी हँसता हुआ चारपाई से उठ बैठा और माँ के मोढ़े के पास चला आया। "यहाँ तन्दूर है कहाँ, जहाँ जाकर खा लूँ?" वह बोला। "मेरे हिस्से की जो बासी रोटी रखी थी, वह तूने क्यों खाई? निकाल मेरी बासी रोटी..." और वह माँ का घुटना पकड़कर बैठ गया।

"मेरे पेट से निकाल ले अपनी बासी रोटी!" बचन ने आरम्भ किया मीठी झिड़की के रूप में, पर वाक्य समाप्त करते-करते उसकी आँखें गीली हो गईं!

बिन्नी ने उसकी गीली आँखें नहीं देखीं। वह उठकर रोटीवाले डब्बे के पास चला गया और बोला, "डब्बे में रखी होगी, ज़रूर रखी होगी।"

बचन ने उसकी नज़र बचाकर आँखें पोंछ लीं। बिन्नी रोटीवाला डब्बा लिये उसके सामने आ बैठा। डब्बे में कटोरा-भर दाल के साथ चार रोटियाँ कपड़े में लपेटकर रखी थीं। बिन्नी ने जल्दी से एक रोटी का टुकड़ा तोड़ लिया।

"यह तो ताज़ा रोटी है!" वह टुकड़ा मुँह में ठूँसे हुए बोला।

"बासी रोटी खाने को माँ जो है!" कहकर बचन उठ खड़ी हुई। उसने पानी का गिलास भरकर उसके पास रख दिया। बिन्नी ने एक घूँट में गटागट गिलास ख़ाली कर दिया और बोला, "थोड़ा और!"

बचन ने गिलास उठा लिया और सुराही से उसमें पानी डालती हुई बोली, "लाली का कार्ड आया है।"

"अच्छा!" कहकर बिन्नी रोटी खाता रहा। उसने कार्ड के बारे में ज़रा भी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। बचन का दिल दुख गया। वह गिलास बिन्नी के आगे रखकर बिना एक शब्द कहे अहाते में चली गई और चारपाई पर दरी डालकर पड़ गई। उसका दिल उछलकर आँखों से आने को हो रहा था, पर वह किसी तरह चेहरा सख़्त किए अपने को रोके रही। थोड़ी देर में बिन्नी जूठे पानी से हाथ धोकर मुँह पोंछता हुआ अन्दर से आ गया।

"कहाँ है कार्ड?" उसने पूछा।

"कहीं नहीं है", बचन ने रुँधे स्वर में कहा और करवट बदल ली।

"अब बता भी दे न, जल्दी से सब समाचार पढ़ दूँ।"

"सो जा, मुझे कोई समाचार नहीं पढ़वाने हैं।"

"पढ़वाने क्यों नहीं हैं, मैं अभी सब सुनाता हूँ", कहकर बिन्नी अन्दर चला गया और कार्ड ढूँढ़कर ले आया। साथ लालटेन भी उठा लाया। आधे मिनट में उसने सरसरी नज़र से सारा कार्ड पढ़ डाला।

"भैया की तबीयत ठीक नहीं है", वह लालटेन जमीन पर रखकर माँ की चारपाई के पैताने बैठ गया। बचन सहसा उठकर बैठ गई। बिन्नी ने गुनगुन करके पहली डेढ़ी पंक्ति पढ़ी और फिर उसे सुनाने लगा। लाली ने लिखा था कि उसका ब्लड-प्रेशर फिर बढ़ गया था, डॉक्टर ने उसे आराम करने की सलाह दी है। कुसुम की तबीयत अब ठीक है और उसका रंग भी लाली पर आ रहा है। उन्होंने मकान बदल लिया है क्योंकि पहला मकान हवादार नहीं था और बच्चों को वहाँ से स्कूल जाने में भी दिक़्क़त होती थी। अब दीवाली पास आ रही है, इसलिए बच्चे दादी माँ को बहुत याद करते हैं। उसे गए छह महीने से ऊपर हो गए हैं, इसलिए हो सके, तो दीवाली के दिनों में आकर मिल जाए।

"इसके बाद सबकी नमस्ते है", कहकर बिन्नी ने कार्ड रख दिया।

"यह नहीं लिखा कि किस डॉक्टर का इलाज कर रहा है?"

"तू जैसे वहाँ के सब डॉक्टरों को जानती है।"

बिन्नी ने बात अनायास कह दी थी, पर बचन का मन छिल गया। उसके चेहरे पर फिर कठिनता आ गई।

"मैं कल वहाँ चली जाती हूँ," उसने कहा।

"तू चली जाएगी तो मैं यहाँ अकेला कैसे रहूँगा? मेरी रोटी...?"

बचन ने वितृष्णा से उसे देखा, जिसका मतलब था कि तेरी रोटी क्या उसकी जान से ज़्यादा प्यारी है?

"तू कौन घर की रोटी पर रहता है," मुँह से उसने इतना ही कहा।

"भैया का ब्लड-प्रेशर कोई नई बीमारी तो है नहीं..." बिन्नी फिर कहने लगा।

"तू ये बातें रहने दे, मैं कल यहाँ से जा रही हूँ", बचन ने उसकी बात को बीच में ही काट दिया। कुछ क्षण दोनों ख़ामोश रहे। फिर बिन्नी 'अच्छा' कहकर उसके पास से उठ गया।

अगले दिन सुबह वह 'अभी थोड़ी देर में आता हूँ' कहकर घर से चला गया और दोपहर तक लौटकर नहीं आया। बचन का किसी काम में मन नहीं लग रहा था। फिर भी उसने किसी तरह खाना बनाया और घर के सब छोटे-मोटे काम पूरे किए। बिन्नी की चारों-पाँचों कमीज़ें लेकर उनके टूटे बटन भी लगा दिए। फिर अपनी दरी और कपड़े एक जगह इकट्ठे कर लिए। यह तय नहीं था कि वह उस दिन वहाँ से जा पाएगी या नहीं। बिन्नी सुबह उसे निश्चित कुछ बताकर नहीं गया था। सम्भव

था कि वह रात तक घर आए ही नहीं। रात को भी उसके आने का भरोसा नहीं था। यह भी डर था कि बिन्नी के पास किराये लायक पैसे शायद हों ही नहीं। उस दिन महीने की उन्नीस तारीख़ थी। और उन्नीस तारीख़ को बिन्नी के पास पैसे कब रहते थे? उस हालत में उसे तीन-चार तारीख़ तक जाना टालना पड़ेगा। वह यह भी नहीं जानती थी कि दीवाली इस बार किस तारीख़ को पड़ेगी। वह सोचने लगी कि इस बीच लाली की तबीयत और ज़्यादा ख़राब हो गई, तो? उसे काफ़ी ज़्यादा तकलीफ़ होगी, जो उसने चिट्ठी में लिखा है। नहीं वह चिट्ठी में कभी न लिखता। ऐसे में वह पन्द्रह-बीस दिन वहाँ से न जा सकी, तो?

तभी बिन्नी आ गया। उसके साथ उसका लम्बे बालोंवाला दोस्त शशि भी था, जिसकी गर्दन बात करते हुए तोते की तरह हिलती थी। वह उसकी दाल का सबसे बड़ा प्रशंसक था। आते ही दाल की फरमाइश करता था। हमेशा की तरह वे गली से ऊँची आवाज़ में बात करते हुए आए।

''मैं तेरा टिकट ले आया हूँ'', बिन्नी ने आते ही कहा। "मंगलबाड़ी से शशि को साथ लिया, और वहीं से टिकट भी ले लिया। पर तू तो अभी तैयार ही नहीं हुई...!''

''तैयार क्या होती? तू मुझसे कहकर गया था...?''

"जब रात को तय हो गया था, तो सुबह कहने की क्या ज़रूरत थी? अच्छा, अब जल्दी से तैयार हो जा। गाड़ी में दो घंटे हैं। तेरे लिए नकद सवाबीस ख़र्च करके आया हूँ, वे भी उधार के।''

बचन को बुरा लगा कि वह बाहर के आदमी के सामने ऐसी बात क्यों कह रहा है। क्या वह नहीं जानती थी कि टिकट के लिए रुपए उधार लेने पड़े होंगे? वह कब चाहती थी कि उसकी वजह से उस पर उधार चढ़े? वह उससे कह देता, तो वह बारह-चौदह दिन बाद चली जाती।

वह कुछ न कहकर अपने कपड़े दरी में लपेटने लगी।

''हट माँ, तुझे बिस्तर बाँधना आता भी है?'' बिन्नी आगे बढ़ आया। ''उल्टी-सीधी रस्सी बाँधेगी, और कहीं से बिस्तर को मोटा कर देगी, कहीं से पतला। हट जा; मैं अभी एक मिनट में बाँध देता हूँ। ऐसा बिस्तर बँधेगा कि वहाँ पहुँचकर भी तेरा खोलने को जी नहीं करेगा।''

''तू रोटी खा ले, मैं बिस्तर बाँध लेती हूँ'', बचन की आँखें भर आईं।

''रोटी खानेवाला आदमी मैं साथ लाया हूँ'', वह माँ के लपेटे कपड़ों को फिर से फैलाता हुआ बोला। ''यह इसीलिए आया है कि तू चली जाएगी, तो तेरे हाथ की दाल फिर इसे कहाँ मिलेगी?''

बचन की गीली आँखों में हलकी मुस्कुराहट भर गई।

''इसे भी खिला दे,'' वह बोली, मैं अभी दो फुलके और बना देती हूँ।''

''और बनाने की ज़रूरत नहीं। जो बने हैं, वही खा लेंगे।''

''पहले मैं खा लूँ, फिर जो बचे वे इसे दे देना,'' कहकर शशि गर्दन उठाकर हँस दिया। बिन्नी बिस्तर बाँधता रहा। वह उन दोनों के लिए रोटी डालकर ले आई।

''तैयार!'' बिन्नी ने हाथ झाड़े और शशि के साथ खाना खाने में जुट गया।

''माँ, अपने लिए रोटी रख लेना और जितनी बचे वह सब हमें ला देना,'' शशि दाल सुड़कता हुआ बोला। वे दोनों खा चुके, तो बचन ने जल्दी से बरतन समेट दिए।

''अब माँ, तू भी जल्दी से खा ले,'' बिन्नी ने कुल्ला करके हाथ पोंछते हुए कहा।

''मैंने खा ली है।''

''कब खा ली है?'' बिन्नी ने पास जाकर उसके कन्धे पकड़ लिए।

''तेरे आने से पहले।''

''झूठी!''

''सच, मैंने खा ली है।''

''आगे तो कभी इतनी जल्दी नहीं खाती।''

''आज खा ली है।...घर से जाना था न! तुम दोनों तो भूखे नहीं रहे?''

''एक-चौथाई भूखे रह गए!'' शशि ने डकार लेकर तौलिए से मुँह पोंछा और उसे खूँटी पर टाँगकर हँसने लगा।

स्टेशन पर उसे गाड़ी में बिठाकर वे दोनों प्लेटफार्म पर टहलते रहे। रात को भी उसने ठीक से नहीं खाया था, इसलिए भूख के मारे उसका सिर चकरा रहा था। वह जानती थी कि बिन्नी को पता है उसने कुछ नहीं खाया। इसीलिए उसके मना करने पर भी वह आधा दर्जन केले लेकर रख गया था। वह एक बार कह चुकी थी कि उसे भूख नहीं है, इसलिए केले वैसे ही रखे थे। बिन्नी हठ से कहता, तो वह खा लेती। मगर बिन्नी और शशि टहलते हुए दूर चले गए थे। शायद अब भी उनमें बहस चल रही थी। उसकी समझ में नहीं आता था कि ये लोग इतनी बहस क्यों करते है। हर वक़्त बहस, बहस, बहस! बहस का कोई अन्त भी होता है! जैसे सारी दुनिया के झगड़े इन्हीं को निपटाने हों! फटे हाल रहेंगे, सेहत का ज़रा ध्यान नहीं रखेंगे, और बातें, जैसे दुनिया की दौलत के यही मालिक हों, और उसे बाँटने की समस्या इन्हीं के सिर पर आ पड़ी हो।

वे दोनों प्लेटफार्म के उस सिरे तक होकर वापस आ रहे थे। वह उनके चेहरे देख रही थी। माथे पर सलवटें डाले वे हाथ हिला-हिलाकर बातें कर रहे थे। फिर भी वे बच्चे-से दीखते थे। उस समय शायद वे यह भी भूल गए थे कि वे उसे गाड़ी पर छोड़ने आए हैं। सहसा गार्ड की सीटी सुनकर वे उसके डब्बे के पास आ गए। मगर वहाँ आकर भी उनकी बहस चलती रही—करघे का काम रुक जाएगा तो कितने आदमी बेकार हो जाएँगे। इसलिए अच्छा यही है कि मालिकों से बात चलती रहे और

कामगर काम जारी रखें। बचन सोचने लगी कि ये लोग कभी अपने काम के बारे में बात क्यों नहीं करते? अपनी बेकारी की चिन्ता इन्हें क्यों नहीं सताती?

गाड़ी चलने लगी, तो बिन्नी को जैसे उसके पास होने का होश हुआ और उसका हाथ पकड़कर उसने कहा, ''अच्छा माँ...।''

बचन के होंठों पर रूखी-सी मुस्कुराहट आ गई। उसने बारी-बारी से उन दोनों के सिर पर हाथ फेरा।

''तू कब लौटकर आएगी?''

''जब भी तू बुलाएगा।''

गाड़ी ने रफ़्तार पकड़ ली। वह देर तक खिड़की से सिर निकालकर उन्हें देखती रही। दोनों हाथ में हाथ डाल गेट की तरफ़ जा रहे थे। उनकी बहस शायद अब भी चल रही थी।

बचन को घर आए पन्द्रह दिन हो गए थे।

''बिन्नी की चिट्ठी नहीं आई?'' उसने लाली के कमरे के बाहर रुककर पूछा। लाली से सवाल पूछने में उसका स्वर थोड़ा दब जाता था। वह बेटा बड़ा होते-होते इतना बड़ा हो गया था कि वह अपने को उससे छोटी महसूस करने लगी थी।

''आ जा, माँ'', लाली ने कागज़ों से आँखें उठाकर कहा, ''चिट्ठी उसकी आज भी नहीं आई। न जाने इस लड़के को क्या हो गया है!''

''तू काम कर, मैं जा रही हूँ,'' वह बोली, ''सिर्फ़ चिट्ठी का ही पूछने आई थी।''

वह बरामदे से होकर अपने कमरे में आ गई। जानती थी कि लाली का समय कीमती है। वह आधी-आधी रात तक बैठकर दूसरे दिन के केस तैयार करता है। मुवक्किलों की वजह से उसका खाने-पीने का भी समय निश्चित नहीं रहता। इधर छह महीने में उसकी व्यस्तता पहले से कहीं बढ़ गई थी। नए घर में आ जाने से जगह का तो आराम हो गया था, मगर कचहरी पहले से भी दूर हो गई थी। लाली की व्यस्तता के कारण कई बार वह सारा-सारा दिन उससे बात नहीं कर पाती थी। रात को वह बैठक से उठकर आता, तो सीधा अपने सोने के कमरे में चला जाता। दिन-भर की थकान के बाद वह उसके आराम में खलल नहीं डालना चाहती थी। सवेरे वह कुसुम से पूछ लेती कि रात को उसकी तबीयत कैसी रही है। कुसुम संक्षेप में उसे बता देती।

''सोने से पहले उसके सिर में बादाम रोगन डाल दिया कर,'' वह कुसुम से कहती।

''मैं कई बार कहती हूँ, पर ये डलवाते ही नहीं,'' कुसुम जैसे रटा रटाया उत्तर दे देती।

"मुझे बुला लिया कर, मैं आकर डाल दिया करूँगी।"

"डालने को नौकर है, पर ये डलवाते ही नहीं।"

वह जानती थी कि सिर में बादाम रोगन डलवाने के लिए लाली को किस तरह राज़ी किया जा सकता है। मगर कुसुम अपने को लाली की ज़्यादा अन्तरंग समझती थी, और उसके सुझावों से सहमति प्रकट करती हुई भी करती वही थी जो उसके अपने मन में होता था। कुसुम जिस शिष्टता और कोमलता से बात करती थी, उससे बचन को लगता था कि वह उस घर में केवल मेहमान है। दिन-भर उसके करने के लिए वहाँ कोई काम नहीं होता था। खाना बनाने के लिए एक नौकर था, ऊपर का काम करने के लिए दूसरा। उनके काम की देखभाल के लिए कुसुम थी। बचन जब भी कोई काम करने के लिए कहती, तो कुसुम झट उसे मना कर देती—नौकर के रहते अपने हाथ से काम करने की क्या ज़रूरत है? यही बात लाली भी कह देता था—माँ, तू काम करेगी, तो घर में दो-दो नौकर किसलिए हैं?

बचन सोचती कि काम करने के लिए नौकर हैं, और देखभाल के लिए कुसुम है, फिर घर में उसका होना किसलिए है? सवेरे पाँच बजे से रात के दस बजे तक वह क्या करे? पन्द्रह दिन पहले जब वह आई ही थी, तो बच्चे उसे घेरे रहते थे। उन्हें दादी माँ से हज़ारों बातें कहनी और शिकायतें करनी थीं। मगर चार दिन में ही उनके लिए उसकी नवीनता समाप्त हो गई थी। उनकी अपनी छोटी-छोटी व्यस्तताएँ थीं, जिनमें उनका समय बँटा हुआ था। अब भी कभी-कभी कुमुद ज़रूर उसके पास आ जाती थी, और उसके कमरे में एक तरफ़ ख़ामोश खेलती रहती थी। उसे शायद दादी माँ इसलिए अच्छी लगती थी कि उसकी माँ दोनों भाइयों को ज़्यादा प्यार करती थी...।

बचन कमरे में आकर चारपाई पर लेट गई। मन ताने-बाने बुनने लगा। बिन्नी ने अभी तक चिट्ठी क्यों नहीं लिखी? वहाँ अँधेरे घर में इस वक़्त वह अकेला सोया होगा। रोटी का जाने उसने क्या प्रबन्ध किया है? उसने चलते वक़्त उससे पूछा भी नहीं कि वह पीछे कैसे रहेगा, कहाँ से रोटी खाएगा? उसके पास रहते वह तन-बदन की होश भूला रहता था, अब जाने उसकी क्या हालत होगी? चिट्ठी लिख देता, तो कुछ तो तसल्ली हो जाती। मगर उसे चिट्ठी लिखने की याद भी आएगी?

कमरे की खिड़की खुली थी और दूर तक खुला आकाश दिखाई दे रहा था। खिड़की से दिखाई देते उन नक्षत्रों की स्थितियों से वह परिचित थी। उन्हीं नक्षत्रों को वह बम्बई की उस मनहूस बस्ती के ऊपर भी झिलमिलाते देखा करती थी। यहाँ से वे उसे तिरछे कोण से दिखाई देते थे, वहाँ वह अहाते में लेटकर उन्हें ठीक अपने ऊपर देखा करती थी। उसी तरह लेटी हुई वह बिन्नी की आहट की प्रतीक्षा करती थी। हुँफ्-हुँफ् की आवाज़ें पास आतीं, और दूर चली जाती थीं। फिर दूर से फटे गले

की बेहूदा आवाज़ सुनाई देने लगती थी, ''ओ डैडाई है डिंवजो फेंजल...।'' उस आवाज़ से वह कितनी नफरत करती थी! यहाँ इस एकान्त बँगले में आसपास से कोई आवाज़ नहीं आती थी। नौ-साढ़े नौ बजे बच्चों के सो जाने के बाद बिलकुल ख़ामोशी छा जाती थी। सिर्फ़ रंगीलाल के बरतन मलने या चौका धोने की ही आवाज़ सुनाई देती थी।

उसने करवट बदल ली कि किसी तरह नींद आ जाए। नींद न आना रोज़ की बात हो गई थी। कहाँ दस बजे से ही उसकी आँखों में नींद भर जाती थी, और कहाँ अब वह ग्यारह, बारह और एक के घंटे गिनती रहती थी। 'जाने क्यों?' वह सोचती और करवटें बदलती रहती।

रात को वह देर से सोई, मगर सुबह जल्दी उठ गई।

उठने पर उसका दिल रात से ज़्यादा अस्थिर और अशान्त था। इतना बड़ा पहाड़-सा दिन और उसके बाद फिर वैसी ही रात! उस लम्बे ख़ालीपन की कल्पना से एक बड़ा शून्य उसके अन्तर को घेरे था। आकाश में चिड़ियों के झुंड उड़े जा रहे थे। रसोईघर में रंगी स्टोव में हवा भर रहा था। उसे साहब के लिए बेड-टी ले जानी थी। बम्बई में सुबह जब वह कमरे में बाल्टी रखकर नहा रही होती, तो बिन्नी बाहर से चाय की माँग करने लगता था। इससे उसके भजन में बाधा पड़ती थी और उसे बहुत उलझन होती थी। मगर वह चुपचाप उसके लिए चाय बना देती थी।... लेकिन आज उसे इस बात की उलझन हो रही थी कि उसका भजन में मन क्यों नहीं लगता। अब जबकि भजन के लिए पूरी सुविधा, पूरा समय, उसके पास था, तो आसन पर बैठने से ही वह क्यों जी चुराती थी?

कुछ देर बरामदे में खड़ी होकर वह सूर्योदय के सुनहले रंग को देखती रही। क्षितिज के एक कोने से दूसरे कोने तक झिलमिलाती नई धूप धीरे-धीरे निखार पर आ रही थी। लगता था जैसे मिट्टी में बन्द उजाला फूटकर बाहर आने के लिए संघर्ष कर रहा हो। धूप की बढ़ती झलक से हर क्षण ऐसा ही आभास होता था। उसने बरामदे से उतरकर पूजा के लिए कुछ गेंदे के फूल चुन लिये और रसोईघर में चली गई।

रंगी स्टोव से केतली उतारकर चायदानी में पानी डाल रहा था। उसने अपने आँचल के फूल आले में डाल दिए। रंगी ट्रे उठाकर चलने लगा, तो उसने ट्रे उसके हाथ से ले ली।

''रहने दे, मैं ले जाती हूँ।'' और वह ट्रे लिये हुए लाली के कमरे की तरफ़ चल दी।

''माँजी, आप रहने दीजिए, साहब मुझ पर नाराज़ होंगे'', रंगी ने पीछे से संकोच के साथ कहा।

"इसमें उसके नाराज़ होने की क्या बात है? मैं तेरे कहने से थोड़े ही ले जा रही हूँ?" और वह थोड़ा खाँसकर लाली के कमरे में चली गई।

लाली कम्बल ओढ़कर बिस्तर में बैठा था। कुसुम अभी सो रही थी। लाली के हाथ में कुछ कागज थे जिन्हें वह ध्यान से पढ़ रहा था। उसने यह नहीं देखा कि चाय लेकर माँ आई है। बचन ने ट्रे मेज़ पर रख प्याली में चाय बनाई और उसके पास ले गई। लाली ने जब चाय के लिए हाथ बढ़ाया, तो उसने आश्चर्य से देखा कि प्याली लिये माँ खड़ी है।

"माँ, तू?" उसने आश्चर्य के साथ कहा।

बचन ने प्याली उसके हाथ में दे दी। उसने पहली बार ठीक से देखा कि लाली के बाल कनपटियों के पास से कितने सफ़ेद हो गए हैं। चश्मा उतार देने से उसकी आँखों के नीचे गहरे गड्ढे नज़र आ रहे थे। लाली ने कागज़ रखकर चश्मा लगा लिया।

"रंगी और नारायण क्या कर रहे हैं?" उसने पूछा।

"नारायण दूध लाने गया है," वह बोली, "रंगी रसोईघर में है।"

"तो उससे नहीं आया जाता था? तू सुबह-सुबह उठकर चाय लाए, वाह! इससे अच्छा है मैं आप ही बनाकर पी लूँ।"

"तू ज़रूर बनाकर पी लेगा–जिसे यह नहीं पता कि दूध कौन-सा है और चीनी कौन-सी है!" वह थोड़ा हँस दी। तभी कुसुम करवट बदलकर उठ बैठी।

"माँजी, आप..." उसने भी आँखें मलते हुए उसी आश्चर्य के साथ कहा। फिर झट-से कम्बल उतारकर वह बिस्तर से निकल आई।

"आप रहने दीजिए, मैं बनाती हूँ।"

कुसुम दूसरी प्याली में चाय बनाने लगी। बनाकर प्याली उसने बचन की तरफ़ बढ़ा दी।

"मैं अभी नहाई नहीं। अभी से चाय पी लूँ?"

"पी भी ले माँ," लाली बोला, "कभी तो अपना धरम-करम छोड़ दिया कर।"

"नहीं, मैं ऐसे नहीं पीती। तुम लोग पियो।"

कुसुम प्याली लेकर अपने बिस्तर पर चली गई। बचन लाली के पैताने बैठ गई। लाली और कुसुम ख़ामोश चाय पीते रहे।

कमरे में हर चीज़ व्यवस्थित थी। अँगीठी पर नीले रंग का कपड़ा बिछा था जिस पर कुसुम ने सफ़ेद डोरे से कढ़ाई की थी। वहीं एक तरफ़ अखरोट की लकड़ी का बना गौतम बुद्ध का बस्ट रखा था, और दूसरी तरफ़ हाथी-दाँत की हंसों की जोड़ी। सन्दूकों पर गद्दे बिछाकर उन्हें लाल कपड़े से ढक दिया गया था। कोने में कुसुम की सिलाई की मशीन पड़ी थी, और वहाँ पास ही लाली की अधसिली कमीज़ के

टुकड़े बँधे रखे थे। मेज़ पर छोटे-से शेल्फ़ में लाली की कुछ किताबें पड़ी थीं और वहाँ पास ही एक टेबल लैम्प रखा था। दो कमरों के बीच के पर्दे पर भी कुसुम ने अपने हाथ से कढ़ाई कर रखी थी। उधर से करवटें बदलने की आवाज़ें आ रही थीं। बच्चों की भी नींद खुल गई थी।

लाली ने चाय पीकर प्याली मेज़ पर रख दी। कुसुम एक ख़ास नज़र से उसकी तरफ़ देख रही थी। बचन वहाँ से उठ खड़ी हुई।

"बस चल दी, माँ?" कहते-कहते लाली ने कागज़ उठा लिये।

"हाँ, तू अपना काम कर। मैं जाकर नहा-धो लूँ।"

"कोई ख़ास बात तो नहीं थी?"

"नहीं, बात कुछ नहीं थी। नौकर चाय ला रहा था, मैंने कहा, मैं ले जाती हूँ।"

लाली की आँखें कागज़ों पर झुक गईं। कुसुम चाय के हल्के घूँट भर रही थी। बचन चलने के लिए तैयार होकर भी खड़ी रही।

"एक बात सोचती थी," वह कहने लगी।

लाली ने कागज़ फिर रख दिए।

"हाँ, हाँ, बता न।"

"इतने दिन हो गए, बिन्नी की चिट्ठी नहीं आई...।"

"मैं अब उससे कोई गिला नहीं करता," लाली कुछ चिढ़े हुए स्वर में बोला, "गफलत की भी एक हद होती है। इस लड़के का घरवालों से जैसे कोई रिश्ता ही नहीं है।"

बचन चुप रही।

"यहाँ रहकर बी.ए. कर लेता तो कुछ बन-बना जाता। मगर हर बात में चलना तो उसे अपनी ही मर्ज़ी से है। अब साहब ज़िन्दगी-भर यहाँ-वहाँ रहेंगे और आवारागर्दी किया करेंगे।"

बचन की आँखें भर आईं। उसने कोशिश की कि आँसू आँखों में ही सूख जाएँ, पर यह नहीं हुआ तो उसने पल्ले से आँखें पोंछ लीं।

"यह लड़का न जाने कब अपना होश रखना सीखेगा?...अपने शरीर की भी तो फ़िक्र नहीं करता। वहाँ रहकर मैं ही जो थोड़ा-बहुत देख लेती थी, सो देख लेती थी। कभी-कभी सोचती हूँ कि वहाँ उसके पास ही रहूँ, तो ठीक है।" और वह निर्णय सुनने के भाव से लाली की तरफ़ देखने लगी। लाली गम्भीर हो गया। बोला कुछ नहीं।

"मैं कहती हूँ, मेरी आँखों के सामने रहेगा, तो मुझे पता चलता रहेगा कि क्या करता है, क्या नहीं करता...।" बचन के स्वर में थोड़ी याचना भी आ गई।

"माँजी का यहाँ दिल नहीं लगता," कुसुम ने प्याली रखते हुए कहा। पल-भर लाली की आँखें उससे मिली रहीं।

"अभी तो माँ, तू आई ही है," वह बोला, "पन्द्रह दिन बाद दीवाली है...।"

"मेरा बच्चों को छोड़कर जाने को मन करता है? मैं तो वैसे ही बात कर रही थी," वह फिर से चलने के लिए तैयार होकर बोली, "पता नहीं रोटी भी ठीक से खाता है या नहीं।"

कुसुम उठकर रंगी को आवाज़ देती हुई बाहर चली गई।

"तू जाना ही चाहती है तो बात दूसरी है।" लाली के चेहरे पर कुछ उकताहट-सी आ गई।

"नहीं, जाने की बात नहीं है, मैं तो वैसे ही कह रही थी...।"

वह बाहर की तरफ़ देखने लगी कि फिर से आँसू न टपकने लगें।

"जाने को मन हो रहा है, चली जा। नहीं, ख़ामख़ाह यहाँ चिन्ता से परेशान रहेगी।"

बचन कुछ पल ख़ामोश रही। लाली अपनी उँगलियाँ मसलता रहा।

"किस गाड़ी से चली जाऊँ?"

"रात की गाड़ी ठीक रहती है। उसमें भीड़ कम होती है।"

"तेरी तबीयत की मुझे फ़िक्र रहेगी...।"

"मेरी तबीयत अब ठीक ही है।"

"तू चिट्ठी लिखता रहेगा न?"

"हाँ। मैं नहीं लिख सकूँगा, तो कुसुम लिख देगी।"

"अच्छा...!"

रात को गाड़ी में उसे अच्छी जगह मिल गई। जनाने डिब्बे में उसके अलावा दो ही और सवारियाँ थीं। कुसुम नारायण को साथ लेकर उसे छोड़ने आई थी। लाली मुवक्किलों की वजह से नहीं आ पाया था। गाड़ी के चलने तक कुसुम उसके पास बैठकर उससे बातें करती रही। कहती रही कि दादी के पीछे बच्चे उदास हो जाएँगे, तीन-चार दिन घर सूना-सूना लगेगा, और कि वह रास्ते के लिए खाना बनवाकर साथ ले जाती, तो अच्छा था। गाड़ी ने सीटी दी, तो कुसुम प्लेटफार्म पर उतर गई।

"जाते ही चिट्ठी लिखिएगा," उसने कहा।

"तुम लाली की तबीयत का पता देती रहना," बचन ने कहा। सहसा उसे लाली के सफ़ेद बालों का ध्यान हो आया।

"रात को उसे देर-देर तक मत पढ़ने देना, और उससे कहना कि दूसरे-तीसरे दिन सिर में बादाम रोगन ज़रूर डलवा लिया करे।"

कुसुम ने सिर हिला दिया। गाड़ी चलने लगी, तो उसने हाथ जोड़ दिए।

प्लेटफार्म पीछे रह गया, तो बचन आकाश की तरफ़ देखने लगी। उसके मन में फिर एक शून्य-सा भरने लगा। आकाश में वही नक्षत्र चमक रहे थे। बचन स्थिर नज़र से उन्हें देखती रही। वह जहाँ जा रही थी, उस घर का नक्शा धीरे-धीरे उसकी आँखों के सामने उभरने लगा। नीची छतवाला टूटा-फूटा कमरा, मादा सूअर और उसके बच्चों की हुंफ़्-हुंफ़् और कुएँ की तरफ़ से आती मोटी, भद्दी, फटी-सी आवाज़—ओ डैडाई है ड्विलो-फेंजल...अँधेरा, एकान्त, बिन्नी, शशि और उसके दोस्त, बहसें और दाल-रोटी के लिए उन लोगों की छीना झपटी...।

उसकी आँखें भर आईं। आकाश में चमकते नक्षत्र धुँधले पड़ गए।

आँखें पोंछ लीं। नक्षत्र फिर चमकने लगे।

आख़िरी सामान

मिसेज़ भंडारी—बेला भंडारी—का चेहरा तिपाई पर झुका था। सामने वह सफ़ेद जिल्द का एलबम था जो अब काफ़ी पुराना पड़ गया था। जिल्द पर जगह-जगह हाथों के मैल से दाग पड़ गए थे, एकाध दाग शायद चाय-कॉफी का भी था। न जाने कितने बरस पहले एलबम खरीदा गया था। उसके विवाह से पहले वह मिस्टर भंडारी के पास था। उनका विवाह उस एलबम की ज़िन्दगी के मध्य-काल में हुआ था। तब मिस्टर भंडारी एक्साइज़ और टैक्सेशन के महकमे में अफसर नियुक्त हो चुके थे।

मिसेज़ भंडारी एलबम के वे पन्ने पलट चुकी थीं, जिन पर मिस्टर भंडारी की कॉलेज के आरम्भिक दिनों की तस्वीरें थीं। उन दिनों उनका जिस्म कितना अच्छा था! अब सामने वह तस्वीर थी, जो मिस्टर भंडारी के स्टूडेंट्स कांग्रेस के प्रधान चुने जाने के अवसर पर खींची गई थी। तस्वीर में वे माइक्रोफ़ोन पर भाषण दे रहे थे। उन दिनों उनके चेहरे पर बहुत हलकी-हलकी मूँछें थीं, आँखों में एक ख़ास तरह की चमक थी। फिर भी वे कितने मासूम लगते थे!

मिसेज़ भंडारी ने बालों को हलका-सा झटका दिया। शायद कोई कीड़ा बालों में उलझ गया था। अपने कटे हुए रेशमी बालों का गर्दन पर फिसलना उन्हें सदा रोमांचित कर देता था। उन्हें लगता जैसे किसी खरगोश के जिस्म से गर्दन सहला रही हों। अपने बालों के वज़न पर भी उन्हें गर्व होता था। गर्दन झटकने पर भी बालों में उलझी हुई चीज़ कोई नहीं निकली, तो वे उँगलियों से टटोलने लगीं। टटोलने पर कुछ न मिला। फिर भी यह आभास बना रहा कि बालों में कुछ अटका हुआ है। उन्होंने एलबम पर कुहनी रखे हुए, धीरे-धीरे आँखें मूँद लीं। फिर सहसा आँखें खोलकर उन्होंने आवाज़ दी, "चपरासी!"

आवाज़ ख़ाली कमरे में गूँज गई। तीखी होते हुए भी वह आवाज़ ख़ाली-सी थी—जैसे वह आवाज़ न हो, सिर्फ़ एक गूँज हो।

"हजूर...!" चपरासी मनोहर दरवाज़े के पास आ खड़ा हुआ। इतना धीमे वह पहले कभी नहीं बोलता था। उसका यह स्वर उसकी अकड़ी हुई मूँछों, तुर्रेदार पगड़ी और चमकती हुई बेल्ट के साथ मेल नहीं खाता था। उसकी बढ़ी हुई शिष्टता का

जैसे अर्थ था कि वह आज चपरासी नहीं कुछ और है, और उसका अदब नहीं, दया और हमदर्दी है।

''मुन्ना को थोड़ी देर के लिए नीचे ले जाओ, यहाँ गर्मी है।''

आदेश पाकर भी कुछ क्षण मनोहर के पाँव न हिले। वह स्थिर दृष्टि से उन्हें देखता रहा—जैसे नौकर-मालिक के रिश्ते की दहलीज़ लाँघकर एक कदम आगे आना चाहता हो, मगर संस्कारों की जकड़ बढ़ने न देती हो।

"हज़ूर!" आखिर उसने कहा। मिसेज़ भंडारी झुकी हुई आँखें फिर उठ गईं।

''हज़ूर! आप भी थोड़ी देर के लिए नीचे चल बैठिए। यहाँ तो आज दम घुट रहा है। अहाते में ज़रा-ज़रा हवा है...।''

''नहीं, मैं अभी यहीं हूँ, तुम मुन्ना को ले जाओ।'' फिर आवाज़ नहीं, गूँज, खोखली गूँज...। मिसेज़ भंडारी ने फिर बालों को झटक लिया।

चपरासी मनोहर का मुँह कुछ कहने के लिए खुला, लेकिन फिर जैसे उसके संस्कार लकवा मार गए।

''बहुत अच्छा हजूर,'' कहकर वह वहाँ से हट गया।

मिसेज़ भंडारी ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछा और कुछ क्षण जैसे सबकुछ भूली-सी बैठी रहीं। सामने दीवार की अलमारी के शीशे में उनके चेहरे का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा था। उनका चेहरा कितना बदल गया था! नाक के दोनों ओर गालों की रेखाएँ गहरी हो गई थीं! एक उँगली से उन रेखाओं को उन्होंने मल लिया। छह महीने में ही उन पर बुढ़ापा आने लगा? बालों पर हाथ फेरकर उन्होंने मन की शंका को गलत प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। लेकिन वे चेहरे की लकीरें...!

रूमाल से गले का पसीना पोंछकर वे फिर तिपाई पर झुक गईं। सिर में बहुत भारीपन महसूस हो रहा था। दिमाग़ जैसे एक बहुत-सी बातें सोच रहा था! या जैसे कुछ भी नहीं सोच रहा था! सोचने के लिए कोई सूत्र नहीं था, कई विचार थे। या विचारों के टुकड़े दिमाग़ की सतह पर मँडरा रहे थे। और एक कील-सी थी जो दिमाग़ में गड़ रही थी—पन्द्रह रुपए! पन्द्रह रुपए एक...पन्द्रह रुपए दो...पन्द्रह रुपए दो...पन्द्रह रुपए आठ आने...पन्द्रह रुपए आठ आने! आठ आने एक...आठ आने दो...!

उनकी आँखें फिर ज़रा-सी उठ गईं। गालों की लकीरें सचमुच बहुत गहरी हो गई थीं। इतनी जल्दी ये लकीरें इतनी गहरी कैसे हो गईं? कुछ ही महीने पहले चेहरे का मांस बिलकुल हमवार और चिकना था। अब उस चिकनाहट की जगह ये हलकी-हलकी ना मालूम सलवटें...! उन्होंने फिर चेहरे पर हाथ फेरा और आँखें नीचे झुका लीं।

मिस्टर भंडारी को उनके रूप का कितना मोह था! उनके मित्रों ने विवाह के समय उनके चुनाव की कितनी प्रशंसा की थी! सभाओं, पार्टियों में लोग मिस्टर भंडारी

के ऐस्थेटिक टेस्ट की कितनी प्रशंसा करते रहे हैं! बेला भंडारी का सौन्दर्य...बेला भंडारी का वस्त्रों का चुनाव...बेला भंडारी का मुस्कुराने का अन्दाज़...इस सबमें मिस्टर भंडारी की देन कितनी महत्त्वपूर्ण रही है!

उन्होंने एलबम का पन्ना पलट दिया। बाई.एम.सी.ए. के हाल में खेले गए नाटक 'शी स्टूप्स टु कांकर' के पात्र तथा नाटक के निर्देशक सुशील भंडारी। चेहरा ठीक फोकस में नहीं था। वैसे भी उस तस्वीर में दुबले लगते थे। उन दिनों उनके निर्देशन की बहुत प्रशंसा हुई थी। एक अखबार ने सुशील भंडारी को नाटक का वास्तविक हीरो कहा था। दूसरे ने भविष्यवाणी की थी कि इस कला के क्षेत्र में उसका नाम बहुत जल्दी चमक उठेगा। शहर के शिक्षित वर्ग में प्रायः सभी लोग उन्हें जान गए थे। साहित्यिक और सांस्कृतिक मजलिसों में प्रायः उन्हें निमन्त्रित किया जाता था। उनकी योग्यता और प्रतिभा की हर कहीं दाद दी जाती थी। यूनिवर्सिटी से निकलने से पहले ही समाज में उनका स्थान बन गया था। लोग बातें करते थे कि राजनीति तथा साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सुशील भंडारी का अच्छा नाम होगा। उनके पास सभी कुछ तो था—व्यक्तित्व, विचार, भाषा...!

मस्तिष्क में कील और गहरी गड़ रही थी—सत्रह रुपए एक...! सत्रह रुपए दो! सत्रह रुपए दो...दो...तीन!

शायद डाइनिंग टेबल की बोली हो रही थी। वे खिड़की के पास जाकर देखना नहीं चाहती थीं। कुछ देर पहले तक़ वे उस व्यापार को देख रही थीं। कोठी का सारा सामान अहाते में बिखरा था—दो टूटी कुर्सियाँ, एक तिपाई, दो-एक चारपाइयों और कुछ ट्रंकों को छोड़कर बाक़ी सबकुछ नीलाम हो रहा था—सोफा सेट, रेडियोग्राम, रेफ्रिजरेटर, छोटी-बड़ी अलमारियाँ, कुर्सियाँ, डाइनिंग टेबल, कालीन, परदे, बुक शेल्फ़, आयल पेंटिंग्ज़, पत्थर और प्लास्टर ऑव पेरिस की मूर्तियाँ, फूलदान, फोटो फ्रेम, ऐशट्रे और अनगिनत छोटी-मोटी चीज़ें जो न जाने कितने बरसों में इकट्ठी हुई थीं।

आगे पाँच-छह चित्र उनके विवाह के अवसर के थे। विवाह-मंडप पर लिया गया चित्र, चाय पार्टी का चित्र, उन दोनों का बस्ट बहुत ख़ूबसूरत आया था। फिर नाव में बैठकर उतरवाए हुए दो चित्र थे। हनीमून के दिनों में उनके दिलों में कितना उल्लास था! दोनों बच्चों की तरह नदी से पानी उछाला करते थे। मिस्टर भंडारी ने एक बार कन्धे से पकड़कर उन्हें कई गोते दे दिए थे। वे मिस्टर भंडारी के शरीर से लिपट गई थीं। ठंडे पानी में भी उस स्पर्श से शरीर रोमांचित हो उठा था।

अगले चित्र में मिस्टर भंडारी और सुधीर साथ-साथ मुस्कुराते हुए खड़े थे।

मिस्टर भंडारी के माथे पर हलकी-सी शिकन थी। सुधीर की उपस्थिति में उनके माथे पर प्रायः यह शिकन पड़ जाती थी। उस शिकन को वही देख पाती थीं, और उसका अर्थ भी वही जानती थीं। सुधीर उनका कॉलेज के दिनों का दोस्त था, पर

उसके पिता मिनिस्ट्री से सम्बन्धित थे, इसलिए वह बहुत शीघ्र उन्नति कर गया था। उसे कई तरह के सरकारी ठेके मिल जाते थे। तीन-चार साल में ही उसने दो-ढाई लाख की जायदाद बना ली थी। मिस्टर भंडारी को एक्साइज़ और टैक्सेशन के महकमे में जगह भी सुधीर के रसूख से ही मिली थी। यूँ दोनों की ख़ासी दोस्ती थी, और रोज़ का साथ का उठना-बैठना था, परन्तु सुधीर के साथ अपने सम्बन्ध को लेकर मिस्टर भंडारी के मन में एक छाया घिरी रहती थी, क्योंकि शायद वे दोस्त होकर भी बराबर नहीं थे, बड़े-छोटे थे। मिस्टर भंडारी, जिन्हें अपनी योग्यता और प्रतिभा के नाते बड़ा होना चाहिए था, छोटे थे, और सुधीर जिसे छोटा होना चाहिए था, बड़ा था। मिस्टर भंडारी सुधीर की उपस्थिति में अपनी हद से बाहर ख़र्च करते थे। अपने घर को सजाने की भी उन्हें बहुत चाह थी। वे प्रायः कहा करते थे कि सुधीर के पास पैसा है, पर अच्छी चीज़ पहचाननेवाली आँख नहीं है। गाँठ है, टेस्ट नहीं। यदि वे उससे एक-चौथाई भी ख़र्च कर सकें, तो अपने घर को इस तरह सजाकर रखें कि देखनेवाले की आँखें पथरा जाएँ। जहाँ तक बन पड़ता, वे घर के लिए नित नई चीज़ें ले आया करते थे। मगर सुधीर के घर जैसे पर्दों और गलीचों के लिए ही हज़ारों रुपए चाहिए थे। जब कभी वे लोग सुधीर के यहाँ जाते तो सारा समय मिस्टर भंडारी के माथे पर वह नामालूम शिकन बनी रहती। घर लौटकर वे उनके रूप की बहुत प्रशंसा करते थे और गर्मजोशी के साथ उन्हें चूम लिया करते थे। इस एक बात में वे सुधीर को अपने से हीन समझ सकते थे। सुधीर की पत्नी मीरा ज़्यादा सुन्दर नहीं थी। मीरा का क़द छोटा था, और शरीर कुछ ज़्यादा मांसल था और...और शायद इसीलिए, सुधीर जब-जब उनकी ओर देखता था, उसकी आँखों में कुछ और भी हलका-सा आभास होता था—इतना अस्पष्ट कि कई बार उन्हें लगता कि शायद उनकी गलतफ़हमी ही है।

"दो सौ पन्द्रह!...पन्द्रह...बीस! दो सौ बीस एक...दो सौ बीस दो...।"

सम्भवतः अब रेफ्रिजरेटर की बोली हो रही थी। फिर भी मिसेज़ भंडारी का उठकर देखने को मन नहीं हुआ। आखिर एक-एक करके हर चीज़ की बोली हो जाएगी। देखने न देखने से अन्तर क्या पड़ता है? उनका दिल अन्दर ही अन्दर बैठ रहा था। मिस्टर भंडारी ने एक-एक चीज़ के चुनाव पर कितना समय ख़र्च किया था! डाइनिंग टेबल के चाकलेट रंग का शेड चुनने में ही उन्हें कई दिन लग गए थे। उसकी शेप उन्होंने एक पादरी के घर देखे हुए डाइनिंग टेबल के अनुसार बनवाई थी। सोफा सेट के लिए कवर का कपड़ा वे कलकत्ता से लाए थे। और जिस दिन रेफ्रिजरेटर आया, उस दिन उन्होंने कमरे की कलर स्कीम बदल दी थी। पुराने पर्दों की जगह नए पर्दे लगाए थे। नौकर और चपरासी को पाँच-पाँच रुपए इनाम दिया था।

उसके बाद नया-नया सामान उनके घर अक्सर आने लगा था। आज कालीन तो कल अलमारियाँ। घर में जितना सामान आ सकता था, उससे कहीं अधिक सामान ले आया गया। मिस्टर भंडारी की ज़ेब में भी काफ़ी पैसा रहता था। यह जानना शेष नहीं था, कि वह पैसा कहाँ से आता है।

पहले उनका दिल डरा करता था। मिस्टर भंडारी से वे कुछ नहीं कहती थीं, परन्तु घर में आती हुई नई-नई चीज़ों को देखकर उनका मन आशंकित रहता था। फिर धीरे-धीरे मन अभ्यस्त हो गया। पहले वे सब चीज़ें पराई-सी लगती थीं। धीरे-धीरे अपनी लगने लगीं। मिस्टर भंडारी सब-इंस्पेक्टर के ज़रिए काम करते थे। सब-इंस्पेक्टर तिहाई के साझीदार होते थे। आज एक कम्पनी का बिक्री टैक्स आधा करके तीन हज़ार वसूल किए जाते, तो बीस दिन बाद छापे में अफीम बरामद करके पाँच सौ-हज़ार में छोड़ दी जाती। उनका ड्राइंग-रूम अब अफसर तबके में सबसे ज़्यादा सजे हुए ड्राइंग-रूम्ज़ में गिना जाता था। लोगों में कानाफूसियाँ होती थीं। मगर मिस्टर भंडारी परवाह नहीं करते थे। पैसा बाहर से आता था, और बाहर ही ख़र्च कर दिया जाता था। पहले दिनों में मिस्टर भंडारी नौकरी छोड़कर, सारा समय राजनीतिक कार्य में लगा देने की बात किया करते थे। कॉलेज के दिनों के आदर्श गाहे-बगाहे उन्हें कुरेदने लगते थे। मगर धीरे-धीरे उनकी फिलॉसफी बदल गई थी। अब वे कहते थे कि इंसान नीचे से दुनिया के लिए कुछ नहीं कर सकता, कुछ करने के लिए आवश्यक है कि इंसान पहले कुछ करने की स्थिति पर पहुँच जाए। किस रास्ते से वह वहाँ पहुँचता है, इसका महत्त्व नहीं है। नीचे की सतह से आदर्श की कोई आवाज़ नहीं है। आदर्श की आवाज़ ऊपर की सतह से ही सुनाई जा सकती है। मगर ज्यों-ज्यों वे ऊपर उठ रहे थे, सतह और ऊँची उठती जाती थी।

मिस्टर भंडारी अब रात को देर से क्लब से लौटते थे। पहले पार्टियों में केवल साथ देने के लिए सिप कर लिया करते थे, अब बाकायदा पीने लगे थे। घर में रेफ्रिजरेटर का इस्तेमाल बोतलें रखने के लिए होने लगा था। एक बार उन्होंने उन्हें भी मजबूर करके पिलाई थी। उन्हें हर चीज़ घूमती नज़र आने लगी थी। दीवारें जैसे फ़र्श के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही थीं, और फ़र्श ऊपर को उठ रहा था। पैर हल्के लगते थे और कदम ठीक नहीं पड़ते थे। मिस्टर भंडारी के दोस्तों ने उनका अच्छा मज़ाक बनाया था। उन्हें बाहर टहलने के लिए ले गए थे। फुटपाथ के खम्भे उन्हें अपने पर गिरने को आते-से प्रतीत होते थे। वे मिस्टर भंडारी की बाँह का सहारा लेकर चलती रहीं, और वे लोग फब्तियाँ कसते रहे। मिस्टर भंडारी कई बार क्लब से आधी रात के करीब लौटकर आते। गेट का दरवाज़ा खुलता और बन्द होता। फिर नौकर का दरवाज़ा खटखटाया जाता। ऐसे अवसरों पर वे उनके सामने आने से बचा करते थे। नौकरों और पड़ोसियों में चर्चा होती थी। वे नहीं जानती थीं कि जो कहा

जाता है, कहाँ तक सच है। पर कई बार उन्हें स्वयं सन्देह होता था। मिस्टर भंडारी के कपड़े उठाते-रखते उन्हें महसूस होता था कि उनमें किसी पराए शरीर की गन्ध समाई है। और वह गन्ध सदा एक-सी नहीं होती थी। मगर जैसे ख़ामोश समझौता हो, वे इस बारे में कभी कुछ नहीं पूछती थीं, न ही वे कुछ कहते थे। हाँ, अक्सर चिड़चिड़ाए रहते थे। छोटी-छोटी बात पर गुस्सा करते थे। खाने में ज़्यादा नुक्स निकालते थे।...मगर समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। अब कहीं ज़्यादा पार्टियों पर उन्हें बुलावा आता था, सरकारी उत्सवों में उन्हें मान के साथ आगे बैठाया जाता था। लोग उनकी साड़ियों और मिस्टर भंडारी की टाइयों की बहुत प्रशंसा करते थे।

मिसेज़ भंडारी ने एलबम के कई पन्ने अनदेखे ही पलट दिए थे। जो पन्ना सामने था, उस पर एक सम्भ्रान्त अतिथि की तस्वीर थी, चाय की प्याली हाथ में लिये हुए। सफ़ेद टोपी, गोल चेहरा, गोल काया, काली अचकन। चेहरा तस्वीर से उभरकर आगे को आया-सा लगता था। नीचे का होंठ चेहरे के अनुपात में अधिक मोटा, और जग की चोंच की तरह आगे को निकला हुआ। गर्दन कन्धों में धँसी-सी थी। सारे शरीर में एक चीज़ तीखी थी—आँखें। अगले पन्ने पर सम्भ्रान्त अतिथि के साथ मिस्टर भंडारी और उनकी तस्वीर थी। मिस्टर भंडारी का चेहरा पहले से बहुत भर गया था, पर उनके मुकाबले में वे बहुत हलके और छोटे लगते थे। उन दोनों के बीच वे तो खो ही गई थीं। उनके चेहरे की मुस्कुराहट ही उनके व्यक्तित्व को सँभाले थी...।

सम्भ्रान्त अतिथि प्रदेश के एक उच्च अधिकारी थे। उन्हें उस दिन विशेष रूप से खाने पर बुलाया था। एक चाय-पार्टी पर उन लोगों का उनसे परिचय हुआ था, और उसी दिन उनका खाने पर आना तय हो गया था। लोगों को मिस्टर भंडारी की इस मिलनसारी से ईर्ष्या हुई थी।

खाने से पहले दो घंटे तक उन लोगों का दौर चलता रहा। मिस्टर भंडारी की नाक के अगले भाग में रह-रहकर हलका-सा कम्पन होता था। इसका भी अर्थ वे अच्छी तरह जानती थीं। मिस्टर भंडारी की आँख बारह सौ रुपए की एक नौकरी पर थी जो सम्भ्रान्त अतिथि के रसूख से प्राप्त हो सकती थी। मिस्टर भंडारी सम्भ्रान्त अतिथि की हर बात का अनुमोदन कर रहे थे। सम्भ्रान्त अतिथि भी उनकी हर बात से सहमति प्रकट कर रहे थे। खाना खाते हुए सम्भ्रान्त अतिथि का निचला होंठ एक ख़ास अन्दाज़ में हिलता था। उस होंठ के फैलाव से कितनी अतृप्ति झलकती थी!

तभी नौकर ने सूचना दी थी कि उनका एक सब-इंस्पेक्टर बाहर आया है। मिस्टर भंडारी खाना बीच में ही छोड़कर बाहर चले गए थे। दो मिनट बाद लौटकर उन्होंने कहा कि उन्हें बहुत-सी चरस पकड़ने के लिए तुरन्त ही रेड पर जाना पड़ेगा। सम्भ्रान्त अतिथि से क्षमा याचना करते हुए, उनसे उन्हें ठीक से कॉफी पिलाने तथा इंटर्टेन करने के लिए कहकर, वे सब-इंस्पेक्टर के साथ चले गए। उनके चले जाने

के बाद सम्भ्रान्त अतिथि की तीखी आँखें और तीखी हो गईं। वे आँखें उनके शरीर के हर भाग को जैसे उघाड़कर देख रही थीं। उन्होंने अपनी साड़ी को अच्छी तरह लपेट लिया। सम्भ्रान्त अतिथि की आँखों में ख़ास तरह के डोरे दिखाई देने लगे। जब उन्होंने कॉफी की प्याली बनाकर उनकी ओर बढ़ाई, तो सम्भ्रान्त अतिथि ने बरबस उनका हाथ पकड़कर, उन्हें अपनी तरफ़ खींचा। प्याली छलक जाने से बहुत-सी कॉफी सम्भ्रान्त अतिथि के कपड़ों पर गिर गई। बहुत खींचतान करके किसी तरह वे अपने को छुड़ा पाईं। नौकर को उन्हें कॉफी पिलाकर विदा कर देने के लिए कहकर, वे सोने के कमरे में चली गईं, और अन्दर से चिटखनी लगाकर देर तक रोती रहीं। मिस्टर भंडारी जा रहे थे तो उन्हें आश्चर्य हुआ था कि क्या रेड पर जाना उनके लिए उस अतिथि के पास बैठने से अधिक आवश्यक है! मगर अब कुछ भी अस्पष्ट नहीं था। उधर मोटे स्वर में नौकर को डाँट दी जा रही थी। यूँ, वातावरण निःस्तब्ध था। हर चीज़ जैसे अपनी जगह पर जकड़ गई थी।

उस दिन से मिस्टर भंडारी उन पर और खीझने लगे। वे कई बार रात को घर आते ही नहीं। सुबह नाश्ते के समय भी उनमें बातचीत नहीं होती। किसी चाय-पार्टी पर उन्हें साथ जाना पड़ता, तो भी सारा समय वह खिंचाव बना रहता। मिस्टर भंडारी का बारह सौ की नौकरी पाने का मंसूबा पूरा नहीं हुआ था। वे सोचतीं कि क्या इसकी वजह वही हैं।

उन्हीं दिनों एक बहुत बड़ा केस मिस्टर भंडारी के हाथ में आया। उस केस में उन्हें एक अच्छी फोर-सीटर गाड़ी हासिल हो सकती थी। दोनों सब-इंस्पेक्टर रात को देर-देर तक उनके पास बैठे रहते। दिन में भी कई-कई बार मशविरे होते। दफ़्तर से फ़ाइलें घर लाई जातीं और घंटों कागज़ पलटे जाते। आखिर योजना तैयार हो गई।

उस दिन सवेरे से ही मिस्टर भंडारी उत्तेजित थे। उनके चेहरे पर लाली छाई थी। हर काम उतावली में कर रहे थे। टाई की नाट भी ठीक से नहीं बाँध पाए। चाय पीते हुए, दो बार प्याली छलक गई। डाइनिंग टेबल पर उड़ती हुई मक्खी से वे नाहक परेशान हो उठे। दफ़्तर जाते हुए उन्होंने अपने नाख़ूनों को देखा कि ज़रूरत से ज़्यादा बढ़े हुए हैं। जाते-जाते कुछ कहने के लिए रुके, मगर बिना कहे ही चले गए। शाम को समाचार आया कि वे गिरफ़्तार हो गए हैं।...वे जिस कुर्सी पर बैठी थीं, उसमें जैसे धँसती चली गईं। चपरासी मनोहर से उन्हें विस्तारपूर्वक सारी बात का पता चला। उनके सब-इंस्पेक्टरों ने पुलिस से मिलकर उन्हें फँसा दिया था। मिस्टर भंडारी ने जो योजना बनाई थी, उसे खंडित करने की योजना उससे पहले तैयार हो चुकी थी। मिस्टर भंडारी ने रुपया सोने की शक्ल में लिया था। मगर वह पुलिस द्वारा वज़न किया हुआ और निशान लगाया हुआ सोना था। मिस्टर भंडारी वहीं पकड़ लिए गए और वहीं पर रिश्वत देनेवाली पार्टी और दोनों सब-इंस्पेक्टर के उनके खिलाफ बयान

भी हो गए। तुरन्त ही उनके नौकरी से बरख़ास्त किए जाने के आर्डर प्राप्त कर लिए गए और उन्हें हथकड़ी पहना दी गई। दूसरे दिन वे सुधीर से मिलने गईं कि उनकी ज़मानत हो जाए। मगर सुधीर उन दिनों वहाँ नहीं था।

चपरासी मनोहर कभी-कभार उनके यहाँ चक्कर लगा जाता था। दफ़्तरी हलके का और कोई व्यक्ति उनसे मिलने नहीं आता था। मनोहर ने ही एक दिन उन्हें बताया था कि मिस्टर भंडारी को फँसाने की योजना का सूत्र कहीं और से आया था। सम्भ्रान्त अतिथि का हिलता हुआ निचला होंठ और छलकी हुई कॉफी की प्याली...! निस्तब्ध रात और अपनी-अपनी जगह पर जकड़ी हुई चीज़ें!...उनका पूरा अस्तित्व ही जैसे जकड़कर रह गया था। ज़िन्दगी के इस मोड़ का मूल यन्त्र भी क्या वही थीं।

बालों को हाथ से टटोलते हुए मिसेज़ भंडारी ने उनमें उलझी हुई चीज़ निकाल ली–नाख़ून के आकार का पतला-तीखा-सा एक तिनका था। न जाने बालों में कहाँ से उलझ गया था! उन्होंने उसे मसलकर फेंक दिया। मगर वैसा ही एक तिनका कहीं उनके अन्तर में भी अटका हुआ था। उसकी गड़न महसूस करते हुए भी उसे टटोला नहीं जा सकता था। मिस्टर भंडारी को सज़ा हो गई थी। जेल में बहुत दुबले हो गए थे; और वे स्वयं? उनके चेहरे की वह चमक कहाँ है, जिस पर उन्हें नाज़ था? तिनका बहुत तीखा गड़ रहा था। लेकिन कहाँ...?

एक ठंडी साँस लेकर वे कुर्सी से उठ गईं और खिड़की के पास चली गईं। सामान की बोली बदस्तूर चल रही थी। तीन-चौथाई से ज़्यादा सामान नीलाम हो चुका था। अब चार-छह आइटम ही बाक़ी थे, टाइपराइटर, प्लास्टर ऑफ पैरिस की दो मूर्तियाँ, दो ऑयल पेंटिंग्ज़।

अहाते में धूल उड़ रही थी। किसी ज़माने में अहाते को लॉन में बदलने का प्रयत्न किया गया था। जहाँ-तहाँ घास की तिगलियाँ अब भी बाक़ी थीं, यद्यपि ज़्यादा भाग ख़ाली ही था। हवा के हर झोंके के साथ बहुत-सी गर्द उड़ती थी, और बिखरे हुए सामान पर फैल जाती थी। सामान की आख़िरी बोलियाँ हो रही थीं–बारह रुपए! बारह रुपए आठ आने!

मिसेज़ भंडारी लौटकर कुर्सी के पास आ गईं। सामने खुले हुए एलबम का ख़ाली पन्ना था। काला चौकोर पन्ना! वे बैठ गईं। उस पन्ने पर न जाने कब कौन-सी तस्वीर लगेगी? उनके सारे प्रयत्न मिस्टर भंडारी को रिहा और नौकरी पर बहाल करा पाएँगे या नहीं? सामान की नीलामी से ढाई-तीन हज़ार रुपए से ज़्यादा नहीं मिलेंगे। उससे क्या पूरे कर्ज़ चुकाए जा सकेंगे? उसके बाद अपील के लिए पैसे की ज़रूरत पड़ेगी। घर के रोज़मर्रा ख़र्च के लिए पैसे की ज़रूरत होगी।...नीचे अहाते में चपरासी मनोहर किसी से बात कर रहा था। शायद सुधीर से। सुधीर ही की आवाज़ थी। यह जानते हुए भी कि आज उनके सामान का नीलाम होगा, वह पहले नहीं आया

था। अब आया था जब...। पहले उन्होंने सुधीर से कितनी आशा की थी। मगर सुधीर की आँखें अब और हो गई थीं। उनकी आँखों में जो हलका-हलका आभास होता था, वह कहीं गहरा हो गया था। वे देर तक उसकी एकटक दृष्टि का सामना नहीं कर पाती थीं। लेकिन...सुधीर के अतिरिक्त था कौन जिससे सहायता की आशा की जा सकती?

"नीचे बुला रहे हैं।" मिसेज़ भंडारी सहसा चौंक गईं। चपरासी मनोहर दरवाज़े के पास खड़ा था। उसकी आँखों में गहरा अवसाद भरा था। वह अब भी जैसे कुछ कहना चाहता था, जो उसके होंठों तक नहीं आता था। नीचे ख़ामोशी छाई थी। शायद सारे सामान की बोली हो चुकी थी। वे क्षण-भर काले-चौकोर पन्ने पर नज़र गड़ाए रहीं, जैसे उस पर भी उन्हें कोई तस्वीर दिखाई दे रही हो; फिर एलबम बन्द करके नीचे जाने के लिए उठ खड़ी हुईं। सीढ़ियाँ उतरते हुए उन्हें लगा, जैसे वे आप नहीं उतर रहीं, घर का आख़िरी सामान नीचे पहुँचाया जा रहा है।

जानवर और जानवर

स्कूल की नई मेट्रन का नाम अनिता मुकर्जी था और उसकी आँखें बहुत अच्छी थीं। पर वह आंट सैली की जगह आई थी, इसलिए पहले दिन बैचलर्स डाइनिंग-रूम में किसी ने उससे खुलकर बात नहीं की।

उसने जॉन से बात करने की कोशिश की, तो वह 'हूँ-हाँ में उत्तर देकर टालता रहा। मणि नानावती को वह अपनी चायदानी में से चाय देने लगी, तो उसने हलका-सा धन्यवाद देकर मना कर दिया। पीटर ने अपना चेहरा ऐसे गम्भीर बनाए रखा जैसे उसे बात करने की आदत ही न हो। किसी तरफ़ से लिफ्ट न मिलने पर वह भी चुप हो गई और जल्दी से खाना खाकर उठ गई।

"अब मेरी समझ में आ रहा है कि पादरी ने सैली को क्यों निकाल दिया," वह चली गई, तो जॉन ने अपनी भूरी आँखें पीटर के चेहरे पर स्थिर किए हुए कहा।

पीटर की आँखें नानावती से मिल गईं। नानावती दूसरी तरफ़ देखने लगी।

वैसे उनमें से कोई नहीं जानता था कि आंट सैली को फादर फिशर ने क्यों निकाल दिया। उसके जाने के दिन से ही जॉन मुँह ही मुँह बड़बड़ाकर अपना असन्तोष प्रकट करता रहता था। पीटर भी उसके साथ दबे-दबे कुढ़ लेता था।

"चलकर एक दिन सब लोग पादरी से बात क्यों नहीं करते?" एक बार हकीम ने तेज़ होकर कहा।

जॉन ने पीटर को आँख मारी और वे दोनों चुप रहे। दूसरे दिन सुबह पादरी के सिर-दर्द की खबर पाकर हकीम उसकी मिज़ाजपुर्सी के लिए गया तो जॉन पीटर से बोला, "ए, देखा? पहुँच गया न उसके तलुवे सूँघने? सन ऑव् ए गन! हमें उल्लू बनाता था।"

आंट सैली के चले जाने से बैचलर्स डाइनिंग-रूम का वातावरण बहुत रूखा-सा हो गया। आंट सैली के रहते वहाँ के वातावरण में बहुत घरेलूपन-सा रहता था। सर्दी में तो ख़ास तौर से आंटी के बीच आ बैठने से वह कमरा एक परिवार का भरा-पूरा घर-सा बन जाता था। वह अपनी कमर पर हाथ रखे बाहर से ही मज़ाक करती आती–

"पीटर के लिए आज मगज़ का शोरबा बना है या वह मेरा ही मगज़ खाएगा?"

या–

"...हो हो हो! मुझे नहीं पता था कि आज मणि इस तरह गज़ब ढा रही है। नहीं तो मैं ज़रा सज-सँवरकर आती।"

ऐसे मौक़े पर पाल उसके सफ़ेद बालों पर बँधे लाल या नीले फीते की तरफ़ संकेत करके कहता, "आंटी, यह फ़ीता बाँधकर तो तुम बिलकुल दुलहिन जैसी लगती हो!"

"अच्छा, दुलहिन जैसी लगती हूँ? तो कौन करेगा मुझसे शादी? तुम करोगे!" और उसकी आँखें मिच जातीं, होंठ फैल जाते और गले से छलछलाती हँसी का स्वर सुनाई देता।

एक बार पीटर ने कहा, "आंटी, पाल कह रहा था कि वह आजकल में तुमसे ब्याह का प्रस्ताव करनेवाला है।"

आंटी ने चेहरा ज़रा तिरछा करके आँखें पीटर के चेहरे पर स्थिर किए हुए उत्तर दिया, "तो मुझे और क्या चाहिए? मुझे एकसाथ पति भी मिल जाएगा और बेटा भी।"

फिर वही हँसी, जैसे बहते पानी के वेग में छोटे-छोटे पत्थर फिसलते चले जाएँ।

आंट सैली के चले जाने से अकेले लोगों का वह परिवार काफ़ी उखड़ गया था। कुछ दिन पहले इसी तरह मीराशी चला गया था। उसके बाद पाल की छुट्टी कर दी गई थी। मीराशी तो ख़ैर बिगड़ैल आदमी था, मगर पाल को बैचलर्स डाइनिंग-रूम के बैचलर्स–जिनमें दो स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं–बहुत चाहते थे। हालाँकि जॉन को पाल का अंग्रेजी फ़िल्मों के बटलर की तरह अकड़कर चलना पसन्द नहीं था और उन दोनों में प्रायः आपस में झड़प हो जाती थी, फिर भी उसकी पीठ पीछे वह उसकी तारीफ ही करता था। जिस दिन पाल गया, उस दिन जॉन खिड़की के पास बैठा सिर हिलाकर पीटर से कहता रहा, "अच्छा हुआ जो यह लड़का यहाँ से चला गया। अभी तो यह बाहर जाकर कुछ बन भी जाएगा, वरना यहाँ रहकर इसका क्या बनना था? तुम भी जवान आदमी हो, तुम यहाँ किसलिए पड़े हो?"

और पीटर घड़ी को चाबी देता हुआ चुपचाप दीवार की तरफ़ देखता रहा।

पाल और मीराशी के निकाले जाने की वजह का तो ख़ैर सबको पता था। मीराशी का अपराध बिलकुल सीधा था। उसने फादर फिशर के माली को पीट दिया था। पाल का अपराध दूसरी तरह का था। उसने आवारा नस्ल का एक हिन्दुस्तानी कुत्ता पाल लिया था जिसे वह हर समय अपने साथ रखता था। हालाँकि कुत्ते में कोई खासियत नहीं थी–बहुत सादा-सी सूरत, फीका बादामी रंग और लम्बूतरा-सा उसका क़द था–फिर भी क्योंकि पाल ने उसे पाल लिया था, इसलिए वह उसे बहुत लाड़ से रखता था।

उसका नाम उसने 'बेबी' रख रखा था और कई बार उसे बगल में लिए खाना खाने आ जाता था। जल्दी ही बेबी बैचलर्स डाइनिंग-रूम में खाना खानेवाले सब लोगों का बेबी बन गया–एक मणि नानावती को छोड़कर जो उसकी सूरत देखते ही घबरा जाती थी। घबराहट में उसके चेहरे का रंग सुर्ख हो जाता और उसका नाटा छरहरा शरीर काबू में न रहता। एक बार बेबी उसके हाथ में हड्डी देखकर उसके घुटने पर चढ़ने की कोशिश करने लगा तो वह घबराकर कुर्सी पर खड़ी हो गई और दोनों हाथ हवा में झटकती हुई चिल्लाने लगी, ''ओई ओई हिश्, गो अवे! प्लीज़ पाल, टेक हिम अवे! प्लीज़...!''

पाल पुलाव का चम्मच मुँह के पास रोककर धूर्तता के साथ मुस्कुराया और बेबी को डाँटकर बोला, ''चल इधर बेबी! इस तरह खानदान को बदनाम करता है?''

मगर बेबी को हड्डी का कुछ ऐसा शौक था कि वह डाँट सुनकर भी नहीं हटा। वह नानावती की कुर्सी पर चढ़कर उसके जिस्म के सहारे खड़ा होने की कोशिश करने लगा। इस जद्दोजहद में नानावती कुर्सी से गिरने ही जा रही थी कि पाल ने जल्दी से उठकर उसे बगल से पकड़कर नीचे उतार दिया। फिर उसने बेबी को दो चपत लगाई और उसे कान से खींचता हुआ अपनी सीट के पास ले आया। बेबी पाल की टाँगों के आसपास मँडराने लगा।

''मेरा सारा ब्लाउज़ ख़राब कर दिया!'' नानावती हाँफती हुई रूमाल से अपना ब्लाउज़ साफ़ करने लगी। उसके उभार पर एकाध जगह बेबी का मुँह छू गया था।

बेबी अब पाल के घुटने से अपनी नाक रगड़ रहा था। पाल ने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा, ''नाटी चाइल्ड! ऐसी भी क्या शरारत कि इंसान एटिकेट तक भूल जाए!''

जॉन पीटर की तरफ़ देखकर मुस्कुराया। नानावती भड़क उठी, ''देखो पाल, मुझे इस तरह का मज़ाक कतई पसन्द नहीं।'' गुस्से से उसका पूरा शरीर तमतमा गया था। अगर वह और शब्द बोलती तो साथ रो देती।

मगर उसे गम्भीर देखकर भी पाल गम्भीर नहीं हुआ। बोला, ''मुझे खुद ऐसा मज़ाक पसन्द नहीं, मादाम! मैं इसकी हरकत के लिए बहुत शर्मिन्दा हूँ!'' और उसके निचले होंठ पर हलकी-सी मुस्कुराहट आ गई।

नानावती क्षण-भर रुँधे हुए आवेश के साथ पाल को देखती रही। फिर अपना नेपकिन मेज़ पर पटककर तेज़ी से कमरे से चली गई। उसके जाते ही जॉन ने अपनी भूरी आँखें फैलाकर सिर हिलाया और कहा, ''आज तुम्हारे साथ कुछ न कुछ होकर रहेगा। वह अब सीधी उस शुतुरमुर्ग के पास शिकायत करने जाएगी...कुतिया!''

मगर नानावती ने कोई शिकायत नहीं की। बल्कि दूसरे दिन सुबह उसने पाल से अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँग ली। जॉन को अपनी भविष्यवाणी के गलत निकलने का खेद तो हुआ, पर इससे नानावती के प्रति उसका व्यवहार पहले से बदल गया। उसने उसकी अनुपस्थिति में उसके लिए वेश्यावाचक शब्दों का प्रयोग बन्द कर दिया।

यहाँ तक कि एक दिन वह एटकिन्सन के साथ इस सम्बन्ध में विचार करता रहा कि इतनी अच्छी और मेहनती लड़की को उसके पति ने घर से क्यों निकाल रखा है।

नानावती ने भी उसके बाद बेबी को देखते ही 'ओई ओई हिश्' करना बन्द कर दिया। गाहे-बगाहे वह उसे देखकर मुस्कुरा भी देती। एक बार तो उसने बेबी की पीठ पर हाथ भी फेर दिया, हालाँकि ऐसा करते हुए वह सिर से पाँव तक सिहर गई।

बैचलर्स डाइनिंग-रूम में पाल के ज़ोर-ज़ोर के कहकहे रात को दूर तक सुनाई देते। बेबी को लेकर नानावती से तरह-तरह के मज़ाक किए जाते। मज़ाक सुनकर जॉन की भूरी आँखों में चमक आ जाती और वह सिर हिलाता हुआ मुस्कुराता रहता।

मगर एक दिन सुबह बैचलर्स डाइनिंग-रूम में सुना गया कि रात को फादर फिशर ने बेबी को गोली मार दी।

जॉन अपनी चुँधियाई आँखों को मेज़ पर स्थिर किए चुपचाप आमलेट खाता रहा। नानावती का छुरीवाला हाथ ज़रा-ज़रा काँपने लगा। एक बार सहमी नज़र से जॉन और पीटर को देखकर वह अपनी नज़रें प्लेट पर गड़ाए रही। पीटर स्लाइस का टुकड़ा काटने में इस तरह व्यस्त हो रहा जैसे बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहा हो।

''पाल अभी नहीं आया, ए?'' जॉन ने किरपू से पूछा।

किरपू ने नमकदानी पीटर के पास से हटाकर जॉन के सामने रख दी।

''नहीं।''

''वह आज आएगा? हिः!'' जॉन ने आमलेट का बड़ा-सा टुकड़ा काटकर मुँह में भर लिया।

''बेज़बान जानवर को इस तरह मारने से...मैं कहता हूँ...मैं कहता हूँ...'' आमलेट जॉन के गले में अटक गया।

किरपू चटनी की बोतल रखने के बहाने जॉन के कान के पास फुसफुसाया, ''पादरी आ रहा है!''

सबकी नज़रें प्लेटों पर जम गईं। पादरी लबादा पहने, बाइबल लिये, गिरजे की तरफ़ जा रहा था। वह खिड़की के पास से गुज़रा तो तीनों अपनी-अपनी कुर्सी से आध-आधा उठ गए।

''गुड मार्निंग, फादर!''

''गुड मार्निंग माई सन्ज़!''

''आज अच्छा सुहाना दिन है!''

''परमात्मा का शुक्र करना चाहिए।''

पादरी खट्टी की बाड़ से आगे निकल गया, तो जॉन बोला, ''यह अपने को पादरी कहता है! सवेरे परमात्मा से संसार-भर का चरित्र सुधारने के लिए प्रार्थना करेगा और रात को...हरामज़ादा!''

नानावती सिहर गई।

"ऐसी गाली नहीं देनी चाहिए," वह दबे हुए और शंकित स्वर में बोली।

"तुम इसे गाली कहती हो?" जॉन आवेश के साथ बोला, "मैं कहता हूँ इसमें ज़रा भी गाली नहीं है। तुम्हें इसकी करतूतों का पता नहीं है? यह पादरी है?"

नानावती का चेहरा फीका पड़ गया। उसने शंकित नज़र से इधर-उधर देखा, पर चुप रही। जॉन के चौड़े माथे पर कई लकीरें खिंच गई थीं। वह बोतल से इस तरह चटनी उँडेलने लगा, जैसे उसी पर अपना सारा गुस्सा निकाल लेना चाहता हो।

पीटर सारा समय खिड़की से बाहर देखता रहा।

डिंग-डांग! डिंग-डांग! गिरजे की घंटियाँ बजने लगीं। नानावती जल्दी से नेपकिन से मुँह पोंछकर उठ खड़ी हुई और पल-भर दुविधा में रहकर बाहर चली गई।

"चुहिया! कितना डरती है, ए?" जॉन बोला।

मिसेज़ मर्फी एटकिन्सन के साथ बात करती हुई खिड़की के पास से निकलकर चली गई। गिरजे की घंटियाँ लगातार बज रही थीं—डिंग-डांग! डिंग-डांग! डिंग-डांग!

जॉन जल्दी-जल्दी चाय के घूँट भरने लगा। जल्दी में चाय की कुछ बूँदें उसके गाउन पर गिर गईं।

"गाश्!" वह प्याली रखकर रूमाल से गाउन साफ़ करने लगा।

"गिरजे नहीं चल रहे?" पीटर ने उठते हुए पूछा।

जॉन ने जल्दी-जल्दी दो-तीन घूँट भरे और बाक़ी चाय छोड़कर उठ खड़ा हुआ। उनके दरवाज़े से बाहर निकलते ही किरपू और ईसरसिंह में बचे हुए मक्खन के लिए छीना-झपटी होने लगी, जिसमें एक प्याली गिरकर टूट गई। हकीम और बैरों को आते देखकर ईसरसिंह जल्दी से पैंट्री में चला गया और किरपू कपड़े से मेज़ साफ़ करने लगा।

हकीम कन्धे झुकाकर चलता हुआ बैरो को रात की घटना सुना रहा था। डाइनिंग-रूम के पास आकर उसका स्वर और धीमा हो गया—"यू सी, बेबी को डॉली के साथ देखते ही पादरी को एकदम गुस्सा आ गया और वह अन्दर जाकर अपनी राइफल निकाल लाया। एक ही फायर में उसने उसे चित कर दिया। डॉली कुछ देर बिटर-बिटर पादरी को देखती रही। फिर बाड़ के पीछे भाग गई। बाद में सुना है पादरी ने उसे गरम पानी से नहलवाया और डॉक्टर को बुलाकर उसे इंजेक्शन भी लगवाए...!"

"कहाँ पादरी की बिस्कुट और सैंडविच खाकर पली हुई कुतिया और कहाँ बेचारा बेबी!" बैरो मुस्कुराया।

"मगर उस बेचारे को क्या पता था?"

वे दोनों हँस दिए।

"बेबी को मालूम होता कि यह कुतिया कैनेडा से आई है और इसकी कीमत तीन सौ रुपया है, तो शायद वह...।"

और वे दोनों फिर हँस दिए।

"यह तो था कि कल पादरी ने देख लिया, पर इससे पहले अगर...!"

बैरो ने हकीम को आँख मारी। वह चुप कर गया। बाड़ के मोड़ के पास जॉन और पीटर खड़े थे। पीटर अपने जूते का फ़ीता फिर से बाँध रहा था।

"गुड मार्निंग, पीटर!"

"गुड मार्निंग, बैरो।"

"आज बहुत चुस्त लग रहे हो। बाल आज ही कटाए हैं?"

"नहीं, दो-तीन दिन हो गए।"

"बहुत अच्छे कटे हैं।"

"शुक्रिया!"

सहसा डिंग-डांग की आवाज़ रुक गई। वे सब तेज़ी से गिरजे के अन्दर चले गए।

पन्द्रहवाँ साम गाने के बाद प्रार्थना शुरू हुई। सब लोग घुटनों के बल होकर आँखों पर हाथ रखे पादरी के साथ-साथ बोलने लगे–

"...अवर फादर, हू आर्ट इन हेवन, हैलोड बी दाई नेम, दाई किंगडम कम, दाई विल बी डन, इन दिस वर्ल्ड एज़ इन हैवन..."

बैरो ने प्रार्थना करते हुए बीच में अपनी बीवी के कान के पास फुसफुसाकर कहा, "मेरी, तुम्हारा पेटीकोट नीचे से दिखाई दे रहा है।"

मेरी एक हाथ आँखों पर रखे दूसरे हाथ से अपना स्कर्ट नीचे सरकाने लगी।

"...नाउ एंड फॉर एवर मोर, आमेन।"

गिरजे में उस दिन और उससे अगले दिन पाल की सीट ख़ाली रही। इस बात को नोट हरएक ने किया, मगर किसी ने इस बारे में दूसरे से बात नहीं की। पाल ईसाई नहीं था, मगर फादर फिशर के आदेश के मुताबिक स्टाफ के हर आदमी का गिरजे में उपस्थित होना अनिवार्य था–जो ईसाई नहीं थे, उनका रोज़ आना और भी ज़रूरी था। पादरी गिरजे से निकलता हुआ उन लोगों की सीटों पर एक नज़र ज़रूर डाल लेता था। तीसरे दिन भी पाल अपनी सीट पर दिखाई नहीं दिया, तो पादरी गिरजे से निकलकर सीधा स्टाफ-रूम में पहुँच गया। वहाँ पाल एक कोने में मेज़ के पास खड़ा कोई मैगज़ीन देख रहा था। पादरी पास पहुँच गया, तो भी उसकी तनी हुई गर्दन में खम नहीं आया।

"गुड मार्निंग पादरी!" वह क्षण-भर के लिए आँख उठाकर फिर मैगज़ीन देखने लगा।

''तुम तीन दिन से गिरजे में नहीं आए,'' उत्तेजना में पादरी का हाथ पीठ के पीछे चला गया। वह बहुत कठिनाई से अपने स्वर को वश में रख पाया था।

''जी हाँ, मैं तीन दिन से नहीं आया,'' मैगज़ीन नीचे करके पाल ने गम्भीर नज़र से पादरी की तरफ़ देख लिया।

''मैं वजह जान सकता हूँ?''

''वजह कुछ भी नहीं है।''

पादरी ने उत्तेजना के मारे बाइबल को दोनों हाथों में भींच लिया और त्योरी को डालकर कहा, ''तुम जानते हो कि जो अच्छा-भला होकर भी सुबह गिरजे में नहीं आता उसे यहाँ रहने का अधिकार नहीं है?''

गुस्से के मारे पाल के जबड़ों के मांस में खिंचाव आ गया था। उसने मैगज़ीन मेज़ पर रखकर हाथ ज़ेबों में डाल लिए और बिलकुल सीधा खड़ा हो गया। बड़ी खिड़की के पास जॉन नज़र झुकाए बैठा था और आठ-दस लोग नोटिस बोर्ड और चिट्ठियोंवाले रैक के पास खड़े अपने को किसी-न-किसी तरह उदासीन ज़ाहिर करने की कोशिश कर रहे थे। उनमें से किसी ने पाल के साथ आँख नहीं मिलाई। पाल का गला ऐसे काँप गया जैसे वह कोई बहुत सख़्त बात कहने जा रहा हो।

''पादरी, हम गिरजे में जो प्रार्थना करते हैं, उसका कोई मतलब भी होता है?''

एक लकीर दूर तक खिंचती चली गई। पादरी का चेहरा गुस्से से स्याह हो गगा।

''तुम्हारा कहने का मतलब है...'' उसके दाँत भिंच गए और वाक्य उससे पूरा नहीं हुआ। नोटिस बोर्ड के पास खड़े लोगों के चेहरे फक पड़ गए।

''मेरा मतलब है पादरी, कि रात को तो हम ग़रीब जानवरों को गोली मारते हैं, और सुबह गिरजे में उनकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—इसका कुछ मतलब निकलता है?''

पादरी पल-भर ख़ून-भरी आँखों से पाल को देखता रहा। उसकी साँस तेज़ हो गई थी।

''मतलब निकलता है और वह यह कि हर जानवर एक-सा नहीं होता। जानवर और जानवर में फ़र्क होता है,'' उसने दाँत भींचकर कहा और पास के दरवाज़े से बाहर चला गया—हालाँकि उसके घर का रास्ता दूसरे दरवाज़े से था।

पन्द्रह मिनट बाद स्कूल का क्लर्क आकर पाल को चिट्ठी दे गया कि उसे उस दिन से नौकरी से बरख़ास्त कर दिया गया है। वह चौबीस घंटे के अन्दर अपना क्वार्टर ख़ाली करके चला जाए।

''यह पादरी नहीं, राक्षस है,'' जॉन मुँह में बड़बड़ाया।

पीटर को उस दिन शहर में काम निकल आया, इसलिए वह रात को देर से लौटा। हकीम और बैरो खेल के मैदानों की जाँच में व्यस्त रहे। नानावती को

हलका-सा बुख़ार हो आया। पाल को चलते वक़्त सिर्फ़ जॉन ही अपने कमरे में मिला। वह अपनी खिड़की में रखे गमलों को ठीक कर रहा था।

"जा रहे हो?" उसने पाल से पूछा।

"हाँ, तुमसे गुड बाई कहने आया हूँ।"

जॉन गमलों को छोड़कर अपनी चारपाई पर जा बैठा।

"मैं जवान होता, तो मैं भी तुम्हारे साथ चला चलता," उसने कहा, "मगर मुझे यहाँ से निकलकर पता नहीं कब्र की राह भी मिलेगी या नहीं। मेरी हड्डियों में दमखम होता, तो तुम देखते..."

पाल ने मुस्कुराकर उसका हाथ दबाया और उसके पास से चल दिया।

"विश यू बेस्ट आफ लक।"

"थैंक यू।"

पाल के चले जाने के बाद आंट सैली ने बैचलर्स डाइनिंग-रूम में आना बन्द कर दिया और कई दिन खाना अपने क्वार्टर में ही मँगवाती रही। जॉन और पीटर भी अलग-अलग वक़्त पर आते, जिससे बहुत कम उनमें मुलाक़ात हो पाती। नानावती अब पहले से भी सहमी हुई आती और जल्दी-जल्दी खाना खाकर उठ जाती। फादर फिशर ने उसे पाल वाला क्वार्टर दे दिया था। इसलिए वह अपने को अपराधिनी-सी महसूस करती थी। जॉन ने उसके बारे में अपनी राय फिर बदल ली थी।

मगर धीरे-धीरे स्थिति फिर पुरानी सतह पर आने लगी थी। बैचलर्स डाइनिंग-रूम में फिर कहकहे और बहस-मुबाहिसे सुनाई देने लगे थे जब एक रात सुना गया कि आंट सैली को भी नोटिस मिल गया है।

"सैली को?" जॉन के होंठ खुले रह गए। "किस बात पर?"

"बात का पता नहीं है," पीटर सूप में चम्मच चलाता रहा।

जॉन का चेहरा गम्भीर हो गया। वह मक्खन की टिकिया खोलता हुआ बोला, "मुझे लगता है कि इसके बाद अब मेरी बारी आएगी। मुझे पता है कि उसकी आँखों में कौन-कौन खटकता है। सैली का कसूर यह था कि वह रोज़ उसकी हाज़िरी नहीं देती थी और न ही वह..." और वह नानावती की तरफ़ देखकर चुप रह गया। पीटर कुछ कहने को हुआ, मगर बाहर से हकीम को आते देखकर चुपचाप नेपकिन से होंठ पोंछने लगा।

हकीम के आने पर कई क्षण चुप्पी छाई रही। किरपू हकीम के सामने प्लेट और छुरी-काँटे रख गया।

"तुम्हारे क्वार्टर में नए पर्दे बहुत अच्छे लगे हैं," जॉन हकीम से बोला।

"तुम्हें पसन्द हैं?"

"बहुत।"

"शुक्रिया।"
"मेरा ख़याल है चॉप्स में नमक ज़्यादा है।"
"अच्छा?"
"लेकिन पुडिंग अच्छा है।"
खाना खाकर जॉन और पीटर लॉन में टहलते रहे। आंट सैली के क्वार्टर को जानेवाले मोड़ के पास रुककर जॉन ने पूछा, "सैली से मिलने चलोगे?"
"चलो।"
"उस हरामी ने हमें इस वक़्त जाते देख लिया तो..."
"तो कल सुबह न चलें?"
"हाँ, इस वक़्त देर भी हो गई है।"
"बेचारी सैली!"
"इस पादरी जैसा ज़ालिम आदमी मैंने आज तक नहीं देखा। फौज़ में बड़े-बड़े सख़्त अफसर थे, मगर ऐसा आदमी कोई नहीं था।"
पीटर जंगले के पास घास पर बैठ गया।
"मुझे फिर से फौज़ की ज़िन्दगी मिल जाए तो मैं एक दिन भी यहाँ न रहूँ...।"
घास पर बैठकर जॉन पीटर को अपनी फौज़ की ज़िन्दगी के वही क़िस्से सुनाने लगा जो वह पहले भी कई बार सुना चुका था।
"पूरी-पूरी बोतल, ए! रोज़ रात को रम की एक पूरी बोतल मैं पी जाता था। मेरा एक साथी था जो पास के गाँव से दो-दो लड़कियों को ले आया करता था।... कभी-कभी हम रात को निकलकर उसके गाँव चले जाते थे। अफसर लोग देखते थे मगर कुछ कह नहीं सकते थे। वह खुद भी तो यही कुछ करते थे। वह ज़िन्दगी ज़िन्दगी थी। यह भी कोई ज़िन्दगी है, ए?"
मगर पीटर उसकी बात न सुनकर बिना आवाज़ पैदा किए, मुँह-ही-मुँह एक गीत गुनगुना रहा था।
"वैसे दिन फिर से मिल जाएँ, तो कुछ नहीं चाहिए, ए?"
ऊपर देवदार की छतरियाँ हिल रही थीं। हवा से जंगल साँय-साँय कर रहा था। होस्टल की तरफ़ से आती पगडंडी पर पैरों की आवाज़ सुनकर जॉन थोड़ा चौंक गया।
"कोई आ रहा है, ए?"
पीटर सिर उठाकर जंगले से नीचे देखने लगा।
पैरों की आहट के साथ सीटी की आवाज़ ऊपर आती गई।
"बैरो है!"
"यह भी एक हरामज़ादा है।"

पीटर ने उसका हाथ दबा दिया।

"अभी क्वार्टर में नहीं गए टैफी?" बैरो ने अँधेरे से निकलकर सामने आते हुए पूछा।

"नहीं, यहाँ बैठकर ज़रा हवा ले रहे हैं।"

"आज हवा काफ़ी ठंडी है। पन्द्रह-बीस दिन में बर्फ़ पड़ने लगेगी।"

जॉन जंगले का सहारा लेकर उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा, गुड नाइट पीटर! गुड नाइट बैरो!"

"गुड नाइट!"

कुछ रास्ता पीटर और बैरो साथ-साथ चलते रहे। बैरो चलते-चलते बोला, "जॉन अब काफ़ी सठिया गया है, क्यों? इसे अब रिटायर हो जाना चाहिए।"

"हाँ-आँ!" पीटर के शरीर में एक सिहरन भर गई।

"मगर यह तो यहीं अपनी कब्र बनाएगा, नहीं?"

पीटर ने मुँह तक आई गाली होंठों में दबा ली।

बैरो का क्वार्टर आ गया।

"अच्छा, गुड नाइट!"

"गुड नाइट!"

सुबह नाश्ते के वक़्त जॉन ने पीटर से पूछा, "सैली चली गई, ए?"

"पता नहीं," पीटर बोला, "मेरा ख़याल है, अभी नहीं गई।"

"वह आ रही है!" नानावती नेपकिन से मुँह पोंछकर उसे हाथ में मसलने लगी। जॉन और पीटर की आँखें झुक गईं।

आंट सैली का रिक्शा डाइनिंग-रूम के दरवाज़े के पास आकर रुक गया। वह कन्धे पर झोला लटकाए उतरकर डाइनिंग-रूम में आ गई।

"गुड मार्निंग एवरीबडी!" उसने दहलीज़ लाँघते ही हाथ हिलाया।

"गुड मार्निंग सैली!" जॉन ने भूरी आँखें उसके चेहरे पर स्थिर किए हुए भारी आवाज़ में कहा। जो वह मुँह से नहीं कह सका, वह उसने अपनी नज़र से कह देने की चेष्टा की।

"बस, आज ही जा रही हो।" नानावती ने डरे-सहमे हुए स्वर में पूछा और एक बार दाएँ-बाएँ देख लिया। आंट सैली ने आँखें झपकते हुए मुस्कुराकर सिर हिला दिया।

"मैं सुबह मिलने आ रहा था," पीटर बोला, "मगर तैयार होने-होने में देर हो गई। मेरा ख़याल था कि तुम शायद शाम को जा रही हो...।"

आंट सैली ने धीरे-से उसका कन्धा थपथपा दिया और उसी तरह मुस्कुराते हुए कहा, "मैं जानती हूँ मेरे बच्चे! मैं चाहती हूँ कि तुम खुश रहो।"

"आंटी, कभी-कभार खत लिख दिया करना," पीटर ने उसका मुरझाया हुआ नरम हाथ अपने मज़बूत हाथ में लेकर हिलाया। आंट सैली की आँखें डबडबा आईं और उसने उन पर रूमाल रख लिया।

"अच्छा, गुड बाई!" कहकर वह दहलीज़ पार करके रिक्शा की तरफ़ चली गई।

"गुड बाई सैली!" जॉन ने पीछे से कहा।

"गुड बाई आंटी!"

"गुड बाई!"

आंट सैली ने रिक्शा में बैठकर उनकी तरफ़ हाथ हिलाया। मज़दूर रिक्शा खींचने लगे।

कुछ देर बाद नानावती ने कहा, "किरपू, एक बटर स्लाइस।"

जॉन पीछे की तरफ़ देखकर बोला, "मुझे चाय का थोड़ा गर्म पानी और दे दो।"

पीटर जैम के डिब्बे में से जैम निकालने लगा।

जिस दिन अनिता आई, उसी शाम से आकाश में सलेटी बादल घिरने लगे। रात को हलकी-हलकी बर्फ़ भी पड़ गई। अगले दिन शाम तक बादल और गहरे हो गए। पीटर खेतानी गाँव तक घूमकर वापस आ रहा था, जब अनिता उसे ऊपर की पगडंडी पर टहलती दिखाई दे गई। वह उस ठंड में भी साड़ी के ऊपर सिर्फ़ एक शाल लिए थी। पीटर को देखकर वह मुस्कुराई। पीटर ने उसकी मुस्कुराहट का उत्तर अभिवादन से दिया।

"घूमने जा रही हो?" उसने पूछा।

"नहीं, यूँ ही ज़रा टहलने के लिए निकल आई थी।"

"तुम्हें ठंड नहीं लग रही है?"

"ठंड तो है ही, मगर क्वार्टर में बन्द होकर बैठने को मन नहीं हुआ।" उसने शाल से अपनी बाँहें भी ढाँप लीं।

"तुम तो ऐसे घूम रही हो जैसे मई का महीना हो।"

"मेरे लिए मई और नवम्बर दोनों बराबर हैं। मेरे पास ऊनी कपड़े हैं ही नहीं।" वह फिसलन पर से सँभलती हुई पगडंडी से उतरकर उसके पास आ गई।

"ऊनी कपड़े तो तुमने पादरी के डिनर की रात के लिए सँभालकर रख रखे होगें। तब तक सर्दी से बीमार न पड़ जाना।" पीटर ने मज़ाक के अन्दाज़ में अपना निचला होंठ सिकोड़ लिया।

"सच, मेरे पास इस शाल के सिवा और कोई ऊनी कपड़ा है ही नहीं," अनिता उसके साथ-साथ चलती हुई बोली, "सच पूछो तो यह भी प्रेज़ेंट का है। हमें उधर गरम कपड़ों की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।"

"तो परसों तक एक बढ़िया-सा कोट सिला हो। परसों फादर का डिनर है।"

"परसों तक?...ओह?" और वह मीठी-सी हँसी हँस दी।

"क्यों? एक दिन में यहाँ अच्छे से अच्छा कोट सिल जाएगा।"

"मेरे पास इतने पैसे होते तो मैं यहाँ नौकरी करने ही क्यों आती?" तुम्हें पता है, मैं नौ सौ मील से यहाँ आई हूँ...अ..."

"पीटर—या सिर्फ़ विकी...।"

"मैं अपने घर में अकेली कमानेवाली हूँ। मेरी माँ पहले बटुए सिया करती थी, पर अब उसकी आँखें बहुत कमज़ोर हो गई हैं। मेरा छोटा भाई अभी पढ़ता है। उसके एम.एस-सी. करने तक मुझे नौकरी करनी है।"

पीटर ने रुककर एक सिगरेट सुलगा लिया। बर्फ़ के हल्के-हल्के गोले पड़ने लगे थे। उसने आकाश की तरफ़ देखा। बादल बहुत गहरा था।

"आज काफ़ी बर्फ़ पड़ेगी," उसने कोट के कॉलर ऊँचे उठाते हुए कहा। "चलो, तुम्हें तुम्हारे क्वार्टर तक छोड़ आऊँ।...तुम सी कॉटेज में हो न?"

"हाँ।...चलो मैं तुम्हें वहाँ चाय की प्याली बनाकर पिलाऊँगी।"

"इस मौसम में चाय मिल जाए, तो और क्या चाहिए?"

वे सी काटेज को जानेवाली पगडंडी पर उतरने लगे। कुहरा घना हो जाने से रास्ता दस कदम से आगे दिखाई नहीं दे रहा था। अनिता एक जगह पत्थर से ठोकर खा गई।

"चोट लगी?"

"नहीं।"

"मेरे कन्धे का सहारा ले लो।"

अनिता ने बराबर आकर उसके कन्धे का सहारा ले लिया। जब वे सी काटेज के बरामदे में पहुँचे, तो बर्फ़ के बड़े-बड़े गोले गिरने लगे थे। घाटी में जहाँ तक आँख जाती थी, बादल ही बादल भरा था। एक बिल्ली दरवाज़े से सटकर काँप रही थी। अनिता ने दरवाज़ा खोला, तो वह म्याऊँ करके अन्दर घुस गई।

दरवाज़ा खुलने पर पीटर ने उसके सामान पर एक सरसरी नज़र डाली। स्कूल के फर्नीचर के अलावा उसे एक टीन का ट्रंक और दो-चार कपड़े ही दिखाई दिए। मेज़ पर एक सस्ता टेबल लैम्प रखा था और उसके पास ही एक युवक का फोटोग्राफ था। पीटर चारपाई पर बैठ गया। अनिता स्टोव जलाने लगी।

चारपाई पर एक पुस्तक और आधा लिखा पत्र पड़ा था। पीटर ने पत्र ज़रा हटाकर रख दिया और पुस्तक उठा ली। पुस्तक पत्र-लेखन के सम्बन्ध में थी और उसमें हर तरह के पत्र दिए हुए थे। पीटर उसके पन्ने उलटने लगा।

अनिता ने स्टोव जलाकर केतली चढ़ा दी। फिर उसने बाहर देखकर कहा, "बर्फ़ पहले से तेज़ पड़ने लगी है।"

पीटर ने देखा कि बरामदे के बाहर ज़मीन पर सफ़ेदी की हलकी तह बिछ गई है। उसने सिगरेट का टुकड़ा बाहर फेंका, तो वह धुन्ध में जाते ही बुझ गया।

"आज सारी रात बर्फ़ पड़ती रहेगी," उसने कहा।

अनिता स्टोव पर हाथ सेंकने लगी।

बरामदे में पैरों की आहट सुनकर पीटर बाहर निकल आया। जॉन भारी कदमों से चलता आ रहा था।

"ए पीटर!"

"हलो टैफी!...इस वक़्त बर्फ़ में कैसे निकल पड़े?"

"तुम्हारे क्वार्टर में गया था। तुम वहाँ नहीं मिले तो सोचा, शायद यहाँ मिल जाओ।" और वह मुस्कुरा दिया।

"वैसे घूमने के लिए मौसम अच्छा है?" पीटर ने कहा।

वे दोनों कमरे में आ गए। अनिता प्यालियाँ धो रही थी। एक प्याली उसके हाथ से गिरकर टूट गई।

"ओह!"

"प्याली टूट गई?"

"हाँ, दो थीं, उनमें से भी एक टूट गई।"

"कोई बात नहीं। सॉसर तो हैं, उनसे प्यालियों का काम चल जाएगा।"

पीटर फिर चारपाई पर बैठ गया। जॉन मेज़ पर रखे फोटोग्राफ के पास चला गया।

"फिआंसे—ए?"

अनिता ने मुस्कुराकर सिर हिला दिया।

"यह चिट्ठी भी उसी को लिखी जा रही थी?"

जॉन ने चारपाई पर रखे पत्र की तरफ़ संकेत किया। पीटर पुस्तक का वह पृष्ठ पढ़ने लगा जिस पर से वह पत्र नकल किया जा रहा था।

जॉन स्टोव के पास जा खड़ा हुआ और अनिता के शाल की तारीफ करने लगा। चाय तैयार हो गई तो अनिता ने प्याली बनाकर जॉन को दे दी। अपने और पीटर के लिए सॉसर में चाय डालती हुई बोली, "हमारे घर में कुल दो ही प्यालियाँ थीं। वही मैं उठा लाई थी। आते ही एक टूट गई।"

जॉन और पीटर ने एक-दूसरे की तरफ़ देखकर आँखें हटा लीं।

"यह सी कॉटेज है तो अच्छी, मगर ज़रा दूर पड़ जाती है," पीटर दोनों हाथों से सॉसर सँभालता हुआ बोला, "तुम पादरी से कहो कि तुम्हें डी या ई कॉटेज में जगह दे दें। वे दोनों ख़ाली पड़ी हैं। उनमें दो-दो बड़े कमरे हैं।"

"अच्छा?" अनिता बोली, "वैसे मेरे लिए तो यही कमरा बहुत बड़ा है। घर में हमारे पास इससे भी छोटा एक ही कमरा है जिसमें हम तीन जने रहते हैं...। उसमें

से भी आधा कमरा मेरे भाई ने ले रखा है और आधे कमरे में हम माँ-बेटी गुज़ारा करती हैं। अब मैं आ गई हूँ तो माँ को जगह की कुछ सहूलियत हो गई होगी।...मैं अपनी माँ को बहुत प्यार करती हूँ। पहला वेतन मिलने पर मैं उसके लिए कुछ अच्छ-अच्छे कपड़े भेजना चाहती हूँ। उसके पास अच्छे कपड़े नहीं हैं।''

पीटर और जॉन की आँखें पल-भर मिली रहीं। जॉन का निचला होंठ थोड़ा सिकुड़ गया।

''चाय बहुत अच्छी है!''

''खूब गरम है और फ्लेवर भी बहुत अच्छा है।''

''रोज़ बर्फ़ पड़े तो मैं रोज़ यहाँ आकर चाय पिया करूँ।''

पीटर के सॉसर से चाय छलक गई।

''सॉरी!''

बर्फ़ और कुहरे की वजह से बाहर बिलकुल अँधेरा हो गया था। बरस के गाले दूध-फेन की तरह निःशब्द गिर रहे थे। जॉन और पीटर अनिता के क्वार्टर से निकलकर ऊपर की तरफ़ चले, तो पगडंडी पर दो-दो इंच बर्फ़ जमा हो चुकी थी। अँधेरे में ठीक से रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था, इसलिए जॉन ने पीटर की बाँह पकड़ ली।

''अच्छी लड़की है, ए?''

''बहुत सीधी है।''

''मुझे डर है कि यह भी कहीं नानावती की तरह...।''

''रहने दो—तुम उसके हाथ इसका मुकाबिला करते हो?''

''वह आई थी तो वह भी ऐसी ही थी...।''

''मैं इसे इन लोगों के बारे में सबकुछ बता दूँगा।''

जॉन को थोड़ी खाँसी आ गई। वे कुछ देर ख़ामोश चलते रहे। उनके पैरों के नीचे कच्ची बर्फ़ कचर-कचर करती रही।

कुछ फासले से आकर टार्च की रोशनी उनकी आँखों से टकराई। पल-भर के लिए उनकी आँखें चुँधियाई रहीं। फिर उन्होंने ऊपर से उतरकर आती आकृति को देखा।

''गुड ईवनिंग बैरो!''

''गुड ईवनिंग टैफी! किधर से घूमकर आ रहे हो?''

''यूँ ही बर्फ़ पड़ती देखकर थोड़ी दूर निकल गए थे।''

''बर्फ़ में घूमना सेहत के लिए अच्छा है!''

पीटर ने जॉन की उँगली दबा दी।

''तुम भी सेहत बनाने निकले हो?''

इस बार जॉन ने पीटर की उँगली दबा दी।

"हाँ, मौसम अच्छा है, मैंने भी सोचा, थोड़ा घूम लूँ।"

"अच्छा, गुड नाइट!"

"गुड नाइट!"

टार्च की रोशनी काफ़ी नीचे पहुँच गई, तो जॉन पैर से रास्ता टटोलता हुआ बोला, "यह पादरी का खुफिया है खुफिया। मैं इस हरामी की रग-रग पहचानता हूँ।"

पीटर ख़ामोश चलता रहा।

सुबह जिस समय पीटर की आँख खुली, उसने देखा कि वह जॉन के क्वार्टर में एक आरामकुर्सी पर पड़ा है—वहीं उस पर दो कम्बल डाल दिए गए हैं। सामने रम की ख़ाली बोतल रखी है। वह उठा, तो उसकी गर्दन दर्द कर रही थी। उसने खिड़की के पास आकर देखा कि जॉन चाय का फ्लास्क लिये डाइनिंग-रूम की तरफ़ से आ रहा है। वह ठंडी सलाखों को पकड़े दूर तक फैली बर्फ़ को देखता रहा।

जॉन कमरे में आ गया और भारी कदमों से तख्ते पर आवाज़ करता हुआ पीटर के पास आ खड़ा हुआ।

"कुछ सुना,?"

पीटर ने उसकी तरफ़ देखा।

"रात को पादरी ने उसे अपने यहाँ बुलाया था...।"

"किसे, अनिता को?"

जॉन ने सिर हिलाया। उसकी आँखें क्षण-भर पीटर की आँखों से मिली रहीं। पीटर गम्भीर होकर दीवार की तरफ़ देखने लगा।

"टैफी, मैं उससे कहूँगा कि वह यहाँ से नौकरी छोड़कर चली जाए। उसे पता नहीं है कि यहाँ वह किन जानवरों के बीच आ गई है!"

जॉन फ्लास्क से प्यालियों में चाय उँडेलने लगा।

"उसमें खुद्दारी हो तो उसे आप ही चले जाना चाहिए," वह बोला, "किसी के कहने से क्या होगा! कुछ नहीं।"

"हो या न हो, मगर मैं उससे कहूँगा ज़रूर...।"

"तुम पागल हुए हो? हमें दूसरों से मतलब? वह अनजान बच्ची तो है नहीं।"

पीटर कुछ न कहकर दीवार की तरफ़ देखता हुआ चाय के घूँट भरने लगा।

"अब जल्दी से तैयार हो जाओ, गिरजे का वक्त हो रहा है!"

पीटर ने दो घूँट में ही चाय की प्याली ख़ाली करके रख दी। "मैं गिरजे में नहीं जाऊँगा।"

जॉन कुर्सी की बाँह पर बैठ गया।

"आज तुम्हारी सलाह क्या है?"

"कुछ नहीं, मैं गिरजे में नहीं जाऊँगा।"

जॉन मुँह ही मुँह बड़बड़ाकर ठंडी चाय की चुस्कियाँ लेता रहा।

दो दिन की बर्फ़बारी के बाद फादर फिशर के डिनर की रात को मौसम खुल गया। डिनर से पहले घंटा-भर सब लोग 'म्युज़िकल चेयर्स' का खेल खेलते रहे। उस खेल में मणि नानावती को पहला पुरस्कार मिला। पुरस्कार मिलने पर उससे जो-जो मज़ाक किए गए, उनसे उसका चेहरा इतना सुर्ख हो गया कि वह थोड़ी देर के लिए कमरे से बाहर भाग गई। मिसेज़ मर्फी उस दिन बहुत सुन्दर हैट और रिबन लगाकर आई थी; उसकी बहुत प्रशंसा की गई। डिनर के बाद लोग काफ़ी देर तक आग के पास खड़े बातें करते रहे। पादरी ने सबसे नई मेट्रन का परिचय कराया। अनिता अपने शाल में सिकुड़ी सबके अभिवादन का उत्तर मुस्कुराकर देती रही।

एटकिंसन मिसेज़ मर्फी को आँख से इशारा करके मुस्कुराया।

हिचकाक अपनी मुस्कुराहट ज़ाहिर न होने देने के लिए सिगार के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा। जॉन उधर से नज़र हटाकर हिचकाक से बात करने लगा।

"तुम्हें तली हुई मछली अच्छी लगी?...मुझे तो ज़रा अच्छी नहीं लगी।"

"मुझे मछली हर तरह की अच्छी लगती है, कच्ची हो या तली हुई...हाँ मछली हो।"

जॉन ने मुँह बिचकाया।

"रम की बोतल साथ हो तो भी तुम्हें अच्छी नहीं लगती?"

जॉन दाँत खोलकर मुस्कुराया और सिर हिलाने लगा।

मजलिस बरख़ास्त होने पर जब सब लोग बाहर निकले तो हिचकाक ने धीमे स्वर में जॉन से पूछा, "क्या बात है, आज पीटर दिखाई नहीं दिया...?"

जॉन उसका हाथ दबाकर उसे ज़रा दूर ले गया और दबे हुए स्वर में बोला, "उसे पादरी ने जवाब दे दिया है।"

"पीटर को भी?"

जॉन ने सिर हिलाया।

"वह कल सुबह यहाँ से चला जाएगा।"

"क्या कोई ख़ास बात हुई थी?"

जॉन ने उसका हाथ दबा दिया। पादरी और बैरो के साथ-साथ अनिता सिर झुकाए शाल में छिपी-सिमटी बरामदे से निकलकर चली गई। जॉन की भूरी आँखें कई गज़ उनका पीछा करती रहीं।

"यह आप भी गरम पानी से नहाता है या नहीं?"

"क्यों?" बात हिचकाक की समझ में नहीं आई।

"इसने डॉली को गरम पानी से नहलाया था न-!"

हिचकाक हो-हो करके हँस दिया। बरामदे में से गुज़रते हुए हकीम ने आवाज़ दी, "खूब कहकहे लग रहे हैं?"

''मैं तली हुई मछली हज़म कर रहा हूँ,'' हिचकाक ने उत्तर दिया, और ऊँची आवाज़ में जॉन को बतलाने लगा कि बग़ैर काँटे की मासेर मछली कितनी ताकतवर होती है।

सुबह जॉन, अनिता, नानावती और हकीम बैचलर्स डाईनिंग-रूम में नाश्ता कर रहे थे, जब पीटर का रिक्शा दरवाज़े के पास से निकलकर चला गया। पीटर रिक्शे में सीधा बैठा रहा। न उसे किसी ने अभिवादन किया, और न ही वह किसी को अभिवादन करने के लिए रुका। अनिता की झुकी हुई आँखें और झुक गईं—जॉन ऐसे गर्दन झुकाए रहा जैसे उस तरफ़ उसका ध्यान ही न हो। बैचलर्स डाइनिंग-रूम में कई क्षण ख़ामोशी छाई रही।

सहसा पादरी को खिड़की के पास से गुज़रते देखकर सब लोग अपनी-अपनी सीट से आधा-आधा उठ गए।

''गुड मार्निंग फादर!''

''गुड मार्निंग माई सन्ज़!''

''कल रात का डिनर बहुत ही अच्छा रहा,'' हकीम ने चेहरे पर विनीत मुस्कुराहट लाकर कहा।

''सब तुम्हीं लोगों की वजह से है।''

''मैं तो कहता हूँ कि ऐसे डिनर रोज़ हुआ करें...''

पादरी आगे निकल गया, तो भी कुछ देर हकीम के चेहरे पर वह मुस्कुराहट बनी रही।

''मेरे लिए उबला हुआ अंडा अभी तक क्यों नहीं आया?'' सहसा जॉन गुस्से से बड़बड़ाया। अनिता स्लाइस पर मक्खन लगाती हुई सिहर गई। किरपू ने एक प्लेट में उबला हुआ अंडा लाकर जॉन के सामने रख दिया।

''छीलकर लाओ!'' जॉन ने उसी तरह कहा और प्लेट को हाथ मार दिया। प्लेट अंडे-समेत नीचे जा गिरी और टूट गई।

उधर गिरजे की घंटियाँ बजने लगीं...डिंग-डांग! डिंग-डांग!

मिस्टर भाटिया

भाटिया को इसमें सख़्त एतराज़ है कि उसके नाम के साथ 'श्री' का प्रयोग किया जाए। उसकी भद्रता का परिचय केवल 'मिस्टर' या 'एस्क्वायर' द्वारा ही दिया जा सकता है।

भाटिया के पास पैसे हों तो वह इतवार को साढ़े तीन बजे का शो देखने ज़रूर जाता है। जाता तो वह सदा अकेला ही है, पर टिकट उसके पास तीन रहते हैं। बुकिंग आफिस की खिड़की बन्द हो जाने पर, बीच का टिकट अपने लिए रखकर दाएँ-बाएँ दोनों टिकट वह निराश भीड़ में खड़ी किन्हीं दो लड़कियों के हाथ बेच देता है। इस तरह अच्छा साथ पाने के लिए दैव के भरोसे नहीं रहना पड़ता।

टमाटर और अंडे खाने के बजाय चिट्ठियाँ लिखने के लिए आसमानी रंग का पैड मेज़ पर रखना भाटिया की दृष्टि में ज़िन्दगी की ज़्यादा बड़ी ज़रूरत है। उसने नीले सुन्दर अक्षरों में अपने नाम के लेटर पैड छपवा रखे हैं।

के.सी. भाटिया, (बी.एस-सी, एल-एल.बी.)

डिग्रियों के अक्षर ब्रेकेट्स में देने का अर्थ यह है कि दो-दो साल साइंस और लॉ की श्रेणियों में बिताकर आवश्यक योग्यता तो उसने प्राप्त कर ली थी, पर दुर्भाग्यवश एक बार भी सफल परीक्षार्थियों की सूची में उसका नाम नहीं निकला।

तीन साल पहले भाटिया का वज़न एक मन दस सेर था। पिछले साल घटकर एक मन पाँच सेर रह गया था। इस साल शायद एक मन तक उतर आया है। दो साल वह बेकार रहा। एक साल काम की तलाश करता रहा। आजकल विश्राम कर रहा है।

जिन दिनों मेरा भाटिया से परिचय हुआ, उन दिनों उसके पास स्वत्व के रूप में सिर्फ़ दो चीज़ें थीं—एक अपना शरीर और दूसरे किराये का एक फ़्लैट। था तो वह एक ही कमरा, मगर भाटिया उसके लिए फ़्लैट से कम किसी शब्द का प्रयोग नहीं करता था। बम्बई में जगह की किल्लत सदा ही रहती है, उन दिनों और भी ज़्यादा थी। भाटिया किसी-न-किसी को अपने फ़्लैट में 'पेइंग गेस्ट' बनाकर रख लिया करता था। मेरा भाटिया से सम्पर्क भी इसी सिलसिले में हुआ।

मुझे भाटिया के फ़्लैट में आए तब दो-चार रोज़ ही हुए थे। ज़्यादा से ज़्यादा एक सप्ताह हुआ होगा। सवेरे उठने पर मैंने देखा कि भाटिया ढेरों कागज़ चारों ओर फैलाकर

किसी उलझन में पड़ा है। मैं काफ़ी देर उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा। उसने मुझसे आँख नहीं मिलाई। मैंने भी कुछ कहना उचित न समझकर अखबार उठा लिया। मगर मैं अखबार पर नज़र जमा भी नहीं पाया था कि भाटिया अचानक कलम फेंककर बोल उठा, ''यह निकला!''

साथ ही उसने मेज़ पर मुक्का मारा और बाँह को हवा में झटक दिया।

''क्या निकला है भाटिया?'' मैंने अखबार रख दिया और उसकी ओर देखा।

''घोड़ा!'' भाटिया मुस्कुराया। उसने ऊपर के होंठ को दाँतों में भींच लिया और नीचे के होंठ को थोड़ा ढीला हो जाने दिया।

''घोड़ा!'' मैंने आश्चर्य के साथ पूछा।

भाटिया ने उत्तर न देकर कागज़ को उँगली से ठोंका। मैंने उचककर देखा। कागज़ पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था–गिज़ाला।

मैंने फिर अनजान की तरह उसकी ओर देखा।

''आज दूसरी रेस गिज़ाला जीतेगा,'' भाटिया ने समझाया ''जीतेगा क्या दुनिया नीचे से ऊपर कर देगा। दस रुपए के बदले एक सौ बीस, एक सौ तीस रुपए मिलेंगे। है सलाह?''

बिना उत्तर की आशा या प्रतीक्षा किए वह उठकर टहलने लगा। फिर क्षणभर के लिए रुककर उसने शीशे में अपना चेहरा देखा। फिर कंघी से बालों को माथे के ऊपर लाकर देखा। फिर धीरे-धीरे बालों को सँवारने लगा। कंघी रखकर उसने दाढ़ी को छुआ, ब्रश पर क्रीम लगाई और प्याली में पानी लाने के लिए चला गया।

मैं अखबार खोलकर देखने लगा। आठवें पृष्ठ पर घुड़दौड़ की सूचनाएँ और घोड़ों के चित्र दिए हुए थे। लेडी क्लियोपात्रा का लंबा-चौड़ा बखान था। मेघपुष्प, नसरुल्लाह और रंगाराव आदि के जीतने की भविष्यवाणी की गई थी।

भाटिया पानी लाकर ब्लेड तेज़ कर रहा था। मैंने उससे पूछा, ''घुड़दौड़ पर तुम हर सप्ताह जाते हो?''

''जब भी पैसे होते हैं चला जाता हूँ,'' उसने बिना मेरी ओर देखे उत्तर दिया।

''कभी जीते हो?''

भाटिया ने ड्राअर खोलकर तौलिया निकाला। तौलिये को गर्दन से लपेट लिया और गर्दन के निचले भाग में खुजलाते हुए कहा, ''आज पाज़िटिवली जीतूँगा।''

तभी किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। भाटिया ने कुंडी खोल दी। एक मक्खीकट मूँछोंवाला साँवला, दुबला, ठिगना व्यक्ति दरवाज़ा खोलकर अन्दर आ गया। आते ही वह अपने काले-पीले-कत्थई दाँत उघाड़कर मुस्कुराया। साथ ही उसने भाटिया को अधूरा-सा सलाम किया।

''बैठे हैं?'' उसने बगल से बही निकालते हुए पूछा।

"अगले महीने!" भाटिया ने खुश्क होते हुए गले से उत्तर दिया।

वह व्यक्ति फिर दाँत निकालकर मुस्कुराया। धोती से कुर्सी झाड़कर बैठकर बही के पन्ने पलटने लगा। कुछ देर गिनती करके बोला, "पाँचवाँ महीना चल रहा है।"

"मुझे पता है," भाटिया ने उपेक्षा के साथ कहा।

"अब की किराया ज़रूर ले जाना है।" वह धोती से अपने को हवा करने लगा।

भाटिया का हाथ पतलून की पिछली ज़ेब में चला गया। उसने एक पाँच का नोट निकालकर उसकी तरफ़ फेंक दिया। मुंशी नोट का निरीक्षण करता हुआ जम्हाई लेकर उठ खड़ा हुआ और बोला, "तो अगले हफ्ते आऊँ?"

"नहीं, पहली तारीख़ को," भाटिया ने तेज़ स्वर में कहा और ठुड्डी के नीचे ब्लेड को उसी तेज़ी के साथ खींच दिया। लहू की हलकी-सी लकीर निकल आई और सफ़ेद झाग में मिलकर केसरिया होने लगी।

सीढ़ियों पर मुंशी के पैरों की आहट समाप्त होते ही भाटिया बड़बड़ाने लगा, "सूअर का बच्चा! पाजी!"

दाढ़ी बनाकर भाटिया मेरे पास आ बैठा और पाँच-पाँच के नोटों की गड्डी निकालकर उसने तास की तरह पलंग पर फैला दी।

"ये रुपए क्या होंगे?" पूछा।

"छह घंटे के अन्दर ये दो सौ से बीस सौ हो जाएँगे।" और उसने वह पुलिन्दा समेटकर ज़ेब में डाल लिया।

"इतने रुपए कहाँ से मार लाए?" मैंने पूछा। पिछली रात को उसकी ज़ेब में कुल सवा रुपया बाक़ी था।

भाटिया का निचला होंठ ढीला हुआ और उस पर हलकी-सी मुस्कुराहट व्यक्त हुई। फिर मुस्कुराहट को ढाँपते हुए शब्द निकले, "गोपूमल से।"

गोपमूल को मैं दो-एक बार पहले देख चुका था। वह बहुत नाटा और मोटा व्यक्ति था, जिसके गले से शब्द घबराकर निकलते थे। दो-एक इंच और छोटा होता तो उसे बौना कहा जा सकता था।

"सब रुपए गिज़ाला पर लगाओगे?" मैंने पूछा।

"येस्!" भाटिया ने होंठों को ठेठ अमरीकन ढंग से करवट देकर कहा। फिर किवी की डिबिया उठाकर जूते पर पालिश लगाने लगा।

उस दिन भाटिया का अनुमान वाकई सही निकला। दूसरी रेस गिज़ाला ने जीत ली। उस पर रुपया लगानेवालों को दस के बदले एक सौ पैंतीस रुपए प्राप्त हुए।

परन्तु भाटिया के साथ ट्रेजेडी हो गई।

पहली रेस पर भाटिया के पाँव पर एक सज्जन का जूता आ गया। उनका नाम था कैप्टन केशव। कैप्टन केशव ने क्षमा माँगी, परिचय किया, हाथ मिलाया और बातें करने लगे। फिर उन्होंने अपनी पत्नी शारदा और बहन लीना के साथ भी उनका परिचय कराया।

उनके आग्रह पर भाटिया को उनके साथ चाय पीने के लिए बैठना पड़ा। लीना ने अपने गोरे और मुलायम हाथों से चाय की प्याली उसकी ओर बढ़ाते हुए विचार प्रकट किया कि दूसरी रेस गिज़ाला नहीं जीत सकता। भाटिया को उन सुन्दर होंठों की कही हुई बात पर सहज ही विश्वास हो गया। लीना ने उसे टिप दिया कि वह जितना रुपया लगाना चाहे, नसरुल्लाह को जिताया जा रहा है। कैप्टन केशव नसरुल्लाह पर पाँच सौ रुपया लगा रहे थे। भाटिया ने भी उनके कहने से अपनी दो सौ की पूँजी नसरुल्लाह पर लगा दी। मगर नसरुल्लाह उस रेस में दूसरा, तीसरा, चौथा भी नहीं आया। कैप्टन केशव ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा, ''हाऊ अनलकी।'' और अगली रेस का चार्ट देखने लगे। लीना ने भाटिया के साथ सहानुभूति प्रकट की और उसके सही अनुमान की प्रशंसा की। भाटिया के ख़ून का दबाव सिर की तरफ़ बढ़ रहा था, फिर भी वह किसी तरह मुस्कुराता रहा। मगर घर आकर उसने लीना, कैप्टन केशव और नसरुल्लाह सबकी सात पुश्तों को जी खोलकर सिन्धी-अंग्रेज़ी में गालियाँ दीं और रात-भर बेचैनी से करवटें बदलता रहा। दिन होने पर भी वह बिना नहाए-धोए बिस्तर में पड़ा रहा।

मैं उसे उसी तरह छोड़कर बाहर चला गया।

शाम को जब मैं लौटकर आया तो भाटिया कॉलर-टाई लगाए, शान से बैठा सेंट्रल बैंक की चेक-बुक में से बड़ी-बड़ी रकमों के चेक काट रहा था।

मुझे देखकर उसने बड़े आदमियों के अन्दाज़ में बैठने का संकेत किया और एक दस हज़ार का चेक मेरे नाम लिखकर, हस्ताक्षर करके मेरी ओर बढ़ा दिया।

''क्यों भाटिया साहब, नशे के लिए पैसे आज कहाँ से मिल गए!'' मैंने चेक लेकर पूछा।

''मैंने नशा नहीं किया,'' वह बोला, ''मैं बिलकुल होश में हूँ।''

''तब तो मामला और भी ख़तरनाक है।'' मैं बैठ गया।

भाटिया ठहाका मारकर हँसा और बोला, ''चेक पर तारीख़ भी देखी है?

मैंने देखा कि चेक पर पूरे पचास साल बाद की तारीख़ डाली गई है।

''यह चेक-बुक कहाँ से उड़ा लाए?'' मैंने पूछा।

''यहीं पड़ी थी,'' उसने सहज भाव से कहा।

तुम्हारा बैंक में हिसाब है?''

''नहीं।''
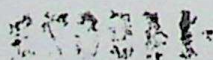
"फिर चेक-बुक कहाँ से आ गई?"

"भटनागर की है। वह पहले मेरे यहाँ पेइंग गेस्ट था। उस बेचारे को बेकारी ने बम्बई से भगा दिया।"

और उसने एक चेक सवा लाख रुपए का, कुमारी लीना कपूर के नाम काट दिया।

"आज इतनी जल्दी कैसे रंग बदल गया, भाटिया?" मैंने पूछा।

भाटिया ने लीना कपूर का चेक तह किया, खोला, फिर तह किया। फिर ज़ेब से एक नीले रंग का लिफाफा निकालकर उसमें से पत्र निकाल लिया और चेक डाल दिया। लिफाफा ज़ेब में रखकर उसने पत्र मेरी ओर बढ़ा दिया।

पत्र कैप्टन केशव का था। उन्होंने भाटिया से कुछ रेस-सम्बन्धी बातें करने की इच्छा प्रकट की थीं और उस सिलसिले में उसे शाम को खाने पर निमन्त्रित किया था।

"क्या इरादा है?" मैंने पूछा।

"इरादा ठीक है, पर धोबी दूसरी पतलून नहीं दे गया।"

"तो?"

"इसी पतलून को प्रेस करूँगा।"

"कमीज़ धुली हुई हो तो मैली पतलून साथ चल जाती है।"

"सो तो ठीक है, मगर जो कमीज़ धुली हुई है, वह कन्धे से फट रही है।"

"फिर?"

"ऊपर कोट पहनना पड़ेगा।"

बुलावा साढ़े सात बजे का था, मगर भाटिया पतलून प्रेस करके, जूते चमकाकर और शेव करके साढ़े छह बजे ही तैयार हो गया। नीचे ज़ाकर वह दो पैसे में 'ईवनिंग न्यूज' ले आया और पौन घंटा कमरे में चहलकदमी करता रहा। सवा सात बजे वह शीशे पर आख़िरी नज़र डालकर चला गया।

रात को वह मेरे आने से पहले ही लौट आया था। मैंने देखा, उसके होंठ अकारण फैल रहे हैं और गालों में चिकनाई भर रही है। वह व्यस्तापूर्वक 'लाइफ' के नए अंक में से तस्वीरें काट रहा था।

"यह क्या सनक है भाटिया?" मैंने बैठते हुए पूछा।

"अपनी आनेवाली ज़िन्दगी की रूपरेखा बना रहा हूँ," वह बोला।

"तस्वीरें काटकर?"

भाटिया ने होंठ सिकोड़कर सिर हिलाया और बोला, "तुम्हें पता है छह महीने बाद मेरी ज़िन्दगी क्या होगी?"

मैं गम्भीर हो गया।

''एक ऐसा ड्राइंग-रूम,'' और भाटिया ने ड्राइंग-रूम की कटी हुई तस्वीर मेरे हाथ में दी।

''एक ऐसी कार,'' और उसने ब्यूक कार की कतरन मेरी ओर बढ़ा दी।

''और एक ऐसी लड़की!'' उसने पल-भर प्यार की नज़र से देखकर वह चित्र मेरी ओर बढ़ाया। वह रीटा हेवर्थ का एक फ़िल्मी पोज़ था।

''रीटा हेवर्थ जैसी लड़की तुम्हें कहाँ मिलेगी?'' मैंने पूछा।

''यहीं, बम्बई में—और एक नहीं दस-दस। सिर्फ़ पैसा चाहिए।''

''और पैसा कहाँ से तशरीफ लाएगा?''

भाटिया ने उँगली से अपने माथे को छुआ, ''इस दिमाग़ से।''

''तब मिल गई तुम्हें रीटा हेवर्थ!'' और मैं उठने लगा।

''और बैठो,'' भाटिया आग्रह के साथ बोला, ''बात यह है कि हम लोग रेस कार्ड निकाल रहे हैं।''

''हम लोग कौन-कौन?''

''कैप्टन केशव और मैं। कैप्टन केशव का पैसा लगेगा और मेरा दिमाग़। उन्हें मेरे कैल्क्युलेशन पर बहुत विश्वास है। तुम भी देख लेना, जिस घोड़े पर पैंसिल रख दूँगा, वही जीतेगा।''

फिर उसने 'लाइफ' में से एक रेडियोग्राम की तस्वीर काटकर ड्राइंग-रूम के साथ रखते हुए कहा, ''एक बात और भी है।''

मैं बिना कुछ कहे उसकी ओर देखता रहा।

''वह लीना है न?''

मैंने सिर हिलाया।

''वह मेरी तरफ़ कुछ...मेरा मतलब है कि कुछ ऐसी बात है और मैं उस पर विचार कर रहा हूँ।''

''मतलब वे लोग ख़ासा इन्वेस्टमेंट कर रहे हैं।''

भाटिया पल-भर गम्भीर रहा। फिर बोला, ''भाई, कल्चर्ड तो यह है, पर सौन्दर्य की दृष्टि से ज़रा साधारण-सी है। अपने अबके स्टैंडर्ड से तो ठीक है, पर बाद के स्टैंडर्ड से...ख़ैर, ठीक ही है।''

''यह बाद का स्टैंडर्ड कब से शुरू हाता है?''

''देखते चलो,'' वह आगे की ओर झुककर बोला, ''साल-भर से हमारा फोर्ट में दफ़्तर खुल जाएगा। चार-चार चपरासी होंगे और एंग्लो-इंडियन लड़कियाँ टाइपिस्ट होंगी। बाहर बोर्ड लगा होगा...के.सी. भाटिया, एस्क्वायर। ताज में डांस हुआ करेंगे और क्रिकेट क्लब में डिनर।...''

''फिलहाल दफ़्तर कहाँ खुल रहा है?''

"फिलहाल यहीं," उसने कमरे में चारों ओर नज़र दौड़ाई। "यहाँ एक पार्टिशन लगा देंगे। एक हिस्सा बॉस का कमरा हो जाएगा। वहाँ मैं बैठूँगा। दूसरे हिस्से में एक टाइपिस्ट बिठा देंगे। ड्योढ़ी में वेटिंग-रूम हो जाएगा। रहा कैप्टन केशव का सवाल, सो उनके लिए..." और वह गम्भीर होकर बाल्कनी की तरफ़ देखने लगा।

"काम शुरू किस दिन से कर रहे हो?" मैंने पूछा।

भाटिया ने इस अन्दाज़ से छत की ओर देखा जैसे उस सवाल का जवाब वहाँ पर लिखा हो और बोला, "बहुत जल्द। बस समझ लो पहली तारीख़ से।"

दूसरे दिन भाटिया का कैप्टन केशव के यहाँ चाय के लिए निमन्त्रण था। उन्हीं के साथ रात को उसका पिक्चर देखने का भी प्रोग्राम था। रात को पिक्चर के बाद वह उन्हीं के घर पर रह गया। सुबह सात बजे लौटकर आया और आते ही पलंग पर सीधा लेट गया। फिर एकाएक उठकर शीशे के सामने चला गया। शीशे में चेहरा देखकर, फिर आकर बिस्तर पर पड़ गया।

"देखना, मुझे बुख़ार तो नहीं है?" उसने अपना दायाँ हाथ मेरी ओर बढ़ाया।

"क्यों, रात को उन्होंने गरम चीज़ खिला दी है क्या?"

"नहीं," वह बोला, "बात यह है कि उसका बिस्तर बहुत गरम, गुदगुदा और मुलायम था। मुझे सारी रात नींद नहीं आई। ऐसा लगता रहा जैसे हलका-हलका बुख़ार चढ़ रहा हो?"

"मगर जिस्म में तो बुख़ार नहीं है।"

भाटिया ने ठंडी साँस ली और करवट बदलकर बोला, "बुख़ार हो जाता तो कोई खबर करने तो आता।" और वह धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा, "पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे!, नाची रे, नाची रे, नाची रे...!"

मैं उसकी ओर देखता रहा।

"वह गीत उसने रात को सुनाया था।" वह सीधा हो गया।

"अच्छा गाती है?"

"अच्छा!...उसका गला बिलकुल रीटा हेवर्थ से मिलता है।"

"तो है आशा?"

"आशा?" वह बहुत ऊँचाई से मुस्कुराया और उसकी आँखें रोमियो की तरह भावपूर्ण हो उठीं।

अगले दिन भाटिया की मेज़ पर घोड़ों की सूचियों, घुड़दौड़-सम्बन्धी पुस्तकों और छोटे-बड़े अखबारों का ढेर जमा होने लगा। भाटिया दिनभर पैंसिल मुँह से चबाता हुआ पूना और बम्बई की पिछली रेसों के परिणाम मिलाता रहता, शाम को कैप्टन केशव के यहाँ चला जाता, और वहाँ से लौटकर आता तो उसे आधी रात तक वही बुख़ार चढ़ा रहता।

इतवार को मैं भाटिया को किशमिश, चिलगोज़ों और कागज़ों के बीच काम करते छोड़कर एक मित्र के यहाँ खाना खाने चला गया। शाम को मैं लौटकर आया तो सारे कमरे में धुआँ भर रहा था। भाटिया बाल्कनी में बैठा आग में कागज़ जला रहा था। जले हुए कागज़ कमरे में इधर-उधर फैल रहे थे।

''घर जलाने के लिए इतना तरद्दुद करने की क्या ज़रूरत है, भाटिया?'' मैंने बाल्कनी की ओर बढ़ते हुए कहा। वैसे ही तेल छिड़ककर दियासलाई दिखा देते।''

''मैं कागज़ जला रहा हूँ,'' भाटिया तीखे स्वर में बोला।

''यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि तुम कागज़ जला रहे हो। बाक़ी सबकुछ ये कागज़ जला देंगे।''

अब भाटिया को खतरे का एहसास हुआ। वह बाल्कनी का दरवाज़ा बन्द करके जूते से जलते हुए कागज़ों को मसलने लगा। इस चेष्टा में उसकी पतलून का पायँचा जल उठा। भाटिया चीख़कर फ़र्श पर बैठ गया। बाक़ी कागज़ों को मैंने जूते से मसल दिया। अब मैंने लक्षित किया कि भाटिया की सप्ताह-भर की मेहनत उन अधजले कागजों में से झाँक रही है।

''यह क्या किया, भाटिया?'' मैंने पूछा।

भाटिया अलमारी से पेटेंट मरहम निकाल लाया। उस जली हुई खाल पर मलता हुआ बोला, ''मुझे आज आत्महत्या कर लेनी चाहिए।''

''आत्महत्या तो बाद की चीज़ है?'' मैंने कहा, ''पहले यह बताओ, हुआ क्या है?''

''होना रह क्या गया है?'' वह मरहम और ज़ोर से रगड़ने लगा।

''कुछ बताओगे भी?''

''बताऊँ क्या?'' वह बोला, ''यही समझ लो कि मैं कुचला गया, मारा गया और दफ़ना दिया गया।''

''बहरहाल यह भी बता दो कि किस तरह कुचले, मारे और दफ़ना दिए गए?''

''कैप्टन केशव का दिल्ली तबादला हो गया।''

मैं भी उसके पास फ़र्श पर बैठ गया, क्योंकि यह वाकई मातम का मुकाम था।

''वे कब जा रहे हैं?''

''इसी सप्ताह।''

''और रेस कार्ड?''

''वह तुम्हारे सामने है,'' भाटिया ने जले हुए कागज़ों की ओर संकेत किया।

''वह भी जा रही है?''

भाटिया ने मरहम की डिब्बी बन्द की और ठंडी साँस ली। बोला, ''वह भी चली जाती तो ज़हर खाना आसान हो जाता।''

हवा के झोंके से बहुत-सी कालिख उड़कर कमरे में फैल गई। उसी समय दरवाज़ा खुला और रंगमंच पर गोपूमल ने प्रवेश किया।

"आज मेरे लिए रुपया लाया है?" उसने आते ही पूछा। फिर आसपास फैली हुई कालिख को देखकर उसने नकारात्मक भाव से सिर हिलाया।

"अभी रुपया नहीं मिला," भाटिया बाहर की तरफ़ देखने लगा।

"आज भी नहीं मिला?"

"नहीं।"

"किसी दिन मिलेगा भी?"

"जिस दिन मिलेगा, उसी दिन तुझे दे दूँगा।"

"मगर मिलेगा किस दिन, यह भी तो कुछ पता चले।"

भाटिया चुप रहा।

गोपूमल मुझे लक्ष्य करके बोला, "इस शख़्स का भेजा ख़राब है!"

"मेरी तकदीर ख़राब है!" भाटिया ने संशोधन किया।

"एक ही बात है," गोपूमल ने निष्कर्ष निकाला और क्षण-भर रुककर बोला, "तू मेरी बात मान, और ब्याह कर ले। ब्याह में लड़की मिलेगी और तीन हज़ार रुपया मिलेगा। कपड़े-लत्ते मिलेंगे सो अलग। बोल करूँ बात?"

"मैं ब्याह करूँ, मैं?" भाटिया की आँखें गुस्से से चमक उठीं। "मैं ब्याह करूँगा, तीन-तीन हज़ार रुपया मेरी रोज़ की आमदनी होगी। एक गोपूमल मेरे आगे चलेगा, और एक पीछे। तेरा दो सौ रुपया मेरे लिए दो कौड़ी के बराबर है। किसी भी दिन लाकर तेरे सामने फेंक दूँगा।

"तो आज ही क्यों नहीं लाकर फेंक देता?" गोपूमल भी गरम हुआ।

"आज मेरे पास नहीं है।"

"तो किसी दिन होगा भी?"

"पता नहीं।" और भाटिया शीशे के सामने जाकर कंघी करने लगा। गोपूमल उसके पीछे जा खड़ा हुआ।

"क्या बात है?" भाटिया खीजकर बोला।

"तेरी सूरत देख रहा हूँ।"

"मेरी सूरत में देखने को क्या है?"

"यही तो मेरी समझ में नहीं आता," कहता हुआ गोपूमल सीढ़ियों में पहुँच गया। आधी सीढ़ियों से उसकी आवाज़ आई, "घर में नहीं भूसा, नाम मेरा मूसा।"

कुछ दिन बाद वह फ़्लैट मुझे छोड़ देना पड़ा, क्योंकि भाटिया एक मारवाड़ी से पाँच हज़ार रुपया पगड़ी लेकर वह जगह उसे दे देने की सोच रहा था। उसके बाद छह

महीने भाटिया से मुलाक़ात नहीं हुई। एक दिन अचानक वह एक पुस्तकों की दुकान में मिल गया। वह तीन पुस्तकें बेचने के लिए लाया था—बाल रूम डांसिंग, आर्ट आफ पब्लिसिटी, और इंश्योरेंस गाइड।

दुकानदार ने तीनों पुस्तकों के तीन रुपए देने को कहा।

"तीनों पुस्तकें बिलकुल नई हैं," भाटिया उससे तर्क करने लगा।

दुकानदार उसके तर्क का उत्तर न देकर दूसरे ग्राहक से बातें करने लगा।

"चार रुपए दोगे?" भाटिया ने पूछा।

मगर दुकानदार दूसरे ग्राहक से बात करता रहा।

"अच्छा लाओ, साढ़े तीन में सौदा कर लेते हैं," भाटिया कुछ क्षण प्रतीक्षा करने के बाद बोला।

मगर दुकानदार ने ध्यान नहीं दिया।

"ख़ैर, लाओ, तीन ही रुपए दे दो!" और भाटिया ने किताबें आगे बढ़ा दीं।

दुकानदार ने चुपचाप किताबें उठा लीं। और तीन रुपए निकालकर दे दिए। भाटिया दुकान से बाहर निकला तो मैं भी उसके साथ बाहर आ गया। उसके गालों पर खुश्की झलक रही थी। उसकी पतलून में क्रीज़ नाम की चीज़ थी नहीं, और कमीज़ का कॉलर सिरे से गायब था।

"क्या हाल है भाटिया?" मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखकर पूछा।

"फाइन!" और वह होंठों पर एक अधूरी-सी मुस्कुराहट ले आया।

"ये किताबें क्यों बेच रहे थे?"

"यूँ ही...पैसों की ज़रूरत थी?"

"इन दिनों डांस सीखते रहे हो क्या?"

"नहीं, सिर्फ़ दो-एक दिन गया था।" और उसके चेहरे से मुस्कुराहट गायब हो गई।

"फिर?"

"लड़की के साथ नाचना अच्छा नहीं लगा, छोड़ दिया।"

"और पब्लिसिटी का क्या चक्कर था?"

"पब्लिसिटी ब्यूरो में नौकरी की आशा थी।"

"फिर?"

"नहीं मिली।"

"और कुछ?"

"इंश्योरेंस की एजेंसी ली थी।"

"कुछ काम किया?"

"एक दोस्त का केस मिल रहा था, पाँच हज़ार का, मगर..."

"मगर...?"

''मगर उसकी बीवी नहीं मानी।''
''तो आजकल क्या कर रहे हो?''
''आजकल...आजकल आराम कर रहा हूँ।''
बात करते-करते हम लोग फ्लोरा फाउंटेन के ट्राम स्टैंड के पास पहुँच गए थे।
''यहाँ से ट्राम से जाओगे?'' मैंने पूछा।
''हाँ, होटल की तरफ़ जा रहा हूँ,'' वह बोला।
''किस होटल में रहते हो?''
''इम्पीरियल गेस्ट हाउस में।''
''फ़्लैट दे दिया?''
''मुद्दत हो गई।''
''तो पगड़ी का रुपया नहीं मिला?''
''पाँच हज़ार मिला था।''
''फिर किताबें क्यों बेच रहे थे।''
''वह पाँच हज़ार तो कब का ख़र्च हो गया।''
''ख़र्च हो गया? चार-पाँच महीने में तुमने पाँच हज़ार ख़र्च कर दिया?''
''किया क्या, हो गया।''
''अपने-आप हो गया?''
''कुछ रेस में चला गया, कुछ पिछला कर्ज़ा चुकाने में, और कुछ होटल के बिल देने में। होटल का इस महीने का बिल अभी बाक़ी है।''
''उसके लिए अपना जिस्म नीलाम करोगे?''
''नहीं, अँगूठी और घड़ी बेच दूँगा।''
उसकी अँगूठी और घड़ी की तरफ़ मेरा ध्यान पहले नहीं गया था। अँगूठी के नग पर सुनहरा एल बना हुआ था।
''एल स्टैंड्स फार लव?'' मैंने पूछा।
''लीना के लए बनवाई थी,'' भाटिया ने दूसरी ओर देखते हुए कहा।
''तो उसे दी नहीं?''
''नहीं...वह...,'' उसने दोनों हाथ पतलून की ज़ेबों में डाल दिए और होंठों पर ज़बान फेरी।
मैं उसकी ओर देखता रहा।
''वह कहती थी कि वह सगाई की अँगूठी के अलावा और अँगूठी पहनना पसन्द नहीं करती।''
''तो तुम लोगों की सगाई हो गई? कब हुई?''

भाटिया ने आँखें दाईं ओर से बाईं ओर कर लीं। फिर होंठों को ज़बान से और गीला करता हुआ बोला, ''मेरी सगाई इसी महीने हुई है।...उसकी सगाई को दो साल हो गए।''

''क्या?'' मेरा चेहरा प्रश्नसूचक चिन्ह-सा बन गया।

"उसकी सगाई हवाई सेना के एक अफसर के साथ हो चुकी है।''

''पर तुम तो कहते थे कि...''

भाटिया ने निचले होंठ को दाँतों से चबा लिया। हम दोनों कुछ क्षण ख़ामोश रहे।

''कोल मोती, रेस कार्ड! रेस कार्ड, कोल मोती!'' वह आवाज़ सुनकर भाटिया चौंक गया। रुपए-रुपए के तीन नोटों में से सबसे घिसा हुआ नोट निकालकर उसने दोनों कार्ड खरीद लिए, और उसकी नज़र घोड़ों की सूचियों पर दौड़ने लगी।

''अभी भी रेस पर जाने का इरादा है?'' मैंने पूछा।

एक तिरस्कारसूचक 'हुँ' के साथ भाटिया ने दाँत भींच लिए।

''मेरा कहने का मतलब था कि...''

''जितना पैसा गया है, वह किसी तरह वापस भी तो आएगा...।'' भाटिया का चेहरा सख़्त हो गया।

''और उसे वापस लाने के लिए पैसा...?''

''उसके लिए भी आ रहा है, पन्द्रह दिन के अन्दर।''

''कोई लॉटरी निकली है?''

''नहीं। ब्याह हो रहा है। तीन हज़ार रुपया नकद मिलेगा।''

मेरा ध्यान उसके माथे की फूली हुई नसों की ओर चला गया।

''लड़की देखी है?''

भाटिया ने सिर हिलाया।

''कैसी है?''

''ठीक है!'' और उसका चेहरा और सख़्त हो गया।

कोलाबा की ट्राम आकर खड़ी हो गई थी। भाटिया ने हाथ बढ़ा दिया। मैंने उसका हाथ दबाते हुए पूछा, ''तो ब्याह की पार्टी कब दे रहे हो?''

ट्राम झटके से चल पड़ी और भाटिया दौड़कर उस पर सवार हो गया। चलती ट्राम से उसने हाथ हिलाते हुए कहा, ''पहली तारीख़ को।''

और ट्राम के ज़रा आगे निकलते ही उसकी आँखें फिर रेस कार्ड पर स्थिर हो गईं।

क्लेम

अड्डे से ताँगा चला, तो उसमें कुल तीन ही सवारियाँ थीं। दूर से बस आती दिखाई न दे जाती, तो साधुसिंह कुछ देर और अभी चौथी सवारी का इन्तज़ार करता। पर बस के आते ही ताँगे में बैठी सवारियाँ उतरकर बस में चली जाती थीं, इसलिए बस के अड्डे पर पहुँचने से पहले ही ताँगा निकाल लेना ज़रूरी हो जाता था। बस के आने तक सवारियाँ कितनी ही उतावली मचाएँ, वह पूरी चार सवारियाँ लिये बिना अड्डे से बाहर नहीं निकलता था। बस कचहरी से मॉडल टाउन के पाँच पैसे लेती थी, इसलिए ताँगे भी पाँच-पाँच पैसे में ही जाते थे। पूरी सवारियाँ हों तो कहीं पाँच आने पैसे बनते थे। नहीं तो घोड़े को सवा मील दौड़ाकर भी दस या पन्द्रह पैसे ही हाथ आते थे। आज सुबह से उसने मॉडल टाउन के तीन फेरे लगाए थे मगर उसकी ज़ेब में सत्रह आने भी जमा नहीं हुए थे। जून की चिलचिलाती धूप में वैसे ही घोड़े का दम निकल रहा था, इसलिए दस-दस पैसे के लिए उसे दौड़ाना अक्लमन्दी नहीं थी। मगर इसके सिवा कोई चारा भी नहीं था। गर्मी में सवारी ऐसे ही कम निकलती थी, फिर मुकाबला बस से था जो कचहरी से मॉडल टाउन पहुँचने में पाँच मिनट भी नहीं लेती थी।

"चल अफसरा, चल, तेरे सदके, चल!" वह खड़ा होकर लगाम को घुमाता हुआ उससे चाबुक का काम लेने लगा। धोबी मोहल्ला पार करने तक उसे आशा थी कि शायद रास्ते में कोई सवारी मिल जाए। मगर ड्योढ़ियों में ऊँघती दो-एक धोबिनों को छोड़कर सारा मोहल्ला सुनसान था। मोहल्ले से निकलकर उसने लगाम ढीली छोड़ दी और वज़न बराबर करने के लिए खुद बाँस पर बैठ गया।

पीछे से बस आ रही थी, इसलिए पिछली सीट पर बैठी स्त्री झल्लाने लगी। "बैठाते वक़्त तो मिन्नत-तरला करके बैठा लेते हैं और चलाते इस तरह हैं जैसे सड़क का मुआयना करने निकले हों। इतनी ही देर लगानी थी, तो हमसे पहले कह देते, हम बस में बैठ जाते। हमें इतना ज़रूरी काम है नहीं तो हमें इतनी गर्मी में घर से निकलने की क्या पड़ी थी?"

साधुसिंह उचककर बाँस पर ज़रा और आगे हो गया और जल्दी-जल्दी लगाम को झटकने लगा। "चल तुझे ठंड पड़े, तेरी ज़वानी के सदके, चल-चल गोली की चाल, माई-बीबी नाराज़ हो रही हैं। चला चल तेरी ख़ैर, अफसरा! मार दे हल्ला! ताकू!"

मगर लगाम के झटके खाकर भी अफसर की चाल तेज़ नहीं हुई। वह दो बार इधर-उधर सिर झटककर अपनी चाल चलता रहा। बस हॉर्न बजाती पीछे से आई और धूल का बवंडर छोड़ आगे निकल गई।

"देखा, निकल गई न बस? कहता था बस से पहले पहुँचाऊँगा!" वह स्त्री फिर बोली।

साधुसिंह जवाब न देकर लगाम को झटकता रहा और अफसर लगाम की परवाह किए बिना अपनी चाल चलता रहा।

सवा मील कोई ज़्यादा रास्ता नहीं था। सूरज ढलने के बाद यही रास्ता चुटकियों में पार हो जाता था। मगर उस वक़्त भरी दोपहर थी और आसपास कहीं छाया नज़र आती भी थी तो बहुत सिमटी-सिमटी और वीरान-सी। कोलतार की सड़क जगह-जगह से पिघल गई थी। आसपास के डेढ़-डेढ़ आदमी गहरे छप्पड़ सूख गए थे। साधुसिंह सोचने लगा कि अभी तो गर्मी की शुरुआत ही है, आगे चलकर जाने क्या होगा?

"चल राजा, चल पुतरा, तेरी जान की ख़ैर, तेरी सलामती की बरकत, खा जा गम और चलाचल गोली की चाल, तेरी माँ के दूध की ख़ैर...!"

ताँगों में बैठी तीनों सवारियाँ क्लेम्ज़ के दफ़्तर की थीं। आगे बैठा सरदार कह रहा था कि उसका साठ हज़ार का क्लेम मंजूर हुआ है, जिसमें से आधा पैसा उसे नकद मिलेगा और आधा जायदाद की शक्ल में। पीछे बैठी स्त्री रो रही थी कि बेड़ा गर्क हो क्लेम मंजूर करनेवालों का जो उसका सिर्फ़ अट्ठारह हज़ार का क्लेम मंजूर किया गया है...गुजराँवाला में उनके चार मकान थे और एक साढ़े तीन कनाल का बाग़ीचा था। बाग़ीचा चार कनाल का होता, तो उन्हें ज़्यादा रुपया मिलता। अगर उन्हें पहले पता होता, तो वे आधा कनाल ज़्यादा लिख देते...वे अपनी सचाई में मारे गए। घर में उसकी दो जवान लड़कियाँ हैं, जिन्हें अकेली छोड़कर उसे रोज़-रोज़ बटाला से जालन्धर के चक्कर काटने पड़ते हैं। इसी तरह चक्कर काटते-काटते उसके पति की मृत्यु हो गई और वह खुद भी बीमार रहने लगी है।

"पता नहीं, मुझे अपने जीते-जी इन कसाइयों का पैसा देखने को मिलेगा या नहीं? मुझे तो लगता है कि मैं भी इसी में मर-खप जाऊँगी, और मेरे बच्चे पीछे बिलखते रहेंगे।" उसका लहजा ऐसा था जैसे वह बात न करके किसी से फरियाद कर रही हो। चेहरे के भाव से लगता था, जैसे अभी-अभी उसे कोई सदमा पहुँचा हो।

उसी सीट पर उस स्त्री के साथ व्यक्ति माथे पर त्योरियाँ डाले ख़ामोश बैठा था।

''माईजी, अट्ठारह हज़ार में से अभी कुछ मिला भी है या नहीं?'' आगे बैठे सरदार ने सहानुभूति के स्वर में पूछ लिया।

''कुल छह हज़ार मिला है अभी।'' वह स्त्री बोली, ''मेरा बाल-बच्चोंवाला घर है। छह हज़ार से मेरा बनता क्या है? मेरे बच्चे अच्छा खाने-पहनने के आदी हैं। उन पर छह-छह हज़ार एक महीने में ख़र्च होते थे। और कहते हैं यह रुपया विधवा होने के कारण मुझे जल्दी मिल गया है। इतना देकर भी उन्होंने मुझ पर एहसान किया है!'' और वह पल्ले से आँखें पोंछने लगी।

ख़ामोश बैठा व्यक्ति सरदार की तरफ़ मुड़ा और धिक्कारने की-सी आवाज़ गले से निकालकर बोला, ''सच कहते हैं औरतों की अक्ल टखनों में होती है!''

''क्यों भाई, मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है जो तू मुझे गालियाँ दे रहा है?'' स्त्री आँसू पोंछती हुई सहसा तमक उठी। "मैं तुझसे तेरी ज़मीन-जायदाद तो नहीं माँग रही। अपना जो-कुछ छोड़ आई हूँ, उसी का रोना रो रही हूँ।''

''तू अकेली नहीं छोड़ आई, हम सब अपने घर-बार पीछे छोड़ आए हैं। शुक्र कर तुझे छह हज़ार तो मिल गए हैं। यहाँ हम जैसे भी हैं जिन्हें आज तक एक पाई नहीं मिली। हमारा कसूर यही है कि मियाँ-बीवी दोनों सलामत हैं। मैं अगर मर-खप गया होता, तो मेरे बच्चों को भी अब तक दो रोटियाँ नसीब हो जातीं। आँखें मेरी अन्धी हो रही हैं, जोड़ मेरे दर्द करते हैं—मैं जीता हुआ भी क्या मुर्दों से बेहतर हूँ? मगर सरकार के घर में ऐसा अन्धेर है कि लोग इंसान की ज़रूरत को नहीं देखते, बस जीते और मरे हुए का हिसाब करते हैं। मुझे आज ये एक हज़ार ही दे दें तो मैं कोई छोटी-मोटी दुकान डालकर बैठ जाऊँ। मेरे बच्चों के पास तो एक-एक फटी हुई कमीज़ भी नहीं है।''

''अपनी-अपनी तकदीर की बात है भाई साहब, कोई किसी दूसरे की तकदीर थोड़े ही ले सकता है?'' सरदार मध्यस्थता करता हुआ बोला, ''हम और आप भी दुखी हैं, और यह भाई भी दुखी है—कौन यहाँ दुखी नहीं है? कोई कम दुखी है कोई ज़्यादा दुखी है।''

''आपको साठ हज़ार मिल रहे हैं, आपको किस चीज़ का दुख है?'' वह व्यक्ति अब और कुढ़ गया।

''मिल रहे हैं, यह भी तकदीर की बात है,'' सरदार बोला, ''क्लेम भरते हमें अक्ल आ गई, उसी का फल समझिए। नहीं हमें भी ये दस-बीस हज़ार देकर टरका देते।''

''आपने क्लेम ज़्यादा का भरा था?''

''हमारी डेढ़ लाख की जायदाद थी। मगर हमें पता था कि असली क्लेम भरेंगे तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा। सो वाहे गुरु का नाम लेकर हमने इस तरह फार्म भरा

कि जायदाद की असली कीमत तो कम-से-कम वसूल हो ही जाए। मगर इन बेईमान ने फिर भी कुल साठ हज़ार का ही क्लेम मंजूर किया है। हम छह भाई हैं–दस-दस हज़ार लेकर बैठ रहेंगे।''

''मैं इनसे कितना कहती रही, पर इन्होंने मेरी एक न सुनी!'' स्त्री हताश भाव से हाथ मलने लगी।

दोनों व्यक्ति सवालिया नज़र से उसे देखते रहे।

''मैं कहती रही कि जितना छोड़ आए हो, उससे ज़्यादा का क्लेम भरो। मगर ये ऐसे मूरख थे कि हठ पकड़े रहे कि जितना था, उतने का ही क्लेम भरेंगे–पहले ही इतने दुख उठाए हैं, अब और बेईमानी क्यों करें? आज ये मेरे सामने होते, तो मैं पूछती कि बताओ बेईमानी करनेवाले सुखी हैं या हम लोग सुखी हैं? लोगों ने जितना छोड़ा था, उसका दुगुना-तिगुना वसूल कर लिया, और मैं बैठी हूँ छह हज़ार लेकर!...हाय, इन लोगों ने तो मेरे बच्चों को भूखों मार दिया!'' और अब वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

उसके साथ बैठे व्यक्ति ने दूसरी तरफ़ मुँह करके माथे पर हाथ रख लिया! सरदार फिर सहानुभूति प्रकट करने लगा। ''रोने से कुछ नहीं होता माई! जो लिखा है, उसी से सन्तोष कर।''

''सन्तोष करने को एक मैं ही रह गई हूँ? सारी दुनिया मौज करे और मैं सन्तोष करके बैठी रहूँ?'' और वह रोती रही।

''जल्दी पहुँचा भाई, इतना आहिस्ता क्यों चला रहा है?'' माई के साथ बैठा व्यक्ति उतावला होकर बोला।

साधुसिंह झुँझलाकर बार-बार लगाम को झटके दे रहा था, मगर घोड़े की चाल में फ़र्क नहीं आ रहा था। अब वह लगाम का सिरा ज़ोर-ज़ोर से उसकी पीठ पर मारने लगा। ''तेरी अफसर की ऐसी की तैसी! तेरी पूँछ पर तितैया काटे! चल पुतरा जल्दी!''

मगर तितैया के डर से भी अफसर की चाल तेज़ नहीं हुई।

क्लेम्ज़ के दफ़्तर के बाहर उन लोगों को उतारकर लौटते हुए साधुसिंह को एक भी सवारी नहीं मिली। वह काफ़ी देर मार्केट के मोड़ के पास रुका रहा, मगर तीनों सड़कों में से किसी पर भी उस वक़्त कोई इंसान चलता दिखाई नहीं दे रहा था। तेरह नम्बर दुकान के साये में दो-एक रिक्शावाले सोए थे। तेरह नम्बर का सरदार अन्दर बर्फ़ कूट रहा था। साधुसिंह का मन हुआ कि सरदार से एक गिलास शिकंजवी बनवाकर पी ले और कुछ देर रिक्शावालों के पास ही एक तरफ़ लेटा रहे। मगर ताँगा खड़ा करने के लिए वहाँ कोई छायादार जगह नहीं थी और न ही नज़दीक कोई चहबच्चा था, जहाँ से घोड़े को पानी पिला सकता। घोड़ा गर्मी के मारे हूँक रहा था

और बार-बार ज़बान बाहर निकाल रहा था। साधुसिंह की ज़ेब में जो सत्रह आने थे वे भी हिसाब से उसके अपने नहीं थे। घोड़े के लिए चारा खरीदने के लिए उसे कम-से-कम दो रुपए चाहिए थे। उसने ज़बान से होंठों को गीला किया और घोड़े का रुख शहर की तरफ़ करा दिया।

लम्बी सीधी, वीरान सड़क पर वह अकेला ताँगा चला रहा था। आसपास के पेड़ भी गर्मी से परेशान सिर झुकाए खड़े थे। फिर भी न जाने किन झुरमुटों में बैठी कुछ चिड़िया बोल रही थीं–चिचिचि...चिचि...ह्विश्...च्यु-यु-यु-यू...यु...चिचिचि... चिचि...!

साधुसिंह लगाम ढीली छोड़कर पिछली सीट पर अधलेटा-सा हो रहा। उसका मन उस समय उस आम के पेड़ की डालों के गिर्द मँडरा रहा था, जो उसने बड़े चाव से अपने पत्तोकी के घर के आँगन में लगाया था। नौ रुपए महीने का वह मकान बरसों के परिचय के कारण अपना मकान ही लगता था। हीराँ ने कितनी ही बार कहा था कि पराए घर में पेड़ लगा रहे हो, पाल-पोसकर एक दिन दूसरों के लिए छोड़ जाओगे! मगर तब यह कहाँ सोचा था कि वह घर इस तरह छूटेगा कि ज़िन्दगी-भर उसके पास से गुज़रना तक नसीब न होगा!

आम का पेड़ इन दिनों खूब फल रहा होगा...और हीराँ?

उस साल पेड़ पर पहली बार फल आया था। फल आने की खुशी में उसने न जाने कितनी कच्ची अंबियाँ खा डाली थीं।

"क्यों जान-बूझकर दाँत खट्टे करते हो?" हीराँ चिढ़ती।

"यह अप्ने पेड़ का फल है, जानी! इसे खाकर दाँत खट्टे नहीं होते।"

और हीराँ के अधखिले यौवन को वह गाढ़े आलिंगन में समेट लेता।

आम हरे से पीले और पीले से सुर्ख हो आए थे, जब बलवा शुरू हुआ। पत्तोकी की हर गली में ख़ून बहने लगा। आधी रात को बलवई उनके मोहल्ले में घुस आए। जब उनके घर का दरवाज़ा तोड़ा गया, तो वह हीराँ को साथ सटाए दम साधकर चारपाई पर पड़ा था। उन्होंने जल्दी से पिछवाड़े की तरफ़ कूद जाने का निश्चय किया। वह तो झट-से कूद गया, मगर हीराँ दो बार उचककर भी कूद नहीं पाई। और इससे पहले कि वह फिर एक बार साहस करती, किसी हाथ ने उसे पीछे खींच लिया।

अँधेरा, खेत और रेल की पटरियाँ...बेजान हाथ-पैर और भूख...टिकट, कूपन कार्ड और नम्बर...

नाम, साधुसिंह।

वल्द, मिलखासिंह।

कौम, खत्री।

ज़मीन-जायदा, कोई नहीं।

रुपया-पैसा, कोई नहीं।

क्लेम...?

उसका वह आम का पेड़, जिसके पकने की उसने बेसब्री से इन्तज़ार की थी और जिसकी अंबियाँ खा-खाकर वह अपने दाँत खट्टे करता रहा था—उस पेड़ की छाया में उसे भविष्य के जो साल बिताने थे...?

उस घर की अपनी एक ख़ास तरह की गन्ध थी, जो कपड़ों की गाँठ से लेकर आँगन की दीवारों तक हर चीज़ में समाई रहती थी। वह गन्ध...?

और वे रातें जो आँगन में लेटकर आसमान की ओर ताकते हुए बीतनी थीं?

और आनेवाली ज़िन्दगी के वे सब मनसूबे, जो उस घर की दहलीज़ के अन्दर-बाहर जाते मन में उठा करते थे...?

"हीराँ, बता पहले तेरे लड़का होगा या लड़की?"

"हाय शरम करो, कैसी बात करते हो?"

"अच्छा, मैं बताऊँ? पहले तेरे एक लड़की होगी, फिर दो लड़के होंगे, फिर एक लड़की होगी...।"

"चुप भी रहो, क्यों यूँ ही बके जाते हो?"

"दूसरी लड़की पहली लड़की से...ज़्यादा ख़ूबसूरत होगी। उसके तेरे जैसे ही मुलायम बाल होंगे, ऐसी ही बड़ी-बड़ी आँखें होंगी, और ठोड़ी के पास यहीं एक तिल होगा...।"

"हाय, क्या करते हो?"

"मैं उसे इसी तरह चिकुटी काटूँगा, और वह इसी तरह चीख़ उठेगी।"

वह स्पर्श...? वह सिहरन...? वह कल्पना... वह भविष्य...? साधुसिंह, वल्द मिलखासिंह, कौम खत्री—नम्बर...? क्लेम...?

आम का पेड़ अब बड़ा हो गया होगा। घर की दीवार की गन्ध पहले से बदल गई होगी। और हीराँ...? आज उसकी गोद में न जाने किसके बच्चे होंगे?

साधुसिंह सीधा होकर बैठ गया। ताँगा धोबी मोहल्ले में पहुँच गया था। चारों तरफ़ हर चीज़ अब भी ऊँघ रही थी। उसने लगाम को लगातार कई झटके दिए। घोड़े की गर्दन थोड़ा ऊपर उठी, फिर उसी तरह झुक गई।

अड्डे पर पहुँचकर साधुसिंह ने घोड़े को चहबच्चे से पानी पिलाया और सीट के नीचे से चारा निकालकर उसके आगे डाल दिया। घोड़ा चारे में मुँह मारने लगा, और वह उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा।

"तेरी बरकत रही अफसरा, तो अपने पुराने दिन फिर आएँगे! खा ले, अच्छी तरह पेट भर ले। अपने सब क्लेम तुझी को पूरे करने हैं, तेरी जान की ख़ैर...।"

और अफसरा गर्दन लम्बी किए चुपचाप चारा खाता रहा।

एक और ज़िन्दगी (1961)

भूमिका

हिन्दी में कहानी की चर्चा थोड़े दिनों से ही आरम्भ हुई है। दूसरी भाषाओं में भी कहानी की चर्चा बहुत विस्तार से नहीं हुई क्योंकि कविता के ह्रास की बात करते हुए भी प्रायः आलोचक, साहित्य और कविता को पर्यायवाची-से मानकर चलते हैं। कहानी के विकास की दृष्टि से यह स्थिति सम्भवतः हितकर ही रही क्योंकि इससे कहानी के मूल्यों का विवेक आलोचकीय परिभाषाओं के सहारे विकसित न होकर रचनात्मक प्रयोगों के सहारे ही विकसित हुआ।

हर महीने संसार की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हज़ारों नई कहानियाँ प्रकाशित होती हैं। क्या इनमें सब कहानियाँ 'नई' होती हैं? किस अर्थ में एक 'नई' कहानी 'पुरानी' कहानी से अलग होती है? क्या कहानी की नवीनता का सम्बन्ध उसके वस्तुक्षेत्र से है? और अच्छी कहानी क्या है? क्या अच्छी कहानी वह है जो अच्छे लोगों के बारे में लिखी जाती है?

कहानी की नवीनता का सम्बन्ध वस्तु और चरित्र की नवीनता के साथ जोड़ दिया जाए तो संसार में जितनी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें एक भी 'नई' कहानी ढूँढ़ लेना कठिन होगा। ऐसा कोई भी विषय या क्षेत्र नहीं है जिसे लेकर पहले कहानियाँ नहीं लिखी जा चुकीं। इसलिए इस या उस क्षेत्र के जीवन को लेकर कहानियाँ लिखनेवाले लोगं जब अपनी नई दृष्टि, नई चेतना और नई भावभूमि की बात कहते हैं तो ऐसा लगता है जैसे वे अपने को किसी ऐसी चीज़ का विश्वास दिलाना चाहते हों जिस पर उनका भी मन विश्वास नहीं करता। निःसन्देह कहानी की सार्थकता इस बात में नहीं है कि वह किस नये अजायबघर से कौन सा अजूबा लाकर हमारे सामने पेश करती है। नई तरह के व्यक्ति या नई तरह के वातावरण का चित्रण कर देने से एक नई कहानी की सृष्टि नहीं हो जाती।

कुछ दिन पहले शेखर जोशी के कहानी संग्रह 'कोसी का घटवार' की भूमिका में यह शिकायत पढ़ी थी कि औद्योगिक जीवन के सम्बन्ध में लिखी गई कहानियों को आलोचकों ने वह मान्यता नहीं दी जो ग्राम-जीवन को लेकर लिखी गई कहानियों को दी है। औद्योगिक जीवन को लेकर लिखी गई शेखर की कहानी 'बदबू' काफ़ी

अच्छे स्तर की है परन्तु मेरी दृष्टि में उनकी सबसे अच्छी कहानी 'कोसी का घटवार' है, जो पार्वत्य प्रदेश के दो साधारण प्राणियों की भावात्मक ट्रेजेडी को लेकर लिखी गई है। इसलिए शेखर का यह सोचना गलत है कि उनकी कहानियों की विशेषता एक विशेष वर्ग या समुदाय के सम्बन्ध में लिखने के कारण है। औद्योगिक जीवन को लेकर संसार में कई एक अच्छी कहानियाँ लिखी गई हैं, परन्तु इसी जीवन के सम्बन्ध में कितनी ही निर्जीव और यांत्रिक-सी कहानियाँ भी लिखी गई हैं। किस वर्ग या क्षेत्र को लेकर कहानी लिखी जाती है? निःसन्देह इससे कहानी के मूल्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

इसी तरह कहानी की अच्छाई या बुराई का सम्बन्ध इस बात से कदापि नहीं है कि जिन चरित्रों को कहानी में चित्रित किया गया है, वे भले हैं या बुरे—अपना सरपत काटकर किसी को दे आते हैं या नहीं। यदि चरित्र ही उदात्तता की कहानी कसौटी है, तो गुंडों, जुआरियों, वेश्याओं और घूसखोर अफसरों को लेकर लिखी गई संसार की सब कहानियाँ रद्दी हैं। चरित्र की श्रेष्ठता ही कहानी की श्रेष्ठता है, तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आज से हज़ार साल पहले लिखी जा चुकी हैं।

कहानी की बात किसी भी कोण से उठाई जा सकती है। कहानी का शिल्प एक कोण है, भाषा दूसरा, यथार्थ की अभिव्यक्ति तीसरा और सांकेतिकता चौथा। कोण और भी हैं और हर कोण से विचार कई भूमियों पर किया जा सकता है। परन्तु किसी भी एक उपलब्धि से कहानी कहानी नहीं बनती—कहानी की आन्तरिक अन्विति का निर्माण इन सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से होता है। यदि एक-एक कोण से देखते हुए ही कहानी की अच्छाई या बुराई का निर्णय दिया जाए तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ भी किसी-न-किसी दृष्टि से बेकार सिद्ध की जा सकती हैं और बहुत हीन स्तर की कृतियों में भी किसी-न-किसी कोण से श्रेष्ठता का निदर्शन किया जा सकता है। कहानी की इस या उस विशेषता की चर्चा करते हुए जिन प्रसिद्ध कहानीकारों का हवाला दिया जाता है, उनकी रचनाओं में बस वही एक-एक विशेषता नहीं है जिसके लिए उनका स्मरण किया जाता है। ओ हेनरियन शिल्प और चेखोवियन संवेदनाओं के दायरे में पड़कर परेशान हुए लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि ओ हेनरी और मोपासाँ कोरे शिल्पकार या साहित्यिक मदारी ही नहीं थे जिन्होंने जब-तब अपना पिटारा खोलकर कुछ चमत्कारपूर्ण करतब दिखा दिए। 'नेकलेस' तथा 'गिफ्ट आव् द मागी' जैसी कहानियों का एक मानवीय पक्ष भी है, उनमें तात्कालिक जीवन की विडम्बनाओं का संकेत भी है। मोपासाँ की कहानियाँ अपने फ्लैश में उस काल के फ्रांस की कई सजीव झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। दूसरी ओर चेखव की कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से ढीली और मन पर मंडरानेवाली छायाओं के प्रभाव से लिखी गई भटकी हुई कहानियाँ नहीं हैं। चेखव ने अपनी कहानियों को एक निश्चित गठन देने के लिए

जितनी मेहनत की है, उतनी शायद ही किसी अन्य कहानीकार ने की हो—यहाँ तक कि मोपासाँ और ओ हेनरी ने भी नहीं।

परन्तु आज की हिन्दी कहानी के मूल्यों की चर्चा करते हुए विदेशी कहानीकारों के लम्बे-चौड़े हवाले देना सिवाय हीनता की भावना के और कुछ नहीं है। हर देश और भाषा की कहानी अपनी परिस्थितियों और अपने लेखकों की सामर्थ्य के अनुसार विकसित होती है। हिन्दी कहानी अपने विकास की जिस मंज़िल पर है, वहाँ उसकी आन्तरिक उपलब्धियों और अनुपलब्धियों का विश्लेषण न करके जब ओ हेनरी की-सी गठन, मोपासाँ के-से व्यंग्य और चेखव की-सी अन्तर्दृष्टि का ज़िक्र किया जाता है, तो बात बहुत कच्ची और सतही प्रतीत होती है। हिन्दी कहानी भानुमती का पिटारा नहीं है जिसमें संसार के सब लेखकों की सब विशेषताएँ उपलब्ध होनी चाहिए। किसी भी भाषा की कहानी का मूल्यांकन करते समय हमारी दृष्टि दो बातों पर रहनी चाहिए। एक तो यह कि कहानी की आन्तरिक उपलब्धियों का विकास उसमें किन स्तरों पर हुआ है और दूसरे यह कि क्या उस भाषा की कहानी के विकास को एक निश्चित परम्परा के अन्तर्गत रखकर देखा जा सकता है।

जहाँ तक कहानी की आन्तरिक उपलब्धियों का सम्बन्ध है, उनमें सांकेतिकता को कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। यह सांकेतिकता आज की कहानी की या किसी एक भाषा की कहानी की ही उपलब्धि नहीं, कहानी-मात्र की एक अनिवार्य उपलब्धि है। पुरानी कहानी से नई कहानी इस अर्थ में अलग होती है कि उसमें सांकेतिकता का विस्तार पहले से भिन्न स्तरों पर होता है। बात वही होती है और जीवन के उसी कैनवस से उठाई जाती है। मगर उसके सम्बन्ध में लेखक के अनुभव की निजता, जीवन के यथार्थ की उसकी व्यापक पंकड़ और भाषा तथा शिल्प के क्षेत्र में उसकी अपनी प्रयोगात्मकता उसकी रचना को भिन्नता और एक और ही सार्थकता प्रदान कर देती है।

पिछले दशक में लिखी गई हिन्दी कहानियों की विशिष्ट उपलब्धि सम्भवतः यही है कि उनमें सांकेतिकता के विभिन्न स्तरों का बहुमुख विकास हुआ है। विश्व-कथा-साहित्य के सन्दर्भ में देखते हुए चरित्र या क्षेत्र की ऐसी कोई नवीनता नहीं है जिसकी ओर हिन्दी के नए कहानीकारों का ध्यान पहली बार गया हो। कहा जा चुका है कि किसी क्षेत्र विशेष के सम्बन्ध में लिखी जाने से ही कोई कहानी अच्छी या बुरी नहीं हो जाती है। 'कफ़न' इसलिए एक श्रेष्ठ कहानी नहीं है कि वह एक विशेष क्षेत्र से उठाई गई है। 'आदर्शोन्मुखता' की कसौटी से तो वह 'प्रेमचन्द की परम्परा' की कहानी है ही नहीं। उस कहानी की विशेषता उसके अन्तर्निहित संकेत के कारण है। कहानी के चरित्रों में एक मर्बिडिटी ह परन्तु कहानी का संकेत मार्बिड नहीं है। यही बात 'शतरंज के खिलाड़ी' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इसलिए

प्रेमचन्द की कहानियों की चर्चा करते हुए यह बेहतर होगा कि उनकी आन्तरिक उपलब्धियों को सामने रखा जाए, ग्राम जीवन और आदर्शोन्मुखता की बातें कहकर भ्रान्तियाँ खड़ी न की जाएँ।

मैंने पहले कहा है कि आज की हिन्दी कहानी के अन्तर्गत सांकेतिकता का विकास विभिन्न स्तरों पर हुआ है। कुछ लोगों ने कहानी के अन्तर्गत रूपकात्मक प्रयोगों को ही कहानी की सांकेतिकता मान लिया है और उसी आधार पर आज की हिन्दी कहानी की सांकेतिक उपलब्धियों का ब्यौरा प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु रूपकात्मकता कहानी की सांकेतिकता का एक रूप है। यह रूपकात्मकता बहुत दूर तक ले जाई जाए तो पहले के तुलनात्मक अलंकारों—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की तरह अखरने भी लगती है। इसके लिए कई बार लेखक कल्पनाश्रित बिम्बों का विधान करता है जो कहानी को यथार्थ भूमि से हटा देते हैं। कविता और कहानी में यह अन्तर तो है ही कि जहाँ कल्पनाश्रित बिम्बों का विधान कविता में एक चमत्कार ला देता है, वहाँ कहानी को वह कमज़ोर कर देता है। कहानीकार बिम्बों के माध्यम से एक भाव या विचार को सफलतापूर्वक तभी व्यक्त कर सकता है जब वे बिम्ब यथार्थ की रूपाकृतियों से भिन्न न हों—उनके संघटन में जीवन के यथार्थ को पहचाना जा सके। ज़रा भी 'अनकन्विसिंग' होते ही एक सुन्दर संकेत के रहते हुए भी कहानी असमर्थ हो जाती है। कहानी का वास्तविक सामर्थ्य इसी में है कि बड़ी-से-बड़ी बात कहने के लिए भी लेखक को असाधारण या असामान्य का आश्रय न लेना पड़े—साधारण जीवन के साधारण संघटन से ही विचार की अनुगूंज पैदा कर सके।

इसलिए कहानी की सहज सांकेतिकता रूपकात्मक सांकेतिकता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहानी का वास्तविक संकेत कहानी की सहज गठन के स्वतः उभर आता है। आज की हिन्दी कहानियों में 'चीफ की दावत' और 'दोपहर का भोजन' जैसी कहानियाँ उदाहरण रूप में रखी जा सकती हैं। 'चीफ की दावत' का संकेत माँ के चरित्र के माध्यम से उभरता है और 'दोपहर का भोजन' में अभावग्रस्त घर की एक साधारण-सी दोपहर के वर्णनमात्र से। इन दिनों की लिखी हुई कितनी ही और ऐसी कहानियाँ मिल जाएँगी जिनमें कई-कई तरह के संकेत हैं—वे संकेत जो चरित्रों की भाव-भंगिमाओं और उनकी साधारण बातचीत से उभरते हैं या केवल वातावरण के चित्रण से या केवल कहानी के शिल्प या कहने के ढंग से ही। कहानी के अन्तर्निहित संकेत तक न जाकर जब केवल ऊपरी सतह पर ही उसका अध्ययन किया जाता है तो कई बार एक बहुत अच्छी कहानी भी साधारण और सपाट-सी प्रतीत होती है। दूसरी ओर यदि कहानी में संकेत नहीं है, तो ऊपरी ढाँचे को कितना ही सँवारा और बेल-बूटों से सजा लिया जाए, वह सही अर्थ में कहानी नहीं बन पाती—वह एक नैरेटिव या विवरण-मात्र बनकर रह जाती है। कहानी कविता या चित्रकला के गुण से कहानी

नहीं बनती, अपने गुण से कहानी बनती है—सजीव और सशक्त भाषा में यथार्थ के प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उनके माध्यम से एक संकेत देकर।

आज के कुछ एक कहनीकारों की रचनाओं में कहानी की सांकेतिकता का विकास भिन्न-भिन्न स्तरों पर हुआ है परन्तु उनमें सामान्यता इस दृष्टि से है कि हवाई या अमूर्त संकेतों में भटकने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। आज की कहानी, अपने मुख्य प्रवाह में, यथार्थ की मांसल भूमि पर वर्तमान रहकर ही लिखी जा रही है। इस तरह पहले की परम्परा से उसका सम्बन्ध कटा नहीं है। सांकेतिक उपलब्धियों की दृष्टि से इस पीढ़ी के लेखकों का बहुत कुछ प्रयत्न उनका अपना है। इस कहानी की जड़ें आसपास की यथार्थ की भूमि में हैं, इसलिए इसका एक अपना निशिचित रूप है। इस दृष्टि से वह ठेठ इस समाज और जीवन की कहानी है, हिन्दी की अपनी कहानी है। परम्परा के साथ सम्बन्ध की सार्थकता इस दृष्टि से है कि प्रेमचन्द के बाद की कहानी में कई ऐसे प्रयोग हुए हैं जिनमें व्यक्तियों और स्थानों के नाम छोड़कर और कुछ भी ऐसा नहीं था जिसका सीधा सम्बन्ध भारतीय जीवन से हो। वे कहानियाँ किसी भी देश की कहानियाँ हो सकती थीं, हमें अपने आसपास की कहानियाँ तो वे कदापि नहीं लगतीं। उन कहानियों में कुछ अमूर्त संकेत हैं जो काल्पनिक बिम्बों पर आश्रित हैं। इस तरह की कहानियों को एक विशेष तरह की कविता से अलग करके देखना कठिन है। फिर कुछ ऐसी कहानियाँ भी लिखी जा रही थीं जिनमें अपने आसपास के यथार्थ को रूमानी लिहाफ में लपेटकर प्रस्तुत करने के प्रयत्न थे। सम्भवतः उस काल में एक ओर फ्रेंच कहानी और दूसरी ओर उर्दू कहानी का हिन्दी कहानी पर बहुत प्रभाव रहा। अमूर्त संकेतों और रूमानी यथार्थ की कहानियाँ हिन्दी में आज भी लिखी जाती हैं तथा कुछ अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य की उपलब्धियों को छू लेने के और प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु हिन्दी की नई कहानी जिस रूप में विकसित हुई है, उस रूप में उसका भारतीय जीवन के धरातल से गहरा सम्बन्ध है और इसीलिए वह केवल 'साफिस्टिकेटिड' पाठक की कहानी न होकर साधारण पाठक की कहानी बनी रही है। यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि अपनी सांकेतिक उपलब्धियों के बावजूद आज की हिन्दी कहानी नई कविता की तरह सामान्य पाठक से अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं बैठी। यह तो असन्दिग्ध है ही कि जिस रचना का प्रेरणा-स्रोत जीवन है, उसके प्रति जीवन की भी ममता रहती है। जो रचना जीवन की ओर भृकुटियाँ चढ़ाकर देखती है, जीवन भी उसका तिरस्कार कर देता है। कहानी की वर्तमान दिशा व्यक्ति की आन्तरिक कुंठाओं की दिशा न होकर एक सामाजिक दिशा है, यह बात उसकी आगे की सम्भावनाओं को व्यक्त करती है।

परन्तु साहित्य के इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि जो लोग दूसरों की दी हुई रूढ़ियों से हटकर कुछ नया लेकर सामने आए, वे शीघ्र ही अपनी रची हुई रूढ़ियों

में ग्रस्त होकर रह गए। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी आज यह आशंका सामने है। पिछले छः-सात वर्षों में कई एक अच्छी कहानियाँ लिखी गईं क्योंकि इस पीढ़ी के कहानीकारों में नये सन्दर्भों की खोज की व्याकुलता थी। वे सन्दर्भ कला के भी थे और जीवन के भी—यद्यपि सर्वत्र उस जीवन के नहीं जो कि अपनी समग्रता में, हमारे चारों और जिया जा रहा है, जिसके बाहरी रूप में दिन-प्रतिदिन अधिक संकुलता आ रही है, जो बदल रहा है और जिसकी गति के झाग के रूप में हम अपने चारों अनास्था और अविश्वास भी देखते हैं परन्तु फिर भी जिसमें केवल अनास्था और अविश्वास ही नहीं है क्योंकि आन्तरिक रूप में आज भी वह अपने धरातल से हटा नहीं है। हिन्दी की नई कहानी के अधिकांश प्रयोगों में जिस जीवन का चित्रण हुआ है, वह इस उफनती और शोर करती हुई धारा से हटा हुआ जीवन है, उन अकेले किनारों का जीवन जहाँ अभी तक सामन्ती संस्कारों की छायाएँ मंडराती हैं। उस जीवन की स्थिरता, शान्ति और उज्ज्वलता की बात करते हुए उस दायरे से बाहर न निकलकर कुछ लोगों ने अपने प्रयोग-क्षेत्र को बहुत सीमित कर लिया है। निःसन्देह पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी के कई एक नये कहानीकारों की निश्चित सामर्थ्य सामने आई है—उनसे कई-कई समर्थ रचनाओं की आशा की जा सकती है। परन्तु इधर कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा है कि उन कहानीकारों ने अपने पैटर्न और सन्दर्भ निश्चित कर लिये हैं, वे अपने अब तक के प्रयोगों को ही अपना आदर्श मानकर चलने लगे हैं।

परन्तु कहानीकार अपनी जगह पर रुका नहीं रह सकता है, जीवन अपनी जगह पर नहीं रुकता। जीवन का वस्तु-क्षेत्र वही है, मनुष्य की मूल प्रकृति वही है परन्तु जीवन के संदर्भ हर नये दिन के साथ बदल रहे हैं। बात नई जगह जाकर नई तरह के व्यक्ति की कहानी लिखने की नहीं, उसी जगह रहकर, उसी इंसान के उन्हीं अर्न्तद्वन्द्वों को जीवन के नये सन्दर्भ में देखने की है। जीवन के मूल्य जब बदलते हैं तो सब जगह एक ही तरह से नहीं बदलते। हर देश और जाति के संस्कार बदलते हुए मूल्यों को अपनी ही तरह से ग्रहण करते हैं जिससे परिवर्तन का भी हर जगह अपना एक अलग रंग हो जाता है। आज हमारे चारों ओर जीवन तेज़ी से बदल रहा है, इसका अर्थ यह है कि हम बदल रहे हैं। यदि हम अपने इस बदलते हुए 'सेल्फ' को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, अपने इस 'सेल्फ' की ही कहानी नहीं कहते, तो इसका अर्थ यह है कि या तो हम किन्हीं अन्तमुर्ख ग्रन्थियों में उलझे हैं या जीवन की चुनौती को ठीक से स्वीकार करने से कतराते हैं।

बहुत-से लोग जब भारतीय जीवन की बात करते हैं तो प्रायः इस अर्थ में कि रूढ़ियों के दायरे में उलझा और अशिक्षा के अँधेरे आवर्त में पड़ा हुआ जीवन ही भारतीय जीवन है। परोक्ष रूप से भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध भी ऐसे ही जीवन के साथ जोड़ दिया जाता है। ऐसी दृष्टि रखने का अर्थ तो यह है कि भारतीय जीवन

और भारतीय संस्कृति सामन्ती रूढ़ियों का ही नाम है और आज जीवन उत्तरोत्तर भारतीयता और संस्कृति से शून्य होता जा रहा है!

हमारा जीवन आज एक बड़े संक्रान्तिकाल में से गुज़र रहा है। ज़िन्दगी की नब्ज़ इतनी तेज़ है कि उसे हर जगह और हर पल महसूस किया जा सकता है। हम आज बड़ी-बड़ी वेधशालाओं में बैठे ऊँचे-ऊँचे सपने देख रहे हैं और स्कूलों, दफ़्तरों और कारखानों में अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए शहीद भी हो रहे हैं। आज के जीवन में घुटन भी है और उस घुटन के साथ संघर्ष भी है। जीवन की हर हताशा का अन्त कुएँ या बावली में जाकर ही नहीं होता—सामाजिक स्तर पर उससे लड़ने का प्रयत्न भी किया जाता है। जीवन का यह विराट् क्या भारतीय नहीं?

बात जीवन के इन्हीं सन्दर्भों को कहानी के अन्तर्गत व्यक्त करने की है। इकाई का जीवन एक इकाई का जीवन ही नहीं होता, एक समाज और एक समाज के जीवन की प्रतिध्वनि भी उसमें सुनी जा सकती है। एक साधारण घटना साधारण घटना नहीं होती, जीवन के व्यापक क्षितिज में काम करती हुई शक्तियों की एक अभिव्यक्ति भी होती है। जो कुछ सामने आता है, उससे उतने का ही पता नहीं चलता, ऐसे बहुत कुछ का भी पता चलता है जिसे हम प्रत्यक्ष रूप से देख नहीं पाते। व्यक्तियों, घटनाओं और परिस्थितियों को उस व्यापक सन्दर्भ में देख और पहचानकर ही उनका सही चित्रण किया जा सकता है। कहानी आखिर जीवन के द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों को ही तो चित्रित करती है। कहानीकार की दृष्टि इन द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों को पहचानकर साधारण से साधारण घटना के माध्यम से उनका संकेत दे सकती है। वस्तु और संकेत के अन्तर को इसी से समझा जा सकता है। वस्तु की साधारणता कहानी की साधारणता नहीं होती, और इसी तरह वस्तु की अस्वस्थता कहानी की अस्वस्थता नहीं होती। कहानी अस्वस्थ तब होगी जब उसका संकेत अस्वस्थ हो—उसमें कही गई लेखक की बात एक अस्वस्थ दिशा की ओर संकेत करती हो। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं जिनमें वस्तु, चरित्र, भाषा और शिल्प, सभी कुछ सुन्दर होता है—केवल उनके संकेत में एक अस्वस्थता रहती है। वे व्यक्ति की कुंठा को 'कास्मेटिक स्टोर्स' की अभी उपादानों से सजाकर या उन्मुक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि के आगे रखकर इस तरह प्रस्तुत करती हैं कि उससे वह कुंठा ही सुन्दर प्रतीत होती है। इसी तरह भाषा और बिम्बों का रेशमी लिबास पहनाकर कुंठाओं में एक आकर्षण और सार्थकता भरने का प्रयत्न किया जाता है। कहानी यदि घुटन और कुंठा में सार्थकता देखती है, तो वह अस्वस्थ है। जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न करती है तो वह अस्वस्थ है। परन्तु यदि अस्वस्थता कहानी की वस्तु में ही है और उसके संकेत से उस अस्वस्थता को लेकर असन्तोष और विद्रोह की भावना जागती है, उस अस्वस्थता को हटाने के लिए कुछ करने की इच्छा होती है, तो कहानी अस्वस्थ नहीं है।

नये सन्दर्भों को खोजने का यह अर्थ नहीं कि अपने वस्तु-क्षेत्र से बाहर जाया जाए। जीवन के नये सन्दर्भ अपने वातावरण से दूर कहीं नहीं मिलेंगे, उस वातावरण में ही ढूँढ़े जा सकेंगे। अभावग्रस्त जीवन की विडम्बना केवल ख़ाली पेट और ठिठुरते हुए शरीर के माध्यम से ही व्यक्त नहीं होती। प्यार केवल सम्पन्नता और विपन्नता के अन्तर से ही नहीं हारता। ममता केवल बलिदान करके ही सार्थक नहीं होती। अनाचार का सम्बन्ध रिश्वत और बलात्कार के साथ ही नहीं है, और विश्वास केवल उठी हुई बाँहों के सहारे ही व्यक्त नहीं होता। हर रोज़ के जीवन में यह सबकुछ अनेकानेक सन्दर्भों में और कई-कई रंगों में सामने आता है। आज के जीवन ने उन रंगों में और भी विविधता ला दी है। बात उन विविध रंगों को पकड़ने और कहानी की सांकेतिक अन्विति में अभिव्यक्त करने की है। जीवन के नये सन्दर्भ कलात्मक अभिव्यक्ति के नये सन्दर्भ स्वतः ही प्रस्तुत कर देते हैं। कहानी के शिल्प का विकास लेखक की प्रयोग बुद्धि पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आन्तरिक अपेक्षा पर। पाठक की रुचि के उत्तरोत्तर परिष्कार से भी एक नई माँग उत्पन्न होती है। लेखक यदि स्वयं अपनी रचना का पाठक बना रहता है तो उसका असन्तोष ही उसे अभिव्यक्ति के नये आयामों को छूने की ओर प्रवृत्त करता है। शिल्प के बदलने में लेखक के असन्तोष और मैटर की आन्तरिक अपेक्षा दोनों का ही योग रहेगा। यदि शिल्प का चौखटा तैयार करके उसमें मैटर को फिट करने का प्रयत्न किया जाए, तो उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा—क्योंकि रचना के नये समर्थ शिल्प का विकास केवल प्रयोग की चेतना से नहीं, नये मैटर के सामने पुराने शिल्प की असमर्थता के कारण होता है।

—मोहन राकेश

सुहागिनें

कमरे में दाखिल होते ही मनोरमा चौंक गई। काशी उसकी साड़ी का पल्ला सिर पर लिये ड्रेसिंग टेबल के पास खड़ी थी। उसके होंठ लिपस्टिक से रँगे थे और चेहरे पर वेहद पाउडर पुता था, जिससे उसका साँवला चेहरा डरावना लग रहा था। फिर भी वह मुग्धभाव से शीशे में अपना रूप निहार रही थी। मनोरमा उसे देखते ही आपे से बाहर हो गई।

''माई,'' उसने चिल्लाकर कहा, ''यह क्या कर रही है?''

काशी ने हड़बड़ाकर साड़ी का पल्ला सिर से हटा दिया और ड्रेसिंग टेबल के पास से हट गई। मनोर..ा के गुस्से के तेवर देखकर पल-भर तो वह सहमी रही, फिर अपने स्वाँग का ध्यान हो आने .े हँस दी।

''बहनजी, माफ़ी दे दें,'' उसने मिन्नत के लहजे में कहा, ''कमरा ठीक कर रही थी, शीशे के सामने आई, तो ऐसे ही मन कर आया। आप मेरी तनखाह में से काट लेना।''

''तनखाह में से पैसे काट लेना!'' मनोरमा और भी भड़क उठी, ''पन्द्रह रुपए तनखाह है और बेगम साहब साढ़े छह रुपए लिपस्टिक के कटवाएँगी। कम्बख़्त रोज़ प्लेटें तोड़ती है, मैं कुछ नहीं कहती। घी, आटा, चीनी चुराकर ले जाती है, और मैं देखकर भी नहीं देखती। सारा स्टॉफ शिकायत करता है, कुछ काम नहीं करती, किसी का कहा नहीं मानती। कमेटी के मेम्बर अलग मेरी जान खाते हैं कि इसे दफ़ा करो, रोज़-रोज़ अपना रोना लेकर हमारे यहाँ आ मरती है। मैं फिर भी तरह दे जाती हूँ कि निकाल दिया, तो दर-बदर मारी-मारी न फिरे—और उसका तू मुझे यह बदला देती है? कमीनी कहीं की!''

उसने बेंत की कुर्सी को इस तरह अपनी तरफ़ खींचा, जैसे उसी ने कोई अपराध किया हो, और उस पर बैठकर माथे को अपने ठंडे हाथ मे मल लिया। काशी चुपचाप रही।

''चालीस की होने को आई, मगर बाँकपन की चाह अब भी बाक़ी है!'' मनोरमा फिर बड़बड़ाई। ''छिनाल कहीं की!''

सिर को झटककर उसने आँखें मूँद लीं। दिन-भर की स्कूल की बकझक से दिमाग़ वैसे ही ख़ाली हो रहा था। शरीर भी थका था। वह उस समय पब्लिक लाइब्रेरी से होकर मिलिट्री लाइंज का बड़ा राउंड लगाकर आई थी। निकली यह सोचकर थी कि घूमने से मन में कुछ ताज़गी आएगी, मगर लौटते हुए मन पर अजब भारीपन छा गया था। क्वार्टर से आधी मील दूर थी जब सूरज डूब गया था। तब कुछ क्षणों के लिए उसे अपना-आप हलका-हलका-सा लगा था। हवा, पेड़ों के हिलते पत्ते और अस्तव्यस्त बिखरे बादलों के टुकड़े, हर चीज़ में एक मादक स्पर्श का अनुभव हुआ था। सड़क पर फैली संध्या की फीकी चाँदनी धीरे-धीरे रंग पकड़ रही थी। वह साड़ी का पल्ला पीछे को कसकर कई कदम तेज़-तेज़ चल गई। मगर टैंकी के मोड़ तक पहुँचते-पहुँचते सारा उत्साह गायब हो गया। जब स्कूल के गेट के पास पहुँची तो अन्दर पैर रखने को भी मन नहीं था। मगर उसने किसी तरह मन को बाँधा और लोहे के गेट को हाथ से धकेल दिया। गर्ल्ज़ हाई स्कूल की हेड मिस्ट्रेस रात को देर तक सड़कों पर अकेली कैसे घूम सकती थी? बुझे मन से क्वार्टर की सीढ़ियाँ चढ़ी, तो यह माजरा सामने आ गया।

उसने आँखें खोलीं, तो काशी को उसी तरह खड़ी देखकर उसका गुस्सा और बढ़ गया। जैसे उसे आशा थी कि उसके आँखें बन्द करने और खोलने के बीच काशी सामने से हट जाएगी।

"अब खड़ी क्यों है?" उसने डाँटकर कहा। "जा यहाँ से।"

काशी के चेहरे पर डाँट का कोई ख़ास असर दिखाई नहीं दिया। वह बल्कि पास आकर फ़र्श पर बैठ गई।

"बहनजी, हाथ जोड़ रही हूँ, माफ़ी दे दो।" उसने मनोरमा के पैर पकड़ लिए। मनोरमा पैर हटाकर कुर्सी से उठ खड़ी हुई।

"तुझसे कह दिया है इस वक़्त चली जा, मुझे तंग न कर।" कहकर वह खिड़की की तरफ़ चली गई। काशी भी उठकर खड़ी हो गई।

"चाय बना दूँ?" उसने कहा। "घूमकर थक गई होंगी।"

"तू जा, मुझे चाय-वाय नहीं चाहिए।"

"तो खाना ले आती हूँ।"

मनोरमा कुछ न कहकर मुँह दूसरी तरफ़ किए रही।

"बहनजी, मिन्नत कर रही हूँ, माफ़ी दे दो।"

मनोरमा चुप रही। सिर्फ़ उसने सिर को हाथ से दबा लिया।

"सिर में दर्द है तो सिर दबा देती हूँ।" काशी अपने हाथ पल्ले से पोंछने लगी।

"तुझसे कह दिया है जा, मेरा सिर क्यों खा रही है?" मनोरमा ने चिल्लाकर कहा। काशी चोट खाई-सी पीछे हट गई। पल-भर अवाक् भाव से मनोरमा की तरफ़

देखती रही। फिर निकलकर बरामदे में चली गई। वहाँ से कुछ कहने के लिए मुड़ी, मगर बिना कहे चली गई। जब तक लकड़ी के ज़ीने पर उसके पैरों की आवाज़ सुनाई देती रही, मनोरमा खिड़की के पास खड़ी रही। फिर आकर सिर दबाए बिस्तर पर लेट गई।

उसे लगा इसमें सारा कसूर उसी का है। और कोई हेड मिस्ट्रेस होती, तो कब का इस औरत को निकालकर बाहर करती। वह जितना उसे तरह देती थी, उतना ही वह उसकी कमज़ोरी का फायदा उठाती थी। उसके बच्चों की भी वह कितनी शैतानियाँ बर्दाश्त करती थी! दिन-भर उसके क्वार्टर की सीढ़ियों पर शोर मचाते रहते थे और स्कूल के कम्पाउंड को गन्दा करते रहते थे। उसने एक बार उन्हें गोलियाँ ला दी थीं। तब से उसे देखते ही उसकी साड़ी से चिपटकर गोलियाँ माँगने लगते थे। उसने कितना चाहा था कि वे साफ़ रहना सीख जाएँ। बड़ी लड़की कुन्ती की तो चड्ढियाँ भी उसने अपने हाथ से सी दी थीं। मगर उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ा। वे उसी तरह गन्दे रहते थे और उसी तरह गुलगपाड़ा मचाए रखते थे। पिछली बार इंस्पेक्शन के दिन उन्होंने कम्पाउंड के फ़र्श पर कोयले से लकीरें खींच दी थीं जिससे दूसरी बार सारे कम्पाउंड की सफ़ाई करानी पड़ी थी। कई बार वे बाहर से आए अतिथियों के सामने ज़ीभें निकाल देते थे। वही थी जो सब बर्दाश्त किए जाती थी।

कुछ देर वह छत की तरफ़ देखती रही। फिर उठकर बरामदे में चली गई। लकड़ी के बरामदे में अपने ही पैरों की आवाज़ से शरीर में कँपकँपी भर गई। उसने मुँडेर के खम्भे पर हाथ रख लिया। अहाते में खुली चाँदनी फैली थी। ईंटों के फ़र्श पर सीमेंट की लकीरें एक इन्द्रजाल-सी लगती थीं। स्कूल के बरामदे में पड़े डेस्क-स्टूल और ब्लैकबोर्ड ऐसे लग रहे थे जैसे डरावनी सूरतोंवाले भूत-प्रेत अपने ग़ार के अन्दर से बाहर झाँक रहे हों। देवदार का घना जंगल जैसे ठंडे चाँदनी के स्पर्श से सिहर रहा था। वैसे बिलकुल सन्नाटा था।

काशी के क्वार्टर में इस वक़्त इतनी ख़ामोशी कभी नहीं होती थी। आम तौर पर नौ-दस बजे तक उसके बच्चे चीख़ते-चिल्लाते रहते थे। उस समय लग रहा था जैसे उस क्वार्टर में कोई रहता ही न हो। रोशनदान में गत्ते लगे रहने से यह भी पता नहीं चल रहा था कि अन्दर लालटेन जल रही है या नहीं। मनोरमा ने खम्भे को और भी अच्छी तरह थाम लिया जैसे पास में उसका वही एक आत्मीय हो, जिसे वह अपने प्रति सचेत रखना चाहती हो। देवदारों के झुरमुटों में से गुज़रती हवा की आवाज़ पास आई और दूर चली गई।

"कुन्ती!" मनोरमा ने आवाज़ दी।

उसकी आवाज़ को भी हवा दूर, बहुत दूर ले गई। जंगल की सरसराहट फिर एक बार बहुत पास चली आई। काशी के क्वार्टर का दरवाज़ा खुला और कुन्ती अपने

में सिमटती-सी बाहर निकली। मनोरमा ने सिर के इशारे से उसे ऊपर आने को कहा। कुन्ती ने एक बार अपने क्वार्टर की तरफ़ देखा और—और भी सिमटती हुई ऊपर चली आई।

"तेरी माँ क्या कर रही है?" मनोरमा ने कोशिश की कि उसकी आवाज़ रूखी न लगे।

"कुछ भी नहीं," कुन्ती ने सिर हिलाकर कहा।

"कुछ तो कर रही होगी...।"

"रो रही है।"

"क्यों, रो क्यों रही है?"

कुन्ती चुप रही। मनोरमा भी चुप रहकर नीचे देखने लगी।

"तुम लोगों ने रोटी नहीं खाई?" पल-भर रुककर उसने पूछा।

"रात की बस से बापू को आना है। माँ कहती थी, सब लोग उसके आने पर ही रोटी खाएँगे।"

मनोरमा के सामने जैसे सबकुछ स्पष्ट हो गया। तीन साल के बाद अजुध्या आ रहा है, यह बात काशी उसे बता चुकी थी। तभी आज आईने के सामने जाने पर उसके मन में पाउडर और लिपस्टिक लगाने की इच्छा जाग आई थी। उसके बच्चे भी शायद इसलिए आज इतने ख़ामोश थे। उनका बापू आ रहा था...बापू...जिसे उन्होंने तीन साल से देखा नहीं था, और जिसे शायद वे पहचानते भी नहीं थे। या शायद पहचानते थे—एक मोटी सख़्त आवाज़ और तमाचे जड़नेवाले हाथों के रूप में...।

"जा, और अपनी माँ को ऊपर भेज दे," उसने कुन्ती का कन्धा थपथपा दिया। "कहना, मैं बुला रही हूँ।"

कुन्ती बाँहें और कन्धे सिकोड़े नीचे चली गई। थोड़ी देर में काशी ऊपर आ गई। उसकी आँखें लाल थीं और वह बार-बार पल्ले से अपनी नाक पोंछ रही थी।

"मैंने ज़रा-सी बात कह दी और तू रोने लगी?" मनोरमा ने उसे देखते ही कहा।

"बहनजी, नौकर-मालिक का रिश्ता ही ऐसा है!"

"गलत काम करने पर ज़रा भी कुछ कह दो तो तू रोने लगती है!" मनोरमा जैसे किसी टूटी हुई चीज़ को जोड़ने लगी। "जा, अन्दर गुसलखाने से हाथ-मुँह धो आ।"

मगर काशी नाक और आँखें पोंछती हुई वहीं खड़ी रही। मनोरमा एक हाथ से दूसरे हाथ की उँगलियाँ मसलने लगी। "अजुध्या आज आ रहा है?" उसने पूछा।

काशी ने सिर हिला दिया।

"कुछ दिन रहेगा या जल्दी चला जाएगा?"

"चिट्ठी में तो यही लिखा है कि ठेका उठाकर चला जाएगा।"

मनोरमा जानती थी कि अजुध्या की खानदानी ज़मीन पर सेब के कुछ पेड़ हैं, जिनका हर साल ठेका उठता है। पिछले साल काशी ने सवा सौ में ठेका दिया था और उससे पिछले साल डेढ़ सौ में। पिछले साल अजुध्या ने उसे बहुत सख़्त चिट्ठी लिखी थी। उसका ख़याल था कि काशी ठेकेदारों से कुछ पैसे अलग से लेकर अपने पास रख लेती है। इसलिए इस बार काशी ने उसे लिख दिया था कि ठेका उठाने के लिए वह आप ही वहाँ आए; वह रुपए-पैसे के मामले में किसी की बात सुनना नहीं चाहती। पाँच साल हुए अजुध्या ने उसे छोड़कर दूसरी औरत कर ली थी और उसे लेकर पठानकोट में रहता था। वहीं उसने एक छोटी-सी परचून की दुकान डाल रखी थी। काशी को वह ख़र्च के लिए एक पैसा भी नहीं भेजता था।

"सिर्फ़ ठेका उठाने के लिए ही पठानकोट से आ रहा है?" मनोरमा ने ऐसे कहा जैसे सोच कुछ और ही रही हो। "आधे पैसे तो उसके आने-जाने में निकल जाएँगे।"

"मैंने सोचा इस बहाने एक बार यहाँ हो जाएगा, और बच्चों से मिल जाएगा!" काशी की आवाज़ फिर कुछ भीग गई, "फिर उसकी तसल्ली भी हो जाएगी कि आजकल इन सेबों का डेढ़ सौ कोई नहीं देता।"

"अजीब आदमी है!" मनोरमा हमदर्दी के स्वर में बोली, "अगर सचमुच तू कुछ पैसे रख भी ले तो क्या है? आखिर तू उसी के बच्चों को तो पाल रही है। चाहिए तो यह कि हर महीने वह तुझे कुछ पैसे भेजा करे। उसकी जगह वह इस तरह की बातें करता है।"

"बहनजी, मर्द के सामने किसी का बस चलता है?" काशी की आवाज़ और भीग गई।

"तो तू क्यों उससे नहीं कहती कि...?" कहते-कहते मनोरमा ने अपने को रोक लिया। उसे याद आया कि कुछ दिन हुए एक बार सुशील की चिट्ठी आने पर काशी उससे इसी तरह की बातें पूछती रही थी जो उसे अच्छी नहीं लगी थीं। काशी ने कई सवाल पूछे थे—कि बाबूजी आप इतना कमाते हैं तो उससे नौकरी क्यों कराते हैं? कि उनके अभी तक कोई बच्चा-अच्चा क्यों नहीं हुआ? और कि वह अपनी तनखाह अपने ही पास रखती है या बाबूजी को भी कुछ भेजती है! तब उसने काशी की बातों को हँसकर टाल दिया था, मगर अपने अन्दर उसे महसूस हुआ था कि उसके मन की कोई बहुत कमज़ोर सतह उन बातों से छू गई है और उसका मन कई दिन तक उदास रहा था।

"रोटी ले आऊँ?" काशी ने आवाज़ को थोड़ा सहेजकर पूछा।

"नहीं, मुझे अभी भूख नहीं है," मनोरमा ने काफ़ी मुलायम स्वर में कहा जिससे काशी को विश्वास हो जाए कि अब वह बिलकुल नाराज़ नहीं है। "जब भूख लगेगी,

मैं खुद ही निकालकर खा लूँगी। तू जाकर अपने यहाँ का काम पूरा कर ले, अजुध्या अब आनेवाला ही होगा। आख़िरी बस नौ बजे पहुँच जाती है।"

काशी चली गई तो भी मनोरमा खम्भे का सहारा लिए काफ़ी देर खड़ी रही। हवा तेज़ हो गई थी। उसे अपने मन में बेचैनी महसूस होने लगी। उसे वे दिन याद आए जब ब्याह के बाद वह और सुशील साथ-साथ पहाड़ों पर घूमा करते थे। उन दिनों लगता था कि उस रोमांच के सामने दुनिया की हर चीज़ हेच है। सुशील उसका हाथ भी छू लेता तो शरीर में एक ज्वार उठ आता था और रोयाँ-रोयाँ उस ज्वार में बह चलता था। देवदार के जंगल की सारी सरसराहट जैसे शरीर में भर जाती थी। अपने को उसके शरीर में खो देने के बाद जब सुशील उससे दूर हटने लगता तो यह उसे और भी पास कर लेना चाहती थी। वह कल्पना में अपने को एक छोटे-से बच्चे को अपने में लिए हुए देखती और पुलकित हो उठती। उसे आश्चर्य होता कि क्या सचमुच एक हिलती-डुलती काया उसके शरीर के अन्दर से जन्म ले सकती है। कितनी बार वह सुशील से कहती थी कि वह आश्चर्य को अपने अन्दर अनुभव करके देखना चाहती है। मगर सुशील इसके हक में नहीं था। वह नहीं चाहता था कि अभी कुछ साल वे एक बच्चे को घर में आने दें। उससे एक तो उसका फिगर ख़राब होने का डर था, फिर उसकी नौकरी का भी सवाल था। सुशील नहीं चाहता था कि वह नौकरी छोड़कर बस घर-गृहस्थी के लायक ही हो रहे। साल-छह महीने में सुशील को अपनी बहन उम्मी का ब्याह करना था। उसके दो छोटे भाई कॉलेज में पढ़ रहे थे। उन दिनों उनके लिए एक-एक पैसे की अपनी कीमत थी। वह कम-से-कम चार-पाँच साल एहतियात से चलना चाहता था। हज़ार चाहने पर भी वह सुशील के सामने हठ नहीं कर सकी थी। मगर जब भी सुशील के हाथ उसके शरीर को सहला रहे होते तो एक अज्ञात शिशु उसकी बाँहों में आने के लिए मचलने लगता। वह जैसे उसकी किलकारियाँ सुनती और उसके कोमल शरीर के स्पर्श का अनुभव करती। ऐसे क्षणों में कई बार सुशील का चेहरा उसके लिए बच्चे का चेहरा बन जाता और वह उसे अच्छी तरह अपने साथ सटा लेती। उसका मन होता कि उसे थपथपाए और लोरियाँ दे।

सुशील की चिट्ठी आए इस बार बहुत दिन हो गए थे। उसने उसे लिखा भी था कि वह जल्दी जवाब दिया करे, क्योंकि उसकी चिट्ठी न आने से अपना अकेलापन उसके लिए असह्य हो जाता है। कई दिनों से वह सोच रही थी कि सुशील को दूसरी चिट्ठी लिखे, मगर स्वाभिमान उसे इससे रोकता था। क्या सुशील को इतनी फ़ुर्सत भी नहीं थी कि उसे कुछ पंक्तियाँ ही लिख दे?

हवा का तेज़ झोंका आया। देवदारों की सरसराहट कई-कई घाटियाँ पार करती दूर के आकाश में जाकर खो गई। सामने की पहाड़ी के साथ-साथ रोशनी के दो दायरे रेंगते आ रहे थे। शायद पठानकोट से आख़िरी बस आ रही थी। चाँदनी में गेट की

मोटी सलाखें चमक रही थीं। हवा धक्के दे-देकर जैसे गेट का ताला तोड़ देना चाहती थी। मनोरमा ने एक लम्बी साँस ली और अन्दर को चल दी। वह अपने को उस समय रोज़ से कहीं ज़्यादा अकेली महसूस कर रही थी।

अगली शाम मनोरमा घूमकर लौटी, तो कम्पाउंड में दाखिल होते ही ठिठक गई। काशी के क्वार्टर से बहुत शोर सुनाई दे रहा था। अजुध्या ज़ोर से गाली बकता हुआ काशी को पीट रहा था। काशी गला फाड़-फाड़कर रो रही थी। मनोरमा गुस्से से भन्ना उठी। कमेटी के नियम के मुताबिक किसी मर्द को स्कूल की चारदीवारी में रात को ठहरने की इजाज़त नहीं थी। उसने ख़ास रियायत करके उसे वहाँ ठहरने की इजाज़त दी थी। और वह आदमी था कि वहाँ रहकर इस तरह की हरकत कर रहा था! मनोरमा का ध्यान काशी को पड़ती मार की तरफ़ नहीं गया, इसी तरफ़ गया कि जो कुछ हो रहा है, उसमें स्कूल की बदनामी है और स्कूल की बदनामी का मतलब है हेड-मिस्ट्रेस की बदनामी...।

वह तेज़ी से क्वार्टर की सीढ़ियाँ चढ़ गई। खट्-खट्-खट्—उसके सैंडिल लकड़ी के ज़ीने पर आवाज़ कर उठे। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। काशी को बुलाकर कहे कि अजुध्या को फौरन वहाँ से भेज दे? या अजुध्या को ही बुलाकर डाँटे और कहे कि वह सुबह होने तक वहाँ से चला जाए?

बरामदे में पैर रखते ही उसने देखा कि कुन्ती एक कोने में सहमी-सी बैठी है और डरी हुई आँखों से नीचे की तरफ़ देख रही है। जैसे उनकी माँ को पड़ती मार की चोट उसे भी लग रही हो। मनोरमा सोच नहीं सकी कि वह लड़की उस वक़्त उसके क्वार्टर में क्यों बैठी है।

"क्या बात है?" उसने अपना गुस्सा दबाकर पूछा।

"माँ ने कहा था आपको रोटी खिला दूँ...।" कुन्ती उसकी तरफ़ इस तरह डरी-डरी आँखों से देखने लगी जैसे उसे आशंका हो कि बहनजी अभी उसे बाँह से पकड़ लेंगी और पीटने लगेंगी।

"तू मुझे रोटी खिलाएगी?"

कुन्ती ने उसी डरे हुए भाव से सिर हिला दिया।

"तुम्हारे क्वार्टर में यह क्या हो रहा है?" मनोरमा ने ऐसे पूछा जैसे जो हो रहा था, उसके लिए कुन्ती भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो। कुन्ती के होंठ फड़कने लगे और दो बूँदें आँखों से नीचे बह आईं।

"वह किस बात के लिए तेरी माँ को पीट रहा है?" मनोरमा ने फिर पूछा।

कुन्ती ने कमीज़ से आँखें पोंछी और अपनी रुलाई दबाए हुए बोली, "उसने माँ के ट्रंक से सारे पैसे निकाल लिए हैं। माँ ने उसका हाथ रोका, तो उसे पीटने लगा।"

''इस आदमी का दिमाग़ ख़राब है!'' मनोरमा गुस्से से भड़क उठी। ''अभी यहाँ से निकालकर बाहर करूँगी तो उसके होश दुरुस्त हो जाएँगे।''

कुन्ती कुछ देर सुबकती रही। फिर बोली, ''कहता है, माँ ने ठेकेदारों से अलग से पैसे ले-लेकर अपने पास जमा किए हैं। इस बार उसने दो सौ में ठेका दिया है। माँ के पास अपने साठ-सत्तर रुपए थे। वे सब उसने ले लिये हैं।''

कुन्ती के भाव में कुछ ऐसी दयनीयता थी कि मनोरमा ने उसके मैले कपड़ों की चिन्ता किए बिना उसे अपने से सटा लिया।

''रोती क्यों है?'' उसने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा। ''मैं अभी उससे तेरी माँ के रुपए ले दूँगी। तू चल अन्दर।''

रसोईघर में जाकर मनोरमा ने खुद कुन्ती का मुँह धो दिया और मोढ़ा लेकर बैठ गई। कुन्ती ने प्लेट में रोटी दे दी, तो वह चुपचाप खाने लगी। वही खाना काशी ने बनाया होता, तो वह गुस्से से चिल्ला उठती। सब चपातियों की सूरतें अलग-अलग थीं, और वे आधी कच्ची और आधी जली हुई थीं। दाल के दाने पानी से अलग थे। मगर उस वक़्त वह मशीनी ढंग से रोटी के कौर तोड़ती और दाल में भिगोकर निगलती रही—उसी तरह जैसे रोज़ दफ़्तर में बैठकर कागज़ों पर दस्तखत करती थी, या अध्यापिकाओं की शिकायतें सुनकर उन्हें जवाब देती थी। कुन्ती ने बिना पूछे एक और रोटी उसकी प्लेट में डाल दी, तो वह थोड़ा चौंक गई।

''नहीं, और नहीं चाहिए,'' कहते हुए उसने इस तरह हाथ बढ़ा दिया, जैसे रोटी अभी प्लेट में पहुँची न हो। फिर अनमने भाव से छोटे-छोटे कौर तोड़ने लगी।

नीचे शोर बन्द हो गया था। कुछ देर बाद गेट खुलने और बन्द होने की आवाज़ सुनाई दी। उसने सोचा कि अजुध्या कहीं बाहर जा रहा है। कुन्ती रोटीवाला डब्बा बन्द कर रही थी। वह उससे बोली, ''नीचे जाकर अपनी माँ से कह देना कि गेट को वक़्त से ताला लगा दे। रात-भर गेट खुला न रहे।''

कुन्ती चुपचाप सिर हिलाकर काम करती रही।

''और कहना कि थोड़ी देर में ऊपर हो जाए।''

उसका स्वर फिर रूखा हो गया था। कुन्ती ने एक बार इस तरह उसकी तरफ़ देखा जैसे वह उसकी किताब का एक मुश्किल सबक हो जो बहुत कोशिश करने पर भी समझ में न आता हो। फिर सिर हिलाकर काम में लग गई।

रात को काफ़ी देर तक काशी मनोरमा के पास बैठी रही। उसे इस बात की उतनी शिकायत नहीं थी कि अजुध्या ने उसके ट्रंक से उसके रुपए निकाल लिए, जितनी इस बात की थी कि अजुध्या तीन साल बाद आया भी तो बच्चों के लिए कुछ लेकर

नहीं आया। वह उसे बताती रही कि उसकी सौत ने किसी सन्त से वशीकरण ले रखा है। अजुध्या उसकी कोई बात नहीं टालता। वह जिस ज्योतिषी से पूछने गई थी, उसने उसे बताया था कि अभी सात साल तक वह वशीकरण नहीं टूट सकता। मगर उसने यह भी कहा था कि एक दिन ऐसा ज़रूर आएगा जब उसकी सौत के बच्चे उसके बच्चों का जूठा खाएँगे और उनके उतरे हुए कपड़े पहनेंगे। वह उसी दिन की आस पर जी रही थी।

मनोरमा उसकी बातें सुनती हुई भी नहीं सुन रही थी। उसके मन में रह-रहकर यह बात कौंध जाती थी कि सुशील की चिट्ठी नहीं आई...उसकी चिट्ठी गए महीने के करीब हो गया, मगर सुशील ने जवाब नहीं दिया...। उसके बालों की एक लट उड़कर माथे पर आ गई थी। वह हलका-हलका स्पर्श उसके शरीर में विचित्र-सी सिहरन भर रहा था। कुछ क्षणों के लिए वह भूल गई कि काशी उसके सामने बैठी है और बातें कर रही है। माथे की लट हिलती तो उसे लगता कि वह एक बच्चे के कोमल रोयों को छू रही है। उसे उन दिनों की याद आई जब सुशील की उँगलियाँ देर-देर तक उसके सिर के बालों से खेलती रहती थीं, और बार-बार उसके होंठ उसके शरीर के हर धड़कते भाग पर झुक आते थे...। इस बार सुशील ने चिट्ठी लिखने में न जाने क्यों इतने दिन लगा दिए थे। रोज़ डाक से कितनी-कितनी चिट्ठियाँ आती थीं। मगर सारी डाक हेड मिस्ट्रेस के नाम की ही होती थी। कई दिनों से मनोरमा सचदेव के नाम कोई भी चिट्ठी नहीं आई थी...। वह इस बार छुट्टियों के बाद आते हुए सुशील से कहकर आई थी कि जल्दी ही उसके लिए एक गर्म कोट का कपड़ा भेजेगी। उम्मी के लिए भी एक शाल भेजने को उसने कहा था। सुशील कहीं इसलिए तो नाराज़ नहीं था कि वह दोनों में से कोई भी चीज़ नहीं भेज पाई थी?

काशी उठकर जाने लगी, तो मनोरमा को फिर अपने अकेलेपन के एहसास ने घेर लिया। देवदार के जंगल की घनी सरसराहट, दूर की घाटी में रावी के पानी पर चमकती चाँदनी और उसकी उनींदी आँखें—इन सबमें जैसे कोई अदृश्य सूत्र था, काशी बरामदे के पास पहुँच गई तो उसने उसे वापस बुला लिया और कहा कि वह गेट को ठीक से ताला लगाकर सोए और जाकर कुन्ती को उसके पास भेज दे—आज वह वहाँ उसके पास सो रहेगी।

आधी रात तक उसे नींद नहीं आई। खिड़की से दूर तक धुला-निखरा आकाश दिखाई देता था। हवा का ज़रा-सा झोंका आता, तो चीड़ों और देवदारों की पंक्तियाँ तरह-तरह की नृत्य-मुद्राओं में बाँहें हिलाने लगतीं। पत्तों और टहनियों पर से फिसलकर आती हवा का शब्द शरीर को इस तरह रोमांचित करता कि शरीर में एक जड़ता-सी छा जाती। कुछ देर वह खिड़की की सिल पर सिर रखे चारपाई पर बैठी रही। क्षण-भर के लिए आँखें मुँद जातीं, तो खिड़की की सिल सुशील की छाती का

रूप ले लेती। उसे महसूस होता कि हवा उसे दूर, बहुत दूर लिए जा रही है—चीड़ों-देवदारों के जंगल और रावी के पानी के उस तरफ़...। जब वह खिड़की के पास से हटकर चारपाई पर लेटी, तो रोशनदान से छनकर आती चाँदनी का एक चौकोर टुकड़ा साथ की चारपाई पर सोई कुन्ती के चेहरे पर पड़ रहा था। मनोरमा चौंक गई। कुन्ती पहले कभी उसे उतनी सुन्दर नहीं लगी थी। उसके पतले-पतले होंठ आम की लाल-लाल नन्ही पत्तियों की तरह खुले थे। उसे और पास से देखने के लिए वह कुहनियों के बल उसकी चारपाई पर झुक गई। फिर सहसा उसने उसे चूम लिया। कुन्ती सोई-सोई एक बार सिहर गई।

मनोरमा तकिए पर सिर रखे देर तक छत की तरफ़ देखती रही। जब हलकी-हलकी नींद आँखों पर छाने लगी, तो वह गेट के खुलने और बन्द होने की आवाज़ से चौंक गई। कुछ ही देर में काशी के क्वार्टर से फिर अजुध्या के बड़बड़ाने की आवाज़ सुनाई देने लगी। वह उस समय शराब पिए हुए था। मनोरमा के शरीर में फिर एक गुस्से की झुरझुरी उठी। उसने अच्छी तरह अपने को कम्बलों में लपेटकर उस आवाज़ को भुला देने का प्रयत्न किया। मगर नींद आ जाने पर भी वह आवाज़ उसके कानों में गूँजती रही...।

दो दिन बाद अजुध्या चला गया, तो मनोरमा ने आराम की साँस ली। उसे रह-रहकर लगता था कि किसी भी क्षण वह अपने पर काबू खो देगी, और चपरासी से धक्के दिलाकर उस आदमी को स्कूल के कम्पाउंड से निकलवा देगी। वह आदमी शक्ल से ही कमीना नज़र आता था। उसके बड़े-बड़े मैले दाँत, काले होंठ और खूँखार जानवर जैसी चुभती आँखें देखकर लगता था कि उस आदमी को ऐसी शक्ल के लिए ही उम्र-कैद की सज़ा होनी चाहिए। उसके चले जाने के बाद उसका मन काफ़ी हलका हो गया। दफ़्तर के कुछ काम जो वह कई दिनों से टाल रही थी, उसने उसी दिन बैठकर पूरे कर दिए। उस दिन शाम की डाक से उसे सुशील की चिट्ठी भी मिल गई।

उसने चिट्ठी दफ़्तर में नहीं खोली। स्टेनों से और चिट्ठियों का डिक्टेशन अगले दिन लेने के लिए कहकर क्वार्टर में चली आई। चारपाई पर बैठकर उसने पेपर नाइफ से धीरे-धीरे लिफाफा खोला—जैसे उसे चोट न पहुँचाना चाहती हो। चिट्ठी दफ़्तर के कागज़ पर बहुत जल्दी-जल्दी लिखी गई थी। मनोरमा को अच्छा नहीं लगा, मगर फिर भी उसने एक-एक पंक्ति उत्सुकता के साथ पढ़ी। सुशील ने लिखा था कि जल्दी ही एक जगह उम्मी की सगाई तय हो रही है। लड़का अच्छी नौकरी पर है, सभी ने यह रिश्ता पसन्द किया है। हो सके तो वह उम्मी की शाल जल्दी भेज दे। अब उम्मी के ब्याह के लिए भी उन लोगों को कुछ पैसे बचाकर रखने चाहिए। अन्त में उसने उसे अपनी सेहत का ध्यान रखने को लिखा था। मधुर आलिंगन तथा अनेकानेक चुम्बनों के साथ चिट्ठी समाप्त हुई थी।

मनोरमा काफ़ी देर चिट्ठी हाथ में लिये बैठी रही। उसे पढ़कर मधुर आलिंगन और अनेकानेक चुम्बनों का कुछ भी स्पर्श महसूस नहीं हुआ था। ऐसे लगा था जैसे वह एक चश्मे से पानी पीने के लिए झुकी हो और उसके होंठ गीले रेत से छूकर रह गए हों, चिट्ठी उसने ड्राअर में डाल दी और दफ़्तर में लौट गई।

रात को खाना खाने के बाद वह चिट्ठी का जवाब लिखने बैठी। मगर कलम हाथ में लेते ही दिमाग़ जैसे बिलकुल ख़ाली हो गया। उसे लगा कि उसके पास लिखने के लिए कुछ भी नहीं है। पहली पंक्ति लिखकर वह देर तक कागज़ को नाख़ून से कुरेदती रही। आखिर बहुत सोचकर उसने कुछ पंक्तियाँ लिखीं। पढ़ने पर उसे लगा कि वह चिट्ठी उन चिट्ठियों से ख़ास अलग नहीं, जो वह दफ़्तर में बैठकर क्लर्क को डिक्टेड कराया करती है। चिट्ठी में बात इतनी ही थी कि उसे इस बात का अफसोस है कि वह शाल और कोट का कपड़ा कभी नहीं भेज पाई। जल्दी ही वह ये दोनों चीज़ें भेज देगी। और अन्त में उसकी तरफ़ से भी मधुर आलिंगन और अनेकानेक चुम्बन...।

रात को वह देर तक सोचती रही कि कौन-कौन-सा ख़र्च कम करके वह चालीस-पचास रुपया महीना और बचा सकती है। दूध पीना बन्द कर दे? कपड़े खुद धोया करे? काशी से काम छुड़ाकर रोटी खुद बनाया करे? ज़्यादा ख़र्च तो काशी की वजह से ही होता था। वह चीज़ें माँगकर भी ले जाती थी और चुराकर भी। मगर उसने पहले भी आजमाकर देखा था कि वह स्कूल का काम करती हुई साथ अपनी रोटी नहीं बना सकती। ऐसे मौकों पर या तो वह दूध-डबल रोटी खाकर रह जाती थी या कुछ भी छौंक-भूनकर पेट भर लेती थी।

अगले दिन से उसने खाने-पीने में कई तरह की कटौतियाँ कर दीं। काशी से कह दिया कि दूध वह सिर्फ़ चाय के लिए ही लिया करे और दाल-सब्ज़ी में घी बहुत कम इस्तेमाल किया करे। बिस्कुट और फल भी उसने बन्द कर दिए। कुछ दिन तो बचत के उत्साह में निकल गए, मगर फिर उसे अपने स्वास्थ्य पर इन कटौतियों का असर दिखाई देने लगा। दो बार क्लास में पढ़ाते हुए उसे चक्कर आ गया। मगर उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। उस महीने की तनखाह मिलने पर उसने शाल के लिए चालीस रुपए अलग निकालकर रख दिए। रुपए रखते समय उसके चेहरे का भाव ऐसा था जैसे सुशील उसके सामने खड़ा हो और वह उसे चिढ़ाना चाहती हो कि देख लो, इस तरह की बचत से शाल और कोट के कपड़े खरीदे जाते हैं। उसके स्वभाव में वैसे भी कुछ चिड़चिड़ापन आ गया था। वह बात-बेबात हरएक पर झल्ला उठती थी।

एक दिन स्कूल जाने से पहले वह आईने के सामने खड़ी हुई, तो कुछ चौंक गई। उसे लगा कि उसके चेहरे का रंग काफ़ी पीला पड़ गया है। उस दिन दफ़्तर में बैठे

हुए उसके सिर में सख़्त दर्द हो आया और वह बारह बजे से पहले ही उठकर क्वार्टर में आ गई। बरामदे में पहुँचकर उसने देखा कि काशी उसके पैरों की आवाज़ सुनते ही जल्दी से अलमारी बन्द करके चूल्हे की तरफ़ गई है। उसने रसोईघर में जाकर अलमारी खोल दी।

घी का डब्बा खुला पड़ा था और उसमें उँगलियों के निशान बने थे। मनोरमा ने काशी की तरफ़ देखा। उसके मुँह पर कच्चे घी की कनियाँ लगीं थी और वह ओट करके अपनी उँगलियाँ दोपट्टे से पोंछ रही थी। मनोरमा एकदम आपे से बाहर हो गई। पास जाकर उसने उसे चोटी से पकड़ लिया।

''चोट्टी!'' उसने चिल्लाकर कहा। ''मैं इसीलिए सूखी सब्ज़ी खाती हूँ कि तू कच्चा घी हज़म किया करे ? शरम नहीं आती कमज़ात ? जा, अभी निकल जा यहाँ से। मैं आज से तेरी सूरत भी नहीं देखना चाहती।'' उसने उसकी पीठ पर एक लात जमा दी, काशी औंधे मुँह गिरने को हुई, मगर अपने हाथों के सहारे सँभल गई। पल-भर वह दर्द से आँखें मूँदे रही। फिर उसने मनोरमा के पैर पकड़ लिए। मुँह से उससे कुछ नहीं कहा गया।

''मैं तुझे चौबीस घंटे का नोटिस दे रही हूँ,'' मनोरमा ने पैर छुड़ाते हुए कहा। ''कल इस वक़्त तक स्कूल का क्वार्टर ख़ाली हो जाना चाहिए। सुबह ही क्लर्क तेरा हिसाब कर देगा। उसके बाद तूने इस कम्पाउंड में कदम भी रखा तो...।'' और वह हटकर वहाँ से आने लगी। काशी ने बढ़कर फिर उसके पैर पकड़ लिए।

''बहनजी, पैर छू रही हूँ, माफ़ी दे दो,'' उसने मुश्किल से कहा। मनोरमा ने फिर भी पैर झटके से छुड़ा लिए। उसका एक पैर पीछे पड़ी चायदानी को जा लगा, चायदानी टूट गई। बिखरते हुए टुकड़ों की आवाज़ ने क्षण-भर के लिए दोनों को स्तब्ध कर दिया। फिर मनोरमा ने अपना निचला होंठ काटा और दनदनाती हुई वहाँ से निकल गई। कमरे में आकर उसने माथे पर बाम लगाया और सिर-मुँह लपेटकर लेट गई।

शाम की डाक से फिर सुशील की चिट्ठी मिली। उसमें वही सब बातें थीं। उम्मी की सगाई हो गई थी। पिछले इतवार वे लोग उस लड़के के साथ पिकनिक पर गए थे। उम्मी ने एक कोने में कुछ पंक्तियाँ लिखकर खुद अपनी शाल के लिए अनुरोध किया था। साथ यह भी लिखा था कि भाभी को सब लोग बहुत-बहुत याद करते हैं। पिकनिक के दिन तो उन्होंने उसे बहुत ही मिस किया।

चिट्ठी पढ़ने के बाद वह बड़े राउंड पर घूमने निकल गई। मन में बहुत झुँझलाहट भर रही थी। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह झुँझलाहट काशी पर है, अपने पर या सुशील पर। न जाने क्यों उसे लगा कि सड़क पर कंकड़-पत्थर पहले से कहीं ज़्यादा है, और वह गोल सड़क न जाने कितनी लम्बी हो गई है। रास्ते में दो बार

उसे थककर पत्थरों पर बैठना पड़ा। घर से एक-डेढ़ फरलाँग पहले उसकी चप्पल टूट गई। वह रास्ता बहुत मुश्किल से कटा। उसे लगा न जाने कब से वह घिसटती हुई उसे गोल सड़क पर चल रही है और आगे भी न जाने कब तक उसे इस तरह चलते रहना है...।

गेट के पास पहुँचकर सुबह की घटना फिर उसके दिमाग़ में ताज़ा हो आई। काशी के क्वार्टर में फिर ख़ामोशी छाई थी। मनोरमा को एक क्षण के लिए ऐसा महसूस हुआ कि काशी क्वार्टर ख़ाली करके चली गई है, और उस बड़े कम्पाउंड में उस समय वह बिलकुल अकेली है। उसका मन सिहर गया। उसने कुन्ती को आवाज़ दी। कुन्ती लालटेन लिये अपने क्वार्टर से बाहर निकल आई।

''तेरी माँ कहाँ है?'' मनोरमा ने पूछा।

''अन्दर है,'' और कुन्ती ने एक बार अन्दर की तरफ़ देख लिया।

''क्या कर रही है?''

''कुछ नहीं कर रही। बैठी है।''

मनोरमा ने देखा, काशी का क्वार्टर काफ़ी खस्ता हालत में है। दरवाज़े का चौखट काफ़ी कमज़ोर पड़ गया था जिससे दरवाज़ा निकलकर बाहर आ जाने को था। रोज़ वह उस क्वार्टर के सामने से कई-कई बार गुज़रती थी, रोज़ ही उस दरवाज़े को देखती थी, मगर पहले कभी उसका ध्यान उस पर नहीं रुका था।

''इस क्वार्टर में काफ़ी मरम्मत की ज़रूरत है,'' कहकर वह जैसे क्वार्टर का मुआइना करने के लिए अन्दर चली गई। काशी उसे देखते ही उठकर उसके पास आ गई। मनोरमा ने एक बार उसकी तरफ़ देख लिया मगर उससे कोई बात नहीं की। क्वार्टर की दीवारें पीली पड़कर अब स्याह होने लगी थीं। एक रोशनदान भी दीवार से निकलकर नीचे गिर आने को था। छत में चारों तरफ़ मकड़ी के जाले लगे थे जो आपस में मिलकर एक बड़े-से चँदोवे का रूप लिए थे। कमरे में जो थोड़ा-बहुत सामान था, वह इधर-उधर अस्त-व्यस्त पड़ा था। एक तरफ़ तीन बच्चे एक ही थाली में रोटी खा रहे थे, वही पानी जैसी दाल थी जो एक दिन कुन्ती ने उसके लिए बनाई थी और अलग-अलग सूरतोंवाली खुश्क रोटियाँ...। उसे देखकर बच्चों के हाथ और मुँह चलने बन्द हो गए। सबसे छोटा लड़का जो करीब चार साल का था, लोई में लिपटा एक कोने में लेटा था। उसकी आँखें मनोरमा के साथ-साथ कमरे में घूम रही थीं।

''परसू को क्या हुआ है? बीमार है?'' मनोरमा ने बिना काशी की तरफ़ देखे जैसे दीवार से पूछा और बच्चे के पास चली गई। परसू अपने पैर के अँगूठे की सीध में देखने लगा।

''इसे सूखा हो गया है,'' काशी ने धीरे से कहा।

मनोरमा ने बच्चे के गालों को सहलाया और उसके सिर पर हाथ फेर दिया।

"डाक्टर को दिखाया है?" उसने पूछा।

"दिखाया था," काशी ने कहा। "उसने दस टीके बताए हैं। दो-दो रुपए का एक टीका आता है।" बोलते-बोलते उसका गला भर आया।

"लगवाए नहीं?" अब मनोरमा ने उसकी तरफ़ देखा।

"कैसे लगवाती?" काशी की आँखें ज़मीन की तरफ़ झुक गई। "जितने रुपए थे वे सब तो वह निकालकर ले गया था।...मैं इसे काँसे की कटोरी मलती हूँ। कहते हैं, उससे ठीक हो जाता है।"

बच्चा बिटर-बिटर उन दोनों की तरफ़ देख रहा था। मनोरमा ने एक बार फिर उसके गाल को सहला दिया और बाहर चल दी। कुन्ती दहलीज़ के पास खड़ी थी। वह रास्ता छोड़कर हट गई।

"इस क्वार्टर में अभी सफ़ेदी होनी चाहिए," मनोरमा ने चलते-चलते कहा, "यहाँ की हवा में तो अच्छा-भला आदमी बीमार हो सकता है।"

काशी के क्वार्टर से निकलकर वह धीरे-धीरे अपने क्वार्टर का ज़ीना चढ़ी। ठक्-ठक् की आवाज़, अकेला बरामदा, कमरा। कमरे में जो चीज़ें वह बिखरी छोड़ गई थी, वे अब करीने से रखी थीं। बीच की मेज़ पर रोटी की ट्रे ढककर रख दी गई थी। केतली में पानी भरकर स्टोव पर रख दिया गया था। कोट उतारकर शाल ओढ़ते हुए उसने बरामदे में पैरों की आवाज़ सुनी। काशी चुपचाप आकर दरवाज़े के पास खड़ी हो गई।

"क्या बात है?" मनोरमा ने रूखी आवाज़ में पूछा।

"रोटी खिलाने आई हूँ," काशी ने धीमी ठहरी हुई आवाज़ में कहा। "चाय का पानी भी तैयार है। कहें तो पहले चाय बना दूँ।"

मनोरमा ने एक बार उसकी तरफ़ देखा और आँखें हटा लीं। काशी ने कमरे में आकर प्लग का बटन दबा दिया। पानी आवाज़ करने लगा।

मनोरमा एक किताब लेकर बैठ गई। थोड़ी देर में काशी चाय का प्याला बनाकर उसके पास ले आई। मनोरमा ने किताब बन्द कर दी और हाथ बढ़ाकर प्याली ले ली। काशी के होंठों पर सूखी-सी मुस्कुराहट आ गई।

"बहनजी, कभी नौकर से ग़लती हो जाए तो इतना गुस्सा नहीं करते," उसने कहा।

"रहने दे ये सब बातें," मनोरमा ने झिड़ककर कहा। "आदमी से एक बार बात कही जाए तो उसे लग जाती है। मगर तेरे जैसे लोग भी हैं जिन्हें बात कभी छूती ही नहीं। बच्चे सूखी दाल-रोटी खाकर रहते हैं और माँ को खाने को कच्चा घी चाहिए। ऐसी माँ किसी ने नहीं देखी होगी।"

काशी का चेहरा ऐसे हो गया जैसे किसी ने उसे अन्दर से चीर दिया हो। उसकी आँखों में आँसू भर आए।

"बहनजी, इन बच्चों को पालना न होता, तो मैं आज आपको जीती नज़र न आती," उसने कहा। "एक अभागा भूखे पेट से जन्मा था, वह सूखे से पड़ा है। अब दूसरा भी उसी तरह आएगा तो उसे जाने क्या रोग लगेगा!"

मनोरमा को जैसे किसी ने ऊँचे से धकेल दिया। चाय के घूँट भरते हुए भी उसके शरीर में कई ठंडी सिहरनें भर गईं। वह पल-भर चुप रहकर काशी की तरफ़ देखती रही।

"तेरे पैर फिर भारी हैं?" उसने ऐसे पूछा जैसे उसे इस पर विश्वास ही न आ रहा हो।

काशी के चेहरे पर जो भाव आया उनमें नई ब्याहता का-सा संकोच भी था और एक हताश झुँझलाहट भी। उसने सिर हिलाया और एक ठंडी साँस लेकर दरवाज़े की तरफ़ देखने लगी। मनोरमा को पल-भर के लिए लगा कि अजुध्या उसके सामने खड़ा मुस्कुरा रहा है। उसने चाय की प्याली पीकर रख दी। काशी प्याली उठाकर बाहर ले गई। मनोरमा को लगा कि उसकी बाँहें ठंडी होती जा रही हैं। उसने शाल को पूरा खोलकर अच्छी तरह लपेट लिया। काशी बाहर से लौट आई।

"रोटी कब खाएँगी?" उसने पूछा।

मगर मनोरमा ने जवाब देने की जगह उससे पूछ लिया, "डॉक्टर ने कहा था कि दस टीके लगवाने से बच्चा ठीक हो जाएगा?"

काशी ने ख़ामोश रहकर सिर हिलाया और दूसरी तरफ़ देखने लगी। "मैं तुझे बीस रुपए दे रही हूँ," मनोरमा ने कुर्सी से उठते हुए कहा। "कल जाकर टीके ले आना।"

उसने ट्रंक से अपना बटुआ निकाला और बीस रुपए निकालकर मेज़ पर रख दिए। उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसकी बाँहें इस कदर ठंडी क्यों हो गई हैं। उसने बाँहों को अच्छी तरह अपने में सिकोड़ लिया।

खाना खाने के बाद वह देर तक बरामदे में कुर्सी डालकर बैठी रही। उसे महसूस हो रहा था कि उसके सारे शरीर में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ रही है। वह ठीक से नहीं समझ पा रही थी कि वह सिहरन क्या है और क्यों शरीर के हर रोम में उसका अनुभव हो रहा है। जैसे उस सिहरन का सम्बन्ध किसी बाहरी चीज़ से न होकर उसके अपने-आप से ही था; जैसे उसी की वजह से उसे अपना-आप बिलकुल ख़ाली लग रहा था। हवा बहुत तेज़ थी और देवदार का जंगल जैसे सिर धुनता हुआ कराह रहा था। हुआँ...

हुआँ...हुआँ हवा के झोंके उमड़ती लहरों की तरह शरीर को घेर लेते थे और शरीर उनमें बेबस-सा हो जाता था। उसने शाल को कसकर बाँहों पर लपेट लिया। लोहे का गेट हवा के धक्के खाता हुआ आवाज़ कर रहा था। पल-भर के लिए उसकी आँखें मुँद गईं, तो उसे लगा कि अजुध्या अपने स्याह होंठ खोले उसके सामने खड़ा मुस्कुरा रहा है और लोहे का गेट चीरता हुआ धीरे-धीरे खुल रहा है। उसने सिहरकर आँखें खोल लीं और अपने माथे को छुआ। माथा बर्फ़ की तरह ठंडा था। वह कुर्सी से उठ खड़ी हुई। उठते हुए शाल कन्धे से उतर गया और साड़ी का पल्ला हवा में फड़फड़ाने लगा। बालों की कई लटें उड़कर सामने आ गईं और उसके माथे को सहलाने लगीं।

"कुन्ती!" उसने कमज़ोर स्वर में आवाज़ दी। आवाज़ हवा के समन्दर में कागज़ की नाव की तरह डूब गई।

"कुन्ती!" उसने फिर आवाज़ दी। इस बार काशी अपने क्वार्टर से बाहर निकल आई।

"कुन्ती जाग रही हो, तो उसे मेरे पास भेज दे। आज वह यहीं सो रहेगी," कहते हुए मनोरमा को महसूस हुआ कि वह किस हद तक काशी और उसके बच्चों पर निर्भर करती है, और उन लोगों का पास होना उसके लिए कितना ज़रूरी है।

"कुन्ती सो गई है, मगर मैं अभी उसे जगाकर भेज देती हूँ," कहकर काशी अपने क्वार्टर में जाने लगी।

"सो गई है, तो रहने दे। जगाकर भेजने की ज़रूरत नहीं।" मनोरमा बरामदे से कमरे में आ गई। कमरे में आकर उसने दरवाज़ा इस तरह बन्द किया जैसे हवा एक ऐसा आदमी हो जिसे वह अन्दर आने से रोकना चाहती हो। वह अपने में बहुत कमज़ोर महसूस कर रही थी। रज़ाई ओढ़कर वह बिस्तर पर लेट गई। उसकी आँखें छत की कड़ियों पर से फिसलने लगीं। वह आँखें बन्द नहीं करना चाहती थी। जैसे उसे डर था कि आँखें बन्द करते ही अजुध्या के मुस्कुराते हुए स्याह होंठ फिर सामने आ जाएँगे। वह अपना ध्यान बँटाने के लिए सोचने लगी कि सुबह सुशील को चिट्ठी में क्या-क्या लिखना है। लिख दे कि यहाँ अकेली रहकर उसे डर लगता है और वह उसके पास चली आना चाहती है? और...और भी जो इतना कुछ वह महसूस करती है, क्या वह सब उसे लिख पाएगी? लिखकर सुशील को समझा सकेगी कि उसे अपना-आप इतना ख़ाली-ख़ाली क्यों लगता है, और वह अपने इस अभाव को भरने के लिए उससे क्या चाहती है?

माथे पर आई लटें उसने हटाई नहीं थीं। वह हलका-हलका स्पर्श उसकी चेतना में उतर रहा था। कुछ ही देर में वह महसूस करने लगी कि साथ की चारपाई पर एक नन्हा-सा बच्चा सोया है, उसके नन्हे-नन्हे होंठ आम की पत्तियों की तरह खुले हैं, और उसके सिर के नरम बाल उड़कर मुँह पर आ रहे हैं। वह कुहनी के बल होकर उस बच्चे को देखती रही...और फिर जैसे उसे चूमने के लिए उस पर झुक गई।

आदमी और दीवार

...और सत्ते की आँखें छत, फ़र्श और खिड़कियों से घूमती हुई फिर उस दीवार पर आकर अटक गईं।

उस लकड़ी की दीवार का एक अपना ही व्यक्तित्व था। जगह-जगह उस पर कीलों और चाकुओं से तरह-तरह की लिपियाँ खोदी गई थीं। शब्दों की आकृतियाँ कुछ ऐसी थीं कि कहीं तो ऐसा लगता था कि दीवार मुस्कुरा रही है और कहीं लगता था कि मुँह बिचका रही है। पिछले कई वर्षों में जो-जो किरायेदार उस घर में आकर रहे थे, उनमें से कई एक अपने अस्तित्व का लेखा-जोखा उस दीवार पर छोड़ गए थे। दीवार के एक कोने में गहरे फारसी अक्षरों में खुदाई की गई थी–''शीरीं मुमताज़ उर्फ मुमताज़ महल'' उसके सामने के कोने में–जैसे साम्प्रदायिक हिसाब-किताब बराबर रखने के लिए–किसी ने बहुत बाद में देवनागरी अक्षरों में अपना नाम खोद दिया था– ''दम्मो अर्थात् दमयन्ती''। दीवार के बीचोबीच किसी ने डेढ़ फुट रकबा घेरकर अपना नाम जोड़ दिया था–''बिल्लू।'' उसके नीचे बाद में किसी और ने तिरछे अक्षरों में जोड़ दिया था–''उर्फ ब्लू ब्लैक।'' एक जगह पहले जैसे फारसी अक्षरों में लिखा था–''मैं अपनी रूह यहीं छोड़ो जा रही हूँ–शीरी मुमताज़, 13-8-47।'' उसके डेढ़ महीना बाद 30-9-47 को किसी ने उसके नीचे अपनी स्वीकृति लिख दी थी–''बहुत-बहुत मेहरबानी, शुक्रिया।'' दीवार के उस भाग में, जो दरवाज़े के चौखट से जा मिला था, किसी ने बहुत जल्दी में, जैसे चलते-चलते लिखा था–''मुझे तुमसे मुहब्बत है।'' उसके नीचे टिप्पणी की गई थी–''मेरी जान, आप नर हैं या मादा?''

इनके अलावा और भी कई तरह की लिपियाँ थीं–कुछ अस्पष्ट और उलझे हुए नाम, कुछ आड़ी-तिरछी लकीरें और कुछ अनिश्चित-सी आकृतियाँ, जिनके तरह-तरह के अर्थ निकल सकते थे। जाने कब-कब, किस-किसने, किस-किस उद्देश्य से वे आकृतियाँ बनाई थीं। एक गोल चेहरा था जो चेहरा न होकर किसी जानवर का पेट भी हो सकता था। एक ऊदबिलाव की आँख थी जो सारी दीवार पर अपनी मनहूस छाया डाले थी और एक गहरा ज़ख्म था, जो दीवार को छीलने के असफल प्रयास में वहाँ बन गया था...।

सत्ते को न जाने क्यों उस दीवार से चिढ़ हो रही थी। उसकी आँखें जब-जब उन शब्दों और आकृति पर पड़ती थीं, एक अव्यक्त-सी झुरझुरी उसके शरीर में भर जाती थी। दीवार की एक-एक लकीर में उसे कुछ रहस्य दिखाई देने लगता था और उसका मन होता था कि किसी तरह वे सब लिपियाँ मिट जाएँ और यह दीवार फिर से कोरी हो जाए। कम-से-कम उस मनहूस आँख को तो वह ज़रूर वहाँ से मिटा देना चाहता था जो उसे लगातार अपनी ही तरफ़ घूरती हुई लगती थी। जाने किसकी आँख थी वह, और क्यों वहाँ बनाई गई थी!

उस आँख को सामने से हटाने के लिए ही वह चारपाई से उठकर खिड़की के पास चला गया। नीचे गली में कोई हलचल नहीं थी—जो बच्चे दिन-भर वहाँ खेला करते थे और जिनकी वजह से अक्सर वह परेशान हो उठता था, वे भी उस समय वहाँ नहीं थे। सामने घर की टूटी हुई नाली का पानी ही आवाज़ के साथ गली में गिर रहा था जिससे गली बिलकुल निर्जीव नहीं लगती थी। पास ही कूड़े का ढेर था जो एक चिमगादड़ की तरह अपनी जगह से चिमटा हुआ था।

ज़ीने पर पैरों की आहट और प्याली में चम्मच हिलाने की आवाज़ ने उसका ध्यान गली से हटा दिया, मगर वह खिड़की के पास से नहीं हटा। वह यह नहीं जतलाना चाहता था कि उसने वह आवाज़ सुनी है, या उसे किसी के कमरे में आने का पता है। उसे उस आवाज़ में एक चुनौती, एक अवज्ञा-सी महसूस हो रही थी—जैसे कि वह आवाज़ केवल उसे दुखाना और हीन करना चाहती हो। कुछ क्षण वह आवाज़ थोड़े फासले पर रुकी रही, फिर उसके कानों के बहुत पास आ गई।

''चाय ले लीजिए...।''

उसने घूमकर देखा कि राजो चाय की प्याली लिये सिर झुकाए खड़ी है, उसकी आँखें रो-रोकर सूज गई हैं और उसके चेहरे पर स्याह झाइयाँ-सी पड़ गई हैं। वह जैसे बहुत कठिनाई से अपनी आवाज़ को सँभाले हुए थी। सत्ते पल-भर उसे देखता रहा और फिर चुपचाप जाकर चारपाई पर बैठ गया।

''चाय ले लीजिए,'' राजो ने उसके पास जाकर फिर कहा।

''तुझसे किसने चाय लाने को कहा है?'' सत्ते को खुद लगा कि उसकी आवाज़ ज़रूरत से ज़्यादा तीखी है।

''बी जी ने कहा कि आपकी चाय का वक़्त हो गया है...।''

''वक़्त हो गया है, तो वे आप आकर चाय नहीं दे सकती थीं?''

''उन्होंने मुझसे कहा था कि मैं दे दूँ,'' कहते हुए राजो ने चाय की प्याली खिड़की के पास के आले में रख दी और चुपचाप नीचे को चल दी।

''सुन!'' वह दहलीज़ लाँघने लगी, तो सत्ते लगभग चिल्लाकर बोला। राजो रुक गई और बिना कुछ कहे आँखें झुकाए वहीं खड़ी रही।

"तेरा रोना अभी बन्द होगा कि नहीं।"

राजो की आँखों में पल-भर के लिए एक चमक आ गई और उसकी गर्दन तन गई।

"मैं रो कहाँ रही हूँ", उसने कहा।

"रो नहीं रही, तो मैं क्या यूँ ही बक रहा हूँ? मुझे तेरी आँखें नज़र नहीं आतीं?"

राजो की आँखों की चमक थोड़ी बढ़ गई और उसने अपना होंठ काट लिया।

"बोलती क्यों नहीं?" सत्ते फिर गरजा। "किसी की बात का तुझ पर कुछ असर भी होता है?"

राजो की आँखें उसके चेहरे से हट गईं और वह दहलीज़ को लाँघकर सहसा नीचे को चल दी।

"सुन!" सत्ते गुस्से के मारे चारपाई से उठ खड़ा हुआ। "मैं यह चाय नहीं पिऊँगा।"

राजो बिना कुछ कहे ज़ीने से नीचे उतर गई।

"मैं कह रहा हूँ यह प्याली यहाँ से उठाकर ले जा।" सत्ते मारे गुस्से के बेहाल-सा होकर बोला। मगर राजो तब तक नीचे पहुँच चुकी थी। वह भन्नाता हुआ आले के पास पहुँचा। प्याली उठाकर कुछ पल हतप्रभ-सा चाय को देखता रहा, फिर झटके से चाय उसने नीचे गली में फेंक दी। मन हुआ कि प्याली को भी साथ ही पटक दे, मगर प्याली की कीमत का ध्यान आ जाने से उसने हाथ रोक लिया। फिर ज़ीने के पास जाकर उसने ज़ोर से कहा, "किसी को मेरे पास ऊपर आने की ज़रूरत नहीं। मुझे आज चाय या खाना कुछ भी नहीं चाहिए। ख़ामख़ाह सब लोग दिन-भर मुझे परेशान करते रहते हैं...!"

कमरे में आकर उसने ज़ोर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। चारपाई पर बैठते ही दीवार की लिपियाँ फिर उसके सामने आ गईं—"मैं अपनी रूह यहीं छोड़े जा रही हूँ—शीरीं मुमताज़, 13-8-47।" "मेरी जान, आप नर हैं या मादा?" बी,आई,एल,एल,यू, और वह ऊदबिलाव की आँख।

वह दीवार जाने कितने साल पुरानी थी। कई जगह उसकी लकड़ी को घुन लग गया था। जब वह मकान बना था, न जाने वह दीवार तब साथ ही बनी थी, या बाद में किसी किरायेदार ने अपनी सुविधा के लिए लकड़ी का पार्टिशन डलवाकर उस बड़े कमरे को दो हिस्सों में बाँट लिया था। तख़्तों के बीच की दरारों से साथ के हिस्से की रोशनी नज़र आती थी। वह हिस्सा अब घर का फालतू सामान रखने के काम में आता था। जाने क्या-क्या चीज़ें वहाँ जमा थीं! ख़ाली बोतलें, पुराने पीपे, फटे हुए बोरे, टूटी हुई कुर्सियाँ, और कई तरह के टोकरियाँ, दरातियाँ, कठौते और टीन का एक हमाम जो बरसों से पानी गरम करने के काम नहीं आया था। वह हिस्सा जैसे

एक छोटा-सा कब्रिस्तान था जहाँ कितनी ही चीज़ें अपने पुराने इतिहास को अपने में समेटे न जाने कितने अरसे से दफ़न थीं। और इस हिस्से को उस हिस्से से अलग करती थी लकड़ी की वह दीवार...!

"दम्मो अर्थात् दमयन्ती...!"

यह दम्मो कौन थी? उसने अपना नाम दीवार पर क्यों लिखा था? वह उस घर में किन दिनों रहती थी? उसकी शक्ल-सूरत कैसी थी? उम्र कितनी थी? अब वह कहाँ होगी? आज अगर आकर वह इस दीवार पर अपना नाम लिखा हुआ देखे, तो क्या उसे खुशी होगी? या उसके मुँह से उदासी की एक लम्बी साँस निकल पड़ेगी?...और यह बिल्लू, यह उस घर में कब रहता था? उसे अपना नाम लिखने के लिए डेढ़ फुट रकबे की ज़रूरत क्यों पड़ी थी? क्या वह इससे अपने शरीर के लम्बे-चौड़े डील-डौल को व्यक्त करना चाहता था, या अपने ठिगनेपन को छिपाना था? और जिसने उसके नाम का अर्थ ब्लू ब्लैक कर दिया था, उसे उस बिल्लू से क्या चिढ़ थी?...और शीरीं मुमताज़? उसके सम्बन्ध में इतना तो निश्चित था कि वह विभाजन से पहले उस घर में थी–विभाजन से दो दिन पहले तक थी। क्या वह घर उसने 13-8-47 को ही छोड़ा था? कैसे छोड़ा था? और उसने यह क्यों लिखा था कि वह अपनी रूह यहीं छोड़े जा रही है! 'जाने' से उसका क्या अभिप्राय था? उस घर से, उस शहर से जाना था...? 'शीरीं मुमताज़ उर्फ मुमताज़ महल!' वह लड़की अपने को मुमताज़ महल क्यों समझती थी? क्या उसके जीवन में भी कोई ऐसा व्यक्ति था जिससे उसे आशा थी कि वह उसके बाद उसके लिए एक ताजमहल बनवाएगा या वह दीवार ही उसका ताजमहल थी?

सत्ते ने होंठों को गीला किया और अपने घुँघराले बालों में हाथ फेर लिया। उसे लग रहा था कि कोई बहुत बड़ी बात उसके मन में घुमड़ रही है, जिसे यदि वह बाहर व्यक्त कर सके, तो वह एक महान रचना का रूप ले सकती है। कितनी ही बार ऐसी बातें उसके मन में आती थीं, जिनसे वह सहसा चमत्कृत हो उठता था, परन्तु जिन्हें बाहर व्यक्त करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता था। यदि वह अपने मन की सब बातें लिख सकता, तो आज कितना बड़ा लेखक होता! दुनिया में उसकी कितनी कद्र होती! लोगों के उसके नाम कितने-कितने पत्र आते! वह जिधर से जाता, लोगों की आँखें उसकी तरफ़ उठ जातीं और लोग पास आकर हस्ताक्षर माँगते! मगर जाने क्या बात थी कि जब वह लिखना चाहता था, तो उसके मन की बात कागज़ पर उतरती ही नहीं थी। हर बात जो मन में उमड़ती हुई बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण लगती थी, कागज़ पर लिख देने से बहुत फीकी-सी हो जाती थी। कम-से-कम हरीश उसकी लिखी हुई चीज़ों को पढ़कर ऐसा ही भाव दिखलाता था जैसे उनमें कुछ भी सार न हो! कभी-कभी उसे लगता था कि हरीश केवल ईर्ष्या के कारण ही ऐसा करता है, उसकी

व्यंग्यपूर्ण मुस्कुराहट उसकी अपनी हीनता को ही प्रमाणित करती है! अन्यथा कभी तो हरीश ने उसकी किसी चीज़ की प्रशंसा की होती! एक तरफ़ वह था जो किसी ज़माने में हरीश की लिखी हुई रद्दी चीज़ को पढ़कर भी उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहता था, और दूसरी तरफ़ वह आदमी–हरीश–जिसके पास उसके लिए सिवाय एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कुराहट के कुछ नहीं था। क्या इसका कारण इतना ही नहीं था कि उस आदमी को अपनी सतही सफलता का बहुत गुमान था? उसकी सफलता सतही सफलता ही तो थी! उसकी रचनाओं में गहराई कहाँ थी? उस बार एक समीक्षक ने किस बुरी तरह उसकी खबर ली थी? बखिए उधेड़कर रख दिए थे! बाद में लोगों से मिल-मिलाकर किसी तरह अपनी प्रशंसा लिखवा ली, तो फिर दिमाग़ आसमान पर चढ़ गया! आज वह स्वयं इस आदमी की रचनाओं की समीक्षा लिखे, तो एक-एक को रूई की तरह धुनकर रख दे! मगर लिखने की तो अब आदत ही छूटती जा रही है। दरअसल दिमाग़ काम की वजह से इतना थका रहता है कि लिखना-लिखाना उससे नहीं हो पाता। पहले घर में शब्दकोश लेकर अंग्रेजी की कविताओं से माथापच्ची करो, फिर जाकर तीन घंटे कॉलेज में उनके अर्थ लड़कों को बताओ। अगर साथ में रोटी कमाने की फिक्र न होती, और इतनी थकान न रहा करती तो वह आज तक प्रतिष्ठित लेखक न माना जाता! यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं में वह सदा सर्वप्रथम नहीं रहा था? वह कितनी व्यवस्था से अपना काम किया करता था जबकि हरीश उन दिनों ठीक से काम न करने की वजह से अध्यापकों के ताने ही सुना करता था। अब हरीश आवारा क़िस्म की ज़िन्दगी बिताता है, नौकरी-औकरी नहीं करता, इसलिए लोग भी सोचने लगे हैं कि उसमें शायद कुछ विशेषता होगी ही। इस देश में लिखनेवाले लोग हैं ही कितने! जो चार पंक्तियाँ लिख लेता है, वही अपने को लेखक समझने लगता है। और देशों में इस तरह के लोगों की बात भी नहीं पूछी जाती!

उसने उठकर अलमारी खोली और सिगरेटों का डब्बा निकाल लिया। वे 'थ्री कासल्ज़' के सिगरेट उसने ख़ास-ख़ास मौकों पर पीने के लिए रखे थे। जब कभी मन बहुत परेशान रहता था, तो वह उस डिब्बे को निकाल लिया करता था। उसने एक सिगरेट निकालकर ढीले-ढाले ढंग से मुँह में लगाया और जली हुई माचिस को क्षण-भर देखते रहने के बाद उसे सुलगा लिया। मुँह से धुआँ निकला, तो उसे लगा कि उसकी लचक में एक विशेषता है, जो वही पैदा कर सकता है। यह लचक उसके अन्दर की कलात्मकता का प्रमाण है। यदि इस कलात्मकता को सही मार्ग देने के लिए वह समुचित प्रयत्न भी कर पाता...।

"बी,आई,एल्,एल्,यू, बिल्लू–उर्फ ब्लू ब्लैक!"

सत्ते का चेहरा हँसी से फैल गया। उसे लगा कि उसे हरीश का वर्णन करना हो, तो वह कुछ ऐसे ही ढंग से करेगा। बिल्लू उर्फ ब्लू ब्लैक! उसने कठिनाई से अपनी

हँसी को गले में रोके रखा। वह नहीं चाहता था कि हँसी की आवाज़ नीचे सुनाई दे, जिससे घर के लोग सोचें कि उसका गुस्सा उतर गया है। गुस्से की बात सोचने पर उसकी हँसी सचमुच गायब हो गई और उसके माथे पर लकीरें पड़ गईं, उसी आदमी की वजह से तो आज उनके घर में यह स्थिति पैदा हुई थी! कितना अच्छा होता जो कभी उसकी उस आदमी से दोस्ती न हुई होती और न ही वह उसे अपने घर में लाया होता!

आज उस आदमी की वजह से ही तो उसने राजो को पीट दिया था। आज दिन चढ़ा ही ऐसा मनहूस था कि सुबह से ही उसका सिर भन्नाया हुआ था। नींद खुलने पर उसे जो चाय मिली वह इतनी कड़वी थी कि मुँह के साथ-साथ दिमाग़ का जायका भी बिगड़ गया। ज़ीने के नीचे जाते हुए एक पैड़ी से पाँव फिसल गया, जिससे बाईं कुहनी में चोट आ गई। उस पैड़ी की मरम्मत के लिए वह कई दिनों से घर में सबसे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था। उसके बाद नहाकर कंघी करते हुए सहसा उसकी नज़र उस पिटारी पर पड़ गई जिसमें कुछ चिट्ठियाँ एक रेशमी रूमाल में लपेटकर रखी हुई थीं। राजो के ट्रंक के बाहर वह पिटारी खुली पड़ी थी—शायद उसे खोलने के बाद राजो को किसी काम से बाहर बुला लिया गया था और वह उसे वापस ट्रंक में रखना भूल गई थी। चिट्ठियों को देखने की ज़्यादा उत्सुकता उसे इसलिए हो आई थी कि उन अक्षरों की बनावट को वह अच्छी तरह पहचानता था। एक वक़्त था जब हर दूसरे-तीसरे दिन उसे हरीश की चिट्ठी आया करती थी। वह उसकी हर चिट्ठी बहुत चांव के साथ घर के सब लोगों को पढ़कर सुनाता था। उन दिनों हरीश की उससे नई-नई मित्रता हुई थी और वह घर में उस आदमी की बहुत प्रशंसा किया करता था। यह शायद इसी का फल था कि आज उसे अपनी बहन को—उसी बहन को जिसे कभी न जाने कितने लाड़-प्यार से वह अपने कन्धों पर उठाए घूमा करता था—इस बुरी तरह पीट देना पड़ा था। राजो से उसने यह आशा नहीं की थी कि वह उसके सामने इस तरह धृष्टता करेगी...!

खुली हुई पिटारी के पास खड़ा होकर वह पल-भर स्तब्ध भाव से उन अक्षरों को देखता रहा था—यहाँ तक कि पल-भर के लिए उसे लगा था कि उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा रहा है। न जाने क्या-क्या अकल्पित विचार एकसाथ उसके मस्तिष्क में कौंध गए थे। वह व्यक्ति कब से राजो के नाम चिट्ठियाँ लिख रहा था? राजो क्यों उन्हें इस तरह सँभालकर रखे हुए थी? क्या उन दोनों के बीच किसी तरह की घनिष्ठता स्थापित हो चुकी थी? कुछ अरसा पहले एक बार हरीश उसकी अनुपस्थिति में उस घर में आया और दो-एक दिन वहाँ रहा भी था! उन दिनों उस आदमी ने उसकी अनुपस्थिति का कोई अनुचित लाभ तो नहीं उठाया? यह क्या उसका अपना ही दोष नहीं था कि उसने ऐसा मौका आने दिया जब कि वह जानता

था कि घर में राजो के पास बूढ़े माँ-बाप के सिवा कोई नहीं है और वे दोनों लड़की को लाड़ लड़ाने किसी भी हद तक जा सकते हैं...!

उसने पिटारी उठा ली और उसे लिये हुए चुपचाप ऊपर अपने कमरे में चला आया। अधिकांश चिट्ठियाँ वही थीं जो हरीश ने पिछले कुछ वर्षों में स्वयं उसी के नाम लिखी थीं और जो उसने घर में पढ़कर सुनाई थीं। उसके अतिरिक्त दो-एक चिट्ठियाँ ऐसी भी थीं जो उसके पिता के नाम आई थीं और उनमें से एक में हरीश ने अपने आने की सूचना दे रखी थी और दूसरे में उनके आतिथ्य के लिए उन्हें धन्यवाद दिया था। हाँ, एक चिट्ठी थी—और वह चिट्ठी राजो के नाम ही लिखी गई थी—जिसके अन्त में 'और' के बाद तीन बिन्दु थे—कोई बात थी जो बिना लिखे उन बिन्दुओं द्वारा व्यक्त की गई थी। दूसरे पत्रों को देखते हुए उसके मन में एक खीझ और झुँझलाहट भर रही थी। परन्तु उन बिन्दुओं ने सन्देह का वास्तविक सूत्र देकर उस खीझ को एक गम्भीर भाव में बदल दिया था। वह देर तक उस पत्र को उलट-पुलटकर देखता रहा था और उन बिन्दुओं के तरह-तरह के अर्थों की कल्पना करता रहा था...

कुछ देर के बाद वह पिटारी हाथ में लिये हुए फिर नीचे चला गया। और बाहर के कमरे में पहुँचकर उसने पिटारी वहाँ मेज़ पर रख दी। बी जी और बाबूजी उस समय वहीं थे। उसने गम्भीर भाव से उन दोनों को देखते हुए राजो को भी वहाँ बुला लिया। राजो रसोईघर में आटा गूँथ रही थी। गीले हाथों को दोपट्टे से पोंछती हुई वह आकर पास खड़ी हो गई।

"इस पिटारी में किसकी चिट्ठियाँ हैं?" उसने कई क्षण राजो की ओर ताकते रहने के बाद गम्भीर स्वर में पूछा।

राजो ने एक बार पिटारी की तरफ़ देखा और फिर हक्की-बक्की-सी उसका मुँह देखने लगी।

"मैं पूछता हूँ किसकी चिट्ठियाँ हैं?"

बी जी उठकर पिटारी के पास आ गईं। बाबूजी अपनी कुर्सी पर बैठे ही रहे—परन्तु उनकी आँखें किसी अज्ञात आशंका से फैल गईं।

"किसकी चिट्ठियाँ हैं, बताती क्यों नहीं?" बी जी ने राजो की बाँह को थोड़ा झिंझोड़ दिया।

"आपके सामने पड़ी हैं, देख लीजिए किसकी चिट्ठियाँ हैं," राजो सहसा तीखे स्वर में बोली।

"तू नहीं बता सकती?" वह चिल्लाया। गुस्से से उसके माथे की नसें फड़क रही थीं।

"आपको पता है किसकी चिट्ठियाँ हैं। आप ही के नाम आई हुई चिट्ठियाँ हैं। मैंने सँभालकर रख दी थीं कि शायद कभी आपको ज़रूरत पड़ जाए।"

"मेरे नाम और लोगों की भी तो चिट्ठियाँ आती हैं। उन सबको तू सँभालकर क्यों नहीं रखती? यह एक ही आदमी ऐसा क्यों है जिसकी चिट्ठियाँ तुझे ख़ास लगती हैं और जिन्हें सँभालकर रखने की ज़रूरत महसूस होती है?"

"मैं सोचती थी कि ये एक लेखक की चिट्ठियाँ हैं, और वह आपका दोस्त भी है, इसलिए...।"

"वह लेखक है या क्या है, वह मैं सब जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ कि ये चिट्ठियाँ तू सँभालकर क्यों रखती है। मैं नहीं जानता था कि हमारे घर में भी इस तरह की बात कभी हो सकती है। मुझे पता होता कि तुझे ऐसे गुल खिलाने हैं, तो मैं कभी तुझे यहाँ इन लोगों के पास अकेली न छोड़ता। आप सुन रहे हैं बाबूजी, यह लड़की क्या कह रही है"

बाबूजी ने धीरे से सिर हिलाया। उनकी आँखों में घना कोहरा-सा घिर आया था। बी जी माथे पर हाथ रखते हुए फ़र्श पर बैठ गई थीं।

"मैं जानना चाहता हूँ कि तेरे नाम आई हुई चिट्ठी में इन बिन्दुओं का क्या मतलब है?" वह उस चिट्ठी को अलग निकालकर उसे हाथ में झटकता हुआ बोला। राजो का चेहरा सख़्त हो गया और उसकी आँखें में आँसू भर आए। लगा कि वह झपटकर चिट्ठी उसके हाथ से छीन लेगी। "मैं नहीं जानती, इनका मतलब क्या है," वह बोली।

"तू नहीं जानती!" वह एकदम गरज उठा। "मैं अभी इनका मतलब तुझे बताता हूँ। पहले मैं इस पुलिंदे को आग में झोंक दूँ, फिर आकर बताऊँगा कि इनका क्या मतलब है...।"

वह चिट्ठियों का पुलिंदा लेकर कमरे से जाने लगा, तो राजो ने सहसा वह उसके हाथ से झपट लिया।

"मैंने ये चिट्ठियाँ इतने दिनों से सँभालकर रख रखी हैं, मैं किसी को इन्हें जलाने नहीं दूँगी," वह बोली।

"तू नहीं जलाने देगी।" कहता हुआ वह पागल की तरह राजो पर झपट पड़ा और उसके हाथ से पुलिंदे को छीनने की कोशिश करने लगा। राजो चिट्ठियों को छाती से चिमटाए गठरी-सी बनकर ज़मीन पर बैठ गई।

"मैं कहता हूँ, ये चिट्ठियाँ मुझे दे दे, नहीं तो मैं आज तेरी खाल उधेड़ दूँगा।"

राजो उसी तरह पत्थर की मूर्ति बनी चिट्ठियों को अपने साथ चिमटाए रही। चिट्ठियाँ छीनने के प्रयत्न में हारकर उसने लगातार तीन-चार चपत राजो की पीठ पर जमा दीं।

"तू चिट्ठियाँ देगी कि नहीं?"

"नहीं।"

"दे दे खसम खानी!" बी जी डर और गुस्से में काँपती हुई आवाज़ में कुछ विनय के साथ बोलीं, "भाई माँग रहा है, तो तू चिट्ठियाँ उसे दे क्यों नहीं देती? उसी के दोस्त की चिट्ठियाँ हैं–वह उन्हें चाहे रखे चाहे जला दे। तुझे इनका क्या करना है?"

"मुझे पता है इसे क्या करना है," वह हाँफता हुआ बोला। "मैं अभी इसकी बोटी-बोटी चीरकर रख दूँगा।" इस पर भी राजो की पकड़ ढीली नहीं हुई तो उसने उसकी पीठ पर दो-एक लातें भी जमा दीं। राजो जैसे पत्थर बनकर बैठी थी, बैठी रही। परन्तु फिर जाने क्या हुआ कि अचानक ही उसका शरीर ढीला पड़ गया, उसने चिट्ठियों का पुलिंदा निकालकर फ़र्श पर रख दिया और सब पर एक वितृष्णा की नज़र डालकर वहाँ से चली गई।

"बेटा, जवान लड़की पर इस तरह हाथ नहीं उठाते," राजो के चले जाने पर बी जी ने कहा।

"अभी तो मैंने इससे कुछ कहा ही नहीं," वह उसी तरह हाँफता हुआ बोला। "मेरी बहन इस तरह की हरकत करेगी, तो मैं सचमुच उसे चीरकर रख दूँगा।"

"ऐसे ही ज़िद करती है बेटा, और कोई बात नहीं। इसे चिट्ठियों का क्या करना है? तू इन्हें आग में जला या जो जी चाहे कर!" बी जी कहती रहीं।

"अभी नासमझ बच्ची है; इसे भले-बुरे की समझ नहीं है।" बाबूजी का सिर ज़रा-सा हिला और आँखें दो-एक बार झपक गईं।

"बीस की हो चुकी है और अभी इसे समझ नहीं है," वह झल्लाकर बोला। "आप लोगों के इसी लाड़ ने ही इसका दिमाग़ ख़राब कर रखा है। बड़ा लेखक है वह–रवीन्द्रनाथ ठाकुर है–जिसकी इसने चिट्ठियाँ रख रखी हैं। आप लोगों का तो कुछ नहीं, मगर मुझे तो चार आदमी जानते हैं। मुझे तो अपनी बदनामी का ख़याल है।"

उसने उन सब चिट्ठियों को लेकर पुर्ज़ा-पुर्ज़ा कर दिया। फिर रसोईघर में जाकर उन्हें चूल्हे में डाल दिया। राजो बाँहों में सिर डाले चूल्हे के पास बैठी थी। वह उसी तरह बैठी रही और हिचकियाँ लेकर रोती रही।

"अब जाकर इनकी राख को पिटारी में भर ले।" जब आख़िरी पुर्ज़ा भी जलकर गोल हो गया, तो वहाँ से चलते हुए उसने राजो से कहा और लकड़ी के ज़ीने पर धम्-धम् पैरों की आवाज़ करता हुआ ऊपर अपने कमरे में आ गया। राजो से बात करते हुए उसका मुँह न जाने क्यों कड़वा और लसीला हो गया था। वह आकर कटा-सा चारपाई पर गिर गया।

अब उस बात को चार घंटे होने आए थे।

"मेरी जान आप नर हैं या मादा?" दीवार पर खुदे हुए अक्षर मुँह चिढ़ा रहे थे। धूप ढलने के साथ-साथ कमरे के वातावरण में हलकी ठंड भर गई थी। गली से बच्चों

के हँसने-रोने, खेलने और लड़ने की मिली-जुली आवाज़ें आ रही थीं, मगर कमरे के अन्दर एक तरह से सन्नाटा ही था। वह सन्नाटा कमरे में ही नहीं, सारे घर में छाया हुआ लगता था। नीचे नल के पास से सिर्फ़ कपड़े धोने की आवाज़ आ रही थी। राजो उस समय से अब तक लगातार काम कर रही थी। सत्ते ने कितना ही चाहा था कि जाकर एक बार उसके सिर पर हाथ फेर दे और उसे थोड़ा पुचकार दे, मगर बात सोचते-सोचते उसका क्रोध फिर लौट आता था। राजो की आँखों में जो अवज्ञा, उपेक्षा और वितृष्णा उसने देखी थी उसकी कल्पना से ही उसके मन में चिनगारियाँ-सी फूटने लगती थीं। कमरे का वातावरण ठंडा हो रहा था, मगर उसके अन्दर रह-रहकर एक तपती हुई लहर उठ आती थी। हरीश के पत्र के उन रहस्यमय बिन्दुओं की याद हो आने से उसके माथे की नसें फिर फड़कने लगी थीं।

वह चारपाई से उठकर काफ़ी देर कमरे में टहलता रहा। फिर खिड़की के पास जाकर गली के उदास उजाले को साँझ के गहरे रंग में घुलते देखने लगा। उसे न जाने क्यों कुछ बरस पहले की ऐसी ही उदास साँझें याद आने लगीं जब वह कितनी-कितनी देर इसी तरह खिड़की के पास खड़ा रहता था। इस समय गली में खेलते हुए सब बच्चों के चेहरे उसके लिए अपरिचित थे। हर साल गर्मी की छुट्टियों में महीना-बीस दिन के लिए वहाँ आने पर वह काफ़ी हद तक अपने को उस घर में अजनबी-सा महसूस करता था। हर साल गली में कुछ-न-कुछ बदल चुका होता था। उन दिनों उसके सामने का घर इतना ऊँचा नहीं था जितना अब था। तब तक उसकी डेढ़ मंज़िल ही बनी थी। उस घर की छत इस खिड़की से झाँकते देखकर उस छत से बच्चे उसकी तरफ़ मुँह बनाया करते थे। उनके मुँह बनाने पर भी वह इसी तरह खड़ा रहता था। किसी-किसी समय छत पर एक और चेहरा भी दिखाई देता था। उसी की वह प्रतीक्षा किया करता था। उसका नाम सरोज था—आँखें बड़ी-बड़ी और काली! बच्चों को उसकी तरफ़ मुँह बनाते देखकर, वह उन्हें डाँट देती थी। कभी-कभी सरोज की आँखें पल-भर के लिए उससे मिल जाती थीं। वह एकदम सकपका जाता था। उसे देखकर सरोज के चेहरे पर न जाने क्यों एक विचित्र कठोर-सा भाव आ जाता था। कभी वह अकेली छत पर बाल सुखा रही होती, तो उसे देखकर सामने से हट जाती थी। वह फिर भी देर-देर तक खिड़की के पास खड़ा रहता था। सरोज के सामने से हट जाने पर भी उसका खुले बालोंवाला चेहरा उसकी आँखों के सामने बना रहता था। वह घंटों रात को बिस्तर पर पड़ा सरोज के बारे में ही सोचता रहता था। दिन में जब घर से निकलता तो एक बार आँखें उठाकर सरोज की छत की तरफ़ देख लेता था। उसे कितनी इच्छा होती थी कि कभी वह सरोज को पास से देख सके, उसके साथ हँसकर बात कर सके। कितनी बार उसके मन में यह बात आती थी कि किसी तरह सरोज के साथ राजो की मित्रता हो जाए और सरोज उनके घर में

आने-जाने लगे। मगर उसकी यह इच्छा इच्छा ही रही थी। सरोज कभी उनके घर में नहीं आई, और न ही कभी वह उससे बात कर सका। वह एम.ए. फाइनल में पढ़ रहा था, तो एक दिन सजधज के साथ सरोज का ब्याह हो गया। एम.ए. कर लेने के बाद जब उसकी बाहर नौकरी लगी, तो उसने सोचा था कि हर साल छुट्टियों में वहाँ आने पर उस ख़ाली छत को देखकर उसे बहुत विचित्र-सा अनुभव होगा। मगर उसने यह भी सोचा था कि हो सकता है सरोज भी उन्हीं दिनों मैके आया करे और उसे सरोज को छत पर बाल सुखाते देखने का अवसर मिलता रहे। मगर उसके पहली बार आने तक ही घर किसी और ने खरीद लिया था और एक नई मंज़िल बनवाकर उस छत को हमेशा के लिए ढक दिया था...।

''यार, तू मर्द का बच्चा होकर इस तरह की बातें करता है?'' हरीश को उसने अपने दिल की बात बताई थी, तो हरीश उससे मज़ाक करने लगता था। ''जो एक लड़की को अपनी तरफ़ आकर्षित नहीं कर सकता, वह ज़िन्दगी में और क्या करेगा?'' हरीश की बात से उसके मन में एक नश्तर-सा चुभ गया था। ''और प्यारे! आदमी की ज़िन्दगी में एक नहीं कई-कई लड़कियाँ आती हैं। एक बार चूक हो गई सो हो गई, मगर आगे कभी ऐसी चूक न हो...।'' सचमुच उस आदमी ने यह कितनी उजड्डता की बात कही थी!

गली से आती हुई बच्चों की आवाज़ें सत्ते को अच्छी नहीं लग रही थीं। उस शोर में तो पुराने दिनों की कल्पना करना भी मुश्किल था। सामने घर की नाली से पानी गिर रहा था और राजो के धोए हुए कपड़ों का साबुन-मिला पानी इधर से जाकर उस पानी को अपना रंग दे रहा था।

वह खिड़की के पास से हट आया। अब उसे अपना कमरा बहुत अकेला और उजाड़-सा लगने लगा—जैसे उसके वहाँ होते हुए भी कमरे में कोई न हो, वह बिलकुल ख़ाली और बिलकुल निर्जीव हो। नीचे आँगन से पंखे से चूल्हे में हवा करने की आवाज़ आ रही थी। राजो कपड़े धो चुकी थी और रात की रोटी के लिए चूल्हा सुलगा रही थी। गीली लकड़ियों का धुआँ ज़ीने से होकर रोशनदान के रास्ते कमरे में आ रहा था। सत्ते चारपाई पर लेट गया। उसे लग रहा था जैसे नाली में बहते हुए झाग मिले पानी और रोशनदान के रास्ते कमरे में आते हुए धुएँ में उनके आकार के अतिरिक्त भी कुछ हो—ऐसा कुछ जो राजो के अन्दर से उमड़कर आ रहा था और अब नाली के दागों और ज़ीने की स्याही में बदलता जा रहा था।

''शीरीं मुमताज़ उर्फ मुमताज़ महल!''

वह फिर एकटक दीवार पर खुदी हुई इबारतों को देखने लगा। उसे फिर याद आया कि उसने शीरीं मुमताज़ उर्फ मुमताज़ महल के विषय में कुछ लिखने की बात सोची थी। क्या बात सोची थी, यह ठीक से याद नहीं आया। मुमताज़ महल की रूह

और दीवार के सम्बन्ध में कोई बात थी। फिर सोचने लगा कि वह लड़की—शीरीं मुमताज़—देखने में कैसी होगी, उस घर में रहकर वह क्या-क्या सोचती रही होगी और वहाँ से जाते हुए वह दीवार पर क्यों लिख गई थी कि वह अपनी रूह यहीं छोड़े जा रही है? काश कि वह उस लड़की को जानता होता, और यह भी जानता कि आज वह कहाँ है और क्या सोचती है...?

सहसा उसे राजो से सहानुभूति होने लगी। उसका मन हुआ कि एक बार उसे ऊपर बुला ले और उसे पुचकारकर सिर पर हाथ फेर दे। वह उठकर ज़ीने में चला गया। ज़ीने में धुआँ इस तरह भर रहा था कि वहाँ साँस लेना मुश्किल था। वहाँ आते ही आँखों में जलन महसूस होने लगी। उसने किसी तरह आवाज़ दी, "राजो!"

मगर राजो ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसी तरह चूल्हे में पंखा झलती रही। सत्ते ने फिर आवाज़ दी, मगर राजो ने फिर कोई उत्तर नहीं दिया। केवल ज़ीने में आता हुआ धुआँ पहले से गाढ़ा हो गया। वह हताश क्रोध के साथ कमरे में लौट आया।

"शीरीं मुमताज़ उर्फ मुमताज़ महल!"

सत्ते को यह सोचकर और गुस्सा चढ़ने लगा कि उसके मन में कोई बात है जिसे वह चाहकर भी अपनी थकान और परेशानी के कारण ठीक से व्यक्त नहीं कर सकता—यहाँ तक कि खुद भी ठीक से समझ नहीं सकता। उसे कुछ पता नहीं चला कि कब उसने अलमारी से चाक़ू निकाला और कब दीवार में लिपियों को कुरेदना आरम्भ कर दिया। उसे अपने किए का अहसास तब हुआ जब वह बिल्लू के दोनों एल् सिर काटकर टी में बदल चुका, शीरीं मुमताज़ पर लम्बी-लम्बी लकीरें खींचकर उसका हुलिया बिगाड़ चुका और कोने में बनी हुई आँख में सूराख करके उसके सब रेशे झाड़ चुका। उसने यह काम इतनी मेहनत से किया था कि उसके माथे पर पसीना आ गया। मगर जब वह थककर चारपाई पर बैठा, तो क़मरे की निर्जीवता पहले से और गहरी हो गई थी। रोशनदान से धुआँ आना चाहे बन्द हो गया था, मगर कमरे की सारी हवा धुएँ से लदकर भारी हो रही थी। कमर सीधी करने के लिए वह चारपाई पर लेटा, तो उसकी आँखें फिर दीवार से जा टकराईं। शीरीं मुमताज़ का अब वहाँ पता नहीं था, मगर वह विकृत आँख, पहले से ज़्यादा विकृत होकर उसके बनाए हुए सूराख में से उसे घूर रही थी।

हक हलाल

पिछले सालों की तरह इस साल भी हमने कोठी अखबारवाले पंडित को दे दी है। सितम्बर का आरम्भ होने से घास खूब लम्बी उग रही है और पंडित की पत्नी हर रोज़ आकर एक गट्ठर घास काटकर ले जाती है।

इन दिनों घास कटवा देना हमारे लिए ज़रूरी हो जाता है। सड़क से जो रास्ता कोठी में उतरता है, उसके दोनों तरफ़ की घास अगर कटवाई न जाए, तो पूरा रास्ता घास से ढक जाता है। बीच में कई तरह के फूल खिल आते हैं। विभाजन से पहले यह कोठी एक मुसलमान सौदागर की थी। सुना है वे बहुत शौकीनमिज़ाज आदमी थे। उन्होंने कोठी के लिए गलीचे चुनने में जितनी मेहनत की थी, उससे कहीं ज़्यादा मेहनत यहाँ देशी और विलायती फूलों की कलमें लगाने में की थी। विभाजन के समय कोठी के गलीचे तो लूट लिए गए, मगर फूल केवल पैरों के नीचे रौंदे ही जा सके। कोठी का बूढ़ा माली, जो मुसलमान नहीं था, विभाजन के बाद भी जीवित रहा और मालिक के दो कुत्तों के साथ नीचे क्वार्टर में रहता रहा चाहे अब उसे वेतन नहीं मिलता था, फिर भी पहले के अभ्यास के अनुसार वह पौधों को सँवारता रहता था और लॉन की घास को ठीक करता रहता था। कभी-कभी वह गुलदस्ते बनाकर भी कमरों में रख जाया करता था।

और एक दिन बिना किसी भूमिका के माली मर गया। उसके मरने के साथ ही दोनों कुत्ते आवारा हो गए। मैं पिछले अढाई साल से कोठी के एक हिस्से में रह रहा हूँ। देखता हूँ कि हर साल माली के सँवारे हुए फूलों का विन्यास अब बिगड़ता जा रहा है। ब्लूबेल गुलाब के साथ उलझ जाते हैं, और डेलिया की सुर्ख पत्तियाँ पत्थर की दीवार में से सिर निकाल लेती हैं।

दो साल पहले सितम्बर महीने की ही बात है। शाम को लौटकर घर आया, तो देखा कि एक पहाड़ी युवती रास्ते की घास काट-काटकर एक तरफ़ ढेर में फेंक रही है। उसकी उम्र अठारह से पचीस के बीच कुछ भी हो सकती थी। शरीर की रेखाओं को देखकर उसे केवल युवा कहा जा सकता था। उसने अपनी कमीज़ कुहनियों से और सलवार पिंडलियों से ऊपर तक उठा रखी थी। गोरे मांस के उन स्वस्थ युवा

पिंडों में निर्माण का कुछ ऐसा कौशल था कि एक क्षण के लिए तो कोई भी अपने को भूला रह जाता। सिर पर उसने अपने रंगीन दोपट्टे को पटके की तरह बाँध रखा था। उसे पास से देखकर मुझे कुछ वैसा ही रोमांच हुआ जैसा भरी हुई नदी के तट से उसके मन्थर प्रवाह को देखकर होता है।

घास के साथ-साथ वह उलझे फूलों को भी काटकर घास के ढेर में फेंक रही थी। मेरे पास पहुँचने पर उसने एक उपेक्षा-भरी नज़र मुझ पर डाली और फिर डेलिया का एक गुच्छा काटकर घास के ढेर पर फेंक दिया। डेलिया की पत्तियाँ घास पर इधर-उधर छिटक गईं।

''इन फूलों को क्यों काट रही हो?'' मैंने पास रुककर उससे पूछा।

''पंडित ने कहा था कि आपने कहा है।'' बात कहते हुए उसके चेहरे का भाव बदला परन्तु उसकी आँखों के भाव में अन्तर नहीं आया।

"मैंने उससे कहा है?"

"हाँ, उसने कहा था कि आपने कहा है।"

''तुम पंडित की...?''

''मैं उसके घर हूँ,'' कहते हुए अचानक उसके चेहरे पर हलकी-सी मुस्कुराहट आ गई। परन्तु अगले ही क्षण वह मुस्कुराहट गम्भीर रेखाओं में बदल गई।

''हो सकता है गुलेरी साहब ने उससे कहा हो,'' कहकर मैं नीचे उतरने लगा।

''हाँ, उन्होंने ही कहा होगा,'' उसने पीछे से कहा और फिर अपने काम में व्यस्त हो गई।

गुलेरी साहब कोठी के दूसरे हिस्से में रहते हैं। वे गणित के अध्यापक हैं। उनके शरीर के साथ उनके जगह-जगह से उधड़े हुए सूट के साथ जगह-जगह से फटे हुए जूते का सामंजस्य देखकर अनायास याद हो आता है कि ''ए इज़ ईक्वल टु बी, एंड बी इज़ ईक्वल टु सी, देयरफोर ए इज़ ईक्वल टु सी।'' गुलेरी साहब स्वभाव से उपयोगितावादी हैं। वे हर चीज़ को इसी नज़र से देखते हैं कि उनके लिए वह कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। उन्हें कोठी में उतने ही फूलों का उगना पसन्द है जितने हर रोज़ फूलदानों में लगाए जा सकते हैं।

पंडित की पत्नी अब प्रायः हर रोज़ कोठी में घास काटती दिखाई दे जाती। वह उसी तरह पटका बाँधे और कमीज़ की बाँहें ऊपर चढ़ाए अपना काम किया करती। कभी वह साथ खुले स्वर में आई पहाड़ी गीत गुनगुनाया करती। एक बार मैंने उसे सामने की पहाड़ी से उतरकर आते देखा। वह जिस तरह कूदती और फिरकती हुई आ रही थी, उससे उसके अंग-अंग में बिजलियाँ-सी कौंधती प्रतीत होती थीं। पहाड़ी घास की पीली हरियाली और उगे हुए डंठलों की हलकी लाली भी उस समय मुझे पृष्ठभूमि का उपयुक्त सौन्दर्य लिए प्रतीत हुई।

उसी समय मैंने पंडित को भी दूसरी तरफ़ से आते देखा। मुझसे दो-तीन फुट के फासले पर आकर वह जैसे चौंककर मुस्कुराया और फिर सलाम करके आगे बढ़ गया। चश्मा लगा रहने पर भी वह शायद दूर से व्यक्ति को नहीं पहचान पाता था। कुछ आगे जाकर उसने उसी तरह चौंककर अपनी पत्नी को देखा और अखबारों का बंडल अपनी ढीली बाँह में सँभाले हुए उससे बात करने लगा।

मैं उस समय पंडित की उम्र के बारे में अनुमान लगाने लगा। क्षण-भर के लिए मुझे लगा कि उसकी उम्र पैंतीस-चालीस से अधिक नहीं है। गालों की झुर्रियों, निकले हुए घुटनों और मरी-मरी चाल के बावजूद उसके चेहरे में कुछ ऐसा था जिससे यह आभास होता था। परन्तु फिर मैंने टूटे हुए चश्मे के पीछे उसकी आँखों को देखा, और मुझे लगा कि वर्षों को गिनती करने का कोई अर्थ नहीं, उसकी निश्चित उम्र बुढ़ापा ही है।

कई महीने बीत गए। बरसात शुरू होने के दिन आ गए थे। हलके-हलके बादल घाटियों में भर रहे थे और आकाश में फैल रहे थे। दोपहर से ही संध्या का आभास होने लगा था। हलकी-हलकी बूँदाबाँदी भी चल रही थी। वातावरण में वर्षा की ध्वनि एक सिहरन की तरह फैल रही थी। चीड़, देवदार, आलूचा और खूबानी, सब तरह के छोटे-बड़े पेड़ रस की वर्षा में सिहरते हुए खड़े थे। वे नन्ही-नन्ही बूँदें प्यास बुझानेवाली न होकर प्यास जगानेवाली ही थीं। कभी-कभी घने झुरमुटों में से हलकी-सी च्यों-च्यों की आवाज़ सुनाई दे जाती थी।

मैं चार बजे से पहले ही लौट आया था। मौसम को देखते हुए मन हो रहा था कि मेज़ पर टाँगें फैलाकर और कॉफी की प्याली सामने रखकर बैठा रहा जाए। स्टोव पर केतली रखकर मैं खिड़की के पास आ बैठा। बाहर नन्हे-नन्हे ओले पड़ रहे थे। कुछ ओले देवदार की छतरियों से टकराकर उछल जाते थे। ऊपर टीन की छत पर ओलों के गिरने की एकतार आवाज़ वातावरण में एक रोमांचक संगीत भर रही थी।

केतली में पानी खौल गया, तो मैंने उठकर अपने लिए कॉफी की प्याली बना ली। प्याली मेज़ पर रखकर खिड़की के नीचे फ़र्श की तरफ़ देखा जहाँ पंडित अखबार फेंक जाया करता था। अखबार नहीं था। वैसे तो रोज़ ही पंडित अखबार देर से दे जाता था, मगर इतनी देर कभी नहीं हुई थी। मैं बैठकर कॉफी के घूँट भरने लगा। फिर दास्ताएव्स्की का उपन्यास 'ब्रदर्ज़ करेमैजॉफ' उठा लिया जिसके दो सौ के लगभग पन्ने पढ़ने शेष थे।

कुछ देर बाद अँधेरा बढ़ जाने से टेबल लेम्प जला दिया। अदालत में पब्लिक प्रॉसीक्यूटर द्वारा रूस की अनैतिकता पर दिया गया भाषण पढ़ रहा था, जब सहसा बाहर से पंडित की आवाज़ सुनाई दी, "अखबार जी!" और खिड़की के रास्ते अखबार अन्दर आ गिरा।

''यह अखबार देने का वक़्त है पंडित?'' खिड़की से देखा कि पंडित सिर पर एक बोरी ओढ़े हुए है, उसके कपड़े तीन-चौथाई भीग रहे हैं और उसके गीले बंडल में कम-से-कम चालीस-पचास अखबार और हैं।

''आज तो जी कहीं भी अखबार नहीं दे पाया,'' पंडित ने कुछ दीनता के साथ कहा, ''इधर की चार कोठियों के अखबार देकर यह पाँचवाँ अखबार आपका देने आया हूँ।''

मुझे लगा कि उसकी आवाज़ में वातावरण से कहीं ज़्यादा नमी है।

''कोई ख़ास बात थी क्या?'' मैंने पूछा।

''ख़ास ही बात थी साहब,'' वह बोला, ''सवेरे से अब तक थाने की खाक छानकर आ रहा हूँ।''

''क्यों, ऐसी क्या बात थी?''

वह पल-भर जैसे असमंजस में चुप रहा। सर्दी से उसके दाँत कटकटा रहे थे। मैंने उससे कहा कि वह अन्दर आ जाए और चाय या कॉफी की एक प्याली पी ले।

वह अन्दर आ गया और अखबारों का बंडल फ़र्श पर रखकर उस पर बैठ गया। मैंने केतली फिर स्टोव पर रख दी। मेरा मन उस समय बँट गया था। मैं उपन्यास में पब्लिक प्रॉसीक्यूटर का भाषण भी पढ़ना चाहता था और पंडित की बात भी सुनना चाहता था। उपन्यास में अपनी पंक्ति ढूँढ़ते हुए पंडित से पूछा, ''हाँ, तो ऐसी क्या बात हो गई जो आज थाने में दिन बिताना पड़ा?

पंडित ने अस्पष्ट स्वर में कुछ कहा जिसे मैं ठीक न सुन सका। मैंने पुस्तक से आँख उठाकर उसकी तरफ़ देखा। पहली बार बात न सुनी जाने पर उसे दोहराने में जो लहज़ा हो जाता है, उस लहज़े में पंडित ने कहा, ''हाँऽजी, मैंने कहा कि आज इस औरत ने पुलिसवालों के जूते भी सुँघा दिए। यह काम करना भी तकदीर में लिखा था।''

''पर क्या बात हुई है?''

''अब क्या बताऊँ जी?'' वह बोला, ''अपनी औरत की बात है, सो मुँह से कही भी नहीं जाती। जाने करमजली के मन में क्या समा गया। कल रात घर से भाग गई है।''

''भाग गई है?'' मैंने कुछ आश्चर्य के साथ कहा। मुझे स्वयं लगा कि मेरे स्वर में सहानुभूति की छाया नहीं आई। क्षण-भर पंडित के चेहरे को देखकर मैंने फिर पूछा, ''वैसे यहीं शिमले में ही है, या कहीं बाहर चली गई है।''

''यह पता चल जाता तो मैं उसे छोड़ता जी?'' वह बोला, ''थाने में जाकर फरियाद करने की क्या ज़रूरत थी? यही पता चल जाता तो मैं उसे बालों से घसीटकर घर न ले आता जी। आखिर वह मेरी ब्याहता औरत है।''

मैंने एक बार ज़रा तिरछे कोण से उसे देखा। उसका भाव उस समय ऐसा हो रहा था जैसे उसे सारे संसार से उस बात की शिकायत हो और खेद हो कि वह अभी तक इसका बदला क्यों नहीं ले सका।

"तुम्हारे ब्याह को कितने साल हो गए पंडित?" मैंने पूछा।

"यही दस-आठ साल समझ लीजिए," वह थोड़ा कुंठित होकर बोला।

"तब कितने साल के थे तुम?"

इस सवाल से उसके चेहरे का रंग फीका पड़ गया। आवाज़ लम्बी करते हुए उसने ज़रा रुक-रुककर उत्तर दिया, "यहीऽ जीऽऽ, समझ लीजिएऽ बस, जितने साल की उम्र में होता है ब्याह, वही उम्र थी। दो-चार साल शायद ज़्यादा रही होगी। देखने में तो मैं शुरू से ही ऐसा हूँ, पता नहीं क्यों? पर हड्डी मेरी बहुत मजबूत है।" और क्षण-भर रुककर वह बोला, "और जी, जब चार पैसे पास में हो जाएँ तभी होता है ब्याह! हमारे यहाँ लड़की की कीमत लेते हैं। यह मैंने डेढ़ सौ रुपया देकर ब्याही थी।"

"डेढ़ सौ रुपया देकर?" आश्चर्य के साथ मेरे मुँह से निकला। मेरी बात का और ही मतलब लेते हुए पंडित ने कहा, "इसकी बड़ी बहन सौ रुपए में मिल सकती थी जी! पर यह ज़रा ख़ूबसूरत थी। उम्र छोटी थी, पर मैंने सोचा कि इसकी कोई बात नहीं। मुझे यह थोड़े ही पता था कि यह मेरे साथ इस तरह दगा करेगी?"

पानी खौलने लगा था। मैंने उठकर दो प्यालियों में कॉफी बनाई और चम्मच में चीनी लेते हुए पंडित से पूछा, "पंडित, चीनी कम लेते हो या ज़्यादा?"

"कम जी!" पंडित ने बिलकुल निर्लोभ व्यक्ति की तरह कहा। मैंने दो चम्मच चीनी मिलाकर प्याली उसे दे दी। पंडित ने एक घूँट भरा और गले से हलका-सा खेदपूर्ण हँसी का-सा स्वर निकालकर बोला, "बहुत ही कम डाल दी जी!"

मैंने उसकी प्याली में एक चम्मच चीनी और मिला दी। पंडित ने फिर एक घूँट भरा और बोला, "कुछ-कुछ हो ही गई अब।"

मैंने चीनी की प्याली उसकी तरफ़ बढ़ा दी। पंडित ने एक चम्मच चीनी और मिला ली और फिर सन्तोष की 'हूँ' के साथ चाय के घूँट भरने लगा। मैं अपनी प्याली लिये हुए अपनी जगह पर लौट आया।

"उसका बाप भी उसकी जान को रो रहा था," पंडित बोला।

"उसे पता चल गया कि उसकी लड़की घर से भाग गई है?"

"हाँ जी। मैं उसके पास भी हो आया हूँ। मैंने उससे कहा कि तेरी लड़की मेरे घर से भाग गई है और तेरी रज़ामन्दी से भागी है—मैं तुझ पर अढाई सौ रुपए का दावा करूँगा। हाँ जी, डेढ़ सौ रुपया नकद दिया था और इतने दिन खिलाने-पिलाने के कम-से-कम भी लगाएँ तो सौ से कम क्या लगाएँगे?"

"फिर उसने क्या कहा?"

"गरीब आदमी है, बहुत मिन्नत करने लगा। मैंने भी सोचा कि इसे रुपए के लिए तंग करना ठीक नहीं। बेचारा देगा कहाँ से? मैंने कहा कि यूँ कर कि जब तक वह लौटकर नहीं आती तब तक के लिए अपनी छोटी लड़की को मेरे यहाँ भेज दे। हाँ, कम-से-कम मेरे घर में चूल्हा तो जलता रहे। मैं दावा नहीं करूँगा।"

"तो वह मान गया?"

"अभी उसने हामी नहीं भरी, पर उम्मीद है मान जाएगा। नहीं तो रुपया कहाँ से देगा?" और ख़ाली प्याली फ़र्श पर रखकर मुँह पोंछते हुए पंडित ने कहा, "वैसे आदमी अच्छा है। नीयत का साफ़ है। दो आदमी समझाएँगे तो समझ जाएगा। यह बात उसके भी भले की है और मेरे भी। अदालत में जाना कोई अच्छी बात थोड़े ही है!"

और उठकर अखबारों का बंडल सँभालते हुए उसने कहा, "अब आगे देखिए क्या होता है!"

और हुआ यह कि कुछ दिनों में पंडित की पत्नी की जगह पंडित की साली घास काटने आने लगी। उम्र कम होने पर भी वह देखने में पंडित की पत्नी की तरह सुन्दर नहीं थी। यूँ वह भी उसी तरह दोपट्टे को पटके की तरह बाँधे हुए गीत गुनगुनाती हुई घास काटा करती। परन्तु उसकी आँखों में न तो वैसी चंचलता थी और न ही संसार-भर के प्रति वैसी उपेक्षा का भाव। पंडित की पत्नी के भाग जाने का क़िस्सा धीरे-धीरे पुराना पड़ने लगा। दो, चार, छह महीने और इसी तरह पूरा साल निकल गया।

इतवार का दिन था। मैं खिड़की के पास बैठा कुछ पढ़ने की चेष्टा कर रहा था। बाहर के एक पेड़ पर कुल्हाड़ी चलाने का शब्द सुनाई दे रहा था। गुलेरी साहब ने शायद अपने नौकर गुलाबसिंह को आदेश दिया था कि लॉन के उन वाले हिस्से में जो छोटा-सा खूबानी का पेड़ है, उसे काट दिया जाए और उसकी लकड़ी जलाने के काम में ले आई जाए क्योंकि खूबानियाँ तो उससे साल में सेर-भर ही उतरती थीं जबकि उसकी लकड़ी से चार-छह महीने चूल्हा जल सकता था। तो खूबानी का पेड़ कट रहा था। ठक्-ठक् की आवाज़ मेरे दिमाग़ में बहुत अन्दर कहीं गूँज पैदा कर रही थी।

मैं देवदारों में भटकती हुई चिड़िया को देखने लगा। वह कभी ऊपर जाती, कभी नीचे आती और कभी उलझी हुई टहनियों में गोल घूम जाती। सहसा पेड़ के कटकर ज़मीन पर गिरने का शब्द सुनाई दिया और साथ ही स्त्री-कंठ का यह शब्द, "गुलाबसिंह ऊपर की पतली टहनियाँ हमें तोड़ लेने दे।"

मैंने आवाज़ पहचान ली। वह आवाज़ पंडित की पत्नी की थी। मैं उठकर खिड़की के पास चला गया। लॉन में गिरे हुए पेड़ के पास पंडित की पत्नी और साली दोनों खड़ी थीं।

"तू इन टहनियों का क्या करेगी?" गुलाबसिंह पूछ रहा था।

"टहनियाँ जला लेंगे और पत्तियाँ गाय को खिला देंगे।"

"तेरी मुन्नी सुना है बीमार थी। अब क्या हाल है?" गुलाबसिंह ने पूछा।

"अब तो अच्छी है।"

"इसकी कौन-सी मुन्नी है?" गुलेरी साहब ने अपने कमरे से बाहर निकलकर पूछा। यही सवाल मेरे मन में भी उठा था। क्योंकि न जाने क्यों पंडित की पत्नी के बच्चा होने की कल्पना कुछ अस्वाभाविक-सी लगती थी।

"मुन्नी इसकी गाय का नाम है," कहकर गुलाबसिंह हँसने लगा।

"अच्छा-अच्छा!" गुलेरी साहब भी लिजलिजे ढंग से हँसे और बोले, "ले लेने दे इसे दो-चार टहनियाँ। ऊपर-ऊपर से तोड़ ले पंडितानी।" और पंडितानी पर एक रसिकता-भरी नज़र डालकर वे वापस कमरे में चले गए। पंडित की पत्नी और साली मिलकर टहनियाँ तोड़ने लगीं। गुलाबसिंह कुल्हाड़ी से पेड़ की मोटी डालें काटने लगा। बीच में एक बार उसने सिर उठाकर ऊपर सड़क की तरफ़ देखा और कहा, "लो, पंडित भी आ गया!"

पंडित अखबारों का बंडल सँभाले ऊपर की सड़क से उतरकर आ रहा था। लॉन में पहुँचकर वह कुछ देर अपनी पत्नी और साली के काम की जाँच करता रहा। फिर अखबार देने मेरी खिड़की के पास आ गया। मैंने हाथ बढ़ाकर अखबार ले लिया। पंडित बाक़ी अखबारों को बाँह में सँभालता हुआ पल-भर चुप रहा, फिर ज़रा खखारकर बोला, "जी, आ गई है।"

"अच्छा!" मैंने अखबार पर नज़र दौड़ाते हुए सरसरी तौर पर कहा।

पंडित ने एक बार पीछे अपनी पत्नी और साली की तरफ़ देखा और फिर कमरे के अन्दर आ गया। मेरे बहुत पास आकर ऐसी आवाज़ में, जो उसके ख़याल में बहुत धीमी थी मगर दरअसल में इतनी ऊँची ज़रूर थी कि बाहर लॉन में सुनाई दे जाए, बोला, "परसों थाने में उन्होंने मुझे शनाख्त के लिए बुलाया था। वे लोग इसे मंडी से पकड़कर लाए हैं। इसके यार को भी उन्होंने गिरफ़्तार कर लिया है। मैं तो जी, बिलकुल उम्मीद छोड़ बैठा था। इतने दिन हो गए थे। पर नहीं। सरकार के घर में देर है, अंधेर नहीं। उन्होंने खोज-ख़बर छोड़ी नहीं। कहाँ शिमला, कहाँ मंडी। पकड़कर ले ही आए।"

उसकी बात सुनते हुए मेरा ध्यान बार-बार बाहर की तरफ़ चला जाता था। पंडित की पत्नी ने एक बार घृणा के साथ कमरे की तरफ़ देखा और फिर तोड़ी हुई टहनियों को समेटने लगी। अन्दर पंडित कह रहा था, "कल जी, इसके बाप ने इसे खूब पीटा। पर ऐसी ढीठ औरत है कि चुपचाप मार खा गई, मुँह से एक बात का जवाब नहीं दिया। वह तो मैं बीच में पड़ गया, नहीं वह तो इतने गुस्से में था कि इसकी चमड़ी उधेड़कर

रख देता। मैंने उससे कहा कि अब मारपीट करने से क्या फायदा है? जो मुँह काला करना था, वह तो कर ही आई। आगे से अपनी निगरानी में रखेंगे। क्या कहते हैं?''

पंडित की पत्नी और साली टहनियाँ उठाकर ऊपर सड़क की तरफ़ चल दी थीं। मैं क्षण-भर पंडित की आँखों में देखता रहा। फिर मैंने पूछा, ''तो अब तुम्हारी साली अपने बाप के घर लौट जाएगी?''

''वह अब कहाँ जाएगी जी?'' पंडित बोला, ''मैंने आपसे कहा था, इसका बाप बहुत गरीब आदमी है। उसके पास इसे खिलाने के लिए एक पैसा भी नहीं है। उसको इसका सौ-सवा सौ चाहिए सो मैं ही उसे दे दूँगा। इतने दिनों से घर में रही है, सो अब छोड़ने को मन नहीं करता! आदमी को आदमी से मोह हो जाता है। और क्या पता कल को बड़ी फिर भाग जाए! ऐसी का कोई भरोसा थोड़े ही है!''

पंडित की पत्नी और साली कोठी से निकलकर सड़क के मोड़ पर पहुँच गई थीं। गुलाबसिंह कटी हुई डालों पर कुल्हाड़ी चला रहा था। गुलेरी साहब फिर बाहर निकलकर उसे आदेश दे रहे थे कि लकड़ियाँ खूब बारीक काटे जिससे जलाने में आराम रहे।

''पंडित, अखबार ज़रा जल्दी दे जाया करो,'' मैंने बात बदलकर कहा, ''आजकल तुम बहुत देर कर देते हो। आज भी देखो दो बजने को हैं?''

''कल से जल्दी दे जाऊँगा जी!'' पंडित ने तत्परता के साथ कहा और अखबारों को सँभालता हुआ बाहर की तरफ़ चल दिया। कुछ ही देर में गुलेरी साहब के कमरे में उसकी आवाज़ आने लगी। वहाँ भी वह उसी विषय में बात कर रहा था।

पंडित अब भी अखबार देर से लाता है। उसकी ज़िन्दगी उसी तरह चल रही है। वह पुराना कोट पहनता है जिसकी ज़ेबों की जगह उधेड़े हुए धागे के निशान दिखाई देते हैं, और जिसका आगे का अकेला बटन अपनी जगह से आधा इंच नीचे लटकता रहता है। उसकी कमीज़ के बटन हमेशा की तरह खुले रहते हैं जिससे उसकी छाती की हड्डियाँ नीचे तक दिखाई देती हैं। हमेशा की तरह वह बाईं टाँग पर दबाव देकर ठोड़ी को सहलाता हुआ रास्ते पर चला करता है। कभी वह अखबारों के बंडल पर बैठकर रिक्शा-स्टैंड के कुलियों के साथ तम्बाकू पीता है, तो कभी वह बंडल पगड़ी के नीचे रखकर पगड़ी सिर पर टिकाए किसी पेड़ के नीचे सोता रहता है। कभी अखबार रास्ते में पत्थर के नीचे रखे रहते हैं, और वह इधर-उधर झाड़ियों की पतली-पतली टहनियाँ चुन रहा होता है।

पंडित की पत्नी भी प्रायः घास काटती दिखाई दे जाती है। अब उसके शरीर में वह चमक नहीं रही और मांस का कसाव भी पहले से कम हो गया है, फिर भी

जब वह चलती है, तो उसके अंगों में अब भी वे पहले की-सी विजलियाँ कौंधती प्रतीत होती हैं। उसकी आँखें पहले से लाल रहती हैं और वह चलती-चलती रुककर अकारण पत्थरों को ठोकरें लगाने लगती है।

पंडित को लोग अक्सर उसकी पत्नी के लौट आने की मुबारकबाद देते हैं। पंडित सलाम करके हलकी-सी हँसी हँसता है और कहता है, ''आपकी परवस्ती थी हज़ूर, परमात्मा का इन्साफ़ था और मेरा हलाल का पैसा था। वरना, मैंने कोई उम्मीद थोड़े ही रखी थी?''

और यह कहते हुए उसके चेहरे का भाव धार्मिक हो जाता है।

गुनाह बेलज़्ज़त

किसी ने काउंटर के पास जाकर सरदार सुन्दरसिंह के कान में कहा कि पुलिसगाड़ी सुन्दरी और उसकी बहन को लिये सिविल लाइंज़ में घूम रही है, तो उसका मुँह लाल हो गया, हाथ काँप गया और पेंसिल हाथ से गिर गई।

यह बात सुबह से सुनी जा रही थी कि सुन्दरी पुलिस को उन सब लोगों के पते-ठिकाने बता रही है जिन-जिनके घर उसे और उसकी बहन शम्मी को ले जाया गया था। कुछ बड़े-बड़े आसामियों की गिरफ़्तारियाँ हो चुकीं थी जिनमें एक मैजिस्ट्रेट का भाई और एक पुलिस इंस्पेक्टर भी था। फिर भी सरदार सुन्दरसिंह का दिल कह रहा था कि उसकी गिरफ़्तारी नहीं हो सकती। जो लम्हे उसने सुन्दरी के साथ बिताए थे, वह उसकी ज़िन्दगी के सबसे खुशगवार लम्हे थे। क्या ज़िन्दगी ऐसी ना-इंसाफ़ी उसके साथ कर सकती थी कि उन हसीन और खुशगवार लम्हों की याद उससे छीनकर उसे बिलकुल दीवालिया कर दे! इसके अलावा उससे कोई बदफेली भी नहीं हुई थी। बुनियादी तौर पर वह एक नेक और शरीफ आदमी था, और उसका दिल कह रहा था कि उस जैसे नेक और शरीफ आदमी को कभी हथकड़ी नहीं लग सकती। उसे विश्वास था कि उसका दिल कभी गलत बात नहीं कहता!

कुछ बरस पहले वह चाय और शरबत का सामान ठेलागाड़ी में रखकर गली-गली घूमा करता था तो उसके दिल ने शहादत दी थी, एक दिन वह अपना बहुत बड़ा होटल खोलेगा और कई-कई बैरे और खानसामे उसके नीचे काम करेंगे। उसके दिल की यह बात जितनी जल्दी उसने आशा की थी, उससे कहीं जल्दी पूरी हो गई थी। पाँच-छह बरस में ही वह फटे हुए पाजामे-कुर्ते से शार्क-स्किन की बुश्शर्टों तक पहुँच गया, दो रुपए रोज़ से उसकी आमदनी तीस-चालीस रुपए रोज़ तक चली गई, और उसके बोलचाल और चलने-फिरने के अन्दाज़ में इतना अन्तर आ गया कि उसे जाननेवाले भी नहीं कह सकते थे कि यह सुन्दरसिंह है जो एक दिन ठेला लगाया करता था। उसे महसूस होता था उसके बाहर की चीज़ ही नहीं बदली, वह अन्दर से भी पूरी तरह बदल गया है। केवल एक चीज़ नहीं बदली थी और वह थी उसकी बीवी, जिसकी सूरत से उसे नफरत थी। उसके पास जाकर सुन्दरसिंह के दिल की

सारी उमंगें ठंडी पड़ जाती थीं, जिस वजह से पन्द्रह बरस में वाहेगुरु ने उसे कोई बच्चा-अच्चा नहीं दिया था। मगर उसका दिल कहता था कि उसकी सारी उम्र इसी तरह नहीं गुज़रेगी। वह, सरदार सुन्दरसिंह तलवाड़ एक न एक दिन अपनी सारी हसरतें ज़रूर पूरी करेगा। इसलिए जिस दिन सुन्दरी के उसके घर में आने की बात तय हुई, वह अपने दिल की बात का और भी कायल हो गया। उसे लगा कि उसके अन्दर ज़रूर किसी औलिया का बास है।

उसने बड़ी मुश्किल से मनाकर अपनी बीवी को उसके बाप के घर भेज दिया। वह जाना चाहती थी क्योंकि बहुत दिनों से जब-जब उसने जाने की इच्छा प्रकट की थी, सुन्दरसिंह ने यह कहकर उसका प्रस्ताव रद्द कर दिया था कि वह अपना एक-एक पैसा बिज़नेस में लगा रहा है, उसके पास उसे इधर-उधर भेजने के लिए पैसे नहीं हैं। मगर इस बार उसने अपने पिछले रवैये के लिए उससे माफ़ी तक माँगी और अनुरोध किया कि वह उसका दिल रखने के लिए चली ही जाए। बीवी के चले जाने पर उसने ख़ाली घर को इस तरह देखा जैसे अभी-अभी उसे उसने जाले-आले उतारकर ठीक किया हो, और ख़ाली पलंग पर लेटकर इस परिवर्तन को महसूस करने का प्रयत्न किया।

सुन्दरी उस रात दस बजे से लेकर साढ़े बारह बजे तक उसके पास रही। वह मोटी-सी औरत हरजीतकौर उसे छोड़कर चली गई तो सुन्दरसिंह ने दरवाज़ा बन्द करके चटखनी चढ़ा ली। यह उसकी ज़िन्दगी में पहला मौका था कि एक इतनी हसीन लड़की उसके इतनी नज़दीक थी और उसके मन में किसी भी तरह का डर या अन्देशा नहीं था। वह अपनी सारी हसरत और अरमान उसके शरीर पर पूरे कर सकता था। उसने पास जाकर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, "सोहणे ओ, बैठ जाओ।"

सुन्दरी ने हाथ छुड़ा लिया और कमरे में टहलने लगी। सुन्दरसिंह उससे छोटी-मोटी छेड़खानियाँ करने लगा। कभी उसे कन्धे से पकड़कर उसके गाल चूम लेता और कभी उसके गदराए हुए वक्ष को हाथ से मसल देता। उसे छूते ही उसके शरीर में बिजलियाँ दौड़ जातीं। किसी-किसी क्षण उसे विश्वास नहीं होता कि जो कुछ हो रहा है वह एक हकीकत है। उसने सुन्दरी का हाथ मज़बूती से पकड़ लिया और फिर कहा, "चूज़ेओ, बैठ जाओ।"

सुन्दरी बैठ तो गई पर सुन्दरसिंह को लगा कि वह उसे विचित्र सन्देह-भरी नज़र से देख रही है। सहसा उसके शरीर की बिजलियाँ ठंडी होने लगीं। उन बिजलियों की गर्मी बनाए रखने के लिए उसने उसे खींचकर अपने साथ सटा लिया और कहा, "सोहणेओ, तुम हमें प्यार नहीं करते?"

सुन्दरी ने उसकी बाँहों से मुक्त होने का प्रयत्न किया तो सुन्दरसिंह और ठंडा पड़ने लगा। वह उससे इस तरह लिपट गया जैसे डूबते आदमी के हाथ में किसी

तैराक की बाँह आ गई हो और वह किसी भी तरह उसे छोड़ना न चाहता हो। वह उससे कहने लगा कि वह ज़िन्दगी में आज पहली बार दिल से प्यार कर रहा है, अपनी बीवी से वह आज तक प्यार नहीं कर सका, वह उसे बता नहीं सकता कि अपनी बीवी के हाथों वह कितना दुखी है। उसने यह भी कहा कि सुन्दरी अपने सुन्दर को सिर्फ़ एक ग्राहक समझने की भूल न करे, सुन्दर उसे अपनी जान से बढ़कर मानता है, और उसके एक इशारे पर अपना घर-बार और बिजनेस सबकुछ छोड़ सकता है। आज उसके दिल में एक ही कामना है कि उसकी सुन्दरी हमेशा-हमेशा के लिए इसी तरह उसके पास रहे। मगर बात कहते-कहते ही उसे ध्यान हो आया कि उसकी चाही हुई अक्सर बातें सच्ची हो जाती हैं, इसलिए उसने घर-बार, बिज़नेस छोड़ने की बात को तुरन्त लौटा लिया।

"सोहणेओ, तुम मेरे पास रहो तो मैं तुम्हें बँगला बनवा दूँ, कार रख दूँ—तुम सुन्दरसिंह को ऐसा-वैसा ही न समझना।"

उसने सोचा कि यह कहकर उसने बिज़नेस की कुरबानी की बात रद्द कर दी है। सुन्दरी का शरीर अब कसमसा नहीं रहा था और सुन्दरसिंह का हाथ धीरे-धीरे उसकी पीठ को सहला रहा था। वह सोचने लगा, क्या सचमुच ऐसा दिन उसकी ज़िन्दगी में आ सकता है जब सुन्दरी उसकी पत्नी के रूप में उसके घर में रही हो, वह उसकी बाँह में बाँह डाले हुए घर से निकले और उन्हें देखते ही ड्राइवर कार का दरवाज़ा खोलकर खड़ा हो जाए? मगर इससे पहले कि दिल का औलिया इस बात की गवाही देता, उसने झट से अपनी कल्पना में थोड़ा परिवर्तन कर लिया। उसने सोचा कि चाहे सुन्दरी ख़ूबसूरत है, फिर भी क्या वह उसे ज़िन्दगी-भर के लिए घर में रख सकता है? वह एक शरीफ आदमी है और वह पेशेवर बदमाश है। इसलिए उसने जल्दी से तय कर लिया कि शरीफ होने के नाते घर में रखने के लिए उसे एक शरीफ लड़की ही चाहिए, सुन्दरी जैसी बाज़ारू लड़की नहीं।

मगर उसकी शराफत ने हज़ार कोशिश करने पर भी उस समय उसके दिल के अरमान पूरे नहीं होने दिए। कहाँ उसने सोचा था कि उस दिन उसके चालीस बरस के सारे अरमान निकल जाएँगे और कहाँ वह अढाई घंटे में अपने अरमान निकालने की भूमिका भी नहीं तैयार कर पाया। साढ़े बारह बजे हरजीतकौर ने दरवाज़ा खटखटाया तो सुन्दरी मुँह बिचकाकर उससे अलग हो गई और वह आप पसीना-पसीना हुआ, उठ खड़ा हुआ। दरवाज़ा खोलकर उसने हरजीतकौर से अनुनय किया कि वह सुन्दरी को कुछ देर और उसके पास रहने दे, वह उसे दुगने पैसे तक देने को तैयार है। मगर सुन्दरी ने एक मितलाहट-भरी नज़र से उसकी तरफ़ देखा, जैसे वह इंसान न होकर एक चलता-फिरता दवाईखाना हो, और बेरुखी से सीढ़ियों की तरफ़ चली गई। हरजीतकौर भी कन्धे झटककर उसके पीछे-पीछे सीढ़ियाँ उतर गई।

सुन्दरसिंह अपनी खुली हुई पगड़ी उठाकर आईने के सामने जा खड़ा हुआ।

"सुन्दरसिंह तू गधा है, तू बैंगन है, तू अमरूद है," कहकर उसने दो-तीन बार अपने मुँह पर चपत मारी और पगड़ी लपेटने लगा। पगड़ी लपेटकर उसने फिर एक बार अपने मुँह पर चपत मारी।

"सुन्दरसिंह, तू शलगम है शलगम। तू होटल छोड़ और ठेला चला।"

मगर कुछ दिन बाद जब सुन्दरी और हरजीतकौर पकड़ी गईं और शहर में हर व्यक्ति के मुँह से सुन्दरी-कांड की चर्चा सुनाई देने लगी, तो सरदार सुन्दरसिंह के दिल से अपनी असफलता का खेद बहुत हद तक जाता रहा। उसे यह भी लगा कि कुदरत ने इस तरह उसके तिरस्कार का बदला ले लिया है। सुन्दरी ने पुलिस के सामने बयान दिया था कि वह अभी नाबालिग है, और हरजीतकौर ज़बरदस्ती उससे यह पेशा कराती है। इससे सुन्दरसिंह को लगा कि उसकी असफलता के पीछे शायद कुदरत का ही हाथ था—वाहेगुरु ने अपनी बाँह बढ़ाकर उसे इस अपराध का हिस्सेदार बनने से बचा लिया है। उसने मन-ही-मन वाहेगुरु की अरदास की।

मगर यह सुनकर कि पुलिस की गाड़ी सिविल लाइंज में घूम रही है, उसका दिल ख़ामख़ाह धड़कने लगा। उसे विश्वास था कि जिस तरह वाहेगुरु ने जब-तब उसकी लाज रखी है, उसी तरह आगे भी रखेगा। मगर उसे लगा कि पुलिस की गाड़ी अचानक उधर आ निकले और सुन्दरी उसे काउंटर पर खड़े देखकर पहचान ले, तब तो वाहेगुरु के लिए भी लाज रखना मुश्किल होगा। क्या पता वे लोग एक-एक प्याली चाय पीने के लिए ही उसके होटल का रुख कर लें और वहाँ आकर पुलिसवाले सुन्दरी की आँखों से ताड़ लें कि दाल में कुछ काला है, और वहीं तहकीकात शुरू कर दें? उसने काँपते हाथ से गिरी हुई पेंसिल को उठाया मगर उससे बिल-बुक में हिंदसे ठीक से नहीं लिखे गए। उसने पेंसिल बीच में रखकर बिल-बुक बन्द कर दी। काउंटर से हटकर उसने हरदितसिंह बैरे को इशारे से अपने पास बुलाया और उससे कहकर कि उसके सिर में दर्द है, वह उसकी जगह काउंटर सँभाल ले, वह पिछली गली के रास्ते घर की तरफ़ चल दिया।

घर में दाखिल होकर सुन्दरसिंह ने गली में खुलनेवाला दरवाज़ा बन्द कर लिया। सीढ़ियाँ चढ़कर वह ऊपर पहुँचा तो उसका उस कमरे में जाने को मन नहीं हुआ, जहाँ उसकी ज़िन्दगी का हसीन ख्वाब पूरा होते-होते रह गया था। पहले हर रोज़ वह घर आते ही उस कमरे पर एक हसरत-भरी नज़र डाल देता था, मगर आज वह सीधा चौके में अपनी पत्नी भागवन्ती के पास चला गया। भागवन्ती ने ज़रा भी आश्चर्य प्रकट नहीं किया कि सरदारजी आज जल्दी क्यों चले आए हैं। वह चुपचाप आटे के पेड़े पर बेलन चलाती रही।

"भागवन्ती," सुन्दरसिंह ने उसके पास मोढ़े पर बैठते हुए कहा।

भागवन्ती ने हाथ रोककर आँखें उसकी तरफ़ उठाईं जैसे कह रही हो, कुछ बात कहनी है तो जल्दी से कह डालो, नहीं तो मुझे काम करने दो।

"भागवन्ती, मुझे आज एक ख़याल आया है।"

भागवन्ती ज़रा सतर्क हो गई। पन्द्रह बरस के विवाहित जीवन में जब कभी उसने इस तरह मुलायम होकर बात की थी, उसके पीछे कोई-न-कोई मतलब रहा था। एक बार जब उसे होटल खोलना था, उसने इसी तरह बात करके उससे उसके गहने माँगे थे। फिर जब उसे होटल का काम बढ़ाने के लिए पैसे की ज़रूरत थी तो उसने इसी तरह की बातों से उसे अपने बाप से मिला हुआ घर गिरवी रखने के लिए राजी किया था। अब उसके पास अपनी सम्पत्ति के रूप में चाँदी के कुछ बरतनों के सिवा कुछ नहीं था। वे भी उसके दहेज में आए थे। वह पहले भी एक बार उससे कह चुकी थी कि वह किसी भी परिस्थिति में अपने बरतन बेचने के लिए उसे नहीं देगी। उसकी भौंह तिरछी हो गई और माथे पर बल पड़ गए।

"भागवन्ती, मैंने आज तक तेरे लिए कुछ नहीं किया।" सुन्दरसिंह ने आँखें भरे हुए यह बात कही तो उसके हाथ से बेलन छूट गया। सुन्दरसिंह का अपने कुछ न करने की बात कहना या सोचना उसके लिए बिलकुल अस्वाभाविक चीज़ थी। उसने बेलन सँभालते हुए तीखी नज़र से उसे देखा कि आखिर इस बात का गहरा मतलब क्या हो सकता है। सुन्दरसिंह ने पगड़ी उतारकर आले में रख दी और घुटने ऊँचे उठा लिए।

"भागवन्ती, मैं तेरे लिए सोने की चूड़ियाँ बनवाना चाहता हूँ।"

भागवन्ती न एक लम्बी साँस ली, बेली हुई चपाती तवे पर डाली और कहा कि उसे गर्म फुलका खाना हो तो उसकी थाली लगा दे, सोने की चूड़ियाँ वह बहुत पहन चुकी है!

"भागवन्ती, तूने सुन्दरसिंह का दिल नहीं देखा। देखेगी तो कहेगी कि हाँ सुन्दरसिंह भी कुछ चीज़ है," कहता हुआ वह पगड़ी सिर पर रखकर उठ खड़ा हुआ।

भागवन्ती ने कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ इतना पूछ लिया कि वह रोटी अभी खाएगा या ठहरकर। सुन्दरसिंह के मन में था कि वह उसके पास बैठकर उससे देर तक बातें करे और रोटी खाकर उसके साथ ही बीच के कमरे में जाए। उसने यह भी सोचा था कि मौका लगा तो वह सारी बात बताकर उससे माफ़ी भी माँगेगा। क्योंकि उसे ख़याल था कि अगर सुन्दरी ने पुलिस को बता दिया और पुलिस उसके घर आ गई तो भागवन्ती ही उसका बचाव कर सकेगी। मगर भागवन्ती का उदासीन भाव देखकर उससे कुछ भी नहीं कहा गया और वह रोटी के लिए मना करके चौके से निकल आया। भागवन्ती ने एक बार भी उससे अनुरोध नहीं किया कि वह रोटी खाकर ही जाए। वह तवे पर रोटी को फुलाकर चुपड़ती रही। सुन्दरसिंह का मन

खीझ गया कि इस औरत की वजह से वास्तव में उसकी ज़िन्दगी तबाह हो गई है। आज अगर उसे हथकड़ी लगेगी, तो इसी की वजह से लगेगी। मगर वह तब भी शायद इसी तरह चकले पर बेलन चलाती रहेगी, और चिमटे से कोयले ठीक करती रहेगी।

कमरे में जाकर वह पलंग पर लेट गया तो उसे रह-रहकर भागवन्ती पर क्रोध आने लगा। वह उससे आज तक शराफत बरतता आया है, इसलिए वह इसे बिलकुल ही बोदा समझती है। यह भी तो उसकी शराफत ही थी कि जिस दिन वह सुन्दरी को घर लाया, उस दिन उसने उसे मैके भेज दिया। चाहिए तो यह था कि वह उसके सामने ही घर में यह करतब करता, जिससे वह एक बार तो महसूस करती कि वह उतना गावदी नहीं है जितना वह समझती है। अब तो ऐसे व्यवहार करती है जैसे वह आदमी न होकर मिट्टी का ढेला हो।

गली में चार-छह व्यक्ति के चलने की आवाज़ सुनकर सुन्दरसिंह चौंक गया। एक बार उसका दिल ज़ोर से धड़क गया और उसे अफसोस हुआ कि उसने कमरे की बत्ती जलती क्यों रहने दी है। उसे लगा कि दो ही क्षण बाद उसके दरवाज़े पर दस्तक दी जाएगी और उसके कुछ ही देर बाद शायद पुलिस उसे हथकड़ी लगाकर कोतवाली की तरफ़ ले जा रही होगी। मगर पैरों की आवाज़ शीघ्र ही दूर चली गई और धीरे-धीरे समाप्त हो गई। सुन्दरसिंह पलंग से उठा और खिड़की के पास चला गया। खिड़की की सलाखें बहुत ठंडी थीं और नीचे गली सुनसान थी। सुन्दरसिंह का मन एक विचित्र-सी निराशा से भर गया। उसने उन दो ही क्षणों में अपने मन को पुलिस के सामने घटित होनेवाले दृश्य के लिए तैयार कर लिया था। मगर पुलिस तो क्या, गली में इंसान की छाया तक न थी। वह फिर आकर पलंग पर लेट गया।

दिन में उसने कई तरह की क़िस्से सुने थे कि सुन्दरी ने लोगों के घरों में जाकर पुलिस को क्या-क्या चीज़ें बताई हैं। लोग सुन्दरी की याददाश्त पर हैरानी प्रकट कर रहे थे कि कैसे उसने एक-एक घर का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है। चौके से अब भी चकले-बेलन की आवाज़ आ रही थी। सुन्दरसिंह ने करवट बदलकर सोचा कि इस समय सचमुच सुन्दरी पुलिस को लिए हुए वहाँ आ जाए और पुलिस उसे हथकड़ी पहना दे, तो निःसन्देह भागवन्ती उसकी मर्दानगी के प्रति इस तरह उदासीन नहीं रह सकेगी और उसके दिल में उसके लिए कद्र पैदा होगी। उसके सामने वह पूरा दृश्य जैसे घटित होने लगा।

दरवाज़े पर दस्तक होती है और भागवन्ती दरवाज़ा खोलती है। सुन्दरी और पुलिस के सिपाहियों को देखकर वह भौंचक हो जाती है।

"माई, सरदार सुन्दरसिंह का मकान यही है?" एक सिपाही पूछता है।

"हाँ, यही मकान है," सुन्दरी कहती है, "सीढ़ियों के साथ ही इनका बड़ा कमरा है। उसमें दाईं ओर एक पलँग बिछा है। चलिए ऊपर।"

भागवन्ती घबराई-सी उनके लिए रास्ता छोड़ देती है। वे सब ऊपर पहुँच जाते हैं। भागवन्ती भी डरी-डरी-सी उनके पीछे ऊपर आ जाती है। सुन्दरी पास आकर उसका हाथ पकड़ लेती है।

"यह है सरदार सुन्दरसिंह," वह कहती है, "लगा लो इसे हथकड़ी।"

"हाथ आगे करो सरदारजी," सिपाही पास आकर उसे हथकड़ी पहनाने लगता है, "बहुत मौज कर ली, अब चलकर हवालात की हवा खाओ।"

वह तनकर खड़ा हो जाता है और कहता है कि वह इस मामले में बिलकुल बेकसूर है। वाहेगुरु की सौगन्ध खाकर कह सकता है कि वह बिलकुल बेकसूर है। यह लड़की ख़ामख़ाह उसका नाम लगा रही है।

भागवन्ती उसके और सिपाही के बीच आकर खड़ी हो जाती है और कहती है कि वे उसके पति को गिरफ़्तार नहीं कर सकते। उसका पति कभी अपराधी नहीं हो सकता। वह बेचारा तो किसी औरत की तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखता। वह गौ की तरह असील और सौ शरीफों का एक शरीफ है।

यहाँ तक आकर सुन्दरसिंह को लगा कि सिलसिला गलत हो गया है। इस तरह पुलिस के हाथों से भगवन्ती उसे बचा ले, तब तो वह उसके सामने और भी हीन हो जाएगा। और वह चाहता यह है कि भागवन्ती के दिल पर इस बात का सिक्का बैठ जाए कि वह मिट्टी का माधो नहीं है, एक दिल और गुर्देवाला खालिस आदमी है; यह और बात है कि वह अपने दिल को उससे मुहब्बत करने के लिए राज़ी नहीं कर पाता। इसलिए पुलिस के ऊपर आने के बाद की बात वह दूसरी तरह सोचने लगा।

सिपाही उसे हथकड़ी पहनाता हुआ कहता है कि सरदारजी, चलो चलकर हवालात की हवा खाओ तो वह भागवन्ती पर एक गहरी नज़र डालकर हाथ आगे कर देता है। भागवन्ती पास आकर उसकी बाँह पकड़ लेती है।

"हाय सरदारजी," वह रोती आवाज़ में कहती है, "ये लोग आपको हथकड़ी क्यों लगा रहे हैं? हाय मैं आपके बिना अकेली घर में कैसे रहूँगी?"

सुन्दरी भागवन्ती को बाँह से पकड़कर परे हटा देती है और कहती है कि वह पति को पहले बुरे काम करने से रोकती, अब क्यों रोती है? भागवन्ती कोने में जाकर फफक-फफककर रोने लगती है और सुन्दरी पलंग के नीचे से उसके जूते निकालकर उसके आगे रख देती है, और अलमारी से उसकी पगड़ी निकालकर उसे दे देती है।

"सरदारजी, जूते पहन लो और पगड़ी बाँध लो; फिर हथकड़ी लगवाना," वह हथकड़ी लगवाकर चलने के लिए तैयार हो जाता है तो सुन्दरी अलमारी से निकालकर एक रूमाल भी उसकी ज़ेब में रख देती है।

"अच्छा, भागवन्ती, मैं जा रहा हूँ। घर का ख़याल रखना," वह कहता है और सिपाहियों के साथ चल देता है। भागवन्ती रो-रोकर कहती है कि सरदारजी, न जाओ, मुझे घर में अकेली छोड़कर न जाओ, हाय मैं आपके पीछे घर में अकेली कैसे रहूँगी? वे लोग सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आते हैं तो पुलिस की गाड़ी का ड्राइवर उसके लिए दरवाज़ा खोल देता है—और उसे एक बार फिर अपने दिल के औलिया की बात पर विश्वास हो उठता है कि उसने जो नक्शा उसे दिखाया था यह किसी हद तक तो पूरा हो ही गया।

पुलिस की गाड़ी में बैठ जाने के बाद सुन्दरसिंह की कल्पना आगे काम नहीं कर सकी। उसने एक-दो बार करवट बदली और सीधा हो गया। भागवन्ती चूल्हा बुझा रही थी। पानी पड़ने से लकड़ियों से सी-सी की आवाज़ निकल रही थी। गली में कोई आहट सुनाई नहीं दे रही थी। वह उठकर सीढ़ियों के पास चला गया और कुछ क्षण नीचे की तरफ़ देखता रहा। फिर उसने भागवन्ती को आवाज़ देकर कहा कि वह बाहर जा रहा है और पैरों से आवाज़ करता हुआ सीढ़ियाँ उतरने लगा। उसे आशा थी कि शायद भागवन्ती उसे पीछे से आवाज़ दे कि उसे जाना है तो रोटी खाकर जाए, मगर भागवन्ती ने उसकी आवाज़ का उत्तर भी नहीं दिया और बुझी हुई लकड़ियों को कोने में फेंकती रही।

सुन्दरसिंह गली से निकलकर बाज़ार में आया तो ज़्यादातर दुकानें बन्द हो चुकी थीं। वह घूमता हुआ अपने होटल की तरफ़ चला गया। होटल में कोई ग्राहक नहीं था। बैरे सामान सँभालकर वहाँ से चलने की तैयारी कर रहे थे।

"सरदारजी, अब सिरदर्द ठीक है?" हरदितसिंह बैरे ने पूछा।

"हाँ ठीक है," कहकर सुन्दरसिंह ने ख़ाली मेज़-कुर्सियों पर एक नज़र डाली और पूछा कि उसके पीछे कोई उसे पूछने के लिए तो नहीं आया।

"नहीं सरदारजी, कोई नहीं आया," हरदितसिंह ने उत्तर दिया।

"कोई भी नहीं आया?" उसने फिर पूछा।

"नहीं।"

सुन्दरसिंह दाढ़ी के बाल बैठाता हुआ होटल से निकल आया और कुछ देर सड़कों के चक्कर काटता रहा। वह कम्पनी बाग़ से होकर ट्रेनिंग कालेज की तरफ़ निकल गया। उधर से लौटते हुए वह हौसला करके पुलिस की चौकी की तरफ़ भी हो आया। उसके अलावा जैसे दुनिया में किसी को ख़याल ही नहीं था कि आज सुन्दरी-कांड के अभियुक्तों की गिरफ़्तारियाँ हुई हैं और हो रही हैं। हर जगह शान्ति और ख़ामोशी छाई थी। घर की ओर लौटते हुए वह दैनिक 'लोक समाचार' के कार्यालय के सामने से गुज़रा। अन्दर छापे की मशीन धरड़-धरड़ कर रही थीं। उसने सोचा कि वे मशीनें उस समय वही खबर छाप रही हों—सुन्दरी-कांड में पन्द्रह सम्भ्रान्त

व्यक्ति गिरफ़्तार कर लिए गए। सुबह सारे प्रदेशों में लोग उन गिरफ़्तारियों की चर्चा कर रहे होंगे। गिरफ़्तार हुए व्यक्तियों के नाम हरएक की ज़बान पर होंगे। शायद कुछ एक के फोटो भी छपें। महीनों तक वे लोग जनता की आँखों में रहेंगे। बहुत-से लोग दिल ही दिल उनसे रश्क भर करेंगे। मगर सुन्दरसिंह तलवाड़ का नाम उनमें नहीं होगा। उसने एक लम्बी साँस ली। मन में अजब बेचैनी भर गई। वह स्वयं नहीं समझ सका कि अभियुक्त करार न दिए जाने से उसके मन को तसल्ली मिली है या निराशा हुई है। वह कुछ देर मशीनों की आवाज़ सुनकर घर की तरफ़ चल दिया।

गली में दाखिल होने से पहले उसे आशा थी कि शायद उसके घर के बाहर हंगामा हो रहा हो, घर की तलाशी हो रही हो और भागवन्ती को डरा-धमकाकर पूछा जा रहा हो कि उसने पति को कहाँ छिपा रखा है या वह घर से भागकर कहाँ गया है। परन्तु गली जितनी उसके जाने के समय सुनसान थी, उतनी ही सुनसान अब भी थी। उसके कमरे की बत्ती, जो वह जलती छोड़ गया था, अब बुझी हुई थी।

''भागवन्ती!'' उसने सीढ़ियाँ चढ़कर आवाज़ दी।

भागवन्ती सिर-मुँह ओढ़कर लेटी हुई थी। उसने कुनमुनाकर धीरे से कहा कि रोटी डिब्बे में रखी है, अगर वह होटल से ही पेट भरकर न आया हो, तो वहाँ से निकालकर खा ले।

सुन्दरसिंह के मन की खीझ गुस्से में बदल गई। उसने अपने पलंग पर बैठकर जूते झटककर उतार दिए और कहा, ''तुझे रोटी की पड़ी है? यहाँ चाहे किसी की जान को बनी हो, तुझे क्या परवाह है?''

भागवन्ती धीरे-धीरे उठ गई, मगर सिर-मुँह लपेटे अपने पलंग पर ही बैठी रही।

''जान को क्या बनी है?'' उसने पूछा, ''फिर पैसे जुए में हार आए हो?''

''हाँ, मैं रोज़ जुआ खेलता हूँ न!'' सुन्दरसिंह बड़बड़ाया, ''यहाँ यह नहीं पता कि घड़ी में क्या हो पल में क्या हो, और इसे बातें बनाने की सूझ रही है।''

''तो ऐसा क्यों कर आए हो जो तुम्हें पता नहीं कि घड़ी में क्या हो और पल में क्या हो?'' भागवन्ती अब भी ठहरे हुए उदासीन स्वर में बोली, ''किसी का ख़ून कर आए हो?''

''हाँ, अपना ख़ून कर आया हूँ!'' सुन्दरसिंह उसी तरह गुस्से में बोला और पगड़ी उतारकर शीशे के सामने चला गया। वहाँ खड़े-खड़े उसने कहा कि पता नहीं किस समय पुलिस उसे पकड़कर ले जाए, इसलिए वह अब घर-बार ठीक से सँभाल ले।

''क्यों, पुलिस को तुम्हें किसलिए पकड़ने आना है?'' भागवन्ती अब वास्तव में घबराकर बोली, ''होटल से बोतलें-ओतलें तो नहीं पकड़ी गईं।''

सुन्दरसिंह थोड़ा प्रसन्न हुआ कि अब उसका तीर निशाने पर जा लगा है।

"तुझे पता नहीं आज शहर में गिरफ़्तारियाँ हो रही हैं?" उसने फिर भी खीझ बनाए रखते हुए कहा।

"कैसी गिरफ़्तारियाँ?"

"कैसी गिरफ़्तारियाँ?" सुन्दरसिंह अपने पलंग पर लौट आया।। "गिरफ़्तारियाँ कैसी होती हैं?" पुलिस उन सब लोगों को हथकड़ियाँ लगा रही है जिनके नाम वह लड़की उन्हें बता रही है।"

"कौन लड़की लोगों के नाम पुलिस को बता रही है?" भागवन्ती की घबराहट जाती रही और उसके स्वर में भी झुँझलाहट भर गई, "आज फिर पी-पिला आए हो?"

"सारी दुनिया आज सुन्दरी की चर्चा कर रही है और इसे मैं बताऊँ कि वह कौन है!" सुन्दरसिंह ने महत्त्व के भाव से बाँहें पीछे कर लीं, "मैं कह रहा हूँ कि घर सँभाल ले, हो सकता है कि रात को ही पुलिस यहाँ छापा मार ले।"

"मगर पुलिस को हमारे यहाँ किस बात के लिए छापा मारना है?" भागवन्ती उसे गौर से देखने लगी कि वह ऐसी बहकी-बहकी बातें क्यों कह रहा है।

"वह मेरा नाम पुलिस को बता देगी तो पुलिस यहाँ छापा मारेगी कि नहीं?"

सुन्दरसिंह ने सोचा कि अब उसने बात खोल दी है तो भागवन्ती रोना-पीटना आरम्भ कर देगी। मगर भागवन्ती उसी तरह स्थिर बैठी रही।

"उसे तुम्हारे नाम से क्या मतलब है?" उसने पूछा।

सुन्दरसिंह ने मुश्किल से अपनी मुस्कुराहट को दबाया और कहा, "वह एक दिन यहाँ आई जो थी।"

परन्तु यह देखकर सुन्दरसिंह को सख़्त निराशा हुई कि उसके ब्रह्मास्त्र का भी भागवन्ती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि भागवन्ती की आँखों का भाव तिरस्कारपूर्ण हो उठा।

"रहने दो सरदारजी," उसने कहा, "मन के लड्डू मत फोड़ो। उसे आप ही के पास आना था! जाओ जाकर रोटी खा लो। और नहीं खानी है तो बत्ती बुझाकर सो रहो। सारी उम्र बीत गई आपको सपने देखते।"

"तू मत मान...", सुन्दरसिंह ने उलझे हुए मगर शिथिल स्वर में कहा, "मैं तो आप कहता हूँ कि मुझसे ग़लती हुई है। मगर जो ग़लती होनी थी सो हो गई। तू घर की देखभाल...।"

"बस करो सरदारजी, बस करो," भागवन्ती ने उसकी बात बीच में ही काट दी और सिर-मुँह ओढ़कर लेटती हुई बोली, "ख़ामख़ाह की बातें करके क्यों ज़बान ओछी करते हो? उठकर बत्ती बुझा दो, मुझे नींद आ रही है।" और उसने करवट बदलकर उसकी तरफ़ पीठ कर ली।

सरदार सुन्दरसिंह का मन बुरी तरह खीझ गया और वह उठकर कमरे में टहलने लगा। उसने एक बार मेज़ का दराज़ खोलकर बन्द कर दिया। फिर पलंग को थोड़ा आगे को सरका दिया। खिड़की के पास होकर वह फिर नीचे देखने लगा। वही नीरवता छाई थी। उसके मन की बैचेनी बढ़ गई। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे या क्या करे जिससे भागवन्ती को विश्वास हो जाए कि वह जो कह रहा है वह सच है और एक बार वह माथे पर हाथ मार-मारकर रो उठे। मगर बहुत सोचकर भी कोई तरीका उसकी समझ में नहीं आया। हवा का एक ठंडा झोंका लगने से वह खिड़की के पास से हट आया। भागवन्ती तब तक ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे भरने लगी थी। उसने हिंस्र पशु की-सी आँखों से भागवन्ती के सोए शरीर को देखा और बत्ती बुझाकर चौके में चला गया।

जीनियस

जीनियस कॉफी की प्याली आगे रखे मेरे सामने बैठा था।

मैं उस आदमी को ध्यान से देख रहा था। मेरे साथी ने बताया था कि यह जीनियस है और मैंने सहज ही इस बात पर विश्वास कर लिया था। उससे पहले मेरा जीनियस से प्रत्यक्ष परिचय कभी नहीं हुआ था। इतना मैं जानता था कि अब वह पहला ज़माना नहीं है जब एक सदी में कोई एकाध ही जीनियस हुआ करता था। आज के ज़माने को जीनियस पैदा करने की नज़र से कमाल हासिल है। रोज़ कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी जीनियस की चर्चा सुनने को मिल जाती है। मगर जीनियस की चर्चा सुनना और बात है, और एक जीनियस को अपने सामने देखना बिलकुल दूसरी बात। तो मैं उसे गौर से देख रहा था। उसके भूरे बाल उलझकर माथे पर आ गए थे। चेहरे पर हलकी-हलकी झुर्रियाँ थीं, हालाँकि उम्र सत्ताईस-अट्ठाईस साल से ज़्यादा नहीं थी। होंठों पर एक स्थाई मुस्कुराहट दिखाई देती थी, फिर भी चेहरे का भाव गम्भीर था। वह सिगरेट का कश खींचकर नीचे का होंठ ज़रा आगे को फैला देता था जिससे धुआँ बजाय सीधा जाने के ऊपर की तरफ़ उठ जाता था। उसकी आँखें निर्विकार भाव से सामने देख रही थीं। हाथ मशीनी ढंग से कॉफी की प्याली को होंठों तक ले जाते थे, हलका-सा घूँट अन्दर जाता था और प्याली वापस सॉसर में पहुँच जाती थी।

"हूँ!" कई क्षणों के बाद उसके मुँह से यह स्वर निकला। मुझे लगा कि उसकी 'हूँ' साधारण आदमी की 'हूँ' से बहुत भिन्न है।

"मेरे मित्र आपकी बहुत प्रशंसा कर रहे थे," मैंने वक़्त की ज़रूरत समझते हुए बात आरम्भ की। जीनियस के माथे के बल गहरे हो गए और उसके होंठों पर मुस्कुराहट ज़रा और फैल गई।

"मैंने इनसे कहा था कि चलिए आपका परिचय करा दूँ," मेरे साथी ने कहा। साथ ही उसकी आँखें झपकीं और उसके दो-एक दाँत बाहर दिखाई दे गए। मुझे एक क्षण के लिए सन्देह हुआ कि कहीं यह संकेत स्वयं उसी के जीनियस होने का परिचायक तो नहीं? परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी सधी हुई मुद्रा देखकर मेरा सन्देह जाता रहा। जीनियस एक पल आँखें मूँदे रहा। फिर उसने इस तरह विस्मय के साथ

आँखें खोलीं जैसे वह यह निश्चय न कर पा रहा हो कि अपने आसपास बैठे हुए लोगों के साथ उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है। उसके फैले हुए होंठ ज़रा सिकुड़ गए। उसने सिगरेट का एक कश खींचा और तम्बाकू का धुआँ सरसराता हुआ ऊपर को उठने लगा, तो उसने कहा, "देखिए, ये सिर्फ़ आपको बना रहे हैं। मैं जीनियस-वीनियस कुछ नहीं, साधारण आदमी हूँ।"

मैंने अपने साथी की तरफ़ देखा कि शायद उसके किसी संकेत से पता चले कि मुझे क्या कहना चाहिए। मगर वह दम साधे पत्थर के बुत की तरह गम्भीर बैठा था। मैंने फिर जीनियस की तरफ़ देखा। वह भी अपनी जगह निश्चल था। बुश्शर्ट के खुले होने से उसकी बालों से भरी छाती का काफ़ी भाग बाहर दिखाई दे रहा था।

वह कहवाखाने का काफ़ी अँधेरा कोना था। आसपास धुआँ जमा हो रहा था। दूर ज़ोर-ज़ोर के कहकहे लग रहे थे और हाथों में थालियाँ लिये छायाएँ इधर-उधर घूम रही थीं।

"मैं आज तक नहीं समझ सका कि कुछ लोग जीनियस क्यों माने जाते हैं?" जीनियस ने फिर कहना आरम्भ किया, 'मैंने बड़े-बड़े जीनियसों के विषय में पढ़ा है और जिन्हें लोग जीनियस समझते हैं, उनकी रचनाएँ भी पढ़ी हैं। उनमें कुछ नाम हैं–शेक्सपियर, टॉल्स्टाय, गोर्की और टैगोर। मैं इन सबको हेच समझता हूँ।"

मैं अब और भी ध्यान से उसे देखने लगा। उसके माथे के ठीक बीच में एक फूली हुई नाड़ी थी जिसकी धड़कन दूर से ही नज़र आती थी। उसकी गलौठी बाहर की निकली हुई थी। बाईं आँख के नीचे हलका-सा फफोला था। मैं उसके नक्श अच्छी तरह ज़हन में बिठा लेना चाहता था। डर था कि हो सकता है फिर ज़िन्दगी-भर किसी जीनियस से मिलने का सौभाग्य प्राप्त न हो।

"शेक्सपियर सिर्फ़ एक वार्ड था," दो कश खींचकर उसने फिर कहना आरम्भ किया "और अगर मर्लोवाली कहानी सच है, तो इस बात में ही सन्देह है कि शेक्सपियर शेक्सपियर था। टॉल्स्टाय, गोर्की और चेखव जैसे लेखकों को मैं अच्छे कॉपीइस्ट समझता हूँ–केवल कॉपीइस्ट, और कुछ नहीं। जो जैसा अपने आसपास देखा उसका हूबहू चित्रण करते गए। इसके लिए विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं। टैगोर में हाँ, थोड़ी कविता ज़रूर थी।"

वह खुलकर मुस्कुराया। मेरे लिए उस मुस्कुराहट की थाह पाना बहुत कठिन था। पास ही कहीं दो-एक प्यालियाँ गिरकर टूट गईं। एक कबूतर पंख फड़फड़ाता हुआ कहवाखाने के अन्दर आया और कुछ लोग मिलकर उसे बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। जीनियस की आँखें भी कबूतर की तरफ़ मुड़ गईं और वह कुछ देर के लिए हमारे अस्तित्व को बिलकुल भूल गया। जब उसने कबूतर की तरफ़ से आँखें हटाईं तो उसे जैसे नए सिरे से हमारी मौजूदगी का एहसास हुआ।

"मैं एक निहायत ही अदना इंसान हूँ," उसने हमारे कन्धों से ऊपर दीवार की तरफ़ देखते हुए कहा, "लेकिन यह मैं ज़रूर जानता हूँ कि जीनियस कहते किसे हैं–माफ कीजिए, कहते नहीं, जीनियस कहना किसे चाहिए।" उसने प्याली रख दी और शब्दों के साथ-साथ उसकी उँगलियाँ हवा में खाके बनाने लगीं। "आप जानते हैं–या शायद नहीं जानते–कि जीनियस एक व्यक्ति नहीं होता। वह एक फिनोमेना होता है, एक परिस्थिति जिसे केवल महसूस किया जा सकता है। उसका अपना एक रेडिएशन, एक प्रकाश होता है। उस रेडिएशन का अनुमान उसके चेहरे की लकीरों से, उसके हाव-भाव से, या उसकी आँखों से नहीं होता। वह एक फिनोमेना है जिसके अन्दर एक अपनी हलचल होती है परन्तु जो हलचल उसकी आँखों में देखने से नहीं होती। वह स्वयं भी अपने सम्बन्ध में नहीं जानता, परन्तु जिस व्यक्ति का उसके साथ सम्पर्क हो, उस व्यक्ति को उसे पहचानने में कठिनाई नहीं होती। जीनियस को जीनियस के रूप में जानने के लिए उसकी लिखी हुई पुस्तकों या उसके बनाए हुए चित्रों को सामने रखने की आवश्यकता नहीं होती। जीनियस एक फिनोमेना है, जो अपना प्रमाण स्वयं होता है। उसके अस्तित्व में एक चीज़ होती है, जो अपने-आप बाहर महसूस हो जाती है। मैं यह इसलिए कह सकता हूँ कि मैं एक ऐसे फिनोमेना से परिचित हूँ। मेरा-उसका हर रोज़ का साथ है, और मैं अपने को उसके सामने बहुत तुच्छ, बहुत हीन अनुभव करता हूँ।"

उसकी मुस्कुराहट फिर लम्बी हो गई थी। उसने नया सिगरेट सुलगाकर एक और बड़ा-सा कश खींच लिया। कॉफी की प्याली उठाकर उसने एक घूँट में ही समाप्त कर दी। मैं अवाक् भाव से उसके माथे की उभरी हुई नाड़ी को देखता रहा।

"मुझे उसके साथ के कारण एक आत्मिक प्रसन्नता प्राप्त होती है," वह फिर बोला, "मुझे उसके सम्पर्क से अपना-आप भी जीवन की साधारण सतह से उठता हुआ महसूस होता है। उसमें सचमुच वह चीज़ है जो दूसरे को ऊँचा उठा सकती है। मैं तब उसका रेडिएशन देख सकता हूँ। उसके अन्दर की हलचल महसूस कर सकता हूँ। जिस तरह अभी-अभी वह कबूतर पंख फड़फड़ा रहा था, उसी तरह उसकी आत्मा में हर समय एक फड़फड़ाहट, एक छटपटाहट भरी रहती है। उस छटपटाहट में ऐसा कुछ है जो यदि बाहर आ जाए, तो चाहे ज़िन्दगी का नक्शा बदल दे। मगर उसे उस चीज़ को बाहर लाने का मोह नहीं है। उसकी दृष्टि में अपने को बाहर व्यक्त करने की चेष्टा करना व्यवसाय बुद्धि है, बनियापन है। और इसलिए मैं उसका इतना सम्मान करता हूँ। मैं उससे बहुत छोटा हूँ, बहुत-बहुत छोटा हूँ, परन्तु मुझे गर्व है कि मुझे उससे स्नेह मिलता है। मैं भी उसके लिए अपने प्राणों का बलिदान दे सकता हूँ। मैंने जीवन में बहुत भूख देखी है–हर वक़्त की भूख–और अपनी भूख से प्रायः मैं व्याकुल हो जाता रहा हूँ। परन्तु जब उसे देखता हूँ तो मैं शर्मिन्दा हो जाता हूँ,

भूख उसने भी देखी है, और मुझसे कहीं ज़्यादा भूख देखी है—परन्तु मैंने कभी उसे ज़रा भी विचलित या व्याकुल होते नहीं देखा। वह कठिन से कठिन अवसर पर भी मुस्कुराता रहता है। मेरा सिर उसके सामने झुक जाता है। मैं जीवन के हरएक मामले में उससे राय लेता हूँ, और हमेशा उसकी बताई हुई राह पर चलने की चेष्टा करता हूँ। कई बार तो उसके सामने मुझे महसूस होता है कि मैं तो हूँ ही नहीं, बस वही वह है, क्योंकि उसके रेडिएशन के सामने मेरा व्यक्तित्व बहुत फीका पड़ जाता है। परन्तु मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ। मैं लाख चेष्टा करूँ फिर भी उसकी बराबरी तक नहीं उठ सकता।

उसके दाँत आपस में मिल गए और चेहरा काफ़ी सख़्त हो गया। चेहरे की लकीरें पहले से भी गहरी हो गईं। फिर उसने दोनों हाथों की उँगलियाँ आपस में उलझाईं और एक बार उन्हें चटका दिया। धीरे-धीरे उसके चेहरे का तनाव फिर मुस्कुराहट में बदलने लगा।

"ख़ैर!" उसने उठने की तैयारी में अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। मैं अब आपसे इजाज़त लूँगा। मैं भूल गया था कि मुझे एक जगह जाना है...।

"मगर..." मैं इतना ही कह पाया। मैं तब तक उसी अवाक् भाव से उसे देख रहा था। उसका इस तरह एकदम उठकर चल देना मुझे ठीक नहीं लग रहा था। अभी तो उसने बात आरम्भ ही की थी।

"आप शायद सोच रहे हैं कि वह व्यक्ति कौन है जिसकी मैं बात कर रहा था..." वह उसी तरह हाथ बढ़ाए हुए बोला, "मुझे खेद है कि मैं आपका या किसी का भी उससे परिचय नहीं करा सकता। मैंने आपसे कहा था न कि वह एक व्यक्ति नहीं, एक फिनोमेना है। अपने से बाहर वह मुझे भी दिखाई नहीं देता। मैं केवल अपने अन्दर उसका रेडिएशन ही महसूस कर सकता हूँ।"

और वह हाथ मिलाकर उठ खड़ा हुआ। चलने से पहले उसकी आँखों में क्षण-भर के लिए एक चमक आ गई और उसने कहा, "वह मेरा इनरसेल्फ है।"

और क्षण-भर स्थिर दृष्टि से हमें देखकर वह दरवाज़े की तरफ़ चल दिया।

बस-स्टैंड की एक रात

...लैम्प-पोस्ट के गिर्द कितने ही चक्कर काट लिए मगर रात नहीं कटी। बीस फुट की ऊँचाई पर टँगे लैम्प की मद्धिम रोशनी कभी आँखों में हलकी नींद भर देती है, फिर सहसा चौंककर नींद भगा देती है। अड्डा बिलकुल सुनसान है। एक कोने में दो छोटी-छोटी छकड़ानुमा बसें खड़ी हैं। शायद इन्हीं पुरानी मनहूस और बेडौल बसों में से एक सुबह पाँच बजे की सर्विस बनकर रवाना होगी।

एक, दो, तीन, चार...सर्दी की रात में जागकर समय काटने का एक ही रास्ता है कि कदम गिने जाएँ। दस, ग्यारह, बारह...बयालीस तैंतालीस, चवालीस...छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन...परन्तु संख्या सौ तक नहीं पहुँचती। हर बार बीच में ही खो जाती है। फिर नए सिरे से नए विश्वास के साथ गिनती आरम्भ होती है...एक-दो. तीन-चार, पाँच-छह, सात-आठ...

बाईं तरफ़ टूटा-फूटा बरामदा है। बरामदे के पीछे लम्बा-सा अँधेरा कमरा है। बरामदे की बेंच पर कोई लिहाफ के नीचे करवट बदलता है। कमरे में कोई कुनमुनाता है—जैसे गहरी यातना में कराह रहा हो। देखने पर वहाँ अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता है। लगता है वह अँधेरा बाहर के अँधेरे से कहीं गहरा और गर्म है। जैसे सारे कमरे में कोमल काले रोयें भरे हों।

लैम्प-पोस्ट के पास आकर सर्दी कम नहीं होती। हाँ, अकेलापन ज़रूर कुछ कम होता है। टहलते हुए फुटपाथ की तरफ़ चले जाओ, तो दूर एक लम्बी वीरान सड़क नज़र आती है। लैम्प-पोस्ट के पास आकर लगता है कि दुनिया उतनी वीरान नहीं है। मैं लैम्प-पोस्ट से टेक लगा देता हूँ। जैसे लैम्प-पोस्ट लैम्प-पोस्ट न होकर एक इंसान हो, और मैं उससे टेक लगाकर उसे अपनी आत्मीयता का विश्वास दिलाना चाहता होऊँ। मगर शरीर में ठंडे लोहे की सलाख-सी गड़ जाती है और मैं उससे हटकर टहलने लगता हूँ।

एक, दो, तीन, चार...।

पर गिनती सौ तक नहीं पहुँचती। हाथों पर मास्टर हरवंसलाल के डंडे की मार ताज़ा हो आती है।

"सत्तर नौ?"

"उनहत्तर।"

"स्टैंड-अप...अस्सी नौ?"

"उनासी।"

"अस्सी नौ उनासी? हाथ सीधे कर।...अस्सी नौ?"

"उना-आ...।"

दो डंडे दायें हाथ पर, दो बायें हाथ पर।

"अब अस्सी नौ?"

अब अस्सी नौ–सिसकियाँ और आँसू।

"कह, अस्सी नौ नवासी।"

"अ-अ-अ...।"

"बोल दस बार, अस्सी नौ नवासी, अस्सी नौ नवासी।"

"अ-अ-अ...।"

"बोऽऽल।"

"अ-अ-अ...अं-अं...आं-आं-आं-आं...।"

कमरे में किसी ने सिगरेट सुलगा लिया है। हर कश के साथ अँधेरा कम होता है। कमरे में भी लिहाफों और कम्बलों में लिपटी कई आकृतियाँ पड़ी हैं जो एक क्षण दिखाई देती हैं और दूसरे क्षण अदृश्य हो जाती हैं। पता नहीं कि रात कितनी बीती है। शायद एक बजा है और मुझे अभी चार घंटे इसी तरह टहलना है। या शायद चार बज चुके हैं और अब थोड़ी ही देर में उन दो मनहूस बसों में से एक खड़खड़ाती हुई पठानकोट-डलहौज़ी रोड पर चल देगी। छह-आठ मील जाकर सूर्य निकलेगा और दोनों ओर वृक्ष-पंक्तियाँ दिखाई देंगी। कुछ ही देर में दुनेरा पहुँचकर सिब्बू हलवाई की दुकान से गर्म-गर्म चाय पिएँगे।

सर्दी, रात और चाय।

"चाय गर्म है। धुआँ उठ रहा है। हलका-हलका और लच्छेदार। मेरी प्याली पर नटराज नाच रहा है...।"

हिश्चू!

सिगरेट बुझ गया है मगर कमरे का अँधेरा अब उतना गाढ़ा नहीं है। कोई लगातार खाँस रहा है। मन होता है कि वह व्यक्ति लगातार खाँसता रहे जिसमें जल्दी से सुबह हो जाए। वह खाँसना बन्द कर देगा तो सुबह दूर चली जाएगी। मुझे ख़ामोशी अच्छी नहीं लगती और न मुझसे कदम गिने जाते हैं, न ही लैम्प-पोस्ट का मुँह देखा जाता है। लगता है सर्दी पहले से बढ़ गई है। मैं लैम्प-पोस्ट से हटकर टहलता हूँ। जैसे लैम्प-पोस्ट से लड़ाई हो। मैंने अब कितना चल लिया है? शायद

कई मील। कितने कदम का एक मील होता है? मास्टर हरबंसलाल फिर डंडा लेकर सामने हैं।

"इकतीस हज़ार...।"

"इकतीस हज़ार....।"

"छह-सौ...।"

"छह-सौ।"

"अस्सी फुट के..."

"अस्सी फुट के..."

"मील बनाओ।"

हम जैसे अथाह समुद्र में फेंक दिए गए हों। सवाल निकलने लगता है। स्लेट पर मास्टर हरबंसलाल का गंजा सिर और छोटी-छोटी आँखें बन जाती हैं। एक तरफ़ इकतीस हज़ार, दूसरी तरफ़ छह सौ और तीसरी तरफ़ अस्सी...।

सिर पर एक चपत पड़ती है।

"यह फुटों के मील बना रहा है? स्टैंड अप!"

खड़े हो जाते हैं। सिर झुका है।

"यह क्या बन रहा है?"

सिर झुका रहता है। मन में गुदगुदी उठती है। पर चेहरे पर आध्यात्मिक मौन है।

"चल वहाँ कोने में मुर्गा बन।"

चुपचाप कोने में जाकर मुर्गा बन जाते हैं। आशंका होती है कि पीछे से डंडे भी पड़ेंगे। मगर शायद स्लेट पर बनी आकृति मास्टर हरबंसलाल से पहचानी नहीं जाती। दो बार कान छोड़कर और सिर उठाकर देखते हैं। मास्टर हरबंसलाल के जूते चिर्र-मिर्र करते दूर चले जाते हैं। मुर्गा अपनी बोली बोल देता है।

एक कदम अगर डेढ़ फुट का हो, तो मील में कितने कदम हुए? सत्रह सौ साठ जरब तीन तकसीम...। इस समुद्र में गोता लगाने से अच्छा है कदम गिने जाएँ। लैम्पपोस्ट से लड़ाई है। कदम स्टेशन रोड पर बढ़ने लगते हैं। एक, दो, तीन, चार। स्टेशन पर शायद चाय भी मिल जाए। सर्दी की रात में चाय की एक गर्म प्याली से अच्छी कोई चीज़ नहीं। मतलब इस हाल में–।

स्टेशन अन्दर और बाहर से सुनसान है।

हाथ मलते हुए–शाब्दिक अर्थ में–वापस लौटते हैं।

दोनों तरफ़ छह-छह, आठ-आठ बसें पंक्तियों में खड़ी हैं। एक तरफ़ कश्मीर गवर्नमेंट ट्रांसपोर्ट और एन.डी. राधाकिशन की बसें हैं, दूसरी तरफ़ कुल्लू वैली ट्रांसपोर्ट और हिमाचल राज्य परिवहन की। उन पंक्तियों के बीच से गुज़रते हुए अनायास टाँगें तन जाती हैं...लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट...एक दो, लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट।

हज़ारीलाल ड्रिल मास्टर भौंहें चढ़ा रहा है।

''लाइन में चलो।''

लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट...।

''आगे के लड़के की गर्दन देखो।''

लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट...।

आगे के लड़के की गर्दन पर मैल जमी है।

''मास्टरजी, यह नहाकर नहीं आया।''

''डोंट टॉक!''

लेफ्ट-राइट...लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट...।

''मास्टरजी, यह पीछे से किक मारता है।''

''शट् अप!''

लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट...।

दूर से अड्डे पर आग दिखाई देती है। अड्डे पर आग कहाँ से आ गई? धुएँ से घिरी एक लपट उठ रही है। अभी यह लपट छोटी है। धीरे-धीरे फैलकर बड़ी हो जाएगी। फिर वह आसपास की हर चीज़ को घेर लेगी। दोनों छकड़ानुमा बसें जलकर राख हो जाएँगी। कमरे में बन्द अँधेरे के कोमल रोएँ जल उठेंगे।

मगर लपट छोटी हो जाती है। अड्डे पर एक अँगीठी जल रही है और धुआँ छोड़ रही है। आसपास चार-छह आकृतियाँ जमा हैं। काँपते प्रकाश में चेहरों की केवल रेखाएँ ही दिखाई देती हैं। एक स्त्री का ढीला-ढीला शरीर सरककर आग के बहुत निकट आ जाता है।

''चौधराइन, आज कुछ कमाई हुई?''

चौधराइन मुँह बिचका देती है।

''नूरजहाँ बेगम आजकल बात नहीं करती!''

नूरजहाँ बेगम कुछ न कहकर पिंडली खुजलाने लगती है।

''चाय पिएगी?''

नूरजहाँ बेगम फिर मुँह बिचका देती है।

''नूरजहाँ बेगम, उदास क्यों है? इसलिए कि तेरा बाप कोढ़ी मर गया है?''

नूरजहाँ बेगम चुपचाप आग तापती रहती है।

''आज सर्दी बहुत है।''

''नूरजहाँ बेगम को दुअन्नी दे और साथ ले जा।''

''क्यों नूरजहाँ?''

नूरजहाँ कुछ नहीं कहती।

''आज चौधराइन मस्ती में है।''

"अरे तुम चौधराइन को क्या समझते हो? किसी खानदान में पैदा होती, तो क्लब में डानस किया करती।"

"हा-हा-हा!"

"चौधराइन डानस करेगी?"

"हो-हो-हो!"

"यहीं कराओ इससे डानस।"

"अरे नहीं, बेचारी सर्दी में मर जाएगी।"

"यह आप अँगीठी है, यह क्या मरेगी!"

"चुप रह बदज़ात!" अँगीठी तमक उठती है।

"आज दिमाग़ तेज़ है।"

"नूरजहाँ बेगम, रात को क्या खाया है?"

"मुर्ग मुसल्लम।"

"हा-हा-हा!"

कदम आगे की तरफ़ बढ़ते हैं और लौट पड़ते हैं। फिर बढ़ते हैं और फिर लौट पड़ते हैं।

पिताजी अपनी घूमनेवाली कुर्सी पर बैठे हैं।

"अच्छे लड़के गन्दे लड़कों के साथ नहीं खेलते। समझे?"

"जी।"

"कल से घर के अन्दर खेला करो। मैं अब बाज़ार के लड़कों के साथ न देखूँ।"

"जी।"

"जाकर हाथ-मुँह धोओ और कपड़े बदलो।"

"जी।"

और मैं दूर टहलता रहता हूँ, हालाँकि हाथ-पैर ठिठुरे जाते हैं और दाँतों की किटकिटी बार-बार बज उठती है।

कमरे में कुछ हलचल महसूस हो रही है। शायद सुबह होनेवाली है। कम्बलों में लिपटे दो व्यक्ति कमरे से निकल आते हैं। उनकी केवल नाक और आँखें ही दिखाई देती हैं। अँगीठी के पास जाकर वे आँखें अधिकार-भाव से सामने चमकती आग को देखती हैं। अँगीठी के गिर्द बैठी आकृतियाँ थोड़ा-थोड़ा सरक जाती हैं।

"आ जाइए, बाबूजी!"

"बाबूजी, पाँच बजे की बस पर जाएँगे?"

"कितना सामान है, बाबूजी?"

"हट बे, बाबूजी को सेंकने दे।"

कम्बलों में लिपटे दोनों बाबू अँगीठी पर अधिकार जमा लेते हैं। शेष आकृतियाँ हटने लगती हैं। चौधराइन सरककर लैम्प-पोस्ट के नीचे चली जाती है। एक आदमी

सीटी बजाता हुआ बस के मडगार्ड पर जा बैठता है। केवल एक बुड्ढा कुली आग के पास रह जाता है। वह अँगीठी के इस तरह सटकर बैठा है जैसे अपने हाथों की झुलसी चमड़ी को जला लेना चाहता हो। कमरे से दो-तीन व्यक्ति और निकल आते हैं।

"आ जाओ बसन्तरामजी, यहाँ आग के पास आ जाओ।"

दोनों तीनों बसन्तराम आग के पास पहुँच जाते हैं। मैं कदमों की गिनती भूल चुका हूँ। लैम्प-पोस्ट ने चौधराइन से दोस्ती कर ली। वह उससे टेक लगाकर पिंडली खुजला रही है। बस के मडगार्ड पर बैठा व्यक्ति ऊँची आवाज़ में अपने दिल के हज़ार टुकड़ों की गाथा सुना रहा है। मैं टहलता हुआ अँगीठी के पास पहुँच जाता हूँ। इस बार अच्छे लड़के को डाँट नहीं पड़ती क्योंकि अँगीठी के पास सब बसन्तराम खड़े हैं।

"बहुत सर्दी है," एक काँपकर कहता है।

"बड़ी जबर-जुलम सर्दी है जी," बुड्ढा कुली आँखें उठाकर सबकी तरफ़ देखता है। उसकी आँखें इस बात पर उनसे दोस्ती करना चाहती हैं कि उन सबको बराबर की जबर-जुलम सर्दी लग रही है। मगर उनमें से कोई मास्टर हरबंसलाल बोल उठता है, "अरे जबर-जुलम क्या होता है? बोलना हो तो ठीक लफ्ज़ बोल—ज़ाबिर और ज़ालिम।"

बुड्ढा कुली हक्का-बक्का उसकी तरफ़ देखता रहता है।

ज़ाबिर और ज़ालिम!

ज़ेर और ज़बर!

"मास्टरजी, ज़ेर कहाँ लगती है?"

एक डंडा टखनों पर।

"यहाँ...और ज़बर यहाँ।"

और एक डंडा गर्दन पर।

जेर टखनों पर। जबर गर्दन पर।

कमरे से दो-तीन बसन्तराम और निकल आते हैं। आग के गिर्द ख़ासा जमघट हो गया है। बुड्ढे कुली की आँखें बीच-बीच में ऊपर उठती हैं, जैसे एवरेस्ट की चोटी तक पहुँचना चाहती हों मगर रास्ते में ही फिसल जाती हों। वह खाँसता है और अपने में सिकुड़ जाता है। उसके हाथ अँगीठी के कोयलों को ढक लेना चाहते हैं। अँगीठी बीच-बीच में चिनगारियाँ छोड़ देती है। कुछ कोयले अभी जले नहीं हैं। बुड्ढा कुली गर्म हाथ मुँह पर फेरता है।

"बाबा, सारी आग तो तूने रोक रखी है।"

"अब उठ जा, दूसरों को भी सेंकने दे।"

बाबा खाँसता है, याचना की दृष्टि से सबकी तरफ़ देखता है और थोड़ा सरक जाता है।

"बुड्ढे को जान बहुत प्यारी है।"

बुड्ढा आँखों से इसका अनुमोदन करना चाहता है, पर तब तक उसके और अँगीठी के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। वह एक दार्शनिकता की साँस छोड़कर उठ खड़ा होता है। उठकर हाथ बगलों में दबा लेता है, जैसे अपने आसपास की गर्मी को समेटकर साथ ले जाना चाहता हो।

अँगीठी चिनगारियाँ छोड़ रही है।

"क्यों भाई साहब, क्या ख़याल है, गवा हिन्दुस्तान को मिल जाएगा या नहीं?"

"गोआ हिन्दुस्तान का है साहब, और हिन्दुस्तान का ही रहेगा।"

"कहते हैं गवा बहुत ख़ूबसूरत जगह है?"

"जी हाँ, गोआ का लैंडस्केप—क्या कहने हैं!"

"यहाँ से गवा किस रास्ते से जाते हैं?"

"यहाँ से गोआ जाना हो तो पहले पूना, पूना से लौंडा, फिर वहाँ से गाड़ी में मार्मुगाव...मार्मुगाव नेचुरल हार्बर है। बहुत ख़ूबसूरत जगह है।"

"आप गवा गए हैं?"

"जी हाँ, मैं एक बार गोआ हो आया हूँ।"

"कहते हैं गवा में सभी कुछ बहुत सस्ता है!"

"माफ कीजिए भाई साहब, लफ्ज गवा नहीं गोआ है।"

"एक ही बात है जी, गवा हुआ या गोआ हुआ।"

"यह साहब, हिन्दुस्तानी मेंटेलिटी है।"

"जैसे आप हिन्दुस्तानी नहीं हैं।"

कोयले सुलग गए हैं। गर्मी शरीर में रच रही है। अब दाँतों की किटकिटी नहीं बजती। मडगार्ड पर बैठा कुली अपने दिल के टुकड़े बिखेरकर ख़ामोश हो गया है और इस तरह उकड़ू बैठा है जैसे सिर से पैर तक शरीर के हर अंग को छाती में समेट लेना चाहता हो। बुड्ढा कुली खाँसता हुआ फुटपाथ पर खड़ा है और इस तरह दाईं तरफ़ देख रहा है जैसे उधर से सुबह के आने का इन्तज़ार कर रहा हो। चौधराइन लैम्प-पोस्ट के पास अर्द्ध चन्द्राकार होकर लेट गई है और वह अर्द्धचन्द्र धीरे-धीरे छोटा होता जा रहा है।

अँगीठी के पास गोआ की समस्या को लेकर लड़ाई लड़ी जा रही है। एक भाई साहब चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर पुर्तगालियों को गोआ से निकाल देना चाहते हैं। दूसरे वाइन, विमेन एंड वाचिंग के बारे में सुनकर अन्तर्मुख हो गए हैं। मेरे शरीर में गर्म बुँदकियाँ भर रही हैं। मैं लैम्प-पोस्ट की तरफ़ देखता हूँ, जैसे कहना चाहता होऊँ—क्यों बे?

"हीरे!" बरामदे की तरफ़ से आवाज़ आती है।

मडगार्ड पर बैठा कुली चौंकता है और भागता हुआ बरामदे की तरफ़ चला जाता है। फिर वह नए सिरे से दिल के टुकड़े बिखेरता हुआ अँगीठी के पास आ जाता है।

"हट जाओ सा'ब।"

और इससे पहले कि साहब हटने की बात सोचें, वह दोनों कुंडों से अँगीठी को उठा लेता है।

"अब कहाँ ले जा रहा है?"

"मैनेजर साहब के कमरे में।"

अँगीठी के प्रकाश में उसके चेहरे पर एक लम्बी मुस्कुराहट प्रकट होती है। वह इस तरह टाँगें फैलाकर कन्धे हिलाता हुआ जाता है जैसे किसी मोर्चे में उसे फतह का सेहरा हासिल हुआ हो।

गोआ की लड़ाई बीच में ही रह गई है। चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर पुर्तगालियों को निकालनेवाले भाई साहब अपना कम्बल अच्छी तरह लपेटकर कमरे की तरफ़ चले गए हैं। गवा और गोआ का भेद करनेवाले साहब शिकायत कर रहे हैं कि मैनेजर को अँगीठी अपने कमरे में मँगवाने का कोई अधिकार नहीं है।

मैं बगलों में हाथ दबाए टहलने लगता हूँ। आग के पास से हटकर सर्दी और भी ज़ाबिर और ज़ालिम प्रतीत होती है। सारे शरीर के रोंगटे खड़े हैं और बार-बार सिर से पैर तक एक सिहरन दौड़ जाती है। अँगीठी के पास जितने लोग खड़े थे, वे न जाने किन कोनों में जा समाए हैं! मैं फुटपाथ तक जाकर लौटता हूँ। शरीर फिर काँप जाता है। लैम्प-पोस्ट मुस्कुरा रहा है। वह एकटक देखता जाता है। जैसे अब वह कहना चाहता हो—क्यों बे?

मिस पाल

वह दूर से दिखाई देती आकृति मिस पाल ही हो सकती थी।

फिर भी विश्वास करने के लिए मैंने अपना चश्मा ठीक किया। निःसन्देह, वह मिस पाल ही थी। यह तो ख़ैर मुझे पता था कि वह उन दिनों कुल्लू में ही कहीं रहती है, पर इस तरह अचानक उससे भेंट हो जाएगी, यह नहीं सोचा था। और उसे सामने देखकर भी मुझे विश्वास नहीं हुआ कि वह स्थाई रूप से कुल्लू और मनाली के बीच उस छोटे-से गाँव में रहती होगी। जब वह दिल्ली से नौकरी छोड़कर आई थी, तो लोगों ने उसके बारे में क्या-क्या नहीं सोचा था!

बस रायसन के डाकखाने के पास पहुँचकर रुक गई। मिस पाल डाकखाने के बाहर खड़ी पोस्टमास्टर से कुछ बात कर रही थी। हाथ में वह एक थैला लिये थी। बस के रुकने पर न जाने किस बात के लिए पोस्टमास्टर को धन्यवाद देती हुई वह बस की तरफ़ मुड़ी। तभी मैं उतरकर उसके सामने पहुँच गया। एक आदमी के अचानक सामने आ जाने से मिस पाल थोड़ा अचकचा गई, मगर मुझे पहचानते ही उसका चेहरा खुशी और उत्साह से खिल गया।

''रणजीत तुम?'' उसने कहा, ''तुम यहाँ कहाँ से टपक पड़े?''

''मैं इस बस से मनाली से आ रहा हूँ।'' मैंने कहा।

''अच्छा! मनाली तुम कब से आए हुए थे?''

''आठ-दस दिन हुए, आया था। आज वापस जा रहा हूँ।''

''आज ही जा रहे हो?'' मिस पाल के चेहरे से आधा उत्साह गायब हो गया, ''देखो, कितनी बुरी बात है कि आठ-दस दिन से तुम यहाँ हो और मुझसे मिलने की तुमने कोशिश भी नहीं की। तुम्हें यह तो पता ही था कि मैं आजकल कुल्लू में हूँ।''

''हाँ, यह तो पता था, पर यह नहीं पता था कि कुल्लू के किस हिस्से में हो। अब भी तुम अचानक ही दिखाई दे गईं, नहीं तो मुझे कहाँ से पता चलता कि तुम इस जंगल को आबाद कर रही हो?''

''सचमुच बहुत बुरी बात है,'' मिस पाल उलाहने के स्वर में बोली, ''तुम इतने दिनों से यहाँ हो और मुझसे तुम्हारी भेंट हुई आज जाने के वक़्त...।''

ड्राइवर ज़ोर-ज़ोर से हॉर्न बजाने लगा। मिस पाल ने कुछ चिढ़कर ड्राइवर की तरफ़ देखा और एकसाथ झिड़कने और क्षमा माँगने के स्वर में कहा, "बस जी एक मिनट। मैं भी इसी बस से कुल्लू चल रही हूँ। मुझे कुल्लू की एक सीट दे दीजिए। थैंक यू। थैंक यू वेरी मच!" और फिर मेरी तरफ़ मुड़कर बोली, "तुम इस बस से कहाँ तक जा रहे हो?"

"आज तो इस बस से जोगिन्दरनगर जाऊँगा। वहाँ एक दिन रहकर कल सुबह आगे की बस पकड़ूँगा।"

ड्राइवर अब और ज़ोर से हॉर्न बजाने लगा। मिस पाल ने एक बार क्रोध और बेबसी के साथ उसकी तरफ़ देखा और बस के दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती हुई बोली, "अच्छा, कुल्लू तक तो हम लोगों का साथ है ही, और बात कुल्लू पहुँचकर करेंगे। मैं तो कहती हूँ कि तुम दो-चार दिन यहीं रुको, फिर चले जाना।"

बस में पहले ही बहुत भीड़ थी। दो-तीन आदमी वहाँ से और चढ़ गए थे, जिससे अन्दर खड़े होने की जगह भी नहीं रही थी। मिस पाल दरवाज़े से अन्दर जाने लगी तो कंडक्टर ने हाथ बढ़ाकर उसे रोक दिया। मैंने कंडक्टर से बहुतेरा कहा कि अन्दर मेरे वाली जगह ख़ाली है, मिस साहब वहाँ बैठ जाएँगी और मैं भीड़ में किसी तरह खड़ा होकर चला जाऊँगा, मगर कंडक्टर एक बार जिद पर अड़ा तो अड़ा ही रहा कि और सवारी वह नहीं ले सकता। मैं अभी उससे बात कर ही रहा था कि ड्राइवर ने बस स्टार्ट कर दी। मेरा सामान बस में था, इसलिए मैं दौड़कर चलती बस में सवार हो गया। दरवाज़े से अन्दर जाते हुए मैंने एक बार मुड़कर मिस पाल की तरफ़ देख लिया। वह इस तरह अचकचाई-सी खड़ी थी जैसे कोई उसके हाथ से उसका सामान छीनकर भाग गया हो और उसे समझ न आ रहा हो कि उसे अब क्या करना चाहिए।

बस हल्के-हल्के मोड़ काटती कुल्लू की तरफ़ बढ़ने लगी। मुझे अफसोस होने लगा कि मिस पाल को बस में जगह नहीं मिली तो मैंने ही क्यों न अपना सामान वहाँ उतरवा लिया। मेरा टिकट जोगिन्दरनगर का था, पर यह ज़रूरी नहीं था कि उस टिकट से जोगिन्दरनगर तक जाऊँ ही। मगर मिस पाल से भेंट कुछ ऐसे आकस्मिक ढंग से हुई थी और निश्चय करने के लिए समय इतना कम था कि मैं यह बात उस समय सोच भी नहीं सका था। थोड़ा-सा भी समय और मिलता, तो मैं ज़रूर कुछ देर के लिए वहाँ उतर जाता। उतने समय में तो मैं मिस पाल से कुशल-समाचार भी नहीं पूछ सका था, हालाँकि मन में उसके सम्बन्ध में कितना कुछ जानने की उत्सुकता थी। उसके दिल्ली छोड़ने के बाद लोग उसके बारे में जाने क्या-क्या बातें करते रहे थे। किसी का ख़याल था कि उसने कुल्लू में एक रिटायर्ड अंग्रेज़ मेजर से शादी कर ली है और मेजर ने अपने सेब के बगीचे उसके नाम कर दिए हैं। किसी की सूचना

थी कि उसे वहाँ सरकार की तरफ़ से वजीफा मिल रहा है और वह करती वरती कुछ नहीं, बस घूमती और हवा खाती है। कुछ ऐसे लोग भी थे जिनका कहना था कि मिस पाल का दिमाग़ ख़राब हो गया है और सरकार उसे इलाज के लिए अमृतसर पागलखाने में भेज रही है। मिस पाल एक दिन अचानक अपनी लगी हुई पाँच सौ की नौकरी छोड़कर चली आई थी, इससे लोगों में उसके बारे में तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित थीं।

जिन दिनों मिस पाल ने त्यागपत्र दिया, मैं दिल्ली में नहीं था। लम्बी छुट्टी लेकर बाहर गया था। मगर मिस पाल के नौकरी छोड़ने का कारण मैं काफ़ी हद तक जानता था। वह सूचना विभाग में हम लोगों के साथ काम करती थी और राजेन्द्रनगर में हमारे घर से दस-बारह घर छोड़कर रहती थी। दिल्ली में भी उसका जीवन काफ़ी अकेला था, क्योंकि दफ़्तर के ज़्यादातर लोगों से उसका मनमुटाव था और बाहर के लोगों से वह मिलती बहुत कम थी। दफ़्तर का वातावरण उसे अपने अनुकूल नहीं लगता था। वह वहाँ एक-एक दिन जैसे गिनकर काटती थी। उसे हरएक से शिकायत थी कि वह घटिया क़िस्म का आदमी है, जिसके साथ उसका उठना-बैठना नहीं हो सकता।

"ये लोग इतने ओछे और बेईमान हैं।" वह कहा करती, "इतनी छोटी और कमीनी बातें करते हैं कि मेरा इनके बीच काम करते हर वक़्त दम घुटता रहता है। जाने क्यों ये लोग इतनी छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से लड़ते हैं और अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए एक-दूसरे को कुचलने की कोशिश करते रहते हैं!"

मगर उस वातावरण में उसके दुखी रहने का मुख्य कारण दूसरा था, जिसे वह मुँह से स्वीकार नहीं करती थी। लोग इस बात को जानते थे, इसलिए जान-बूझकर उसे छेड़ने के लिए कुछ-न-कुछ कहते रहते थे। बुखारिया तो रोज़ ही उसके रंग-रूप पर कोई-न-कोई टिप्पणी कर देता था।

"क्या बात है मिस पाल, आज रंग बहुत निखर रहा है!"

दूसरी तरफ़ से जोरावरसिंह बात जोड़ देता, "आजकल मिस पाल पहले से स्लिम भी तो हो रही हैं।"

मिस पाल इन संकेतों से बुरी तरह परेशान हो उठती और कई बार ऐसे मौक़े पर कमरे से उठकर चली जाती। उसकी पोशाक पर भी लोग तरह-तरह की टिप्पणियाँ करते रहते थे। वह शायद अपने मुटापे की क्षतिपूर्ति के लिए ही बाल छोटे कटवाती थी, बग़ैर बाँह की कमीज़ें पहनती थी और बनावसिंगार से चिढ़ होने पर भी रोज़ काफ़ी समय मेक-अप पर ख़र्च करती थी। मगर दफ़्तर में दाखिल होते ही उसे किसी-न-किसी के मुँह से ऐसी बात सुनने को मिल जाती थी, "मिस पाल, इस नई कमीज़ का डिज़ाइन बहुत अच्छा है। आज तो गज़ब ढा रही हो तुम!"

मिस पाल को इस तरह की हर बात दिल में चुभ जाती थी। जितनी देर दफ़्तर में रहती, उसका चेहरा गम्भीर बना रहता। जब पाँच बजते, तो वह इस तरह अपनी मेज़ से उठती जैसे कई घंटे की सजा भोगने के बाद उसे छुट्टी मिली हो। दफ़्तर से उठकर वह सीधी अपने घर चली जाती और अगले दिन सुबह दफ़्तर के लिए निकलने तक वहीं रहती। शायद दफ़्तर के लोगों से तंग आ जाने की वजह से ही वह और लोगों से भी मेलजोल नहीं रखना चाहती थी। मेरा घर पास होने की वजह से, या शायद इसलिए कि दफ़्तर के लोगों में एक मैं ही था जिसने उसे कभी शिकायत का मौका नहीं दिया था, वह कभी शाम को हमारे यहाँ चली आती थी। मैं अपनी बूआ के पास रहता था और मिस पाल मेरी बूआ और उनकी लड़कियों से काफ़ी घुल-मिल गई थी। कई बार घर के कामों में वह उनका हाथ भी बँटा देती थी। किसी दिन हम उसके यहाँ चले जाते थे। वह घर में समय बिताने के लिए संगीत और चित्रकला का अभ्यास करती थी। हम लोग पहुँचते तो उसके कमरे से सितार की आवाज़ आ रही होती या वह रंग और कूचियाँ लिये किसी तस्वीर में उलझी होती। मगर जब वह इन दोनों में से कोई भी काम न कर रही होती तो अपने तख्त पर बिछे मुलायम गद्दे पर दो तकियों के बीच लेटी छत को ताक रही होती। उसके गद्दे पर जो झीना रेशमी कपड़ा बिछा रहता था, उसे देखकर मुझे बहुत चिढ़ होती थी। मन करता था कि उसे खींचकर बाहर फेंक दूँ। उसके कमरे में सितार, तबला, रंग, कैनवस, तस्वीरें, कपड़े तथा नहाने और चाय बनाने का सामान इस तरह उलझे-बिखरे रहते थे कि बैठने के लिए कुरसियों का उद्धार करना एक समस्या हो जाती थी। कभी मुझे उसके झीने रेशमी कपड़ेवाले तख्त पर बैठना पड़ जाता तो मुझे मन में बहुत ही परेशानी होती। मन करता कि जितनी जल्दी हो वहाँ से उठ जाऊँ। मिस पाल अपने कमरे के चारों तरफ़ खोजकर जाने कहाँ से एक चायदानी और तीन-चार टूटी प्यालियाँ निकाल लेती और हम लोगों को 'फर्स्ट क्लास बोहीमियन कॉफी' पिलाने की तैयारी करने लगती। कभी वह हम लोगों को अपनी बनाई तस्वीरें दिखाती और हम तीनों—मैं और मेरी दोनों बहनें—अपना अज्ञान छिपाने के लिए उनकी प्रशंसा कर देते। मगर कई बार वह हमें बहुत उदास मिलती और ठीक ढंग से बात भी न करती। मेरी बहनें ऐसे मौक़े पर उससे चिढ़ जातीं और कहतीं कि वे उसके यहाँ फिर नहीं जाएँगी। मगर मुझे ऐसे अवसर पर मिस पाल से ज़्यादा सहानुभूति होती।

आख़िरी बार जब मैं मिस पाल के यहाँ गया, मैंने उसे बहुत ही उदास देखा था। मेरा उन दिनों एपेंडेसाइटिस का ऑपरेशन हुआ था और मैं कई दिन अस्पताल में रहकर आया था। मिस पाल उन दिनों रोज़ अस्पताल में खबर पूछने आती रही थी। बूआ अस्पताल में मेरे पास रहती थी पर खाने-पीने का सामान इकट्ठा करना उनके लिए मुश्किल था। मिस पाल सुबह-सुबह आकर सब्ज़ियाँ और दूध दे जाती थी। जिस

दिन मैं उसके यहाँ गया, उससे एक ही दिन पहले मुझे अस्पताल से छुट्टी मिली थी और मैं अभी काफ़ी कमज़ोर था। फिर भी उसने मेरे लिए जो तकलीफ़ उठाई थी, उसके लिए मैं उसे धन्यवाद देना चाहता था।

मिस पास ने दफ़्तर से छुट्टी ले रखी थी और कमरा बन्द किए अपने गद्दे पर लेटी थी। मुझे पता लगा कि शायद वह सुबह से नहाई भी नहीं है।

''क्या बात है, मिस पाल? तबियत तो ठीक है?'' मैंने पूछा।

''तबीयत ठीक है,'' उसने कहा, ''मगर मैं नौकरी छोड़ने की सोच रही हूँ।''

''क्यों? कोई ख़ास बात हुई है क्या?''

''नहीं, ख़ास बात क्या होगी? बात बस इतनी ही है मैं ऐसे लोगों के बीच काम कर ही नहीं सकती। मैं सोच रही हूँ कि दूर के किसी ख़ूबसूरत-से पहाड़ी इलाके में चली जाऊँ और वहाँ रहकर संगीत और चित्रकला का ठीक से अभ्यास करूँ। मुझे लगता है, मैं ख़ामख़ाह यहाँ अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर रही हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि इस तरह की ज़िन्दगी जीने का आखिर मतलब ही क्या है? सुबह उठती हूँ, दफ़्तर चली जाती हूँ। वहाँ सात-आठ घंटे ख़राब करके घर आती हूँ, खाना खाती हूँ और सो जाती हूँ। यह सारा-का-सारा सिलसिला मुझे बिलकुल बेमानी लगता है। मैं सोचती हूँ कि मेरी ज़रूरतें ही कितनी हैं? मैं कहीं भी जाकर एक छोटा-सा कमरा या शैक लूँ तो थोड़ा-सा ज़रूरत का सामान अपने पास रखकर पचास-साठ या सौ रुपए में गुज़ारा कर सकती हूँ। यहाँ मैं जो पाँच सौ लेती हूँ, वे पाँच-के-पाँच सौ हर महीने ख़र्च हो जाते हैं। किस तरह ख़र्च हो जाते हैं, यह खुद मेरी समझ में नहीं आता। पर अगर ज़िन्दगी इसी तरह चलती है, तो क्यों मैं ख़ामख़ाह दफ़्तर जाने-आने का भार ढोती रहूँ? बाहर रहने में कम-से-कम अपनी स्वतन्त्रता तो होगी। मेरे पास कुछ रुपए पहले के हैं, कुछ मुझे प्राविडेंट फंड के मिल जाएँगे। इतने में एक छोटी-सी जगह पर मेरा काफ़ी दिन गुज़ारा हो सकता है। मैं ऐसी जगह रहना चाहती हूँ जहाँ यहाँ की ही गन्दगी न हो और लोग इस तरह की छोटी हरकतें न करते हों। ठीक से जीने के लिए इंसान को कम-से-कम इतना तो महसूस होना चाहिए कि उसके आसपास का वातावरण उजला और साफ़ है, और वह एक मेंढक की तरह गँदले पानी में नहीं जी रहा।''

''मगर तुम यह कैसे कह सकती हो कि जहाँ भी तुम जाकर रहोगी, वहाँ हर चीज़ वैसी ही होगी जैसी तुम चाहती हो? मैं तो समझता हूँ कि इंसान जहाँ भी चला जाए, अच्छी और बुरी दोनों तरह की चीज़ें उसे अपने आसपास मिलेंगी ही। तुम यहाँ के वातावरण से घबराकर कहीं और जाती हो, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वहाँ का वातावरण भी तुम्हें ऐसा ही नहीं लगेगा? इसलिए मेरे ख़याल से नौकरी छोड़ने की बात तुम गलत सोचती हो। तुम यहीं रहो और अपना संगीत और चित्रकला का अभ्यास करती रहो। लोग जैसी बातें करते हैं, करने दो।''

पर मिस पाल की वितृष्णा इससे कम नहीं हुई। "तुम नहीं समझते, रणजीत," वह बोली, "यहाँ ऐसे लोगों के बीच और रहूँगी, तो मेरा दिमाग़ बिलकुल खोखला हो जाएगा। तुम नहीं जानते कि मैं जो तुम्हारे लिए सुबह दूध और सब्ज़ियाँ लेकर जाती रही हूँ, उसे लेकर भी ये लोग क्या-क्या बातें करते रहे हैं। जो लोग अच्छे-से-अच्छे काम का ऐसा कमीना मतलब लेते हों उनके बीच आदमी रह ही कैसे सकता है? मैंने यह सब बहुत दिन सह लिया है, अब और मुझसे नहीं सहा जाता। मैं सोच रही हूँ जितनी जल्दी हो सके यहाँ से चली जाऊँ। बस यही एक बात तय नहीं कर पा रही कि जाऊँ कहाँ। अकेली होने से किसी अनजान जगह जाकर रहते डर लगता है। तुम जानते ही हो कि मैं...।" और बात बीच में छोड़कर वह उठ खड़ी हुई, "अच्छा, तुम्हारे लिए कुछ चाय-वाय तो बनाऊँ। तुम अभी अस्पताल से निकलकर आए हो और मैं हूँ कि अपनी ही बात किए जा रही हूँ। तुम्हें अभी कुछ दिन घर पर आराम करना चाहिए। अभी से इस तरह चलना-फिरना ठीक नहीं।"

"मैं चाय नहीं पिऊँगा," मैंने कहा, "मैं तुम्हें कुछ समझा तो नहीं सकता, सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि तुम लोगों की बातों को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व दे रही हो। मेरा यह भी ख़याल है कि लोग वास्तव में उतने बुरे नहीं हैं जितना कि तुम उन्हें समझती हो। अगर तुम इस नज़र से सोचो कि...।"

"इस बात को रहने दो", मिस पाल ने मेरी बात बीच में काट दी, "मैं इन लोगों से दिल से नफरत करती हूँ। तुम इन्हें इंसान समझते हो? मुझे तो ऐसे लोगों से अपना पिंकी ज़्यादा अच्छा लगता है। यह उन सबसे कहीं ज़्यादा सभ्य है।"

पिंकी मिस पाल का छोटा-सा कुत्ता था। वह कुछ देर उसे गोदी में लिये उसके बालों पर हाथ फेरती रही। मैंने पहले भी कई बार देखा था कि वह उस कुत्ते को एक बच्चे की तरह प्यार करती है और उसे खाना खिलाकर बच्चों की तरह ही तौलिए से उसका मुँह पोछती है। मैं कुछ देर बाद वहाँ से उठकर चला, तो मिस पाल पिंकी को गोदी में लिये मुझे बाहर दरवाज़े तक छोड़ने आई।

"अंकल को टा टा करो", वह पिंकी की एक अगली टाँग हाथ से हिलाती हुई बोली, "टा टा, टा टा!"

मैं लम्बी छुट्टी से वापस आया, तो मिस पाल त्यागपत्र देकर जा चुकी थी। वह अपने बारे में लोगों को इतना ही बताकर गई थी कि वह कुल्लू के किसी गाँव में बसने जा रही है। बाक़ी बातें लोगों की कल्पना ने अपने-आप जोड़ दी थीं।

बस ब्यास के साथ-साथ मोड़ काट रही थी और मेरा मन हो रहा था कि लौटकर रायसन चला जाऊँ। मैं मनाली में दस दिन अकेला रहकर ऊब गया था, और मिस पाल थी कि कई महीनों से वहाँ रहती थी। मैं जानना चाहता था कि वह अकेली वहाँ कैसा महसूस करती है और नौकरी छोड़ने के बाद से उसने क्या-क्या कुछ कर डाला

है। यूँ एक अपरिचित स्थान पर किसी पुराने परिचित से मिलने और बात करने का भी अपना आकर्षण होता है। बस जब कुल्लू पहुँचकर रुकी, तो मैंने अपना सामान वहाँ उतरवाकर हिमाचल राज्य परिवहन के दफ़्तर में रखवा दिया और रायसन के लिए वापसी की पहली बस पकड़ ली। बस ने पन्द्रह-बीस मिनट में मुझे रायसन के बाज़ार में उतार दिया। मैंने वहाँ एक दुकानदार से पूछा कि मिस पाल कहाँ रहती हैं।

"मिस पाल कौन है, भाई?" दुकानदार ने अपने पास बैठे युवक से पूछा।

"वह तो नहीं, वह कटे बालोंवाली मिस?"

"हाँ-हाँ, वही होगी।"

दुकान में और भी चार-पाँच व्यक्ति थे। उन सबकी आँखें मेरी तरफ़ घूम गईं। मुझे लगा जैसे वे मन में यह तय करना चाह रहे हों कि कटे बालोंवाली मिस के साथ मेरा क्या रिश्ता होगा।

"चलिए, मैं आपको उसके यहाँ छोड़ आता हूँ", कहकर युवक दुकान से उतर आया। सड़क पर मेरे साथ चलते हुए उसने पूछा, "क्यों भाई साहब, यह मिस क्या अकेली ही है या...?"

"हाँ अकेली ही है।"

कुछ देर हम लोग चुप रहकर चलते रहे। फिर उसने पूछा, "आप उसके क्या लगते हैं?"

मुझे समझ नहीं आया कि मैं उसको क्या उत्तर दूँ। पल-भर सोचकर मैंने कहा, "मैं उसका रिश्तेदार नहीं हूँ। उसे वैसे ही जानता हूँ।"

सड़क से बाईं तरफ़ थोड़ा ऊपर को जाकर हम लोग एक खुले मैदान में पहुँच गए। मैदान चारों तरफ़ से पेड़ों से घिरा था और बीच में पाँच-छह जालीदार कॉटेज बने थे, जो बड़े-बड़े मुर्गी-खानों जैसे लगते थे। लड़का मुझे बताकर कि उनमें पहला कॉटेज मिस पाल का है, वहाँ से लौट गया। मैंने जाकर कॉटेज का दरवाज़ा खटखटाया।

"कौन है?" अन्दर से मिल पाल की आवाज़ सुनाई दी।

"एक मेहमान है मिस, दरवाज़ा खोलो।"

"दरवाज़ा खुला है, आ जाइए।"

मैंने दरवाज़ा धकेलकर खोल लिया और अन्दर चला गया। मिस पाल ने एक चारपाई पर अपना गद्दा लगा रखा था और उसी तरह दो तकियों के बीच लेटी थी जैसे दिल्ली में अपने तख्त पर लेटी रहती थी। सिरहाने के पास एक खुली हुई पुस्तक रखी थी—बर्ट्रेंड रसेल की 'कांक्वेस्ट ऑफ हेपीनेस'। मैं देखकर तय नहीं कर सका कि वह पुस्तक पढ़ रही थी या लेटी हुई सिर्फ़ छत की तरफ़ देख रही थी। मुझे देखते ही वह चौंककर बैठ गई।

''अरे तुम...?''

''हाँ, मैं। तुमने सोचा भी नहीं होगा कि गया आदमी फिर वापस भी आ सकता है।''

''बहुत अजीब आदमी हो तुम! वापस आना था, तो उसी समय क्यों नहीं उतर गए!''

''बजाय इसके कि शुक्रिया अदा करो जो सात मील जाकर वापस चला आया हूँ...।''

''शुक्रिया अदा करती अगर तुम उसी समय उतर जाते और मुझे बस में अपनी सीट ले लेने देते।''

मैंने ठहाका लगाया और बैठने के लिए जगह ढूँढ़ने लगा। वहाँ भी चारों तरफ़ वही बिखराव और अव्यवस्था थी जो दिल्ली में उसके घर दिखाई दिया करती थी। हर चीज़ हर दूसरी चीज़ की जगह काम में लाई जा रही थी। एक कुरसी ऊपर से नीचे तक मैले कपड़ों से लदी थी। दूसरी पर कुछ रंग बिखरे थे और एक प्लेट रखी थी जिसमें बहुत-सी कीलें पड़ी थीं।

''बैठो, मैं झट से तुम्हारे लिए चाय बनाती हूँ,'' मिस पाल व्यस्त होकर उठने लगी।

''अभी मुझसे बैठने को तो कहा नहीं, और चाय की फ़िक्र पहले से करने लगीं?'' मैंने कहा, ''मुझे बैठने की जगह बता दो और चाय-वाय रहने दो। इस वक़्त तुम्हारी 'बोहीमियन चाय' पीने का ज़रा मन नहीं है।''

''तो मत पियो। मुझे कौन झंझट करना अच्छा लगता है! बैठने की जगह मैं अभी बनाए देती हूँ।'' और कपड़े-अपड़े हटाकर उसने एक कुरसी ख़ाली कर दी। बाईं तरफ़ एक बड़ी-सी मेज़ थी, पर उस पर भी इतनी चीज़ें पड़ी थीं कि कहीं कुहनी रखने तक की जगह नहीं थी। मैंने बैठकर टाँगें फैलाने की कोशिश की तो पता चला कपड़ों के ढेर के नीचे मिस पाल ने अपने बनाए खाके रख रखे हैं। मिस पाल फिर से अपने बिस्तर में तकियों के सहारे बैठ गई थी। गद्दे पर उसने वही झीना रेशमी कपड़ा बिछा रखा था, जिसे देखकर मुझे चिढ़ हुआ करती थी। मेरा उस समय भी मन हुआ कि उस कपड़े को निकालकर फाड़ दूँ या कहीं आग में झोंक दूँ। मैंने सिगरेट सुलगाने के लिए मेज़ से दियासलाई की डिबिया उठाई मगर खोलते ही वापस रख दी। डिबिया में दियासलाइयाँ नहीं थीं, गुलाबी-सा रंग भरा था। मैंने चारों तरफ़ नज़र दौड़ाई, मगर और डिबिया कहीं दिखाई नहीं दी।

''दियासलाई किचन में होगी, मैं अभी लाती हूँ'', कहती हुई मिस पाल फिर उठी और कमरे से चली गई। मैं उतनी देर आसपास देखता रहा। मुझे फिर उस दिन की याद हो आई जिस दिन मैं मिस पाल के घर देर तक बैठा उससे बातें करता रहा था। पिंकी से मिस पाल के 'टा टा' कराने की बात याद आने से मैं हँस दिया।

तभी मिस पाल दियासलाई की डिबिया लिये आ गई। मेरा अकेले में हँसना शायद उसे बहुत अस्वाभाविक लगा। वह सहसा गम्भीर हो गई।

"किसी ने कुछ पिला-विला दिया है क्या?" उसने मज़ाक और शिकायत के स्वर में कहा।

"मैं अपने इस तरह लौटकर आने की बात पर हँस रहा हूँ।" और जैसे अपने को ही अपने झूठ का विश्वास दिलाने के लिए मैंने अपनी हँसी की नकल की और कहा, "मैं सोच भी नहीं सकता था कि इस अनजान जगह पर अचानक तुमसे भेंट हो जाएगी? और तुम्हीं ने कहाँ सोचा होगा कि जो आदमी बस में आगे चला गया था, वह घंटा-भर बाद तुम्हारे कमरे में बैठा तुमसे बात कर रहा होगा!"

और विश्वास करके कि मैंने अपने हँसने के कारण की व्याख्या कर दी है, मैंने पूछा, "तुम्हारा पिंकी कहाँ है? यहाँ दिखाई नहीं दे रहा।"

मिस पाल पहले से भी गम्भीर हो गई। मुझे लगा कि उसका चेहरा अब काफ़ी रूखा लगने लगा है। आँखों में लाली भर रही थी, जैसे कई रातों से वह ठीक से सोई न हो।

"पिंकी को यहाँ आने के बाद एक रात सरदी लग गई थी", उसने अपनी उसाँस दबाकर कहा, "मैंने उसे कितनी ही गरम चीज़ें खिलाईं, पर वह दो दिन में चलता बना।"

मैंने विषय बदल दिया। उससे शिकायत करने लगा कि वह जो अपने बारे में बिना किसी को ठीक बताए दिल्ली से चली आई, यह उसने ठीक नहीं किया।

"दफ़्तर में अब भी लोग मिस पाल की बात करके हँसते होंगे!" उसने ऐसे पूछा जैसे वह स्वयं उस मिस पाल से भिन्न हो, जिसके बारे में वह सवाल पूछ रही थी। पर उसकी आँखों में यह जानने की बहुत उत्सुकता भर रही थी कि मैं उसके सवाल का क्या जवाब देता हूँ।

"लोगों की बातों को तुम इतना महत्त्व क्यों देती हो?" मैंने कहा। "लोग वैसी बातें इसलिए करते हैं कि उनके जीवन में मनोरंजन के दूसरे साधन बहुत कम होते हैं। जब वह व्यक्ति चला जाता है, तो चार दिन में यह भूल जाते हैं कि संसार में उसका अस्तित्व था भी या नहीं।"

कहते-कहते मुझे एहसास हो आया कि मैंने यह कहकर ग़लती की है। मिस पाल मुझसे यही सुनना चाहती थी कि लोग अब भी उसके बारे में उसी तरह बात करते हैं और उसी तरह उसका मज़ाक उड़ाते हैं—यह विश्वास उसके लिए अपने वर्तमान को सार्थक समझने के लिए ज़रूरी था।

"हो सकता है तुम्हारे सामने बात न करते हों", मिस पाल बोली, "क्योंकि उन्हें पता है कि हम लोग...अम्...अ...मित्र रहे हैं। नहीं तो वे कमीने लोग बात करने से बाज़ आ सकते हैं?"

अच्छा था कि मिस पाल ने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया। उसने समझा कि मैं झूठमूठ उसे दिलासा देने की कोशिश कर रहा हूँ।

"हो सकता है बात करते भी हों", मैंने कहा, "पर तुम अब उन लोगों की बात क्यों सोचती हो? कम-से-कम तुम्हारे लिए तो उन लोगों का अब अस्तित्व ही नहीं है।"

"मेरे लिए उन लोगों का अस्तित्व कभी था ही नहीं", मिस पाल ने मुँह बिचका दिया, "मैं उनमें से किसी को अपने पैर के अँगूठे के बराबर भी नहीं समझती थी।"

आँखों से लग रहा था जैसे अब भी उन लोगों को अपने पास देख रही हो और उसे खेद हो कि वह ठीक से उनसे प्रतिशोध क्यों नहीं ले पा रही।

"तुम्हें पता है कि रमेश का फिर लखनऊ ट्रांसफर हो गया है?" मैंने बात बदल दी।

"अच्छा, मुझे पता नहीं था!"

पर उसने उस सम्बन्ध में और जानने की उत्सुकता प्रकट नहीं की। मैं फिर भी उसे रमेश के ट्रांसफर का क़िस्सा विस्तार से सुनाने लगा। मिस पाल 'हूँ-हाँ' करती रही। पर यह साफ़ था कि वह अपने अन्दर ही कहीं खो गई है।

मैं रमेश की बात कह चुका, तो कुछ क्षण हम दोनों चुप रहे। फिर मिस पाल बोली, "देखो, मैं तुमसे सच कहती हूँ रणजीत, मुझे वहाँ उन लोगों के बीच एक-एक पल काटना असम्भव लगता था। मुझे लगता था, मैं नरक में रहती हूँ। तुम्हें पता ही है, मैं दफ़्तर में किसी से बात करना भी पसन्द नहीं करती थी।"

मैं सुबह मनाली से बिना नाश्ता किए चला था, इसलिए मुझे भूख लग आई थी। मैंने बात को रोटी के प्रकरण पर ले आना उचित समझा। मैंने उससे पूछा कि उसने खाने की क्या व्यवस्था कर रखी है—खुद बनाती है, या कोई नौकर रख रखा है।

"तुम्हें भूख तो नहीं लगी?" मिस पाल अब दफ़्तर के माहौल से बाहर निकल आई, "लगी हो, तो उधर मेरे साथ किचन में चलो। जो कुछ बना है, इस वक़्त तो तुम्हें उसी में से थोड़ा-बहुत खा लेना होगा। शाम को मैं तुम्हें ठीक से बनाकर खिलाऊँगी। मुझे तुम्हारे आने का पता होता, तो मैं इस वक़्त भी कुछ और चीज़ बना रखती। यहाँ बाज़ार में तो कुछ मिलता ही नहीं। किसी दिन अच्छी सब्ज़ी मिल जाए, तो समझो बड़े भाग्य का दिन है। कोई दिन होता है जिस दिन एकाध अंडा मिल जाता है।...शाम को मैं तुम्हारे लिए मछली बनाऊँगी। यहाँ की ट्राउट बहुत अच्छी होती है। मगर मिलती बहुत मुश्किल से है।"

मुझे खुशी हुई कि मैंने सफलतापूर्वक बात का विषय बदल दिया है। मिस पाल बिस्तर से उठकर खड़ी हो गई थी। मैंने भी कुर्सी से उठते हुए कहा, "आओ, चलकर

तुम्हारा रसोईघर तो देख लूँ। इस समय मुझे कसकर भूख लगी है, इसलिए जो कुछ भी बना है वह मुझे ट्राउट से अच्छा लगेगा। शाम को मैं जोगिन्दरनगर पहुँच जाऊँगा।''

मिस पाल दरवाज़े के बाहर निकलती हुई सहसा रुक गई।

''तुम्हें शाम को जोगिन्दरनगर ही पहुँचना है तो लौटकर क्यों आए थे? यह बात तुम गाँठ में बाँध लो कि आज मैं तुम्हें यहाँ से नहीं जाने दूँगी। तुम्हें पता है इन तीन महीनों में तुम मेरे यहाँ पहले ही मेहमान आए हो? मैं तुम्हें आज कैसे जाने दे सकती हूँ?...तुम्हारे साथ कुछ सामान-आमान भी है या ऐसे ही चले आए थे?''

मैंने उसे बताया कि मैं अपना सामान हिमाचल राज्य परिवहन के दफ़्तर में छोड़ आया हूँ और उससे कह आया हूँ कि दो घंटे में मैं लौट आऊँगा।

''मैं अभी पोस्टमास्टर से वहाँ टेलीफ़ोन करा दूँगी। कल तक तुम्हारा सामान यहाँ ले आएँगे। तुम कम-से-कम एक सप्ताह यहाँ रहोगे। समझे? मुझे पता होता कि तुम मनाली में आए हुए हो तो मैं भी कुछ दिन के लिए वहाँ चली आती। आजकल तो मैं यहाँ...ख़ैर...तुम पहले उधर तो आओ, नहीं भूख के मारे ही यहाँ से भाग जाओगे।''

मैं इस नई स्थिति के लिए तैयार नहीं था। उस सम्बन्ध में बाद में बात करने की सोचकर मैं उसके साथ रसोईघर में चला गया। रसोईघर में कमरे जितनी अराजकता नहीं थी, शायद इसलिए कि वहाँ सामान ही बहुत कम था। एक कपड़े की आरामकुर्सी थी, जो लगभग ख़ाली ही थी। उस पर सिर्फ़ नमक का एक डब्बा रखा हुआ था। शायद मिस पाल उस पर बैठकर खाना बनाती थी। खाना बनाने का और सारा सामान एक टूटी हुई मेज़ पर रखा था। कुर्सी पर रखा हुआ डब्बा उसने जल्दी से उठाकर मेज़ पर रख दिया और इस तरह मेरे बैठने के लिए जगह कर दी।

फिर मिस पाल ने जल्दी-जल्दी स्टोव जलाया और सब्ज़ी की पतीली उस पर रख दी। कलछी साफ़ नहीं थी, वह उसे साफ़ करने के लिए बाहर चली गई। लौटकर उसे कलछी को पोंछने के लिए कोई कपड़ा नहीं मिला। उसने अपनी कमीज़ से ही उसे पोंछ लिया और सब्ज़ी को हिलाने लगी।

''दो आदमियों का खाना है भी या दोनों को ही भूखे रहना पड़ेगा?'' मैंने पूछा।

''खाना बहुत है'', मिस पाल झुककर पतीली में देखती हुई बोली।

''क्या-क्या है?''

मिस पाल कलछी से पतीली में टटोलकर देखने लगी।

''बहुत कुछ है। आलू भी हैं, बैंगन भी हैं और शायद...शायद बीच में एकाध टींडा भी है। यह सब्ज़ी मैंने परसों बनाई थी।''

''परसों?'' मैं ऐसे चौंक गया जैसे मेरा माथा सहसा किसी चीज़ से टकरा गया हो। मिस पाल कलछी चलाती रही।

"हर रोज़ तो नहीं बना पाती हूँ", वह बोली। रोज़ बनाने लगूँ तो बस खाना बनाने की ही हो रहूँ। और अमू...अ...अपने अकेली के लिए रोज़ बनाने का उत्साह भी तो नहीं होता। कई बार तो मैं सप्ताह-भर का खाना एकसाथ बना लेती हूँ और फिर निश्चित होकर खाती रहती हूँ। कहो तो तुम्हारे लिए मैं अभी ताज़ा बना दूँ।"

"तो चपातियाँ भी क्या परसों की ही बना रखी हैं?" मैं अनायास कुर्सी से उठ खड़ा हुआ।

"आओ, इधर आकर देख लो, खा सकोगे या नहीं।" वह कोने में रखे हुए बेंत के सन्दूक के पास चली गई। मैं भी उसके पास पहुँच गया। मिस पाल ने सन्दूक का ढकना उठा दिया। सन्दूक में पच्चीस-तीस खुश्क चपातियाँ पड़ी थीं। सूखकर उन सबने कई तरह की आकृतियाँ धारण कर ली थीं। मैं सन्दूक के पास से आकर फिर कुर्सी पर बैठ गया।

"तुम्हारे लिए ताज़ा चपातियाँ बना देती हूँ।" मिस पाल एक अपराधी की तरह देखती हुई बोली।

"नहीं-नहीं, जो कुछ बना रखा है वही खाएँगे", मैंने कहा। मगर अपनी इस भलमनसाहत के लिए मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ गया।

मिस पाल सन्दूक का ढक्कन बन्द करके स्टोव के पास लौट गई।

"सब्ज़ी तीन दिन से ज़्यादा नहीं चलती", वह बोली, "बाद में मैं जैम, प्याज़ और नमक से काम चलाती हूँ। यहाँ अलूचे बहुत मिल जाते हैं, इसलिए मैंने बहुत-सा अलूचे का जैम बना रखा है। खाकर देखो, अच्छा जैम है।...ठहरो, तुम्हें प्लेट देती हूँ।"

वह फिर जल्दी से बाहर चली गई और कमरे से कीलोंवाली प्लेट ख़ाली करके ले आई।

"गिलास में अमू...अ", वह आकर बोली, "सरसों का तेल रखा है। पानी तुम प्याली में ही ले लोगे या...?"

ट्राउट मछली...खाना खाते समय और खाना खा चुकने के बाद भी मिस पाल के दिमाग़ पर ट्राउट मछली की बात ही सवार रही। जैसे भी हो, शाम को वह ट्राउट मछली बनाएगी। उसके हठ की वजह से मैंने उससे कह दिया था कि मैं अगले दिन सुबह तक वहाँ रह जाऊँगा। मिस पाल ने आगे का फैसला अगले दिन पर छोड़ दिया था। उसे शाम के लिए कई और चीज़ों का इन्तज़ाम करना था, क्योंकि ट्राउट मछली आसानी से तो नहीं बन जाती। पहली चीज़ घी चाहिए था। डिब्बे में घी नाममात्र को ही था। प्याज़ और मसाला भी घर में नहीं था। मिट्टी का तेल भी चाहिए था। खाने के बाद हम लोग घूमने के लिए निकले तो पहले वह मुझे साथ बाज़ार में ले गई। हटवार के पास भी घी नहीं था। उसके लिए मिस पाल ने पोस्टमास्टर से अनुरोध किया कि वह अपने घर से उसे शाम के लिए आधा सेर घी भिजवा दे, अगले दिन कुल्लू से लाकर

लौटा देगी। उससे उसने यह भी कहा कि वह अपने घर के थोड़े-से फ्रेंच बीन भी उतरवाकर उसे भेज दे, और कोई मछलीवाला उधर से गुज़रे तो उसके लिए सेर-भर ट्राउट ले रखे।

"सब्बरवाल साहब, मैं आपको बहुत तकलीफ़ देती हूँ", वह चलने से पहले सात-आठ बार उसे धन्यवाद देकर बोली, "मगर देखिए, मेरे मेहमान आए हुए हैं, और यहाँ ट्राउट के अलावा कोई अच्छी चीज़ मिलती नहीं। देखती हूँ, अगर बाली मुझे मिल जाए तो मैं उससे कहूँगी कि वह मुझे दरिया से एक मछली पकड़ दे। मगर बाली का कोई भरोसा नहीं। आप ज़रूर मेरे लिए ले रखिएगा। मैंने मिसेज़ एटकिंसन को भी कहला दिया है। उन्होंने भी ले ली तो मैं आज और कल दोनों दिन बना लूँगी। ध्यान रखिएगा। कई बार मछलीवाला आवाज़ नहीं लगाता और ऐसे ही निकल जाता है। थैंक यू। थैंक यू वेरी मच!"

मेरे सामान के लिए उसने कुल्लू फ़ोन भी करा दिया। अब सड़क पर चलती हुई वह सुबह के नाश्ते की बात करने लगी।

"रात को तो ट्राउट हो जाएगी, मगर सुबह नाश्ता क्या बनाया जाए? डबलरोटी यहाँ नहीं मिलेगी, नहीं तो मैं तुम्हें शहद के टोस्ट ही बनाकर खिलाती। अच्छा ख़ैर, देखो...।"

सड़क पर खुली धूप फैली थी और भेड़ों और पशम के बकरों का रेवड़ हमारे आगे-आगे चल रहा था। साथ दो कुत्ते जीभ लपलपाते हुए पहरेदारी करते जा रहे थे। सामने से एक जीप के आ जाने से रेवड़ में खलबली मच गई। बकरीवाले भेड़ों को पहाड़ की तरफ़ धकेलने लगे। एक भेड़ का बच्चा ढलान से फिसल गया और नीचे से सिर उठाकर मिमियाने लगा। किसी बकरीवाले का ध्यान उसकी तरफ़ नहीं गया तो मिस पाल सहसा परेशान हो उठी, "ए भाई, देखो वह बच्चा नीचे जा गिरा है। बकरीवाले, एक बच्चा नीचे खाई में गिर गया है, उसे उठा लाओ। ए भाई!"

एक दिन पहले वर्षा हुई थी, इसलिए ब्यास खूब चढ़ा हुआ था। नुकीली चट्टानों से छिलता और कटता हुआ पानी शोर करता हुआ बह रहा था। सामने दरिया पार करने का झूला था। झूले की चर्खियाँ घूम रही थीं, रस्सियाँ इकट्ठी हो रही थीं और झूला दो व्यक्तियों को लिये हुए इस पार से उस पार जा रहा था। सहसा झूले में बैठे हुए दोनों व्यक्ति 'ही-ही-ही-ही' करके हँसने लगे, जैसे किसी को चिढ़ा रहे हों। फिर उनमें से एक ने ज़ोर से छींक दिया। झूला उस पार पहुँच गया और वे व्यक्ति उसी तरह हँसते और छींकते हुए उतर गए। झूला छोड़ दिया गया, और उसकी रस्सियाँ इस सिरे से उस सिरे तक आधी गोलाइयों में फैल गईं। जो व्यक्ति उधर उतरे थे, वे उस किनारे से फिर एक बार ज़ोर से हँसे। तभी झूला खींचनेवालों में एक लड़का मचान से उतरकर हमारे पास आ गया। वह ऐसे बात करने लगा जैसे अभी-अभी कोई दुर्घटना होकर हटी हो।

''मिस साहब'', उसने कहा, ''यह वही सुदर्शन है, जिसने आपके कुत्ते को कुछ खिलाया था। यह अब भी शरारत करने से बाज़ नहीं आता।''

उन व्यक्तियों के हँसने और छींकने का मिस पाल पर उतना असर नहीं हुआ था जितना उस लड़के की बात का हुआ था। उसका चेहरा एकदम से उतर गया और आवाज़ खुश्क हो गई।

''यह उधर के गाँव का आदमी है न?'' उसने पूछा।

''हाँ, मिस साहब!''

''तुम पोस्टमास्टर को बताना। वे अपने-आप इसे ठीक कर लेंगे।''

''मिस साहब, यह हमसे कहता है कि यह मिस साहब...!''

''तुम इस वक़्त जाओ, अपना काम करो'', मिस पाल उसे झिड़ककर बोली, ''पोस्टमास्टर से कहना वे इसे एक दिन में ठीक कर देंगे।''

''मगर मिस साहब...!''

''जाओ, फिर कभी उधर आकर बात करना।''

लड़के की समझ में नहीं आया कि मिस साहब से बात करने में उस समय उससे क्या अपराध हुआ है। वह सिर लटकाए हुए चुपचाप वहाँ से लौट गया।

कुछ देर हम लोग वहीं रुके रहे। मिस पाल जैसे थकी हुई-सी सड़क के किनारे एक बड़े-से पत्थर पर बैठ गई। मैं दरिया के उस पार पहाड़ की चोटी पर उगे हुए वृक्षों की लम्बी पंक्ति को देखने लगा, जो नील आकाश और गुब्बारे जैसे सफ़ेद बादलों के बीच खिंची हुई लकीर-सी लगती थी। दरिया के दोनों तरफ़ पुल के सलेटी खम्भे खड़े थे, जिन पर अभी पुल नहीं बना था। खम्भों के आसपास से झड़कर थोड़ी-थोड़ी मिट्टी दरिया में गिर रही थी। मैंने उधर से आँखें हटाकर मिस पाल की तरफ़ देखा। मिस पाल मेरी तरफ़ देख रही थी। शायद वह जानना चाहती थी कि झूलेवाले लड़के की बात का मेरे मन पर क्या प्रभाव पड़ा है।

''तो आगे चलें?'' मुझसे आँखें मिलते ही उसने पूछा।

''हाँ चलो।''

मिस पाल उठ खड़ी हुई। उसकी साँस कुछ-कुछ फूल रही थी। वह चलती हुई मुझे बताने लगी कि वहाँ के लोगों में कितनी तरह के अन्धविश्वास हैं। जब पिंकी बीमार हुआ तो वहाँ के लोगों ने सोचा था कि किसी ने उसे कुछ खिला-विला दिया है।

''ये अनपढ़ लोग हैं। मैंने इनकी बातों का विरोध भी नहीं किया। ये लोग अपने अन्धविश्वास एक दिन में थोड़े ही छोड़ सकते हैं! इस चीज़ में ज़ाने अभी कितने बरस लगेंगे!''

और रास्ते में चलते हुए वह बार-बार मेरी तरफ़ देखती रही कि मुझे उसकी बात पर विश्वास हुआ है या नहीं। मैंने सड़क से एक छोटा-सा पत्थर उठा लिया था और

चुपचाप उसे उछालने लगा था। काफ़ी देर तक हम लोग ख़ामोश चलते रहे। वह ख़ामोशी मुझे अस्वाभाविक लगने लगी तो मैंने मिस पाल से वापस घर चलने का प्रस्ताव किया।

"चलो, चलकर तुम्हारी बनाई हुई नई तस्वीरें ही देखी जाएँ", मैंने कहा, "इन तीन-चार महीनों में तो तुमने काफ़ी काम कर लिया होगा।"

"पहले घर चलकर एक-एक प्याली चाय पीते हैं", मिस पाल बोली। "सचमुच इस समय मैं चाय की गरम प्याली के लिए ज़िन्दगी की कोई भी चीज़ कुर्बान कर सकती हूँ। मेरा तो मन था कि घर से चलने से पहले ही एक-एक प्याली पी लेते, मगर फिर मैंने कहा कि पोस्टमास्टर से कहने में देर हो जाएगी तो मछलीवाला निकल जाएगा।"

इस बात ने मेरे मन को थोड़ा गुदगुदा दिया कि तीन महीने में आया हुआ पहला मेहमान उस समय मिस पाल के लिए अपनी तस्वीरों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

लौटकर कॉटेज में पहुँचते ही मिस पाल चाय बनाने में व्यस्त हो गई। वह आते हुए काफ़ी थक गई थी, क्योंकि ज़रा-सी चढ़ाई चढ़ने में ही उसकी साँस फूलने लगती थी, मगर वह ज़रा देर भी सुस्ताने के लिए नहीं रुकी। चाय के लिए उसकी यह व्यस्तता मुझे बहुत अस्वाभाविक लगी, शायद इसलिए कि मुझे खुद चाय की ज़रूरत महसूस नहीं हो रही थी। मिस पाल इस तरह चम्मचों और प्यालियों को ढूँढ़ने के लिए परेशान हो रही थी, जैसे उसके दस मेहमान चाय का इन्तज़ार कर रहे हों और उसे समझ न आ रहा हो कि कैसे जल्दी से सारा इन्तज़ाम करे।

मैं घूमकर कमरे में और बरामदे में लगी हुई तस्वीरों को देखने लगा। जिस-जिस तस्वीर पर भी मेरी नज़र पड़ी, मुझे लगा वह मेरी पहले ही देखी हुई है। कुछ बड़ी तस्वीरें थीं जो मिस पाल पंजाब के एक मेले से बनाकर लाई थी। वह अजीब-अजीब-से चेहरे थे, जिन पर हम लोग एक बार फब्तियाँ कसते रहे थे। जाने क्यों, मिस पाल अपने चित्रों के लिए सदा ऐसे ही चेहरे चुनती थी जो किसी-न-किसी रूप में विकृत हों! मैंने सारा कमरा और बरामदा घूम लिया। दो-एक अधूरी तस्वीरों को छोड़कर मुझे एक भी नई चीज़ दिखाई नहीं दी, मैंने रसोईघर में जाकर मिस पाल से पूछा कि उसकी नई तस्वीरें कहाँ हैं।

"अजी छोड़ो भी", मिस पाल प्यालियाँ धोती हुई बोली, "चाय की प्याली पीकर हम लोग ऊपर की तरफ़ घूमने चलते हैं। ऊपर एक बहुत पुराना मन्दिर है। वहाँ का पुजारी तुम्हें ऐसे-ऐसे क़िस्से सुनाएगा कि तुम सुनकर हैरान रह जाओगे। एक दिन वह बता रहा था कि यहाँ कुछ मन्दिर ऐसे हैं, जहाँ लोग पहले तो देवता से वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं, मगर बाद में अगर देवता वर्षा नहीं देता तो उसे हिडिम्बा

के मन्दिर में ले जाकर रस्सी से लटका देते हैं। है नहीं मजेदार बात? जो देवता तुम्हारा काम न करे, उसे फाँसी लगा दो। मैं कहती हूँ रणजीत, यहाँ लोगों में इतने अन्धविश्वास हैं, इतने अन्धविश्वास हैं कि क्या कहा जाए! ये लोग अभी तक जैसे कौरवों-पांडवों के ज़माने में ही जीते हैं, आज के ज़माने से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।''

और एक बार उड़ती नज़र से मुझे देखकर वह चीनी ढूँढ़ने में व्यस्त हो गई। ''अरे चीनी कहाँ चली गई? अभी हाथ में थी, और अभी न जाने कहाँ रख दी? देखो, कैसी भुलक्कड़ हो गई हूँ! मेरा तो बस एक ही इलाज है कि कोई हाथ में छड़ी लेकर मुझे ठीक करे। यह भी कोई रहने का ढंग है जैसे मैं रहती हूँ?''

''तुमने यहाँ के कुछ लैंडस्केप नहीं बनाए?'' मैंने पूछा।

''तस्वीरें तो बहुत-सी शुरू कर रखी हैं, पर अभी तक पूरी नहीं कर सकी'', मिस पाल जैसे उस मुश्किल स्थिति से बचने का प्रयत्न करती हुई बोली, ''अब किसी दिन लगकर सबकी-सब तस्वीरें पूरी करूँगी। तारपीन का तेल भी खत्म हो चुका है, किसी दिन जाकर लाना है। कई दिनों से सोच रही थी कि मंडी जाकर कैनवस और रंग भी ले आऊँ, पर यूँ ही आलस कर जाती हूँ। कुछ ड्राइंग पेपर भी जिल्द कराने हैं। अब जाऊँगी किसी दिन और सारे काम एकसाथ ही कर आऊँगी।''

बात करते हुए मिस पाल की आँखें झुकी जा रही थीं, जैसे वह अपने ही सामने किसी चीज़ के लिए अपराधी हो, और लगातार बात करके अपने अपराध के अनुभव को छिपाना चाहती हो। मैं चुप रहकर उसे चाय में चीनी मिलाते देखता रहा। उसे देखते हुए उस समय मेरे मन में कुछ वैसी उदासी भरने लगी जैसी एक निर्जन समुद्र-तट पर या ऊँची पहाड़ियों से घिरी हुई किसी एकान्त पथरीली घाटी में जाकर अनायास मन में भर जाती है।

''कल से एक तो मैं अपने घर को ठीक करूँगी'', मिस पाल क्षण-भर बाद फिर उसी तरह बिना रुके बात करने लगी, ''एक तो घर का सारा सामान ठीक ढंग से लगाना है। तुम्हें पता है, मैंने कितने चाव से दिल्ली में अपने कमरे के लिए जाली के पर्दे बनवाए थे? वे पर्दे यहाँ ज्यों-के-त्यों बक्स में बन्द पड़े हैं; मेरा लगाने को मन ही नहीं हुआ। मैं कल ही तरखान से कहकर पर्दों के लिए चौखटे बनवाऊँगी। खाने-पीने का थोड़ा-बहुत सामान भी घर में रखना ही चाहिए; बिस्कुट, मक्खन, डबलरोटी और अचार का होना तो बहुत ही ज़रूरी है। जो चीज़ें कुल्लू से मिल जाती हैं वे तो मैं लाकर रख ही सकती हूँ।...तारपीन का तेल भी मुझे कुल्लू से ही मिल जाएगा।''

उसने चाय की प्याली मेरे हाथ में दे दी तो भी मेरे मुँह से कोई बात नहीं निकली, और मैं चुपचाप छोटे-छोटे घूँट भरने लगा। मेरे मन को उस समय एक तरह की जड़ता

ने घेर लिया था। कहाँ मिस पाल के बारे में दिल्ली के लोगों से सुनी हुई वे सब बातें और कहाँ उसके जीवन की यह एकान्त विडम्बना!

ट्राउट मछली! मिस पाल की सारी परेशानी के बावजूद उस दिन उसे ट्राउट नहीं मिल सकी। पोस्टमास्टर ने बताया कि मछलीवाला उस दिन आया ही नहीं। मिस पाल के बहुत-बहुत खुशामद करने पर भी मकान-मालकिन का चौकीदार बाली दरिया से मछली पकड़ने के लिए राजी नहीं हुआ। उसने कहा कि वह अपनी छड़ी पालिश कर रहा है, उसे फुरसत नहीं है। मिसेज़ एटकिंसन के बच्चों ने एक मछली पकड़ी थी। मगर उसके पति ने उस दिन ख़ास तौर पर मछली की कतलियों के लिए कहा था, इसलिए वह अपनी मछली मिस पाल को नहीं दे सकती थी। हाँ, पोस्टमास्टर ने फ्रेंच बीन ज़रूर भेज दिए। चावल और सूखे फ्रेंच बीन! रात की रोटी के लिए मिस पाल का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। खाना बनाने में उसका मन भी नहीं लगा, जिससे चावल थोड़ा नीचे लग गए। खाना खाते समय मिस पाल बस अफसोस ही प्रकट करती रही।

"मैं बहुत बदक़िस्मत हूँ रणजीत, हर लिहाज़ से मैं बहुत ही बदक़िस्मत हूँ", खाना खाने के बाद हम लोग बाहर मैदान में कुर्सियाँ निकालकर बैठ गए तो उसने कहा। वह सिर के पीछे हाथ रखे आकाश की ओर देख रही थी। बारहीं या तेरहीं की रात होने से आकाश में तीन तरफ़ खुली चाँदनी फैली थी। ब्यास की आवाज़ वातावरण में एक गूँज पैदा कर रही थी। वृक्षों की सरसराहट के अतिरिक्त मैदान की घास से भी एक धीमी-सी सरसराहट निकलती प्रतीत होती थी। हवा तेज़ थी और सामने पहाड़ के पीछे से उठता हुआ बादल धीरे-धीरे चाँद की तरफ़ सरक रहा था।

"क्या बात है मिस पाल, तुम इस तरह गुमसुम क्यों हो रही हो?" मैंने कहा, "चावल थोड़े ख़राब हो गए, तो इसमें इस तरह उदास होने की क्या बात है!"

मिस पाल सामने पहाड़ की धुँधली रेखा को देखती रही, जैसे उसमें कोई चीज़ खोज रही हो।

"मैं सोचती हूँ रणजीत कि मेरे जीने का कोई भी अर्थ नहीं है", उसने कहा।

और वह मुझे अपने आरम्भिक जीवन की कहानी सुनाने लगी। उसे बहुत बड़ी शिकायत थी कि आरम्भ में अपने घर में भी उसे ज़रा सुख नहीं मिला, यहाँ तक कि अपने माता-पिता का स्नेह भी उसे नहीं मिला। उसकी माँ ने—उसकी अपनी माँ ने—भी उसे प्यार नहीं किया। इसी वजह से पन्द्रह साल पहले वह अपना घर छोड़कर नौकरी करने के लिए निकल आई थी।

"सोचो, माँ को मेरा घर में होना ही बुरा लगता था। पिताजी को मेरे संगीत सीखने से चिढ़ थी। वे कहा करते थे कि मेरा घर घर है रंडीखाना नहीं। भाइयों का जो थोड़ा-बहुत प्यार था, वह भी भाभियों के आने के बाद छिन गया। मैंने आज तक

कितनी-कितनी मुश्किल से अपनी अम्...अ...पवित्रता को बचाया है, यह मैं ही जानती हूँ। तुम सोच सकते हो कि एक अकेली लड़की के लिए यह कितना मुश्किल होता है। मेरा लाहौर की तरफ़ घूमने जाने को मन था; वहाँ की कुल तस्वीरें बनाना चाहती थी, मगर मैं वहाँ नहीं गई, क्योंकि मैं सोचती थी कि मर्द की पशु-शक्ति के सामने अम्...अ...मैं अकेली क्या कर सकूँगी। फिर, तुम्हें पता है कि डिपार्टमेंट के लोग वहाँ मेरे बारे में कैसी बुरी-बुरी बातें किया करते थे। इसीलिए मैं कहती हूँ कि मुझे वहाँ के एक-एक आदमी से नफरत है। वे तुम्हारे बुखारिया और मिर्ज़ा और जोरावरसिंह। मैं तो कभी ऐसे लोगों के साथ बैठकर एक प्याली चाय भी पीना पसन्द नहीं करती थी। तुम्हें याद है, एक बार जब जोरावरसिंह ने मुझसे कहा था...''

और फिर वह दफ़्तर के जीवन की कई छोटी-छोटी घटनाएँ दोहराने लगी। जब मैंने देखा कि वह फिर से उसी वातावरण में जाकर ख़ामख़ाह अपना गुस्सा भड़का रही है तो मैंने उससे फिर कहा कि वह अब दफ़्तर के लोगों के बारे में न सोचे, अपने संगीत और अपने चित्रों की बात ही सोचे।

''तुम यहाँ रहकर कुछ अच्छी-अच्छी चीज़ें बना लो, फिर दिल्ली आकर अपनी प्रदर्शनी करना।'' मैंने कहा, ''जब लोग तुम्हारी चीज़ें देखेंगे और तुम्हारा नाम सुनेंगे तो अपने-आप तुम्हारी कद्र करेंगे।''

''न, मैं प्रदर्शनी-अदर्शनी के किसी चक्कर में नहीं पड़ूँगी।'' मिस पाल उसी तरह सामने की तरफ़ देखती हुई बोली, ''तुम जानते ही हो इन सब चीज़ों में कितनी पालिटिक्स चलती है। मैं उस पालिटिक्स में नहीं पड़ना चाहती। मेरे पास अभी तीन-चार हज़ार रुपए हैं, जिनसे मेरा काफ़ी दिन गुज़ारा चल जाएगा। जब ये रुपए चुक जाएँगे, तो...'' और वह जैसे कुछ सोचती हुई चुप कर गई।

मैं आगे की बात सुनने के लिए बहुत उत्सुक था। मगर मिस पाल कुछ देर बाद कन्धे हिलाकर बोली, ''...तो भी कुछ-न-कुछ हो ही जाएगा। अभी वह वक़्त आए तो सही।''

बादल ऊँचा उठ रहा था और वातावरण में ठंडक बढ़ती जा रही थी। जंगल की तरफ़ से आती हुई हवा की गूँज शरीर में बार-बार सिहरन भर देती थी। साथ के कॉटेज में रेडियो पर पश्चिमी संगीत चल रहा था। उससे आगे के कॉटेज में लोग खिलखिलाकर हँस रहे थे। मिस पाल अपनी आँखें मूँदे हुए मुझे बताने लगी कि होशियारपुर में उसने भृगुसंहिता से अपनी कुंडली निकलवाई थी। उस कुंडली के फल के अनुसार इस जन्म में उस पर यह शाप है कि उसे कोई सुख नहीं मिल सकता—न धन का, न ख्याति का, न प्यार का। इसका कारण भी भृगुसंहिता में दिया था। अपने पिछले जन्म में वह सुन्दर लड़की थी और नृत्य-संगीत आदि कलाओं में बहुत पटु थी। उसके पिता बहुत धनी थे और वह उनकी अकेली सन्तान थी। जिस व्यक्ति

से उसका ब्याह बहुत वह बहुत सुन्दर और धनी था। "मगर मुझे अपनी सुन्दरता और अपनी कला का बहुत मान था, इसलिए मैंने अपने पति का आदर नहीं किया। कुछ ही दिनों में वह बेचारा दुखी होकर इस संसार से चल बसा। इसीलिए मुझ पर अब यह शाप है कि इस जन्म में मुझे सुख नहीं मिल सकता।"

मैं चुपचाप उसे देखता रहा। अभी दिन में ही वह वहाँ के लोगों के अन्धविश्वासों की चर्चा करती हुई उनका मज़ाक उड़ा रही थी। सहसा मिस पाल भी बोलते-बोलते चुप कर गई और उसकी आँखें मेरे चेहरे पर स्थिर हो गईं। उसके लिपस्टिक से रँगे हुए होंठों की तह में जैसे उस समय कोई चीज़ काँप रही थी। काफ़ी देर हम लोग चुप बैठे रहे। बादल ने चाँद को छा लिया था और चारों तरफ़ गहरा अँधेरा हो रहा था। सहसा साथ के कॉटेज की बत्ती भी बुझ गई, जिससे अँधेरा और भी गहरा लगने लगा।

मिस पाल उसी तरह मेरी तरफ़ देख रही थी। मुझे महसूस होने लगा कि मेरे आसपास की हवा कुछ भारी हो रही है। मैं सहसा कुर्सी पीछे सरकाकर उठ खड़ा हुआ।

"मेरा ख़याल है, अब रात काफ़ी हो गई है", मैंने कहा, "इसलिए अब चलकर सो रहा जाए। और बातें अब सुबह होंगी।"

"हाँ-हाँ", मिस पाल भी अपनी कुर्सी से उठती हुई बोली, "मैं अभी चलकर बिस्तर बिछा देती हूँ। तुम बताओ, तुम्हारा बिस्तर बरामदे में बिछा दूँ या..."

"हाँ, बरामदे में ही बिछा दो। अन्दर काफ़ी गरमी होगी।"

"देख लो, रात को ठंड हो जाएगी।"

"कोई बात नहीं, बरामदे में हवा आती रहेगी तो अच्छा लगेगा।"

और बरामदे में लेटे हुए मैं देर तक जाली से बाहर देखता रहा। बादल पूरे आकाश में छा गया था और दरिया का शब्द बहुत पास आया-सा लगता था। जाली से लगा हुआ मकड़ी का जाला हवा से हिल रहा था। पास ही कोई चूहा कोई चीज़ कुतर रहा था। अन्दर कमरे से बार-बार करवट बदलने की आवाज़ सुनाई दे जाती थी।

"रणजीत!" अन्दर से आवाज़ आई तो मेरे सारे शरीर में एक सिहरन भर गई।

"मिस पाल!"

"सरदी तो नहीं लग रही?"

"नहीं, बल्कि हवा है, इसलिए अच्छा लग रहा है।"

और तभी टप्-टप्-टप्-टप् मोटी-मोटी बूँदें पड़ने लगीं। पानी की बौछार मेरे बिस्तर पर आने लगी तो मैंने करवट बदली। बरामदे की बत्ती मैंने जलती रहने दी थी, इसलिए कई चीज़ें इधर-उधर बिखरी नज़र आ रही थीं। बिस्तर बिछाते समय मिस पाल को घर की काफ़ी उथल-पुथल करनी पड़ी थी। मेरी चारपाई के पास ही एक

तिपाई औंधी पड़ी थी और उससे ज़रा आगे तस्वीरों के कुछ-एक फ्रेम रास्ते में गिरे थे। सामने के कोने में मिस पाल के ब्रश और कपड़े एक ढेर में उलझे हुए पड़े थे।

अन्दर की चारपाई चिरमिराई और लकड़ी के फ़र्श पर पैरों की धप्-धप् आवाज़ सुनाई देने लगी। फिर सुराही से चुल्लू में पानी पीने की आवाज़ आने लगी।

''रणजीत!''

''मिस पाल!''

''प्यास तो नहीं लगी?''

''नहीं।''

''अच्छा, सो जाओ।''

कुछ देर मुझे लगता रहा जैसे मेरे आसपास एक बहुत तेज़ साँस चल रही है जो धीरे-धीरे दबे पैरों, सारे वातावरण पर अधिकार करती जा रही है, और आसपास की हर चीज़ अपने पर उसका दबाव महसूस कर रही है। पानी की बौछार कुछ धीमी पड़ने लगी तो मैंने फिर से जाली की तरफ़ करवट बदल ली और पहले की तरह ही बाहर देखने लगा। तभी पास ही झन्न से किसी चीज़ के गिरने की आवाज़ सुनाई दी।

''क्या गिरा है रणजीत?'' अन्दर से आवाज़ आई।

''पता नहीं, शायद किसी चूहे ने कुछ गिरा दिया है।''

''सचमुच मैं यहाँ चूहों से बहुत तंग आ गई हूँ।''

मैं चुप रहा। अन्दर की चारपाई फिर चिरमिराई।

''अच्छा, सो जाओ!''

सारी रात पानी पड़ता रहा। सुबह-सुबह, वर्षा थम गई, मगर आकाश साफ़ नहीं हुआ। सुबह उठकर चाय के समय तक मेरी मिस पाल से ख़ास बात नहीं हुई। चाय पीते समय भी मिस पाल अधूरे-अधूरे टुकड़ों में ही बात करती रही। मैंने उससे कहा कि मैं अब पहली बस से चला जाऊँगा तो उसने एक बार भी मुझसे रुकने के लिए आग्रह नहीं किया। यूँ साधारण बातचीत में भी मिस पाल काफ़ी तकल्लुफ़ बरत रही थी, जैसे किसी बिलकुल अपरिचित व्यक्ति से बात कर रही हो। मुझे उसका सारा व्यवहार बहुत अस्वाभाविक लग रहा था। वह जैसे बात न करने के लिए ही अपने को छोटे-छोटे कामों में व्यस्त रख रही थी। मैंने दो-एक बार उससे हल्के-से मज़ाक करने का भी प्रयत्न किया जिससे तनाव हट जाए और मैं उससे ठीक से विदा लेकर जा सकूँ, मगर मिस पाल के चेहरे पर हलकी-सी मुस्कुराहट भी नहीं आई।

''अच्छा तो मिस पाल, अब चलने की बात की जाए'', आखिर मैंने कहा, ''तुम कल कह रही थीं कि तुम भी कुल्लू तक साथ ही चलोगी। तो अच्छा होगा कि तुम

आज ही वहाँ से अपना सारा सामान भी ले आओ। बाद में तुम फिर आलस कर जाओगी।''

''नहीं, मैं आलस नहीं करूँगी'', मिस पाल बोली, ''किसी दिन जाकर जो-जो कुछ लाना है, सब ले आऊँगी।''

और फिर बरामदे में बिखरे हुए कपड़ों को बिना मतलब ही उठाकर इधर-से-उधर रखते हुए उसने कहा, ''आज बरसात का दिन है, इसलिए आज नहीं जाऊँगी। कल या परसों किसी समय देखूँगी। लाने के लिए कितनी ही चीज़ें हैं, इसलिए अच्छी तरह सब सोचकर जाना चाहिए। आज घिरा हुआ दिन है, इसलिए आज नहीं...।''

''घिरा हुआ दिन है तो क्या घर का सामान नहीं आएगा?'' मैंने अपने आग्रह से उसे सुलझाने की चेष्टा करते हुए कहा, ''तुम मुझे बताओ कि घी और तारपीन के डिब्बे कहाँ रखे हैं। कोई बड़ा थैला हो तो वह भी साथ में ले लो। फुटकर चीज़ें उसमें आ जाएँगी। यहाँ से जो भी बस मिलेगी, उसमें हम लोग साथ-साथ चले चलेंगे। मैं कुल्लू से बारह बजे की बस पकड़कर आगे चला जाऊँगा। तुम्हें तो उधर से लौटने के लिए सारा दिन बसें मिलती रहेंगी।''

मैं जान-बूझकर इस तरह बात कर रहा था जैसे मिस पाल का साथ चलना निश्चित ही हो, हालाँकि मैं जानता था कि वह टालने का पूरा प्रयत्न करेगी। मिस पाल इधर-से-उधर जाती हुई ढूँढ़-ढूँढ़कर अपने करने के लिए काम निकाल रही थी। उसके चेहरे से लग रहा था जैसे मेरी बातें उसे बिलकुल व्यर्थ लग रही हों और वह जल्द-अज़-जल्द अपने एकान्त में लौट जाना चाहती हो।

''देखो, कभी-कभी यहाँ बस में एक भी सीट नहीं मिलती'', उसने कहा, ''दो-दो सीटें मिलना तो बहुत ही मुश्किल है। तुम मेरी वजह से अपनी बारह बजे की बस क्यों मिस करते हो? तुम चले जाओ, मैं कल या परसों जाकर जो कुछ भी मुझे लाना है, ले आऊँगी।'' और जैसे सहसा कोई काम याद आ जाने से वह जल्दी से अपना चेहरा दूसरी तरफ़ हटाए हुए कमरे में चली गई। कुछ देर में वह पेटीकोट लिये हुए कमरे से बाहर आई। पेटीकोट को टिड्डियाँ काट गई थीं। उसने जैसे नुकसान की परेशानी की वजह से ही चेहरा सख़्त किए हुए उसे एक तरफ़ कोने में फेंक दिया और किसी तरह कठिनाई से बोली, ''मैंने तुमसे कह दिया है कि तुम चले जाओ। तुम्हें पता है कि मुझे तो अकेली को ही दो सीटें चाहिए।''

''ये सब बहाने तुम रहने दो'', मैंने कहा। ''एक बस में जगह नहीं मिलेगी तो दूसरी में मिल जाएगी। तुम इधर आकर मुझे बताओ कि वे डिब्बे कहाँ रखे हैं।''

मिस पाल शायद ज़्यादा बात नहीं करना चाहती थी, इसलिए उसने मेरी बात का विरोध नहीं किया।

"अच्छा तुम बैठो, मैं अभी ढूँढ़ती हूँ", उसने कहा और आँखें बचाती हुई रसोईघर में चली गई।

पहली बस में सचमुच हम लोगों को जगह नहीं मिली। ड्राइवर ने बस वहाँ रोकी ही नहीं, और हाथ के इशारे से कह दिया कि बस में जगह नहीं है। दूसरी बस में भी जगह नहीं थी, मगर किसी तरह कह-कहाकर हमने उसमें अपने लिए जगह बना ली। मगर हम कुल्लू काफ़ी देर से पहुँचे, क्योंकि रात की बरसात से एक जगह सड़क टूट गई थी और उसकी मरम्मत की जा रही थी। हमारे कुल्लू पहुँचने के लगभग साथ ही बारह बजे की बस भी मनाली से आ पहुँची। पौने बारह हो चुके थे। मैंने अन्दर जाकर अपने सामान का पता किया, फिर बाहर मिस पाल के पास आ गया। मिस पाल ने ख़ाली डिब्बे अपने दोनों हाथों में सँभाल रखे थे। मैं डिब्बे उसके हाथों से लेने लगा तो उसने अपने हाथ पीछे हटा लिए।

"चलो, पहले बाज़ार में चलकर तुम्हारा सामान खरीद लें", मैंने कहा।

"अब सामान की बात रहने दो", उसने कहा। "तुम्हारी बस आ गई है, तुम इसमें चले जाओ। सामान तो मैं किसी भी समय खरीद लूँगी। तुम्हें इसके बाद फिर किसी बस में जगह नहीं मिलेगी। दो बजे की बस मनाली से ही भरी हुई आती है। तुम्हारा एक दिन और यहाँ ख़राब होगा।"

"दिन ख़राब होने की क्या बात है", मैंने कहा। "पहले चलकर बाज़ार से सामान खरीद लेते हैं। अगर आज सचमुच किसी बस में जगह नहीं मिली तो मैं तुम्हारे साथ लौट चलूँगा और कल किसी बस से चला आऊँगा। मुझे वापस पहुँचने की ऐसी कोई जल्दी नहीं है।"

"नहीं तुम चले जाओ", मिस पाल हठ के साथ बोली, "अपने लिए ख़ामख़ाह मैं तुम्हें क्यों परेशान करूँ? अपना सामान तो मैं जब कभी भी ले लूँगी।"

"मगर मुझे लगता है कि आज तुम ये डिब्बे इसी तरह लिये हुए ही लौट जाओगी।"

"अरे नहीं", मिस पाल की आँखें उमड़ आईं और वह अपने आँसुओं को रोकने के लिए दूसरी तरफ़ देखने लगी, "तुम समझते हो मैं अपने शरीर की देखभाल ही नहीं करती। अगर न करती तो यह इतना शरीर ऐसे ही होता?...लाओ पैसे दो मैं तुम्हारा टिकट ले आती हूँ। देर करोगे तो इस बस में भी जगह नहीं मिलेगी।"

"तुम इस तरह ज़िद क्यों करती हो मिस पाल? मुझे जाने की सचमुच ऐसी कोई जल्दी नहीं है।" मैंने कहा।

"मैंने तुमसे कहा है, तुम पैसे निकालो, मैं तुम्हारा टिकट ले आऊँ। मगर नहीं, तुम रहने दो। कल का तुम्हारा टिकट मेरी वजह से ख़राब हुआ था। मैं फिर तुमसे पैसे किसलिए माँग रही हूँ?"

और वह डिब्बे वहीं रखकर झटपट टिकटघर की तरफ़ बढ़ गई।

"ठहरो, मिस पाल", मैंने असमंजस में अपना बटुआ ज़ेब से निकाल लिया।

"तुम रुको, मैं अभी आ रही हूँ। तुम उतनी देर में अपना सामान निकालकर ऊपर रखवाओ।"

मेरा मन उस समय न जाने कैसा हो रहा था, फिर भी मैंने अन्दर से अपना सामान निकलवाया और बस की छत पर रखवा दिया। मिस पाल तब तक टिकटघर के बाहर ही खड़ी थी। शनिवार होने के कारण उस दिन स्कूल में जल्दी छुट्टी हो गई थी और बहुत-से बच्चे बस्ते लटकाए सुलतानपुर की पहाड़ी से नीचे आ रहे थे। कई बच्चे बस की सवारियों को देखने के लिए वहाँ आसपास जमा हो रहे थे। मिस पाल उस समय प्याज़ी रंग की सलवार-कमीज़ पहने थी और ऊपर काला दुपट्टा लिये थी। उन कपड़ों की वजह से उसका शरीर पीछे से और भी फैला हुआ लगता था। बच्चे एक-दूसरे से आगे होते हुए टिकटघर के नज़दीक जाने लगे। मिस पाल टिकटघर की खिड़की पर झुकी हुई थी। एक लड़के ने धीरे से आवाज़ लगाई, "कमाल है भई कमाल है!"

इस पर आसपास खड़े बहुत-से बच्चे हँस दिए। मुझे लगा जैसे किसी ने मेरे भारी मन पर एक और बड़ा पत्थर डाल दिया हो। बच्चे सबके सब टिकटघर के आसपास जमा हो गए थे और आपस में खुसर-पुसर कर रहे थे। मैं उनसे कुछ कह भी नहीं सकता था, क्योंकि उससे मिस पाल का ध्यान ख़ामख़ाह उनकी तरफ़ चला जाता। मैं उधर से अपना ध्यान हटाकर दरिया की तरफ़ से आते हुए लोगों को देखने लगा। फिर भी बच्चों की खुसर-पुसर मेरे कानों में पड़ती रही। दो लड़कियाँ बहुत धीरे-धीरे आपस में बात कर रही थीं, "मर्द है!"

"नहीं, औरत है।"

"तू सिर के बाल देख, बाक़ी शरीर देख। मर्द है।"

"तू कपड़े देख, और सबकुछ देख। औरत है।"

"आओ, बच्चो आओ, पास आकर देखो", मिस पाल की आवाज़ से मैं जैसे चौंक गया। मिस पाल टिकट लेकर खिड़की से हट आई थी। बच्चे उसे आते देखकर 'आ गई, आ गई' कहते भाग खड़े हुए। एक बच्चे ने सड़क के उस तरफ़ जाकर फिर ज़ोर से आवाज़ लगाई, "कमाल है भई कमाल है!"

मिस पाल सड़क पर आकर कई कदम बच्चों के पीछे चली गई।

"आओ बच्चो, यहाँ हमारे पास आओ", वह कहती रही, "हम तुम्हें मारेंगे नहीं, टॉफियाँ देंगे। आओ..."

मगर बच्चे पास आने के बजाय और भी दूर भाग गए। मिस पाल कुछ देर सड़क के बीच रुकी रही, फिर लौटकर मेरे पास आ गई। उस समय उसके चेहरे का भाव

बहुत विचित्र लग रहा था। उसकी आँखों में आए हुए आँसू नीचे गिरने को हो रहे थे और उन्हें झुठलाने के लिए एक फीकी हँसी का प्रयत्न कर रही थी। उसने अपने होंठों को जाने किस तरह काटा था कि एकाध जगह से उसकी लिपस्टिक नीचे फैल गई थी। उसकी घिसी हुई कमीज़ की सीवनें कन्धे के पास से खुल रही थीं।

"ख़ूबसूरत बच्चे थे; नहीं?" उसने आँखें झपकाते हुए कहा।

मैंने उसकी बात का समर्थन करने के लिए सिर हिलाया तो मुझे लगा कि मेरा सिर पत्थर की तरह भारी हो गया है। उसके बाद मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि मिस पाल मुझसे क्या कह रही है और मैं उससे क्या बात कर रहा हूँ; जैसे आँखों और शब्दों के साथ विचारों का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा था। मुझे इतना याद है कि मैंने मिस पाल को टिकट के पैसे देने का प्रयत्न किया, मगर वह पीछे हट गई और मेरे बहुत अनुरोध करने पर भी उसने पैसे नहीं लिये। मगर किस अवचेतन प्रक्रिया से हम लोगों के बीच अब तक बातचीत का सूत्र बना रहा, यह मैं नहीं जान सका। मेरे कान उसे बोलते सुन रहे थे और अपने को भी। परन्तु वे जैसे दूर की ध्वनियाँ थीं–अस्फुट, अस्पष्ट और अर्थहीन। जो बात मैं ठीक से सुन सका वह यही थी, "और वहाँ जाकर रणजीत, दफ़्तर में मेरे बारे में किसी से बात मत करना। समझे? तुम्हें पता ही है कि वे लोग कितने ओछे हैं। बल्कि अच्छा होगा कि तुम किसी को यह भी न बताओ कि तुम मुझे यहाँ मिले थे। मैं नहीं चाहती कि वहाँ कोई भी मेरे बारे में कुछ जाने या बात करे। समझे।"

बस तब स्टार्ट हो रही थी और मैं खिड़की से झाँककर मिल पाल को देख रहा था। बस चली तो मिस पाल हाथ हिलाने लगी। दोनों ख़ाली डिब्बे वह अपने हाथों में लिये हुए थी। मैंने एक बार उसकी तरफ़ हाथ हिलाया और बस के मुड़ने तक हिलते हुए ख़ाली डब्बों को ही देखता रहा।

वारिस

घड़ी में तीन बजते ही सीढ़ियों पर लाठी की खट्-खट् होने लगती और मास्टरजी अपने गेरुआ बाने में ऊपर आते दिखाई देते। खट्-खट् आवाज़ सुनते ही हम भागकर बैठक में पहुँच जाते और अपनी कापियाँ और किताबें ठीक करते हुए ड्योढ़ी की तरफ़ देखने लगते, घड़ी तीन बजा न चुकी होती, तो उसके ऊपर पहुँचते-पहुँचते बजा देती। मैं बहन के कान के पास मुँह ले जाकर कहता, "एक-दो-तीन...।"

और मास्टरजी बैठक में पहुँच जाते। अगर घड़ी उनके वहाँ पहुँचने से दो-तीन मिनट पहले तीन बजा चुकी होती, तो वे उस पर शिकायत की एक नज़र डालते, भरकर रखे हुए गिलास में से दो घूँट पानी पीते और पढ़ाने बैठ जाते। मगर बैठकर भी दो-एक बार उनकी नज़र ऊपर हमारी दीवार-घड़ी पर की तरफ़ उठती, फिर अपने हाथ पर लगी हुई बड़े गोल डायल की पुरानी पीली-सी घड़ी पर पड़ती और वे 'हूँ' या 'त्वत्' की आवाज़ से अपना असन्तोष प्रकट करते—जाने अपने प्रति, अपनी घड़ी के प्रति या हमारी घड़ी के प्रति।

हमें मैट्रिक की परीक्षा देनी थी और वे हमें पढ़ाने के लिए आते थे। बहन मुझसे एक साल बड़ी थी, मगर उसने उसी साल ए,बी,सी, से अंग्रेजी सीखी थी। मैं भी अंग्रेजी इतनी ही जानता था कि बिना हिचकिचाहट के 'वंडरफुल' के ये हिज्जे बता देता था—डब्लू ए एन, डी ओ आर, एफ यू डबल एल—वंडरफुल। मास्टरजी कविता बहुत उत्साह के साथ पढ़ाते थे। वे टेनीसन, ब्राउनिंग और स्काट की पंक्तियों की व्याख्या करते हुए जैसे कहीं और ही पहुँच जाते थे। उनकी आँखें चमकने लगती थीं और दोनों हाथ हिलने लगते थे। भाषा उनके मुँह से ऐसी निकलती थी जैसे खुद कविता कर रहे हों। मुझे कई बार कविता की पंक्ति तो समझ में आ जाती थी, उनकी व्याख्या समझ में नहीं आती। मैं मेज़ के नीचे से बहन के टखनों पर ठोकर मारने लगता। ऊपर से चेहरा गम्भीर बनाए रहता। ठोकर मारना इसलिए ज़रूरी था कि अगर मैं उसे ध्यान से पढ़ने देता, तो वह बीच में मास्टरजी से कोई सवाल पूछ लेती थी जिससे जाहिर होता था कि बात उसकी समझ में आ रही है, और इस तरह अपनी हतक होती थी।

कविता पढ़ाकर मास्टरजी हमसे अनुवाद कराते। अनुवाद के 'पैसेज' वे किसी किताब में से नहीं देते थे, ज़बानी लिखाते थे। उनमें कई बड़े-बड़े शब्द होते जो अपनी समझ में ही न आते। वे लिखाते :

''भावना जीवन की हरियाली है। भावना-विहीन जीवन एक मरुस्थल है जहाँ कोई अंकुर नहीं फूटता।''

हम पहले उनसे भावना की अंग्रेजी पूछते, फिर अनुवाद करते :

''सेंटीमेंट इज़ लाइफ'स् वेजीटेबल। सेंटीमेंटलेस लाइफ इज़ ए डेज़र्ट व्हेयर ग्रास डज़ नाट ग्रो।''

बहन संशोधन करती कि 'डज़ नाट ग्रो' नहीं 'डू नाट ग्रो' होना चाहिए, ग्रास 'सिंगुरल' नहीं 'प्लूरल' है। मैं उसके हाथ पर मुक्का मार देता कि कल ए-बी-सी सीखनेवाली लड़की आज मेरी अंग्रेजी दुरुस्त करती है। वह मेरे बाल पकड़ लेती कि एक साल छोटा होकर यह लड़का बड़ी बहन के हाथ पर मुक्का मारता है! मगर जब मास्टरजी फैसला कर देते कि 'डू नाट ग्रो' नहीं 'डज़ नाट ग्रो' ठीक है, तो मैं अपने अंग्रेजी के ज्ञान पर फूल उठता और बहन का चेहरा लटक जाता हालाँकि मारपीट के मामले में डाँट मुझी को पड़ती।

मास्टरजी के आने का समय जितना निश्चित था, जाने का समय उतना ही अनिश्चित था। वे कभी डेढ़ घंटा और कभी दो घंटे पढ़ाते रहते थे। पढ़ते-पढ़ते पाँच बजने को आ जाते तो मेरे लिए 'नाउन' और 'एडजेक्टिव' में फ़र्क करना मुश्किल हो जाता। मैं जम्हाइयाँ लेता और बार-बार ऊबकर घड़ी की तरफ़ देखता। मगर मास्टरजी उस समय 'पास्ट पार्टीसिपल' और 'परफेक्ट पार्टीसिपल' जैसी चीज़ों के बारे में जाने क्या-क्या बता रहे होते। पढ़ाई हो चुकने के बाद वे दस मिनट हमें जीवन के सम्बन्ध में शिक्षा दिया करते थे। वे दस मिनट बिताना मुझे सबसे मुश्किल लगता था। वे पानी के छोटे-छोटे घूँट भरते और जोश में आकर सुन्दर और असुन्दर के विषय में जाने क्या कह रहे होते, और मैं अपनी कापी घुटनों पर रखे हुए उसमें लिखने लगता :

सुन्दर मुन्दरियो, हो!
तेरा कौन बिचारा, हो!
दुल्ला भट्टीवाला, हो!

बहन का ध्यान भी मेरी कापी पर होता क्योंकि वह आँख के इशारे से मुझे यह सब करने से मना करती। कभी वह इशारे से धमकी देती कि मास्टरजी से मेरी शिकायत कर देगी। मैं आँखों ही आँखों से उसकी खुशामद कर लेता। जब मास्टरजी का सबक खत्म होता और उनकी कुर्सी 'च्याँ' की आवाज़ करती पीछे को हटती, तो मेरा दिल खुशी से उछलने लगता। सीढ़ियों पर खट्-खट् की आवाज़ समाप्त होने से

पहले ही मैं पतंग और डोर लिये हुए ऊपर कोठे पर पहुँच जाता और 'आ बोऽऽ काटा काटाऽऽ ईऽऽबोऽऽ!' का नारा लगा देता।

मास्टरजी के बारे में हम ज़्यादा नहीं जानते थे—यहाँ तक कि उनके नाम का भी हमें नहीं पता था। एक दिन अचानक ही वे पिताजी के पास बैठक में आ पहुँचे थे। उन्होंने कहा था कि एक भी पैसा पास न होने से वे बहुत तंगी में हैं मगर वे किसी से ख़ैरात नहीं लेना चाहते, काम करके रोटी खाना चाहते हैं। उन्होंने वताया कि उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी.एल्. किया है और बच्चों को बंगला और पंजाबी पढ़ा सकते हैं। पिताजी हम दोनों की अंग्रेजी की योग्यता से पहले ही आतंकित थे, इसलिए उन्होंने उसी समय से उन्हें हमें पढ़ाने के लिए रख लिया। कुछ दिनों बाद वे उन्हें और ट्यूशन दिलाने लगे, तो मास्टरजी ने मना कर दिया। वे हमारे घर से थोड़ी दूर एक गन्दी-सी गली में चार रुपए महीने की एक कोठरी लेकर रहने लगे। यह वे पूछने पर भी नहीं बताते थे कि बी. एल्. करने के बाद उन्होंने प्रैक्टिस क्यों नहीं की और घरवार छोड़कर गेरुआ क्यों धारण कर लिया। वे बस उत्तेजित-से पढ़ाने आते, और उसी तरह उत्तेजित-से उठकर चले जाते।

एक दिन घड़ी ने तीन बजाए तो हम लोग रोज़ की तरह भागकर बैठक में पहुँच गए और दम साधकर अपनी-अपनी कुर्सी पर बैठ गए। मगर काफ़ी समय गुज़र जाने पर भी सीढ़ियों पर खट्-खट् की आवाज़ सुनाई नहीं दी। एक मिनट, दो मिनट, दस मिनट। हम लोगों को हैरानी हुई—मुझे खुशी भी हुई। चार महीने में मास्टरजी ने पहली बार छुट्टी की थी। इस खुशी में मैं अंग्रेजी की कापी में थोड़ी ड्राइंग करने लगा। बहन से 'बी' और 'एफ्' हमेशा एक-से लिखे जाते थे—वह उनके अन्तर को पकाने लगी। मगर यह खुशी ज़्यादा देर न रही। सहसा सीढ़ियों पर खट्-खट् सुनाई देने लगी, जिससे हम चौंक गए और निराश भी हुए। मास्टरजी अपने रोज़ के कपड़ों के ऊपर एक मोटा गेरुआ कम्बल लिये बैठक में पहुँच गए। मैंने उन्हें देखते ही अपनी बनाई हुई ड्राइंग फाड़ दी। वे हाँफते-से आकर आरामकुर्सी पर बैठ गए और दो घूँट पानी पीने के बाद 'पोयट्री' की किताब खोलकर पढ़ाने लगे :

"टेल मी नाट इन मोर्नफुल नम्बर्ज़
लाइफ इज़ बट ऐन एम्प्टी ड्रीम..."

मैंने देखा, उनका सारा चेहरा एक बार पसीने से भीग गया और वे सिर से पैर तक काँप गए। कुछ देर वे चुप रहे। फिर उन्होंने गिलास को छुआ, मगर उठाया नहीं। उनका सिर झुककर बाँहों में आ गया और कुछ देर वहीं पड़ा रहा। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सामने सिर्फ़ कम्बल में लिपटी हुई एक गाँठ ही पड़ी हो। जब उन्होंने चेहरा उठाया, तो मुझे उनकी नाक और आँखों के बीच की झुर्रियाँ बहुत गहरी लगीं। उनकी आँखें झपतीं और कुछ देर बन्द ही रहतीं, फिर जैसे प्रयत्न से खुलतीं। वे होंठों पर ज़बान फेरकर फिर पढ़ाने लगते :

"फार द सोल इज़ डेड दैट स्लम्बर्ज़,

एंड थिंग्ज़ आर नाट वाट दे सीम।"

मगर उसके साथ उनका सिर फिर झुक जाता। मैंने डरी हुई-सी नज़र से बहन की तरफ़ देखा।

"मास्टरजी, आज आपकी तबीयत ठीक नहीं है," बहन ने कहा, "आज हम और नहीं पढ़ेंगे।"

नहीं पढ़ेंगे—यह सुनकर मेरे दिल में खुशी की लहर दौड़ गई। मगर उस हिलती हुई गठरी को देखकर डर भी लग रहा था। मास्टरजी ने आँखें उठाईं और धीरे से कुछ कहा। फिर उन्होंने पुस्तक की तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो बहन ने पुस्तक खींच ली। कुछ देर मास्टरजी हम लोगों की तरफ़ देखते रहे—जैसे हम उनसे बहुत दूर बैठे हों और वे हमें ठीक से पहचान न पा रहे हों। फिर एक लम्बी साँस लेकर चलने के लिए उठ खड़े हुए।

पूरे चार सप्ताह वे टाइफाइड में पड़े रहे।

उन दिनों मेरी ड्यूटी लगाई कि मैं कोठरी में जाकर उन्हें सूप वगैरह दे आया करूँ। वैद्यजी के पास जाकर उनकी दवाई-अवाई भी मुझे ही लानी होती थी। मेरा काफ़ी समय उनकी कोठरी में बीतता। वे अपने कम्बल में लिपटकर चारपाई पर लेटे हुए 'हाय-हाय' करते रहते और मैं ऊपर-नीचे होते हुए कम्बल के रोयों को देखता रहता। कभी मिट्टी के फ़र्श पर या स्याह पड़ी हुई दीवारों पर उँगली से तस्वीरें बनाने लगता। कोठरी निहायत बोसीदा थी और उसमें चारों तरफ़ से पुरानी सीलन की गन्ध आती थी। दीवारों का पलस्तर जगह-जगह से उखड़ गया था और कुछ जगह उखड़ने की तैयारी में ईंटों से आगे को उभर आया था। मुझे उस पलस्तर में तरह-तरह के चेहरे नज़र आते। पलस्तर का कोई टुकड़ा झड़कर खप से नीचे आ गिरता, तो मैं ऐसे चौंक जाता जैसे मेरी आँखों के सामने किसी मुर्दा चीज़ में जान आ गई हो। कभी मैं उठकर खिड़की के पास चला जाता। खिड़की में सलाखों की जगह बाँस के टुकड़े लगे थे। गली से उठती हुई भयानक दुर्गन्ध से दिमाग़ फटने लगता। वह गली जैसे शहर का कूड़ा-घर थी। एक मुर्गा गली के कूड़े को अपने पैरों से बिखेरता रहता और हर आठ-दस मिनट के बाद ज़ोर से बाँग दे देता।

मास्टरजी के पास ज़्यादा सामान नहीं था, पर जो कुछ भी था उसे देखने को मेरे मन में बहुत उत्सुकता रहती थी। एक दिन जब थोड़ी देर के लिए मास्टरजी की आँख लगी, तो मैंने कोठरी के सारे सामान की जाँच कर डाली। कपड़ों के नाम पर वही चन्द चीथड़े थे जो हम उनके शरीर पर देखा करते थे। डंडे और कमंडल के अतिरिक्त उनकी सम्पत्ति में कुछ पुरानी फटी हुई पुस्तकें थीं जिनमें से केवल भगवद्गीता का शीर्षक ही मैं पढ़ सका। शेष पुस्तकें बंगला में थीं। एक पुस्तक के बीच में एक

लिफाफा रखा था जिस पर सात साल पहले की हावड़ा और मिदनापुर की मोहरें लगी थीं। मैंने डरते-डरते लिफाफे में से पत्र निकाल लिया। यह भी बंगला में था। बीच में कोई-कोई शब्द अंग्रेजी का था–स्टैंडर्ड...मीन्ज़...ओवर कान्फिडेंस...डिस्गस्टिंग...हेल...। मैंने जल्दी से पत्र वापस लिफाफे में रख दिया। पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ पुराने और नए फुलस्केप कागज़ थे जिन पर बंगला और अंग्रेजी में बहुत कुछ लिखा हुआ था। वे कागज़ अभी मेरे हाथों में ही थे कि मास्टरजी की आँख खुल गई और वे खाँसते हुए उठकर बैठ गए। मैं काँपते हुए हाथों से कागज़ रखने लगा तो वे पहले मुस्कुराए और फिर हँसने लगे।

"इन्हें इधर ले आओ," वे बोले।

मैं अपराधी की तरह कागज़ लिये हुए उनके पास चला गया। उन्होंने कागज मुझसे ले लिये और मुझे पास बिठाकर मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगे।

"जानते हो, इन कागज़ों में क्या है?" उन्होंने बुख़ार के कारण कमज़ोर आवाज़ में पूछा।

"नहीं।" मैंने सिर हिलाया।

"यह मेरी सारी ज़िन्दगी की पूँजी है," उन्होंने कहा और उन कागज़ों को छाती पर रखे हुए लेट गए। लेटे-लेटे कुछ देर उन्हें उथल-पुथल कर देखते रहे, फिर उन्होंने उन्हें अपनी दाईं ओर रख लिया। कुछ देर वे अपने में खोए रहे और जाने क्या सोचते रहे। फिर बोले, "बच्चे, जानते हो, मनुष्य जीवित क्यों रहना चाहता है?"

मैंने सिर हिला दिया कि नहीं जानता।

"अच्छा, मैं तुम्हें बताऊँगा कि मनुष्य क्यों जीवित रहना चाहता है और कैसे जीवित रहता है। मैं तुम्हें और भी बहुत कुछ बताना चाहता हूँ, मगर अभी तुम छोटे हो। ज़रा बड़े होते तो...। ख़ैर...अब भी जो कुछ बता सकता हूँ, ज़रूर बताऊँगा। तुम मेरे लिए मेरे अपने बच्चे की तरह हो...तुम दोनों...दोनों ही मेरे बच्चे हो।"

उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरा दिल बैठने लगा कि वे जो कुछ बताना चाहते हैं, उसी समय न बताने लगें क्योंकि मैं जानता था कि वे जो कुछ बताएँगे वह ऐसी मुश्किल बात होगी कि मेरी समझ में नहीं आएगी। समझने की कोशिश करूँगा, तो कई मुश्किल शब्दों के अर्थ सीखने पड़ेंगे। मेरा अनुभव कहता था कि शब्द खुद जितना मुश्किल होता है, उसके हिज्जे उससे भी ज़्यादा मुश्किल होते हैं। हिज्जों से मैं बहुत घबराता था।

मगर उस समय उन्होंने कुछ नहीं कहा। सिर्फ़ मेरा हाथ पकड़कर लेटे रहे।

अच्छे होकर जब वे हमें फिर पढ़ाने आने लगे, तो उन्होंने कहा कि अब से वे अंग्रेजी के अतिरिक्त हमें थोड़ी-थोड़ी बंगला भी सिखाएँगे क्योंकि बंगला सीखकर ही हम उनके विचारों को ठीक से समझ सकेंगे। अब वे तीन बजे आते और साढ़े

पाँच-छह बजे तक बैठे रहते। मैं साढ़े तीन-चार बजे ही घड़ी की तरफ़ देखना आरम्भ कर देता और जाने किस मुश्किल से वह सारा वक़्त काटता। उनकी दो महीने की जी-तोड़ मेहनत से हम बहन-भाई इतनी बंगला सीख पाए कि एक-दूसरे को बजाय तुम के 'तूमि' कहने लगे। वह कहती, "तुमि मेरी कापी का वरका मत फाड़ो।"

और मैं कहता, "तूमि बकवास मत करो।"

हमारी इस प्रगति से मास्टरजी बहुत निराश हुए और कुछ दिनों बाद उन्होंने हमें बंगला सिखाने का विचार छोड़ दिया। अनुवाद के लिए अब वे पहले से भी मुश्किल 'पैसेज' लिखाने लगे, मगर इससे सारा अनुवाद उन्हें खुद ही करना पड़ता। उस माध्यम से भी हमें बड़ी-बड़ी बातें सिखाने का प्रयत्न करके जब वे हार गए, तो उन्होंने एक और उपाय सोचा। वे फुलस्केप कागज़ बीच में से आधे-आधे फाड़कर उन पर दोनों ओर पैंसिल से अंग्रेजी में बहुत कुछ लिखकर लाने लगे। बहन के लिए वे अलग कागज़ लाते और मेरे लिए अलग। उनका कहना था कि वे रोज़ उन कागज़ों में हमको एक-एक नया विचार देते हैं, जिसे हम अभी चाहे न समझें, बड़े होने पर ज़रूर समझ सकेंगे, इसलिए हम उन कागज़ों को अपने पास सँभालकर रखते जाएँ। पहले छह-आठ दिन तो हमने कागज़ों की बहुत सँभाल कर रखी, मगर बाद में उन्हें सम्भालकर रखना मुश्किल होने लगा। अक्सर बहन मेरे कागज़ कहीं से गिरे हुए उठा लाती और कहती कि कल वह मास्टरजी से शिकायत करेगी। मैं मुँह बिचका देता। एक दिन मैंने देखा, अलमारी में सिर्फ़ बहन के कागज़ ही तह किए रखे हैं, मेरा कोई कागज़ नहीं है। चारों तरफ़ खोज करने पर भी जब मुझे अपने कागज़ नहीं मिले तो मैंने बहन के सब पुलिन्दे उठाकर फाड़ दिए। इस पर बहन ने मेरे बाल नोच लिए। मैंने उसके बाल नोच लिए। उस दिन से हम दोनों इस ताक में रहने लगे कि कल मास्टरजी के दिए हुए एक के कागज़ दूसरे के हाथ में लगें कि वह उन्हें फाड़ दे। मास्टरजी से कागज़ लेते हुए हम चोर आँखों से एक-दूसरे की तरफ़ देखते और मुश्किल से अपनी मुस्कुराहट दबाते। मास्टरजी किसी-किसी दिन अपने पुराने कागज़ों के पुलिन्दे साथ ले आते थे और वहीं बैठकर उनमें से हमारे लिए कुछ हिस्से नकल करने लगते थे। हम दोनों उतनी देर कापियों पर इधर-उधर के रिमार्क लिखकर आपस में कापियाँ तबदील करते रहते। इधर मास्टरजी वे पुलिन्दे हमारे हाथों में देकर सीढ़ियों से उतरते, उधर हमारी आपस में छीनाझपटी आरम्भ हो जाती और हम एक-दूसरे के कागज़ को मसलने और नोचने लगते। अक्सर इस बात पर हमारी लड़ाई हो जाती कि मास्टरजी एक को अठारह और दूसरे को चौदह पन्ने क्यों दे गए हैं।

परीक्षा में अब थोड़े ही दिन रह गए थे। पिताजी ने एक दिन हमसे कहा कि हम मास्टरजी को अभी से सूचित कर दें कि जिस दिन हमारा अंग्रेजी का 'बी' पेपर होगा उस दिन तक हम उनसे पढ़ते रहेंगे मगर उसके बाद...। उस दिन मास्टरजी

के आने तक हम आपस में झगड़ते रहे कि हममें से कौन उनसे यह बात कहेगा। आखिर तीन बज गए और मास्टरजी आ गए। उन्होंने हमेशा की तरह घड़ी की तरफ़ देखा, 'त्वत् च्वत्' की आवाज़ के साथ सिर को झटका दिया और पानी का एक घूँट पीकर 'पोयट्री' की किताब खोल ली। हम दोनों ने एक-दूसरे की तरफ़ देखा और आँखें झुका लीं।

"मास्टरजी!" बहन ने धीरे से कहा।

उन्होंने आँख उठाकर उसकी तरफ़ देखा और पूछा कि क्या बात है—उसकी तबीयत तो ठीक है?

बहन ने एक बार मेरी तरफ़ देखा, मगर मेरी आँखें ज़मीन में धँसी रहीं।

"मास्टरजी, पिताजी ने कहा है..." और उसने रुकते-रुकते बात उन्हें बता दी।

"क्या मैं नहीं जानता?" माथे पर त्यौरियाँ डालकर सहसा उन्होंने कड़े शब्दों में कहा, "मुझे यह बताने की क्या ज़रूरत थी?" और वे जल्दी-जल्दी कविता की पंक्ति पढ़ने लगे :

शेड्स आफ नाइट वर फालिंग फास्ट।

व्हेन थ्रू ऐन एल्पाइन विलेज पास्ट।

ए यूथ...

सहसा उनका गला भर्रा गया। उन्होंने जल्दी से दो घूँट पानी पिया और फिर से पढ़ने लगे :

शेड्स आफ नाइट वर फालिंग फास्ट...

उस दिन पहली बार उन्होंने जाने का समय जानने के लिए भी घड़ी की तरफ़ देखा। पूरे चार बजते ही वह कागज़ समेटते हुए उठ खड़े हुए। अगले दिन आए, तो आते ही उन्होंने हमारी परीक्षा की 'डेट शीट' देखी और बताया कि जिस दिन हमारा 'बी' पेपर होगा उसी दिन वे यहाँ से चले जाएँगे। उन्होंने निश्चय किया था कि वे कुछ दिन जाकर गरुड़चट्टी में रहेंगे, फिर उससे आगे घने पहाड़ों में चले जाएँगे, जहाँ से फिर कभी लौटकर नहीं आएँगे। उस दिन उनसे पढ़ते हुए न जाने क्यों मुझे उनके चेहरे से डर लगता रहा।

हमारा 'बी' पेपर हो गया। मास्टरजी ने काँपते हाथों से हमारा पर्चा देखा। उन्होंने जो-जो कुछ पूछा, मैंने उसका सही जवाब बता दिया। मैं हाल से निकलकर हर सवाल के सही जवाब का पता कर आया था। बहन जवाब देने में अटकती रही। मास्टरजी ने मेरी पीठ थपथपाई, पानी पिया और चले गए। मगर शाम को वे फिर आए। पिताजी से उन्होंने कहा कि वे जाने से पहले एक बार बच्चों से मिलने आए हैं। हम दोनों को अन्दर से बुलाया गया। मास्टरजी ने हमसे कोई बात नहीं की, सिर्फ़ हमारे सिर पर हाथ फेरा और "अच्छा" कहकर चल दिए। हम लोग उनके साथ-साथ

ड्योढ़ी तक आए। वहाँ रुककर उन्होंने मेरी ठोड़ी को छुआ और कहा, ''अच्छा, मेरे बच्चे!'' और काँपते हाथ से उन्होंने किसी तरह अपना भूरा-सा फाउंटेन पेन ज़ेब से निकाला और मेरे हाथ में दे दिया।

''रख लो, रख लो,'' उन्होंने ऐसे कहा जैसे उसे लेने से इनकार किया हो। ''बहुत अच्छा तो नहीं है, मगर काम करता है। मुझे तो अब इसकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। तुम अपने पास रख छोड़ना...या फेंक देना...।''

उनकी आँखें भर आई थीं इसलिए उन्होंने मुस्कुराने का प्रयत्न किया और मेरा कन्धा थपथपाकर खट्-खट् सीढ़ियाँ उतर गए। बहन स्पर्द्धा की दृष्टि से मेरे हाथ में उस फाउंटेन पेन को देख रही थी। मैंने उसे अँगूठा दिखाया और पेन खोलकर उसके निब की जाँच करने लगा।

मगर उसके कुछ ही दिन बाद वह निब मुझसे टूट गया—और फिर वह पेन भी जाने कहाँ खो गया!

•

एक और ज़िन्दगी

...और उस एक क्षण के लिए प्रकाश के हृदय की धड़कन जैसे रुकी रही। कितना विचित्र था वह क्षण—आकाश से टूटकर गिरे हुए नक्षत्र जैसा! कोहरे के वक्ष में एक लकीर-सी खींचकर वह क्षण सहसा व्यतीत हो गया।

कोहरे में से गुज़रकर जाती हुई आकृतियों को उसने एक बार फिर ध्यान से देखा। क्या यह सम्भव था कि व्यक्ति की आँखें इस हद तक उसे धोखा दें? तो जो कुछ वह देख रहा था, वह यथार्थ ही नहीं था?

कुछ ही क्षण पहले जब वह कमरे से निकलकर बालकनी पर आया था, तो क्या उसने कल्पना में भी यह सोचा था कि आकाश के ओर-छोर तक फैले हुए कोहरे में, गहरे पानी की निचली सतह पर तैरती हुई मछलियों जैसी जो आकृतियाँ नज़र आ रही हैं, उनमें कहीं वे दो आकृतियाँ भी होंगी? मन्दिरवाली सड़क से आते हुए दो कुहरीले रंगों पर जब उसकी नज़र पड़ी थी, तब भी क्या उसके मन में कहीं ऐसा अनुमान जागा था? फिर भी न जाने क्यों उसे लग रहा था जैसे बहुत समय से, बल्कि कई दिनों से, वह उनके वहाँ से गुज़रने की प्रतीक्षा कर रहा हो, जैसे कि उन्हें देखने के लिए ही वह कमरे से निकलकर बालकनी पर आया हो और उन्हीं को ढूँढ़ती हुई उसकी आँखें मन्दिरवाली सड़क की तरफ़ मुड़ी हों।—यहाँ तक कि उस धानी आँचल और नीली नेकर के रंग भी जैसे उसके पहचाने हुए हों और कोहरे के विस्तार में वह उन दो रंगों को ही खोज रहा था। वैसे उन आकृतियों के बालकनी के नीचे पहुँचने तक उसने उन्हें पहचाना नहीं था। परन्तु एक क्षण में सहसा वे आकृतियाँ इस तरह उसके सामने स्पष्ट हो उठी थीं जैसे जड़ता के क्षण के अवचेतन की गहराई में डूबा हुआ कोई विचार एकाएक चेतना की सतह पर कौंध गया हो।

नीली नेकरवाली आकृति घूमकर पीछे की तरफ़ देख रही थी। क्या उसे भी कोहरे में किसी की खोज थी? और किसकी? प्रकाश का मन हुआ कि उसे आवाज़ दे, मगर उसके गले से शब्द नहीं निकले। कोहरे का समुद्र अपनी गम्भीरता में ख़ामोश था, मगर उसकी अपनी ख़ामोशी एक ऐसे तूफ़ान की तरह थी जो हवा न मिलने से अपने अन्दर ही घुमड़कर रह गया हो। नहीं तो क्या वह इतना ही असमर्थ था कि उसके गले से एक शब्द भी न निकल सके?

वह बालकनी से हटकर कमरे में आ गया। वहाँ अपने अस्तव्यस्त सामान पर नज़र पड़ी, तो शरीर में निराशा की एक सिहरन दौड़ गई। क्या यही वह ज़िन्दगी थी जिसके लिए उसने...? परन्तु उसे लगा कि उसके पास कुछ भी सोचने के लिए समय नहीं है। उसने जल्दी-जल्दी कुछ चीज़ों को उठाया और रख दिया जैसे कि कोई चीज़ ढूँढ़ रहा हो जो उसे मिल न रही हो। अचानक खूँटी पर लटकती पतलून पर नज़र पड़ी, तो उसने पाजामा उतारकर जल्दी से उसे पहन लिया। फिर पल-भर खोया-सा खड़ा रहा। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या चाहता है। क्या वह उन दोनों के पीछे जाना चाहता था? या बालकनी पर खड़ा होकर पहले की तरह उन्हें देखते रहना चाहता था?

अचानक उसका हाथ मेज़ पर रखे ताले पर पड़ गया, तो उसने उसे उठा लिया। जल्दी से दरवाज़ा बन्द करके वह ज़ीने से उतरने लगा। ज़ीने पर आकर ध्यान आया कि जूता नहीं पहना। वह पल-भर ठिठककर खड़ा रहा, मगर लौटकर नहीं गया। नीचे सड़क पर पहुँचते ही पाँव कीचड़ में लथपथ हो गए। दूर देखा—वे दोनों आकृतियाँ घोड़ों के अड्डे के पास पहुँच चुकी थीं। वह जल्दी-जल्दी चलने लगा। पास से गुज़रते एक घोड़ेवाले से उसने कहा कि आगे जाकर नीली नेकरवाले बच्चे को रोक ले—उससे कहे कि कोई उससे मिलने के लिए आ रहा है। घोड़ेवाला घोड़ा दौड़ाता हुआ गया, मगर उन दोनों के पास न रुककर उनसे आगे निकल गया। वहाँ जाकर न जाने किसे उसने उसका सन्देश दे दिया।

जल्दी-जल्दी चलते हुए भी प्रकाश को लग रहा था जैसे वह बहुत आहिस्ता चल रहा हो, जैसे उसके घुटने जकड़ गए हों और रास्ता बहुत-बहुत लम्बा हो गया हो। उसका मन इस आशंका से बेचैन था कि उसके पास पहुँचने तक वे लोग घोड़ों पर सवार होकर वहाँ से चल न दें, और जिस दूरी को वह नापना चाहता था, वह ज्यों की त्यों न बनी रहे। मगर ज्यों-ज्यों फासला कम हो रहा था, उसका कम होना भी उसे अखर रहा था। क्या वह जान-बूझकर अपने को एक ऐसी स्थिति में नहीं डालरहा था जिससे उसे अपने को बचाए रखना चाहिए था?

उन लोगों ने घोड़े नहीं लिये थे। वह जब उनसे तीन-चार गज़ दूर रह गया, तो सहसा उसके पाँव रुक गए। तो क्या सचमुच अब उसे उस स्थिति का सामना करना ही था?

''पाशी!'' इससे पहले कि वह निश्चय कर पाता, अनायास उसके मुँह से निकल गया।

बच्चे की बड़ी-बड़ी आँखें उसकी तरफ़ घूम गईं—साथ ही उसकी माँ की आँखें भी। कोहरे में अचानक कई-कई बिजलियाँ कौंध गईं। प्रकाश दो-एक कदम और आगे बढ़ गया। बच्चा हैरान आँखों से उसकी तरफ़ देखता हुआ अपनी माँ के साथ सट गया।

"पलाश, इधर आ मेरे पास," प्रकाश ने हाथ से चुटकी बजाते हुए कहा, जैसे कि यह हर रोज़ की साधारण घटना हो और बच्चा अभी कुछ मिनट पहले ही उसके पास से अपनी माँ के पास गया हो।

बच्चे ने माँ की तरफ़ देखा। वह अपनी आँखें हटाकर दूसरी तरफ़ देख रही थी। बच्चा अब और भी उसके साथ सट गया और उसकी आँखें हैरानी के साथ-साथ एक शरारत से चमक उठीं।

प्रकाश को खड़े-खड़े उलझन हो रही थी। लग रहा था कि खुद चलकर उस दूरी को नापने के सिवा अब कोई चारा नहीं है। वह लम्बे-लम्बे डग भरकर बच्चे के पास पहुँचा और उसे उसने अपनी बाँहों में उठा लिया। बच्चे ने एक बार किलककर उसके हाथों से छूटने की चेष्टा की, परन्तु दूसरे ही क्षण अपनी छोटी-छोटी बाँहें उसके गले में डालकर वह उससे लिपट गया। प्रकाश उसे लिये हुए थोड़ा एक तरफ़ को हट आया।

"तूने पापा को पहचाना नहीं था क्या?"

"पैताना ता," बच्चा बाँहें उसके गले में डाले झूलने लगा।

"तो तू झट से पापा के पास आया क्यों नहीं?"

"नहीं आया," कहकर बच्चे ने उसे चूम लिया।

"तू आज ही यहाँ आया है?"

"नहीं, तल आया ता।"

"अभी रहेगा या आज ही लौट जाएगा?"

"अब्री तीन-चाल दिन लहूँदा।"

"तो पापा के पास मिलने आएगा न?"

"आऊँदा।"

प्रकाश ने एक बार उसे अच्छी तरह अपने साथ सटाकर चूम लिया, तो बच्चा किलककर उसके माथे, आँखों और गालों को जगह-जगह चूमने लगा।

"कैसा बच्चा है!" पास खड़े एक कश्मीरी मज़दूर ने सिर हिलाते हुए कहा।

"तुम तहाँ लहते हो?" बच्चा बाँहें उसी तरह उसकी गर्दन में डाले जैसे उसे अच्छी तरह देखने के लिए थोड़ा पीछे को हट गया।

"वहाँ!" प्रकाश ने दूर अपनी बालकनी की तरफ़ इशारा किया, "तू कब तक वहाँ आएगा?"

"अबी ऊपल जातल दूद पिऊँदा, उछके बाद तुमाले पाछ आऊँदा।" बच्चे ने अब अपनी माँ की तरफ़ देखा और उसकी बाँहों से निकलने के लिए मचलने लगा।

"मैं वहाँ बालकनी में कुर्सी डालकर बैठा रहूँगा और तेरा इन्तज़ार करूँगा," बच्चा बाँहों से उतरकर अपनी माँ की तरफ़ भाग गया, तो प्रकाश ने पीछे से कहा। क्षण-भर के लिए उसकी आँखें बच्चे की माँ से मिल गईं, परन्तु अगले ही क्षण दोनों

दूसरी-दूसरी तरफ़ देखने लगे। बच्चा जाकर माँ की टाँगों से लिपट गया। वह कोहरे के पार देवदारों की धुँधली रेखाओं को देखती हुई बोली, "तुझे दूध पीकर आज खिलनमर्ग नहीं चलना है?"

"नहीं," बच्चे ने उसकी टाँगों के सहारे उछलते हुए सपाट जवाब दिया। "मैं दूद पीतल पापा ते पाछ जाऊँदा।"

तीन दिन, तीन रातों से आकाश घिरा था। कोहरा धीरे-धीरे इतना घना हो गया था कि बालकनी से आगे कोई रूप, कोई रंग नज़र नहीं आता था। आकाश की पारदर्शिता पर जैसे गाढ़ा सफ़ेदा पोत दिया गया था। ज्यों-ज्यों वक़्त बीत रहा था, कोहरा और घना होता जा रहा था। कुर्सी पर बैठे हुए प्रकाश को किसी-किसी क्षण महसूस होने लगता जैसे वह बालकनी पहाड़ियों से घिरे खुले विस्तार में न होकर अन्तरिक्ष के किसी रहस्यमय प्रदेश में बनी हो—नीचे और ऊपर केवल आकाश ही आकाश हो—अतल में बालकनी की सत्ता अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र एक लोक की तरह हो...।

उसकी आँखें इस तरह एकटक सामने देख रही थीं, जैसे आकाश और कोहरे में उसे कोई अर्थ ढूँढ़ना हो—अपनी बालकनी के वहाँ होने का रहस्य जानना हो।

कोहरे के बादल कई-कई रूप लेकर हवा में इधर-उधर भटक रहे थे। अपनी गहराई में फैलते और सिमटते हुए वे अपनी थाह नहीं पा रहे थे। बीच में कहीं-कहीं देवदारों की फुनगियाँ एक हरी लकीर की तरह बाहर निकली थीं—कुहरीले आकाश पर लिखी गई एक अनिश्चित-सी लिपि जैसी। देखते-देखते वह लकीर भी गुम हुई जा रही थी—कोहरे का उफान उसे भी रहने देना नहीं चाहता था। लकीर को मिटते देखकर प्रकाश के स्नायुओं में एक तनाव-सा भर रहा था—जैसे किसी भी तरह वह उस लकीर को मिटने से बचा लेना चाहता हो। परन्तु जब लकीर एक बार मिटकर फिर कोहरे से बाहर नहीं निकली, तो उसने सिर पीछे को डाल लिया और खुद भी कोहरे में कोहरा होकर पड़ रहा...। अतीत के कोहरे में कहीं वह दिन भी था जो चार साल में अब तक बीत नहीं सका था...।

बच्चे की पहली वर्षगाँठ थी उस दिन—वही उसके जीवन की भी सबसे बड़ी गाँठ बन गई थी...।

ब्याह के कुछ महीने बाद से ही पति-पत्नी अलग रहने लगे थे। ब्याह के साथ जो सूत्र जुड़ना चाहिए था, वह जुड़ नहीं सका था। दोनों अलग-अलग जगह काम करते थे और अपना-अपना स्वतन्त्र ताना-बाना बुनकर जी रहे थे। लोकाचार के नाते साल-छह महीने में कभी एक बार मिल लिया करते थे। वह लोकाचार ही इस बच्चे को दुनिया में ले आया था...।

बीना समझती थी कि इस तरह जान-बूझकर उसे फँसा दिया गया है। प्रकाश सोचता था कि अनजाने में ही उससे एक कसूर हो गया है।

साल-भर बच्चा माँ के ही पास रहा था। बीच में बच्चे की दादी छह-सात महीने उसके पास रह आई थी।

पहली वर्षगाँठ पर बीना ने लिखा था कि वह बच्चे को लेकर अपने पिता के पास लखनऊ जा रही है। वहीं पर बच्चे के जन्म-दिन की पार्टी देगी।

प्रकाश ने उसे तार दिया था कि वह भी उस दिन लखनऊ आएगा। अपने एक मित्र के यहाँ हज़रतगंज में ठहरेगा। अच्छा होगा कि पार्टी वहीं दी जाए। लखनऊ के कुछ मित्रों को भी उसने सूचित कर दिया था कि बच्चे की वर्षगाँठ के अवसर पर वे उसके साथ चाय पीने के लिए आएँ।

उसने सोचा था कि बीना उसे स्टेशन पर मिल जाएगी, परन्तु वह नहीं मिली। हज़रतगंज पहुँचकर नहा-धो चुकने के बाद उसने बीना के पास सन्देश भेजा कि वह वहाँ पहुँच गया है, कुछ लोग साढ़े चार-पाँच बजे चाय पीने आएँगे, इससे पहले वह बच्चे को लेकर ज़रूर वहाँ आ जाए। मगर पाँच बजे, छह बजे, सात बज गए—बीना बच्चे को लेकर नहीं आई। दूसरी बार सन्देश भेजने पर पता चला कि वहाँ उन लोगों की पार्टी चल रही है। बीना ने कहला भेजा कि बच्चा आठ बजे तक ख़ाली नहीं होगा, इसलिए वह अभी उसे लेकर नहीं आ सकती। प्रकाश ने अपने मित्रों को चाय पिलाकर विदा कर दिया। बच्चे के लिए खरीदे हुए उपहार बीना के पिता के यहाँ भेज दिए। साथ में यह सन्देश भेजा कि बच्चा जब भी ख़ाली हो, उसे थोड़ी देर के लिए उसके पास ले आया जाए।

मगर आठ के बाद नौ बजे, दस बजे, बारह बज गए, पर बीना न तो खुद बच्चे को लेकर आई, और न ही उसने उसे किसी और के साथ भेजा।

वह रात-भर सोया नहीं। उसके दिमाग़ को जैसे कोई छैनी से छीलता रहा।

सुबह उसने फिर बीना के पास सन्देश भेजा। इस बार बीना बच्चे को लेकर आ गई। उसने बताया कि रात को पार्टी देर तक चलती रही, इसलिए उसका आना सम्भव नहीं हुआ। अगर सचमुच उसे बच्चे से प्यार था, तो उसे चाहिए था कि उपहार लेकर खुद उनके यहाँ पार्टी में चला आता...।

उस दिन सुबह से शुरू हुई बातचीत आधी रात तक चलती रही। प्रकाश बार-बार कहता रहा, "बीना, मैं इसका पिता हूँ। उस नाते मुझे इतना अधिकार तो है ही कि मैं इसे अपने पास बुला सकूँ।"

परन्तु बीना का उत्तर था, "आपके पास पिता का दिल होता, तो आप पार्टी में न आ जाते? यह तो एक आकस्मिक घटना ही है कि आप इसके पिता हैं।"

''बीना!'' वह फटी-फटी आँखों से उसके चेहरे की तरफ़ देखता रह गया। ''मैं नहीं समझ पा रहा कि तुम दरअसल चाहती क्या हो!''

''मैं कुछ भी नहीं चाहती। आपसे मैं क्या चाहूँगी?''

''तुमने सोचा है कि तुम्हारे इस तरह व्यवहार करने से बच्चे का क्या होगा?''

''जब हम अपने ही बारे में कुछ नहीं सोच सके, तो इसके बारे में क्या सोचेंगे!''

''क्या तुम पसन्द करोगी कि बच्चे को मुझे सौंप दो और खुद स्वतन्त्र हो जाओ?''

''इसे आपको सौंप दूँ?'' बीना के स्वर में वितृष्णा गहरी हो गई, ''किस चीज़ के भरोसे? कल को आपकी ज़िन्दगी क्या होगी, यह कौन कह सकता है? बच्चे को उस अनिश्चित ज़िन्दगी के भरोसे छोड़ दूँ–इतनी मूर्ख मैं नहीं हूँ।''

''तो क्या तुम यही चाहोगी कि इसका फैसला करने के लिए अदालत में जाया जाए?''

''आप अदालत में जाना चाहें, तो मुझे कोई एतराज़ नहीं है। ज़रूरत पड़ने पर मैं सुप्रीम कोर्ट तक आपसे लड़ूँगी। आपका बच्चे पर कोई हक नहीं है।''

बच्चे को पिता से ज़्यादा माँ की ज़रूरत होती है–कई दिन, कई सप्ताह वह मन ही मन संघर्ष करता रहा। जहाँ उसे दोनों न मिल सकें वहाँ माँ तो उसे मिलनी ही चाहिए। अच्छा है, मैं बच्चे की बात भूल जाऊँ और नए सिरे से अपनी ज़िन्दगी शुरू करने की कोशिश करूँ...।

मगर...।

'फिज़ूल की भावुकता में कुछ नहीं रखा है। बच्चे-अच्चे तो होते ही रहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करके फिर से ब्याह कर लिया जाए, तो घर में और बच्चे हो जाएँगे। मन में इतना ही सोच लेना होगा कि इस बच्चे के साथ कोई दुर्घटना हो गई थी...।'

सोचने-सोचने में दिन, सप्ताह और महीने निकलते गए। मन में आशंका उठती–क्या सचमुच पहले की ज़िन्दगी को मिटाकर इंसान नए सिरे से ज़िन्दगी शुरू कर सकता है? ज़िन्दगी के कुछ वर्षों को वह एक दुःस्वप्न की तरह भूलने का प्रयत्न कर सकता है? कितने इंसान हैं जिनकी ज़िन्दगी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी दोराहे से गलत दिशा की तरफ़ भटक जाती है। क्या उचित यह नहीं कि इंसान उस रास्ते को बदलकर अपने को सही दिशा में ले आए? आखिर आदमी के पास एक ही तो ज़िन्दगी होती है–प्रयोग के लिए भी और जीने के लिए भी। तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को ज़िन्दगी की असफलता मान ले? कोर्ट में कागज़ पर हस्ताक्षर करते समय छत के पंखे से टकराकर एक चिड़िया का बच्चा नीचे आ गिरा।

''हाय, चिड़िया मर गई,'' किसी ने कहा।

''मरी नहीं, अभी ज़िन्दा है,'' कोई और बोला।

"चिड़िया नहीं है, चिड़िया का बच्चा है," किसी तीसरे ने कहा।

"नहीं, चिड़िया है।"

"नहीं, चिड़िया का बच्चा है।"

"इसे उठाकर बाहर हवा में छोड़ दो।"

"नहीं, यहीं पड़ा रहने दो। बाहर इसे कोई बिल्ली-विल्ली खा जाएगी।"

"पर यह यहाँ आया किस तरह?"

"जाने किस तरह? रोशनदान के रास्ते आ गया होगा।"

"बेचारा कैसे तड़प रहा है!"

"शुक्र है, पंखे ने इसे काट नहीं दिया।"

"काट दिया होता, तो बल्कि अच्छा था। अब इस तरह लुंजे पंखों से बेचारा क्या जिएगा।"

तब तक पति-पत्नी दोनों ने कागज़ पर हस्ताक्षर कर दिए थे। बच्चा उस समय कोर्ट के अहाते में कौओं के पीछे भागता हुआ किलकारियाँ भर रहा था। वहाँ आसपास धूल उड़ रही थी और चारों तरफ़ मटियाली-सी धूप फैली थी...।

फिर दिन, सप्ताह और महीने...!

अढाई साल गुज़र जाने पर भी वह फिर से ज़िन्दगी शुरू करने की बात तय नहीं कर पाया था। उस बीच बच्चा तीन बार उससे मिलने के लिए आया था। वह नौकर के साथ आता और दिन-भर उसके पास रहकर अँधेरा होने पर लौट जाता। पहली बार वह उससे शरमाता रहा था, मगर बाद में उससे हिल-मिल गया था। वह बच्चे को लेकर घूमने चला जाता, उसे आइसक्रीम खिलाता, खिलौने ले देता। बच्चा जाने के वक़्त हठ करता, "अबी नहीं दाऊँदा। दूद पीतल दाऊँदा। थाना थातल दाऊँदा।"

जब बच्चा इस तरह की बात कहता, तो उसके अन्दर कोई चीज़ दुखने लगती। उसका मन होता था कि नौकर को झिड़ककर वापस भेज दे और बच्चे को कम-से-कम रात-भर के लिए अपने पास रख ले। जब नौकर बच्चे से कहता, "बाबा, चलो, अब देर हो रही है," तो उसका मन एक हताश आवेश से काँपने लगता, और बहुत मुश्किल से वह अपने को सँभाल पाता। आख़िरी बार बच्चा रात के नौ बजे तक रुका रह गया तो एक अपरिचित व्यक्ति उसे लेने के लिए चला आया।

बच्चा उस समय उसकी गोदी में बैठा खाना खा रहा था।

"देखिए, अब बच्चे को भेज दीजिए, इसे बहुत देर हो गई," उस अजनबी ने कहा।

"आप देख रहे हैं, बच्चा खाना खा रहा है," उसका मन हुआ कि मुक्का मारकर उस आदमी के दाँत तोड़ दे।

"हाँ-हाँ, आप खाना खिला लीजिए," अजनबी ने उदारता के साथ कहा। "मैं नीचे इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

गुस्से के मारे उसके हाथ इस तरह काँपने लगे कि उसके लिए बच्चे को खाना खिलाना असम्भव हो गया।

जब नौकर बच्चे को लेकर चला गया, तो उसने देखा कि बच्चे की टोपी वहीं रह गई है। वह टोपी लिये हुए दौड़कर नीचे पहुँचा, तो देखा कि नौकर और अजनबी के अलावा बच्चे के साथ कोई और भी है—उसकी माँ। वे लोग चालीस-पचास गज़ आगे चल रहे थे। उसने नौकर को आवाज़ दी, तो चारों ने मुड़कर एकसाथ उसकी तरफ़ देखा। फिर नौकर टोपी लेने के लिए लौट आया और शेष तीनों आगे चलने लगे।

उस रात कम्बल में मुँह-सिर लपेटकर वह देर तक रोता रहा।

तब नए सिरे से फिर वही सवाल उसके मन में उठने लगा। क्यों वह अपने को इस अतीत से पूरी तरह मुक्त नहीं कर लेता? अगर बसा हुआ घरबार हो, तो उसकी चहल-पहल में वह इस दुख को भूल नहीं जाएगा? उसने अपने को इसीलिए तो बच्चे से अलग किया था कि अपनी ज़िन्दगी को एक नया मोड़ दे सके—फिर इस तरह अकेली ज़िन्दगी जीकर वह यह यन्त्रणा किसलिए सह रहा है?

परन्तु नए सिरे से ज़िन्दगी शुरू करने की कल्पना में सदा एक आशंका मिली रहती थी। वह जितना उस आशंका से लड़ता था, वह उतनी ही और तीव्र हो उठती थी—जब उसका एक प्रयोग सफल नहीं हुआ, तो कैसे कहा जा सकता था कि दूसरा प्रयोग सफल होगा?

वह पहले की भूल दोहराना नहीं चाहता था, इसलिए उसकी आशंका ने उसे बहुत सतर्क कर दिया था। वह जिस किसी लड़की को अपनी भावी पत्नी के रूप में देखता, उसके चेहरे में उसे अपने पहले की छाया नज़र आने लगती। हालाँकि वह स्पष्ट रूप से इस विषय में कुछ सोच नहीं पाता था, फिर भी उसे लगता कि वह किसी ऐसी ही लड़की के साथ जीवन बिता सकता है जो हर लिहाज़ से बीना के उलट हो। बीना में बहुत अहंकार था, वह उसके बराबर पढ़ी-लिखी थी, उससे ज़्यादा कमाती थी। उसे अपनी स्वतन्त्रता का बहुत मान था और उस पर भारी पड़ती थी। बातचीत भी वह खुले मरदाना ढंग से करती थी। वह अब एक ऐसी लड़की चाहता था जो हर लिहाज़ से उस पर निर्भर करे और जिसकी कमजोरियाँ एक पुरुष के आश्रय की अपेक्षा रखती हों।

कुछ ऐसी ही लड़की थी निर्मला—उसके मित्र कृष्ण जुनेजा की बहन। दो बार उसने उस लड़की को जुनेजा के यहाँ देखा था। बहुत सीधी-सी लड़की थी। साधारण पढ़ी-लिखी थी और साधारण ढंग से ही रहती थी। छब्बीस-सत्ताईस की होकर भी

देखने में वह अठारह-उन्नीस से ज़्यादा की नहीं लगती थी। वह जुनेजा के घर की कठिनाइयों को जानता था। उन कठिनाइयों के कारण ही शायद इतनी उम्र तक उस लड़की की शादी नहीं हो सकी थी। जब निर्मला के साथ उसके ब्याह की बात उठाई गई, तो उसे सचमुच लगा कि उसकी ज़िन्दगी अब सही पटरी पर आ जाएगी। बात तय हो जाने के बाद उसे अपना-आप काफ़ी भरा-भरा-सा लगने लगा। हवा और आकाश में उसे एक और ही आकर्षण लगने लगा। निर्मला ब्याहकर घर में आई भी नहीं थी कि वह शाम को लौटते हुए फूलों की वेनियाँ खरीदकर घर लाने लगा। अपना पहला घर उसे छोटा लगने लगा, इसीलिए उसने एक बड़ा घर ले लिया और नया फर्नीचर खरीदकर उसे सजा दिया। पास में ज़्यादा पैसे नहीं थे, फिर भी कर्ज़ लेकर उसने निर्मला के लिए कितना कुछ बनवा डाला...।

निर्मला हँसती हुई उसके घर में आई—मगर वह एक ऐसी हँसी थी जो हँसने का मौका न रहने पर भी थमने में नहीं आती थी।

पहले कुछ दिन तो वह समझ नहीं सका कि वह हँसी क्या है। निर्मला कभी भी बिना बात के हँसना शुरू कर देती और देर तक हँसती रहती। वह हैरान होकर उसे देखता रहता। तीन-चार साल के बच्चे भी वैसे आकस्मिक ढंग से नहीं हँसते थे जैसे वह हँसती थी। कोई उसके सामने गिर जाए या कोई चीज़ किसी के हाथ से गिरकर टूट जाए, तो उसके लिए अपनी हँसी रोकना असम्भव हो जाता था। ऐसे में लगातार दस-दस मिनट तक वह हँसी से बेहाल रहती। वह उसे समझाने की चेष्टा करता कि ऐसी बातों पर नहीं हँसा जाता, तो निर्मला को और भी हँसी छूटती। वह उसे डाँट देता, तो वह उसी आकस्मिक ढंग से बिस्तर पर लेटकर हाथ-पैर पटकती हुई रोने लगती, चिल्ला-चिल्लाकर अपनी मरी हुई माँ को पुकारने लगती, और अन्त में बाल बिखेरकर देवी बन जाती और घर-भर को शाप देने लगती। कभी अपने कपड़े फाड़कर इधर-उधर छिपा देती, अपने गहने जूतों के अन्दर सँभाल देती। कभी अपनी बाँह पर फोड़े की कल्पना करके दो-दो दिन उसके दर्द से कराहती रहती और फिर सहसा स्वस्थ होकर कपड़े धोने लगती और सुबह से शाम तक कपड़े धोती रहती।

जब मन शान्त होता, तो मुँह गोल किए वह अँगूठा चूसने लगती।

उठते-बैठते, खाते-पीते, प्रकाश के सामने निर्मला के तरह-तरह के रूप आते रहते और उसका मन एक अन्धे कुएँ में भटकने लगता। रास्ता चलते हुए उसके मन में एक शून्य-सा घिर आता और वह भौंचक्का-सा सड़क के किनारे खड़ा होकर सोचने लगता कि वह घर से क्यों आया है और कहाँ जा रहा है। उसका किसी से मिलने या कहीं भी आने-जाने को मन न होता। कई बार वह बिलकुल जड़ होकर देर-देर

तक एक ही जगह खड़ा या बैठा रहता। एक बार सड़क पर चलते हुए वह खम्भे से टकराकर नाली में गिर गया। एक बार बस पर चढ़ने की कोशिश में नीचे गिर जाने से उसकी बुश्शर्ट पीछे से फट गई और वह इससे बेखबर दूसरी बस में चढ़कर आगे चल दिया। उसे पता तब चला जब किसी ने रास्ते में उससे कहा, ''जेंटलमैन, तुम्हें घर जाकर कपड़े बदल लेने चाहिए?''

उसे लगता जैसे वह जी न रहा हो, अन्दर-ही-अन्दर घुट रहा हो। क्या यही वह ज़िन्दगी थी जिसे पाने के लिए उसने इतने साल अपने से संघर्ष किया था?

उसे गुस्सा आता कि जुनेजा ने उसके साथ ऐसा क्यों किया? उस लड़की को मानसिक अस्पताल में भेजने की जगह उसका ब्याह क्यों कर दिया? उसने जुनेजा को इस सम्बन्ध में पत्र लिखे, परन्तु उसकी ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। उसने जुनेजा को बुला भेजा, तो वह आया भी नहीं। वह स्वयं जुनेजा से मिलने गया, तो जवाब मिला कि निर्मला अब उसकी पत्नी है—उसके मायके के लोगों का उनकी ज़िन्दगी में कोई दखल नहीं है।

और निर्मला रात-दिन घर में उसी तरह हँसती और रोती रहती...!

''तुम मेरे भाई से क्या पूछने गए थे?'' वह बाल बिखेरकर 'देवी' का रूप धारण किए हुए कहती, ''तुम बीना की तरह मुझे भी तलाक देना चाहते हो? किसी तीसरी को घर में लाना चाहते हो? मगर मैं बीना नहीं हूँ। वह सती स्त्री नहीं थी। मैं सती स्त्री हूँ। तुम मुझे छोड़ने की बात मन में लाओगे, तो मैं इस घर को जलाकर भस्म कर दूँगी—सारे शहर में भूचाल ले आऊँगी। लाऊँ भूचाल?'' और बाँहें फैलाकर वह चिल्लाने लगती, ''आ भूचाल, आ...आ! मैं सती स्त्री हूँ, तो इस घर की ईंट से ईंट बजा दे। आ, आ, आ!''

वह उसे शान्त करने की चेष्टा करता, तो वह कहती, ''देखो, तुम मुझसे दूर रहो। मेरे शरीर को हाथ मत लगाओ। मैं सती स्त्री हूँ। देवी हूँ। तुम मेरा सतीत्व नष्ट करना चाहते हो? मुझे ख़राब करना चाहते हो? मेरा तुमसे ब्याह कब हुआ है? मैं तो अभी कँवारी हूँ। छोटी-सी बच्ची हूँ। संसार का कोई भी पुरुष मुझे नहीं छू सकता। मैं आध्यात्मिक जीवन जीती हूँ। मुझे कोई छूकर देखे तो...।''

और बाल बिखरे हुए इसी तरह बोलती-चिल्लाती कभी वह घर की छत पर पहुँच जाती और कभी बाहर निकलकर घर के आसपास चक्कर काटने लगती। उसने दो-एक-बार होंठों पर हाथ रखकर निर्मला का मुँह बन्द करना चाहा, तो वह और भी ज़ोर से चिल्लाने लगी, ''तुम मेरा मुँह बन्द करना चाहते हो? मेरा गला घोटना चाहते हो? मुझे मारना चाहते हो? तुम्हें पता है मैं देवी हूँ? मेरे चारों भाई चार शेर हैं! वे तुम्हें नोच-नोचकर खा जाएँगे। उन्हें पता है उसकी बहन देवी है। कोई मेरा बुरा चाहेगा, तो वे उसे उठाकर ले जाएँगे और काल-कोठरी में बन्द कर देंगे। मेरे बड़े भाई ने

अभी-अभी नई कार ली है। मैं उसे चिट्‌ठी लिख दूँ, तो वह भी कार लेकर आ जाएगा, और हाथ-पैर बाँधकर तुम्हें कार में डालकर ले जाएगा। छह महीने बन्द रखेगा, फिर छोड़ेगा। तुम्हें पता नहीं वे चारों के चारों शेर कितने ज़ालिम हैं? वे राक्षस हैं, राक्षस। आदमी की बोटी-बोटी काट दें और किसी को पता भी न चले। मगर मैं उन्हें नहीं बुलाऊँगी। मैं सती स्त्री हूँ, इसलिए अपने सत्य से ही अपनी रक्षा करूँगी...!"

सब कोशिशों से हारकर वह थका हुआ अपने पढ़ने के कमरे में बन्द होकर पड़ जाता, तो भी आधी रात वह साथ के कमरे में उसी तरह बोलती रहती। फिर बोलते-बोलते अचानक चुप कर जाती और थोड़ी बाद उसका दरवाज़ा खटखटाने लगती।

"क्या बात है?" वह कहता।

"इस कमरे में मेरी साँस रुक रही है," निर्मला जवाब देती, "दरवाज़ा खोलो, मुझे अस्पताल जाना है!"

"इस समय सो जाओ," वह कहता, "सुबह तुम जहाँ कहोगी, वहाँ ले चलूँगा।"

"मैं कहती हूँ दरवाज़ा खोलो, मुझे अस्पताल जाना है," और वह ज़ोर-ज़ोर से धक्के देकर दरवाज़ा तोड़ने लगती।

वह दरवाज़ा खोल देता, तो वह हँसती हुई उसके सामने आ जाती।

"तुम्हें हँसी किस बात की आ रही है?" वह कहता।

"तुम्हें लगता है मैं हँस रही हूँ?" निर्मला और भी ज़ोर से हँसने लगती, "यह हँसी नहीं, रोना है रोना।"

"तुम अस्पताल चलना चाहती हो?"

"क्यों?

"अभी तुम कह रही थीं...!"

"मैं अस्पताल जाने के लिए कहाँ कह रही थी? मैं तो कह रही थी कि मुझे उस कमरे में डर लगता है, मैं यहाँ तुम्हारे पास सोऊँगी।"

"देखो निर्मला, इस समय मेरा मन ठीक नहीं है। तुम बाद में चाहे मेरे पास आ जाना, मगर इस समय थोड़ी देर...।"

"मैं कहती हूँ मैं अकेली उस कमरे में नहीं सो सकती। मेरे जैसी छोटी-सी बच्ची क्या कभी अकेली सो सकती है?"

"तुम छोटी बच्ची नहीं हो, निर्मला!"

"तो तुम्हें मैं बड़ी नज़र आती हूँ? एक छोटी-सी बच्ची को बड़ी कहते तुम्हारे दिल को कुछ नहीं होता? इसलिए कि तुम अपने पास सुलाना नहीं चाहते? मगर मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी। तुम्हें मुझे अपने साथ सुलाना पड़ेगा। मैं विधवा हूँ जो अकेली सोऊँगी? मैं सुहागिन स्त्री हूँ। कोई सुहागिन क्या कभी अकेली सोती है? मैं भाँवरें

लेकर तुम्हारे घर में आई हूँ, ऐसे ही उठाकर नहीं लाई गई। देखती हूँ तुम कैसे मुझे उस कमरे में भेजते हो?" और वह उसके पास लेटकर उससे लिपट जाती।

कुछ देर में जब उसके स्नायु शान्त हो चुकते तो लगातार उसे चूमती हुई कहती, "मेरा सुहाग! मेरा चाँद! मेरा राजा! मैं तुम्हें कभी अपने से अलग रख सकती हूँ? तुम मेरे साथ एक सौ छत्तीस साल की उम्र तक जिओगे। मुझे यह वर मिला है कि मैं एक सौ छत्तीस साल की उम्र तक सुहागिन रहूँगी। जिसकी भी मुझसे शादी होती, वह एक सौ छत्तीस साल की उम्र तक जीता। तुम देख लेना मेरी बात सच निकलती है या नहीं। मैं सती स्त्री हूँ और सती स्त्री के मुँह से निकली बात कभी झूठ नहीं होती...।"

"तुम सुबह मेरे साथ अस्पताल चलोगी?"

"क्यों, मुझे क्या हुआ है जो मैं अस्पताल जाऊँगी? मुझे तो आज तक कभी सिरदर्द भी नहीं हुआ। मैं अस्पताल क्यों जाऊँगी?"

एक दिन प्रकाश उसके लिए कई किताबें खरीद लाया। उसने सोचा था कि शायद पढ़ने से निर्मला के मन को एक दिशा मिल जाए और वह धीरे-धीरे अपने मन के अँधेरे से बाहर निकलने लगे। मगर निर्मला ने उन किताबों को देखा, तो मुँह बिचकाकर एक तरफ़ हटा दिया।

"ये किताबें मैं तुम्हारे पढ़ने के लिए लाया हूँ," उसने कहा।

"मेरे पढ़ने के लिए?" निर्मला हैरानी के साथ बोली, "मैं इन किताबों को पढ़कर क्या करूँगी? मैंने तो मार्क्सवाद, मनोविज्ञान और सभी कुछ चौदह साल की उम्र में ही पढ़ लिया था। अब इतनी बड़ी होकर मैं ये किताबें पढ़ने लगूँगी?"

और उसके पास से उठकर अँगूठा चूसती हुई वह दूसरे कमरे में चली गई।

"पापा!"

कोहरे के बादलों में भटका मन सहसा बालकनी पर लौट आया। खिलनमर्ग की सड़क पर बहुत-से लोग घोड़े दौड़ाते जा रहे थे—एक धुँधले चित्र की बुझी-बुझी आकृतियाँ जैसे कुछ वैसे ही बुझी-बुझी आकृतियाँ क्लब से बाज़ार की तरफ़ आ रही थीं। बाईं तरफ़ बर्फ़ से ढकी पहाड़ी की एक चोटी कोहरे से बाहर निकल आई थी, और जाने किधर से आती धूप की एक किरण ने जिसे जगमगा दिया था। कोहरे में भटके कुछ पक्षी उड़ते हुए उस चोटी के सामने आ गए, तो सहसा उनके पंख सुनहरे हो उठे—मगर अगले ही क्षण वे फिर धुँधलके में खो गए।

प्रकाश कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और झाँककर नीचे सड़क की तरफ़ देखने लगा। क्या वह आवाज़ पलाश की नहीं थी? मगर सड़क पर दूर तक वैसी कोई आकृति

दिखाई नहीं दे रही थी। आँखों से टूरिस्ट होटल के गेट तक जाकर वह लौट आया और गले पर हाथ रखकर जैसे निराशा की चुभन को रोके हुए फिर कुर्सी पर बैठ गया। दस के बाद ग्यारह, बारह और फिर एक बज गया और बच्चा नहीं आया था। क्या बच्चे के पहले जन्मदिन की घटना आज फिर दोहराई जानी थी?

"पापा!"

प्रकाश ने चौंककर सिर उठाया। वही कोहरा और वही धुँधली सुनसान सड़क। दूर घोड़ों की टापें और धीमी चाल से उस तरफ़ को आता एक कश्मीरी मजदूर! क्या वह आवाज़ उसे अपने कानों के अन्दर से सुनाई दे रही थी?

तभी कानों के अन्दर दो नन्हे पैरों की आवाज़ भी गूँज गई और उसके बहुत पास बच्चे का स्वर किलक उठा, "पापा!" साथ ही दो नन्ही बाँहें उसके गले से लिपट गईं और बच्चे के झंडूले बाल उसके होंठों से छू गए।

प्रकाश ने बच्चे के शरीर को सिर से पैर तक छू लिया। फिर उसके माथे और आँखों को हलके से चूम लिया।

"तो मैं जाऊँ, पलाश?" एक भूली हुई मगर परिचित आवाज़ ने प्रकाश को फिर चौंका दिया। उसने घूमकर पीछे देखा। कमरे के दरवाज़े के बाहर बीना दाईं तरफ़ न जाने किस चीज़ पर आँखें गड़ाए खड़ी थी।

"आप?...अन्दर आ जाइए आप...।" कहता हुआ वह बच्चे को बाँहों में लिये अस्तव्यस्त-सा कुर्सी से उठ खड़ा हुआ।

"नहीं, मैं जा रही हूँ," बीना ने फिर भी उसकी तरफ़ नहीं देखा। "मुझे इतना बता दीजिए कि बच्चा कब तक लौटकर आएगा।"

"आप...जब कहें, तभी भेज दूँगा।" प्रकाश बालकनी की दहलीज़ लाँघकर कमरे में आ गया।

"चार बजे इसे दूध पीना होता है।"

"तो चार बजे तक मैं इसे वहाँ पहुँचा दूँगा।"

"इसने हलका-सा स्वेटर ही पहन रखा है। दूसरे पुलोवर की ज़रूरत तो नहीं पड़ेगी?"

"आप दे दीजिए। ज़रूरत पड़ेगी, तो मैं इसे पहना दूँगा।"

बीना ने दहलीज़ के उस तरफ़ से पुलोवर उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। उसने पुलोवर लेकर उसे शाल की तरह बच्चे को ओढ़ा दिया। "आप...," उसने बीना से फिर कहना चाहा कि अन्दर आ जाए, मगर उससे कहा नहीं गया। बीना चुपचाप ज़ीने की तरफ़ चल दी। प्रकाश कमरे से निकल आया। ज़ीने से बीना ने कहा, "देखिए, इसे आइसक्रीम वगैरह मत खिलाइएगा। इसका गला बहुत जल्द ख़राब हो जाता है।"

"अच्छा!"

बीना पल-भर रुकी रही। शायद उसे और भी कुछ कहना था। मगर फिर बिना कुछ कहे नीचे उतर गई। बच्चा प्रकाश की बाँहों में उछलता हुआ हाथ हिलाता रहा, ''ममी, टा टा! टा टा!'' प्रकाश उसे लिये बालकनी पर लौट आया तो वह उसके गले में बाँहें डालकर बोला, ''पापा, मैं आइछक्लीम जलूल थाऊँदा।''

''हाँ-हाँ बेटे!'' प्रकाश उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा, ''जो तेरे मन में आए सो खाना।''

और कुछ देर वह अपने को, बालकनी को, और यहाँ तक कि बच्चे को भी भूला हुआ सामने कोहरे में देखता रहा।

कोहरे का पर्दा धीरे-धीरे उठने लगा, तो मीलों तक फैले हरियाली के रंगमंच की धुँधली रेखाएँ स्पष्ट हो उठीं।

वे दोनों गॉल्फ-ग्राउंड पार करके क्लब की तरफ़ जा रहे थे। चलते हुए बच्चे ने पूछा, ''पापा, आदमी के दो टाँगें क्यों होती हैं? चार क्यों नहीं होतीं?''

प्रकाश ने चौंककर उसकी तरफ़ देखा और कहा, ''अरे!''

''क्यों पापा,'' बच्चा बोला, ''तुमने अरे क्यों कहा है?''

''तू इतना साफ़ बोल सकता है, तो अब तक तुतलाकर क्यों बोल रहा था?'' प्रकाश ने उसे बाँहों में उठाकर एक अभियुक्त की तरह सामने कर लिया। बच्चा खिलखिलाकर हँसा। प्रकाश को लगा कि वह वैसी ही हँसी है जैसी कभी वह स्वयं हँसा करता था। बच्चे के चेहरे की रेखाओं से भी उसे अपने बचपन के चेहरे की याद हो आई। उसे लगा जैसे एकाएक उसका तीस साल पहले का चेहरा उसके सामने आ गया हो और वह खुद उस चेहरे के सामने एक अभियुक्त की तरह खड़ा हो।

''ममी तो ऐछे ही अच्छा लदता है,'' बच्चे ने कहा।

''क्यों?''

''मेले तो नहीं पता। तुम ममी छे पूछ लेना।''

''तेरी ममी तुझे ज़ोर से हँसने से भी मना करती है?'' प्रकाश को वे दिन याद आए जब उसके खिलखिलाकर हँसने पर बीना कानों पर हाथ रख लिया करती थी।

बच्चे की बाँहें उसकी गर्दन के पास कस गईं। ''हाँ,'' वह बोला, ''ममी तहती है अच्छे बच्चे जोल छे नहीं हँछते।''

प्रकाश ने उसे बाँहों से उतार दिया। बच्चा उसकी उँगली पकड़े घास पर चलने लगा। ''त्यों पापा,'' उसने पूछा, ''अच्छे बच्चे जोल छे त्यों नहीं हँछते?''

''हँसते हैं बेटा!'' प्रकाश ने उसके सिर को सहलाते हुए कहा, ''सब अच्छे बच्चे ज़ोर से हँसते हैं।''

''तो ममी मेले तो त्यों लोतती है?''

''अब वह तुझे नहीं रोकेगी। और तू तुतलाकर नहीं, ठीक से बोला कर। तेरी ममी तुझे इसके लिए भी मना नहीं करेगी। मैं उससे कह दूँगा।''

''तो तुमने पहले ममी छे, त्यों नहीं तहा?''

''ऐसे नहीं, कह कि तुमने पहले ममी से क्यों नहीं कहा।''

बच्चा फिर हँस दिया, ''तो तुमने पहले ममी से क्यों नहीं कहा?''

''पहले मुझे याद नहीं रहा। अब याद से कह दूँगा।''

कुछ देर दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर बच्चे ने पूछा, ''पापा, तुम मेरे जन्मदिन की पार्टी में क्यों नहीं आए? ममी कहती थी तुम विलायत गए हुए थे।''

''हाँ, मैं विलायत गया हुआ था।''

''तो पापा, अब तुम विलायत नहीं जाना।''

''क्यों?''

''मेरे को अच्छा नहीं लगता। विलायत जाकर तुम्हारी शकल और ही तरह की हो गई है।''

प्रकाश एक रूखी-सी हँसी हँसा। ''कैसी हो गई है शकल?''

''पता नहीं कैसी हो गई है? पहले दूसरी तरह की थी, अब दूसरी तरह की है।''

''दूसरी तरह की कैसे?''

''पता नहीं। पहले तुम्हारे बाल काले-काले थे। अब सफ़ेद-सफ़ेद हो गए हैं।''

''तू इतने दिन मेरे पास नहीं आया, इसीलिए मेरे बाल सफ़ेद हो गए हैं।''

बच्चा इतने ज़ोर से हँसा कि उसके कदम लड़खड़ा गए। ''पापा, तुम तो विलायत गए हुए थे,'' उसने कहा, ''मैं तुम्हारे पास कैसे आता? मैं अकेला विलायत जा सकता हूँ?''

''क्यों नहीं जा सकता? तू इतना बड़ा तो है।''

''मैं सचमुच बड़ा हूँ न पापा?'' बच्चा ताली बजाता हुआ बोला, ''तुम यह बात भी ममी से कह देना। वह कहती है मैं अभी बहुत छोटा हूँ। मैं छोटा नहीं हूँ न पापा!''

''नहीं, तू छोटा कहाँ है?'' प्रकाश मैदान में दौड़ने लगा। ''अच्छा भागकर मुझे पकड़।''

बच्चा अपनी छोटी-छोटी टाँगें पटकता हुआ दौड़ने लगा। प्रकाश को फिर अपने बचपन की याद आई। उसे दौड़ते देखकर तब एक बार किसी ने कहा था, ''अरे यह बच्चा कैसे टाँगें पटक-पटककर दौड़ता है! इसे ठीक से चलना नहीं आता क्या?''

बच्चे की उँगली पकड़े प्रकाश क्लब के बार-रूम में दाखिल हुआ, तो बारमैन अब्दुल्ला उसे देखकर दूर से मुस्कुराया। ''साहब के लिए दो बोतल बियर,'' उसने पास खड़े बैरे से कहा। ''साहब आज अपने साथ एक मेहमान को लाया है।''

''बच्चे के लिए एक गिलास पानी दे दो,'' प्रकाश ने काउंटर के पास रुककर कहा, ''इसे प्यास लगी है।''

''ख़ाली पानी?'' अब्दुल्ला बच्चे के गालों को प्यार से सहलाने लगा। ''और सब दोस्तों को तो साहब बियर पिलाता है और इस बेचारे को ख़ाली पानी?'' और पानी की बोतल खोलकर वह गिलास में पानी डालने लगा। जब वह गिलास बच्चे के मुँह के पास ले गया, तो बच्चे ने यह अपने हाथ में ले लिया, ''मैं अपने आप पिऊँगा,'' उसने कहा, ''मैं छोटा थोड़े ही हूँ? मैं तो बड़ा हूँ।''

''तू बड़ा है?'' अब्दुल्ला हँसा, ''तब तो तुझे पानी देकर मैंने ग़लती की है। बड़े लोगों को तो मैं बियर ही पिलाता हूँ।''

''बियर क्या होता है?'' बच्चे ने मुँह से गिलास हटाकर पूछा।

''बियर होता नहीं, होती है।'' अब्दुल्ला ने झुककर उसे चूम लिया, ''तुझे पिलाऊँ क्या?''

''नहीं,'' कहकर बच्चे ने अपनी बाँहें प्रकाश की तरफ़ फैला दीं। प्रकाश उसे लेकर ड्योढ़ी की तरफ़ चला, तो अब्दुल्ला भी उन दोनों के साथ-साथ बाहर चला आया, ''किसका बच्चा है, साहब?'' उसने पूछा।

''मेरा लड़का है,'' कहकर प्रकाश बच्चे को सीढ़ी से नीचे उतारने लगा।

अब्दुल्ला हँस दिया। ''साहब बहुत खुशदिल आदमी है,'' उसने कहा।

''क्यों?''

अब्दुल्ला हँसता हुआ सिर हिलाने लगा, ''आपका भी जवाब नहीं है।''

प्रकाश कुछ कहने को हुआ, मगर अपने को रोककर बच्चे को लिये हुए आगे चल दिया। अब्दुल्ला ड्योढ़ी में रुककर पीछे से सिर हिलाता रहा। बैरा शेर मोहम्मद अन्दर से निकलकर आया, तो वह और भी खुलकर हँस दिया।

''क्या बात है? अकेला खड़ा कैसे हँस रहा है?'' शेर मोहम्मद ने पूछा।

''साहब का भी जवाब नहीं है,'' अब्दुल्ला किसी तरह हँसी पर काबू पाकर बोला।

''किस साहब का जवाब नहीं है?''

''उस साहब का,'' अब्दुल्ला ने प्रकाश की तरफ़ इशारा किया, ''उस दिन बोलता था कि इसने इसी साल शादी की है और आज बोलता है कि यह पाँच साल का बाबा इसका लड़का है। जब आया था, तो अकेला था। और आज इसके लड़का भी हो गया!'' प्रकाश ने एक बार घूमकर तीखी नज़र से उसकी तरफ़ देख लिया। अब्दुल्ला एक बार फिर खिलखिला उठा। ''ऐसा खुशदिल आदमी मैंने आज तक नहीं देखा।''

''पापा, घास हरी क्यों होती है? लाल क्यों नहीं होती?'' क्लब से निकलकर प्रकाश ने बच्चे को एक घोड़ा किराए पर ले दिया था। लिनेनमार्ग को जानेवाली पगडंडी पर वह खुद उसके साथ-साथ पैदल चल रहा था। घास के रेशमी फैलाव पर कोहरे का आकाश इस तरह झुका था जैसे अन्दर की उमड़ती वासना उसे अपने को उस पर दबा देने के लिए विवश कर रही हो। बच्चा उत्सुक आँखों से आसपास की पहाड़ियों और सामने से बहकर जाती पानी की पतली धार को देख रहा था। कभी कुछ क्षण वह अपने को भूला रहता, फिर अपने अन्दर के किसी भाव से प्रेरित होकर काठी पर उछलने लगता।

''हर चीज़ का अपना रंग होता है,'' प्रकाश ने बच्चे की जाँघ को हाथ से दबाए हुए कहा और कुछ देर खुद भी हरियाली के फैलाव में खोया रहा।

''हर चीज़ का अपना रंग क्यों होता है?''

''क्योंकि कुदरत ने हर चीज़ का अपना रंग बना दिया है।''

''कुदरत क्या होती है?''

प्रकाश ने झुककर उसकी जाँघ को चूम लिया। ''कुदरत यह होती है,'' उसने कहा। जाँघ पर गुदगुदी होने से बच्चा भी हँसने लगा।

''तुम झूठ बोलते हो,'' उसने कहा।

''क्यों?''

''तुमको इसका पता ही नहीं है।''

''अच्छा, तो तू बता, घास का रंग हरा क्यों होता है?''

''घास मिट्टी के अन्दर से पैदा होती है, इसलिए इसका रंग हरा होता है।''

''अच्छा? तुझे इसका कैसे पता चल गया?''

बच्चा उछलता हुआ लगाम को झटकने लगा। ''मेरे को ममी ने बताया था।''

प्रकाश के होंठों पर एक विकृति-सी मुस्कुराहट आ गई। उसे लगा जैसे आज भी उसके और बीना के बीच एक द्वन्द्व चल रहा हो और बीना उस द्वन्द्व में उस पर भारी पड़ने की चेष्टा कर रही हो। ''तेरी ममी ने तुझे और क्या-क्या बता रखा है?'' वह बोला, ''यह भी बता रखा है कि आदमी के दो टाँगें क्यों होती हैं और चार क्यों नहीं?''

''हाँ। ममी कहती थी कि आदमी के दो टाँगें इसलिए होती हैं कि वह आधा ज़मीन पर चलता है, आधा आसमान में।''

''अच्छा?'' प्रकाश के होंठों पर हँसी और मन में उदासी की एक रेखा फैल गई। ''मुझे इसका पता नहीं था।''

''तुमको तो किसी बात का भी पता नहीं है, पापा!'' बच्चा बोला, ''इतने बड़े होकर भी पता नहीं है!''

घास, बर्फ़ और आकाश के रंग दिन में कई-कई बार बदल जाते थे। बदलते रंगों के साथ मन भी और से और होने लगता था। सुबह उठते ही प्रकाश बच्चे के आने की प्रतीक्षा करने लगता। बार-बार वह बालकनी पर जाता और टूरिस्ट होटल की तरफ़ देखता हुआ देर-देर तक वहाँ खड़ा रहता। नाश्ता या खाना खाने जाने के लिए भी वह वहाँ से नहीं हटना चाहता था। उसे डर था कि बच्चा इस बीच वहाँ आकर लौट न जाए। तीन दिन में उसे साथ लिए वह कितनी ही बार घूमने के लिए गया था, उसके घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ा था और उसके साथ घास पर लोटता रहा था। बच्चा जान-बूझकर रास्ते के कीचड़ में अपने पाँव लथपथ कर लेता और होंठ बिसोरकर कहता, "पापा, पाँव धो दो।" वह उसे उठाए इधर-उधर पानी ढूँढ़ता फिरता। बच्चे को वह जिस किसी कोण से देखता, उसी कोण से उसकी तस्वीर ले लेना चाहता। जब बच्चा थक जाता और लौटकर अपनी ममी के पास जाने का हठ करने लगता, तो वह उसे तरह-तरह के लालच देकर अपने पास रोक रखना चाहता। एक बार उसने बच्चे को अपनी माँ के साथ दूर से आते देखा और उतरकर नीचे चला गया। जब वह पास पहुँचा, तो बच्चा दौड़कर उसकी तरफ़ आने की जगह माँ के साथ फोटोग्राफर की दुकान के अन्दर चला गया। वह कुछ देर सड़क पर रुका रहा, फिर यह सोचकर ऊपर चला आया कि फोटोग्राफर की दुकान से निकलकर बच्चा अपने-आप ऊपर आ जाएगा। मगर बालकनी पर खड़े-खड़े उसने देखा कि बच्चा दुकान से निकलकर उस तरफ़ आने की बजाय हठ के साथ अपनी माँ का हाथ खींचता हुआ उसे वापस टूरिस्ट होटल की तरफ़ ले जा रहा है। उसका मन हुआ कि फिर नीचे जाकर बच्चे को अपने साथ ले आए, मगर कोई चीज़ उसके पैरों को रोके रही और वह वहीं खड़ा उसे देखता रहा। शाम तक न जाने कितनी बार वह बालकनी पर आया और कितनी-कितनी देर वहाँ खड़ा रहा। आखिर उससे नहीं रहा गया, तो उसने नीचे जाकर कुछ चेरी खरीदी और बच्चे को देने के बहाने टूरिस्ट होटल की तरफ़ चल दिया। अभी वह टूरिस्ट होटल से कुछ फासले पर था कि बच्चा अपनी माँ के साथ बाहर आता दिखाई दिया। मगर उस पर नज़र पड़ते ही वह वापस होटल की गैलरी में भाग गया।

प्रकाश जहाँ था, वहीं खड़ा रहा। पल-भर के लिए उसकी आँख बीना से मिलीं। उसे लगा कि बीना का चेहरा पहले से कुछ साँवला हो गया है और उसकी आँखों के नीचे स्याह दायरे उभर आए हैं। वह पहले से काफ़ी दुबली भी लग रही थी। कुछ पल रुके रहने के बाद प्रकाश आगे बढ़ गया और चेरीवाला लिफाफा बीना की तरफ़ बढ़ाकर खुश्क गले से बोला, "यह मैं बच्चे के लिए लाया था।"

बीना ने लिफाफा ले लिया, मगर लेते हुए उसकी आँखें दूसरी तरफ़ मुड़ गईं। "पलाश!" उसने कुछ अस्थिर आवाज़ में बच्चे को पुकारा, "यह ले, पापा तेरे लिए चेरी लाए हैं।"

"मैं नहीं लेता," बच्चे ने गैलरी से कहा और भागकर और भी दूर चला गया।

बीना ने एक असहाय नज़र बच्चे पर डाली और प्रकाश की तरफ़ देखकर बोली, "कहता है, मैं पापा से नहीं बोलूँगा। वे सुबह रुके क्यों नहीं, चले क्यों गए?"

प्रकाश बीना को उत्तर न देकर गैलरी में चला गया और कुछ दूर बच्चे का पीछा करके उसने उसे बाँहों में उठा लिया। "मैं तुमसे नहीं बोलूँगा, कभी नहीं बोलूँगा," बच्चा अपने को छुड़ाने की चेष्टा करता कहता रहा।

"ऐसी क्या बात है?" प्रकाश उसे पुचकारने की चेष्टा करने लगा, "पापा से इस तरह नाराज़ होते हैं क्या?"

"तुमने मेरी तस्वीरें क्यों नहीं देखीं?"

"कहाँ थी तेरी तस्वीरें? मुझे तो पता ही नहीं था।"

"पता क्यों नहीं था? तुम दुकान के बाहर से ही क्यों चले गए थे?"

"अच्छा ला, पहले तेरी तस्वीरें देखें, फिर घूमने चलेंगे।"

"यह सुबह आपको दिखाने के लिए ही तस्वीरें लेने गया था," बीना के साथ खड़ी एक युवा स्त्री ने कहा। प्रकाश ने ध्यान नहीं दिया था कि उसके साथ कोई और भी है।

"तस्वीरें मेरे पास थोड़े ही न हैं? उसी के पास हैं।"

"सुबह फोटोग्राफर ने निगेटिव दिखाए थे, पाज़िटिव वह अब इस वक़्त देगा," उसी स्त्री ने फिर कहा।

"तो चल, पहले दुकान पर चलकर तेरी तस्वीरें ले लें। देखें तो सही कैसी तस्वीरें हैं!"

"मैं ममी को साथ लेकर जाऊँगा," बच्चे ने उसकी बाँहों में मचलते हुए कहा।

"हाँ, हाँ, तेरी ममी भी साथ आ रही है," कहते हुए प्रकाश ने एक बार बीना की तरफ़ देख लिया। बीना होंठ दाँतों में दबाए आँखें झपक रही थी। वह चुपचाप उसके साथ चल दी।

फोटोग्राफर की दुकान में दाखिल होते ही बच्चा प्रकाश की बाँहों से उतर गया और फोटोग्राफर से बोला, "मेरे पापा को मेरी तस्वीरें दिखाओ।" फोटोग्राफर ने तस्वीरें निकालकर मेज़ पर फैला दीं, तो बच्चा एक-एक तस्वीर उठाकर प्रकाश को दिखाने लगा, "देखो पापा, यह वहीं की तस्वीर है न जहाँ से तुमने कहा था, सारा काश्मीर नज़र आता है? और यह तस्वीर भी देखो जो तुमने मेरी घोड़े पर बैठे हुए उतारी थी...।"

"दो दिन से बिलकुल साफ़ बोल रहा है," बीना के साथ की युवा स्त्री ने कहा, "कहता है पापा ने कहा है तू बड़ा हो गया है, इसलिए अब तुतलाकर मत बोला कर।"

प्रकाश कुछ न कहकर तस्वीरें देखता रहा। फिर दस का एक नोट निकालकर फोटोग्राफर को देते हुए कहा, ''इसमें से आप अपने पैसे काट लीजिए!''

फोटोग्राफर पल-भर असमंजस में उसे देखता रहा। फिर बोला, ''पैसे तो अभी आप ही के मेरी तरफ़ निकलते हैं। मेम साहब ने जो बीस रुपए दिए थे, उनमें से दो-एक रुपए अभी बचते होंगे। कहें तो अभी हिसाब कर दूँ।''

''नहीं, रहने दीजिए, हिसाब बाद में हो जाएगा,'' कहकर प्रकाश ने नोट वापस ज़ेब में रख लिया और बच्चे की उँगली पकड़े दुकान से बाहर निकल आया। कुछ कदम चलने पर पीछे से बीना का स्वर सुनाई दिया, ''यह आपके साथ घूमने जा रहा है?''

''हाँ!'' प्रकाश ने थोड़ा चौंककर पीछे देख लिया। ''मैं अभी थोड़ी देर में इसे वापस छोड़ जाऊँगा।''

''देखिए, आपसे एक बात कहनी थी...''

''कहिए..।''

बीना पल-भर कुछ सोचती हुई चुप रही। फिर बोली, ''इसे ऐसी कोई बात मत बताइएगा जिससे यह...।''

प्रकाश को लगा जैसे कोई ठंडी चीज़ उसके स्नायुओं से छूट गई हो। उसकी आँखें झुक गईं और उसने धीरे से क़हा, ''नहीं, मैं ऐसी कोई बात इससे नहीं कहूँगा।'' उसे खेद हुआ कि एक दिन पहले जब बच्चा हठ करके कह रहा था कि 'पापा' और 'पिताजी' एक ही व्यक्ति को नहीं कहते–'पापा' को पापा कहते हैं और 'पिताजी' ममी के पापा को–तो वह क्यों उसकी गलतफ़हमी दूर करने की कोशिश करता रहा था।

वह अकेला बच्चों के साथ क्लब की सड़क पर चलने लगा, तो कुछ दूर जाकर बच्चा सहसा रुक गया। ''हम कहाँ जा रहे हैं, पापा?'' उसने पूछा।

''पहले क्लब चल रहे हैं,'' उसने कहा, ''वहाँ से घोड़ा लेकर आगे घूमने जाएँगे।''

''नहीं, मैं वहाँ उस आदमी के पास नहीं जाऊँगा,'' कहकर बच्चा सहसा पीछे की तरफ़ चल दिया।

''किस आदमी के पास?''

''वह जो वहाँ क्लब में था। मैं उसके हाथ से पानी भी नहीं पिऊँगा।''

''क्यों?''

''मुझे वह आदमी अच्छा नहीं लगता।''

प्रकाश पल-भर बच्चे को देखता रहा, फिर उसकी तरफ़ मुड़ आया। ''हाँ, हम उस आदमी के पास नहीं चलेंगे,'' उसने कहा, ''मुझे भी वह आदमी अच्छा नहीं लगता।''

बहुत दिनों के बाद उस रात प्रकाश को गहरी नींद आई। ऐसी नींद, जिसमें सपने दिखाई न दें, उसके लिए लगभग भूली हुई चीज़ हो चुकी थी। फिर भी जागने पर उसे अपने में ताज़गी का अनुभव नहीं हुआ, अनुभव हुआ एक ख़ालीपन का। जैसे कोई चीज़ उसके अन्दर उफनती रही हो, जो गहरी नींद सो लेने से चुक गई हो। रोज़ की तरह उठकर वह बालकनी पर गया। देखा आकाश साफ़ है। रात को सोया था, तो बारिश हो रही थी। मगर उस धुले-निखरे आकाश को देखकर आभास तक नहीं होता था कि कभी वहाँ बादल भी घिरे रहते थे। सामने की पहाड़ियाँ सुबह की धूप में धुलकर उजली हो उठी थीं।

प्रकाश काफ़ी देर वहाँ खड़ा रहा—अपनी ताज़गी में एक जड़ता का अनुभव करता हुआ। फिर दूर उठते बादल की तरह कोई चीज़ उसे अपने में उमड़ती महसूस होने लगी और उसका मन एक दबी-सी आशंका से सिहर उठा। कहीं ऐसा तो नहीं कि...?

वह बालकनी से हट आया। पिछली शाम बच्चे ने उसे बताया था—उसकी ममी कह रही थी कि दिन साफ़ हुआ, तो वे लोग सुबह वहाँ से चले जाएँगे। रात को जैसी बारिश हो रही थी, उससे सुबह तक आसमान खुलने की कोई सम्भावना नहीं लगती थी। इसलिए सोते वक़्त वह इस तरफ़ से लगभग निश्चिन्त था। मगर रात-रात में आसमान का रूप बिलकुल बदल गया था। तो क्या सचमुच आज वे लोग वहाँ से चले जाएँगे?

उसने कमरे में बिखरे सामान को देखा—कुछ इनी-गिनी चीज़ें थीं। चाहा कि उन्हें सहेज दे, मगर किसी भी चीज़ को रखने-उठाने को मन नहीं हुआ। बिस्तर को देखा। उसमें रोज़ से बहुत कम सलवटें थीं। लगा जैसे रात की गहरी नींद के लिए वह बिस्तर ही दोषी हो, और गहरी नींद बरसते आकाश के साफ़ हो जाने के लिए!

धीरे-धीरे दोपहर की तरफ़ बढ़ने लगी। इससे उसके मन को कुछ सहारा मिला। वह चाह रहा था कि इसी तरह शाम हो जाए और फिर रात—और बच्चा उससे विदा लेने न आए। मगर जब दोपहर भी ढलने लगी और बच्चा नहीं आया, तो उसके मन में एक और आशंका सिर उठाने लगी। कहीं ऐसा तो नहीं कि उसकी ममी सुबह-सुबह ही उसे लेकर वहाँ से चली गई हो?

वह बार-बार बालकनी पर जाता—एक धड़कती आशा लिए। बार-बार टूरिस्ट होटल की सड़क पर नज़र दौड़ाता और पहले से अधिक अस्थिर होकर कमरे में लौट आता। उसकी धमनियों में लहू की हर बूँद उत्कंठित और व्याकुल थी। उसने सुबह से कुछ खाया नहीं था, इसलिए भूख भी उसे परेशान कर रही थी। कुछ देर बाद कमरा बन्द करके वह खाना खाने चला गया। बड़े-बड़े कौर निगलकर किसी तरह दो रोटियाँ गले से उतारीं और जल्दी से वापस चला आया। मगर उतनी देर भी कमरे से बाहर रहना उसे एक अपराध-सा लग रहा था। लौटते हुए उसने सोचा कि उसे खुद जाकर टूरिस्ट होटल से पता कर लेना चाहिए। मगर सड़क की चढ़ाई चढ़ते हुए उसने दूर से देखा—बीना बच्चे के साथ उसकी बालकनी के नीचे सड़क पर खड़ी थी।

वह तेज़-तेज़ चलकर उनके पास पहुँच गया। मगर बच्चे ने उसकी तरफ़ नहीं देखा। वह अपनी माँ का हाथ खींचता हुआ किसी चीज़ के लिए हठ कर रहा था। प्रकाश ने उसकी बाँह हाथ में ली, तो वह बाँह छुड़ाने के लिए ज़मीन पर लोटने लगा। ''मैं तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा,'' उसने लगभग चीख़कर कहा। प्रकाश अचकचा गया और उसकी बाँह छोड़कर जड़-सा खड़ा रहा।

''मुझसे नाराज़ है क्या?'' उसने बिना दोनों में से किसी की तरफ़ देखे पूछ लिया।

''ममी, मेरे साथ ऊपर क्यों नहीं चलती?'' बच्चा उसी तरह चिल्लाया।

प्रकाश और बीना की आँखें मिलने को हुईं, मगर पूरी तरह नहीं मिल पाईं। प्रकाश ने बच्चे की बाँह फिर हाथ में ली और तटस्थ स्वर में बीना से कहा, ''आप भी आ जाइए न!''

''इसे आज जाने क्या हुआ!'' बीना कुछ झुँझलाहट के साथ बोली। ''सुबह से बात-बात पर तंग कर रहा है!''

''इस वक़्त यह अकेला मेरे साथ ऊपर नहीं जाएगा,'' प्रकाश ने स्वर की तटस्थता अब भी बनाए रखी।

''चल, मैं तुझे ज़ीने तक पहुँचा देती हूँ,'' बीना उसे उत्तर न देकर बच्चे से बोली, ''ऊपर से जल्दी लौट आना। घोड़ेवाले उधर तैयार खड़े हैं।''

प्रकाश को मन में एक नश्तर-सा चुभता महसूस हुआ। मगर जल्दी ही उसने अपने को सँभाल लिया। ''आप लोग आज ही जा रहे हैं?'' उसने चेष्टा की कि शब्दों से उसके मन का भाव प्रकट न हो।

''जी हाँ,'' बीना दूसरी तरफ़ देखती रही। ''जाना तो सुबह ही था, मगर इसके हठ की वजह से इतनी देर हो गई। अब भी यह...।'' और बात बीच में ही छोड़कर उसने बच्चे से फिर कहा, ''चल, तुझे ज़ीने तक पहुँचा दूँ।''

बच्चा प्रकाश के हाथ से बाँह छुड़ाकर कुछ दूर भाग गया। ''मैं नहीं जाऊँगा,'' उसने कहा।

''अच्छा आ,'' बीना बोली, ''मैं तुझे ऊपर पहुँचा देती हूँ—उस दिन की तरह।''

''मैं नहीं जाऊँगा,'' और बच्चा कुछ कदम और दूर चला गया।

''आप आप क्यों नहीं जातीं? यह इस तरह अपना हठ नहीं छोड़ेगा,'' प्रकाश ने होंठ काटते हुए कहा। बीना ने आँख झपकने तक उसकी तरफ़ देख लिया। उस दृष्टि में एक तीखा चुभता-सा भाव था। मगर आँख झपकने के साथ ही वह भाव घुल गया और उसने अपने को सहेज लिया। उसके चेहरे पर एक दृढ़ता आ गई और उसने बच्चे को बाँहों में उठा लिया। ''चल, मैं तेरे साथ चलती हूँ,'' उसने कहा।

बच्चे का रुआँसा भाव हँसी में बदल गया और उसने माँ के गले में बाँहें डाल दीं। प्रकाश उनसे आगे-आगे ज़ीना चढ़ने लगा।

ऊपर पहुँचकर बीना ने बच्चे को बाँहों से उतार दिया और कहा, ''ले, अब मैं जा रही हूँ।''

''नहीं,'' बच्चे ने उसका हाथ पकड़ लिया, ''तुम यहीं रहो।''

''बैठ जाइए,'' प्रकाश ने कुर्सी पर पड़ी दो-एक चीज़ें जल्दी से हटा दीं और कुर्सी बीना की तरफ़ बढ़ा दी। बीना कुर्सी पर न बैठकर चारपाई के कोने पर बैठ गई। तभी बच्चे का ध्यान न जाने किस चीज़ ने खींच लिया। वह उन दोनों को छोड़कर बालकनी में चला गया और वहाँ से उचककर सड़क की तरफ़ देखने लगा।

प्रकाश कुर्सी की पीठ पर हाथ रखे जैसे खड़ा था, वैसे ही खड़ा रहा। बीना चारपाई के कोने में और भी सिमटकर दीवार की तरफ़ देखने लगी। असावधानी के एक क्षण में उनकी आँखें मिल गईं, तो बीना ने अपनी पूरी शक्ति संचित करके पूछ लिया, ''कल इसकी ज़ेब में कुछ रुपए मिले थे। वे आपने रखे थे?''

''हाँ,'' प्रकाश ने अटकते स्वर से कहा, ''सोचा था, उनसे यह...कोई चीज़ बनवा लेगा।''

बीना पल-भर चुप रही। फिर बोली, ''क्या चीज़ बनवानी होगी?''

''कोई भी चीज़। कोई अच्छा-सा ओवरकोट या...।''

कुछ देर फिर चुप्पी रही। फिर बीना ने पूछ लिया, ''कैसा कोट बनवाना होगा?''

''कैसा भी। जैसा इसे अच्छा लगे, या...या जैसा आप ठीक समझें।''

''कोई ख़ास तरह का कपड़ा लेना हो, तो बता दीजिए।''

''ख़ास कपड़ा कोई नहीं...कैसा भी हो।''

''कोई ख़ास रंग...?''

''नहीं...हाँ...नीले रंग का हो, तो ज़्यादा अच्छा है।'' कहकर प्रकाश को थोड़ा अफसोस हुआ। उसे पता था बीना को नीले रंग पसन्द नहीं हैं।

बच्चा उछलता हुआ बालकनी से लौट आया और बीना का हाथ पकड़कर बोला, ''अब चलो।''

''पापा से प्यार तो किया नहीं और आते ही चल भी दिया?'' प्रकाश ने उसे बाँहों में ले लिया। बच्चे ने उसके होंठों से होंठ मिलाकर एक बार अच्छी तरह उसे चूम लिया और फिर झट से उसकी बाँहों से निकलकर माँ से बोला, ''अब चलो।''

बीना चारपाई से उठ खड़ी हुई। बच्चा उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर की तरफ़ खींचने लगा। ''तलो न ममी देल हो लही है,'' वह फिर तुतलाने लगा और बीना को साथ खींचता हुआ दहलीज़ पार कर गया।

''तू जाकर पापा को चिट्ठी लिखेगा न?'' प्रकाश ने पीछे से आवाज़ दी।

''लिथूँदा।'' मगर उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा। पीछे मुड़कर देखा एक बार बीना ने, और जल्दी से आँखें हटा लीं। आँखों की कोरों में अटके आँसू उसने बहने नहीं दिए। ''तूने पापा को टा-टा नहीं किया,'' उसने बच्चे के कन्धे पर हाथ रखे हुए कहा।

''टा-टा पापा!'' बच्चे ने बिना पीछे की तरफ़ देखे हाथ हिलाया और ज़ीने से बीना उतरने लगी। आधे ज़ीने से फिर उसकी आवाज़ सुनाई दी, ''पापा का धल अच्छा है ममी, हमाला धल अच्छा है। पापा के धल में तो कुछ छामान ही नहीं है...!''

''तू अब चुप करेगा कि नहीं!'' बीना ने उसे झिड़क दिया, ''जो मुँह में आता है बोलता जाता है।''

''नहीं तुप तलूँदा, नहीं तलूँदा तुप...,'' बच्चे का स्वर फिर रुआँसा हो गया और वह तेज़-तेज़ नीचे उतरने लगा। ''पापा का धल दन्दा! पापा का धल थू...!''

रात होते-होते आकाश फिर घिर गया। प्रकाश क्लब के बाररूम में बैठा एक के बाद एक बियर की बोतलें ख़ाली करता रहा। बारमैन अब्दुल्ला लोगों के लिए रम और ह्विस्की के पेग ढालता हुआ बार-बार कनखियों से उसकी तरफ़ देख लेता। इतने दिनों में पहली बार वह प्रकाश को इस तरह पीते देख रहा था। ''लगता है आज साहब ने कहीं से बड़ा माल मारा है,'' उसने एकाध बार शेर मोहम्मद से कहा, ''आगे कभी एक बोतल से ज़्यादा नहीं पीता था, और आज चार-चार बोतलें पीकर भी बस करने का नाम नहीं ले रहा।''

शेर मोहम्मद ने सिर्फ़ मुँह बिचका दिया और अपने काम में लगा रहा।

प्रकाश की आँखें अब्दुल्ला से मिलीं, तो अब्दुल्ला मुस्कुरा दिया। प्रकाश कुछ क्षण इस तरह उसे देखता रहा जैसे वह आदमी न होकर एक धुँधला-सा साया हो, और सामने का गिलास परे सरकाकर उठ खड़ा हुआ। काउंटर के पास जाकर उसने दस-दस के दो नोट अब्दुल्ला के सामने रख दिए। अब्दुल्ला बाक़ी पैसे गिनता हुआ खुशामदी स्वर में बोला, ''आज साहब बहुत खुश नज़र आता है।''

''हाँ।'' प्रकाश इस तरह उसे देखता रहा जैसे उसके सामने से वह साया धुँधला होकर बादलों में गुम हुआ जा रहा हो। वह चलने को हुआ, तो अब्दुल्ला ने पहले सलाम किया, फिर आहिस्ता से पूछ लिया, ''क्यों साहब, वह कौन बच्चा था उस दिन आपके साथ? किसका लड़का है वह?''

प्रकाश को लगा जैसे साया अब बिलकुल गुम हो गया हो और सामने सिर्फ़ बादल ही बादल घिरा रह गया हो। उसने जैसे बादल को चीरकर देखने की चेष्टा करते हुए कहा, ''कौन लड़का?''

अब्दुल्ला पल-भर भौंचक्का-सा हो रहा। फिर खिलखिलाकर हँस पड़ा। "तब तो मैंने शेर मोहम्मद से ठीक ही कहा था..." वह बोला।

"क्या?"

"कि साहब तबीअत का बादशाह है। जब चाहे किसी के लड़के को अपना लड़का बना ले, और जब चाहे...यहाँ गुलमर्ग में यह सब चलता है। आप जैसा हमारा एक और साहब है...।"

प्रकाश को लगा कि बादल बीच से फट गया है और चीलों की कई पंक्तियाँ उस दर्रे में से होकर दूर उड़ी जा रही हैं—वह चाह रहा है कि दर्रा किसी तरह भर जाए जिससे वे पंक्तियाँ आँखों से ओझल हो जाएँ; मगर दर्रे का मुहाना धीरे-धीरे और बड़ा होता जा रहा है। उसके गले से एक अस्पष्ट-सी आवाज़ निकली और वह अब्दुल्ला की तरफ़ से आँखें हटाकर वहाँ से चल दिया।

"बस एक बाज़ी और...!" अपनी आवाज़ की गूँज प्रकाश को स्वयं अस्वाभाविक-सी लगी। उसके साथियों ने हलका-सा विरोध किया, मगर पत्ते एक बार फिर बँटने लगे।

कार्ड-रूम तब तक लगभग ख़ाली हो चुका था। कुछ देर पहले तक वहाँ काफ़ी चहलपहल थी—कई-कई नाज़ुक हाथों से पत्तों की नाज़ुक चालें चली जा रही थीं और तिपाइयों पर शीशे के नाज़ुक गिलास रखे उठाए जा रहे थे। मगर अब आसपास चार-चार ख़ाली कुर्सियों से घिरी चौकोर मेज़ें ही रह गई थीं जो बहुत अकेली और उदास लग रही थीं। पॉलिश की चमक के बावजूद उनमें एक वीरागनी उभर आई थी। दीवार में बुख़ारी की आग कब की ठंडी पड़ चुकी थी। जाली के उस तरफ़ कुछ बुझे-अधबुझे अंगारे रह गए थे—सर्दी से ठिठुरकर स्याह पड़ते और राख में गुम होते हुए।

उसने पत्ते उठा लिए। हर बार की तरह इस बार भी सब बेमेल पत्ते थे—ऐसी बाज़ी कि आदमी चुपचाप फेंककर अलग हो जाए। मगर उसी के ज़ोर देने से पत्ते बँटे थे, इसलिए वह उन्हें फेंक नहीं सकता था। उसने नीचे से पत्ता उठाया, तो वह और भी बेमेल था। हाथ से कोई भी पत्ता चलकर वह उन पत्तों का मेल बिठाने की कोशिश करने लगा।

बाहर मूसलाधार बारिश हो रही थी—पिछली रात की बारिश से भी तेज़। खिड़की के शीशों से टकराती बूँदें एक चुनौती लिए आतीं मगर बेबस होकर नीचे ढुलक जातीं। उन्हें देखकर लगता जैसे कई चेहरे खिड़की के साथ सटकर लगातार आँसू बहा रहे हों। किसी क्षण हवा से किवाड़ हिल जाते, तो वे चेहरे जैसे हिचकियाँ लेने लगते। हिचकियाँ बन्द होने पर गुस्से से घूरने लगते। उन चेहरों के पीछे घना अँधेरा था जहाँ लगता था, कोई चीज़ छटपटाती हुई दम तोड़ रही है।

"डिक्लेयर!" प्रकाश चौंक गया। उसके हाथ के पत्तों में अब भी कोई मेल नहीं था—इस बार भी उसे फुल हैंड देना था। पत्ते फेंककर उसने पीछे टेक लगा ली और फिर खिड़की से सटे चेहरों को देखने लगा।

"तुम बहुत खुशक़िस्मत आदमी हो प्रकाश, हममें सबसे खुशक़िस्मत तुम्हीं हो...!" प्रकाश की आँखें खिड़की से हट आईं। पत्ते उठाकर रख दिए गए थे और मेज़ पर हार-जीत का हिसाब किया जा रहा था। हिसाब करनेवाला आदमी ही उससे कह रहा था, "कहते हैं न, जो पत्तों में बदक़िस्मत हो, वह ज़िन्दगी में खुशक़िस्मत होता है! अब देख लो सबसे ज़्यादा तुम्हीं हारे हो, इसलिए मानना पड़ेगा कि सबसे खुशक़िस्मत आदमी तुम्हीं हो।"

प्रकाश ने अपने नाम के आगे लिखे जोड़ को देखा। पल-भर के लिए उसकी धड़कन बढ़ गई कि ज़ेब में उतने पैसे हैं भी या नहीं। उसने पूरी ज़ेब ख़ाली कर ली। लगभग हारी हुई रकम के बराबर ही पैसे थे। रकम अदा कर देने के बाद दो-एक छोटे सिक्के ही उसके पास बच रहे—और उनके साथ वह अन्तर्देशीय पत्र जो शाम की डाक से आया और जिसे ज़ेब में रखकर वह क्लब चला आया था। पत्र निर्मला का था जो उसने अब तक खोलकर पढ़ा नहीं था। ज़ेब में पड़े-पड़े वह काफ़ी मुचड़ गया था। निर्मला के अक्षरों पर नज़र पड़ते ही उसके कई-कई चेहरे उसके सामने उभरने लगे—उसके हाथ का एक-एक अक्षर जैसे एक-एक चेहरा हो! घर से चलने के दिन भी वह उसके कितने-कितने चेहरे देखकर आया था! एक चेहरा हँस रहा था, एक रो रहा था; एक बाल खोले ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था और धमकियाँ दे रहा था और एक...एक भूखी आँखों से उसके शरीर को निगलना चाह रहा था! उसने अपनी ज़रूरत का कुछ सामान साथ लाना चाहा था, तो एक चेहरा उसके साथ कुश्ती करने पर उतारू हो गया था।

"निर्मला!" उसने हताश होकर कहा था, "तुम्हें इस तरह गुत्थमगुत्था होते शरम नहीं आती?"

"क्यों?" निर्मला हँस दी थी, "मरद और औरत रात-दिन गुत्थमगुत्था नहीं होते क्या?"

वह बिना एक कमीज़ तक साथ लिये घर से निकल आया था। बनियानें, तौलिए, कमीज़ें सबकुछ उसने आते हुए रास्ते में खरीदा था। यह सोचने के लिए वह नहीं रुका था कि उसके पास जो चार-पाँच रुपए हैं, वे इस तरह कितने दिन चलेंगे! बिछाने-ओढ़ने का सारा सामान भी उसने वहीं से किराए पर लिया था...!

और वहाँ आने के चौथे-पाँचवें दिन से ही निर्मला के पत्र आने शुरू हो गए थे—वह उसके किसी मित्र के यहाँ जाकर उसका पता ले आई थी। उन पत्रों में भी निर्मला के सब चेहरे झलक जाते थे...वह सख़्त बीमार है और अस्पताल जा रही है...उसके

भाई पुलिस में खबर करने जा रहे हैं कि उनका बहनोई लापता हो गया है...वह रात-दिन बेचैन रहती है और दीवारों से पूछती रहती है कि उसका पति कहाँ है... वह जोगन का वेश धारण करके जंगलों में जा रही है...दो दिन के अन्दर-अन्दर पत्र का उत्तर न आया, तो उसके भाई उसे हवाई जहाज़ में वहाँ भेज देंगे...उसके छोटे भाई ने उसे बहुत पीटा है कि वह अपने 'खसम' के पास क्यों नहीं जाती...!

अन्तर्देशीय पत्र प्रकाश की उँगलियों में मसल गया था। उसे फिर से ज़ेब में रखकर वह उठ खड़ा हुआ। बाहर ड्योढ़ी में कुछ लोग खड़े थे—इस इन्तज़ार में कि बारिश रुके, तो वहाँ से चलें। उनके बीच से होकर वह बाहर निकल आया।

"आप इस बारिश में जा रहे हैं?" किसी ने पूछ लिया। उसने उत्तर नहीं दिया और चुपचाप कच्चे रास्ते पर चलने लगा। सामने नीडोज़ होटल की बत्तियाँ जगमगा रही थीं—बाक़ी सब तरफ़, दाएँ-बाएँ और ऊपर-नीचे अँधेरा ही अँधेरा था। क्लब के अहाते से निकलकर वह सड़क पर पहुँचा, तो पानी और तेज़ हो गया।

उसका सिर पूरा भीग गया था और पानी की धारें गर्दन से होकर कमीज़ के अन्दर जा रही थीं। हाथ-पैर सुन्न हो रहे थे, फिर भी आँखों में एक जलन-सी महसूस हो रही थी। कीचड़ से लथपथ जूता चलने में आवाज़ करता, तो शरीर में कोई चीज़ झनझना जाती। तभी एक नई सिहरन उसके शरीर में दौड़ गई। उसे लगा कि वह सड़क पर अकेला नहीं है—कोई और भी अपने नन्हें-नन्हें पाँव पटकता उसके साथ चल रहा है। रास्ते की नाली पर बना लकड़ी का पुल पार करते हुए उसने घूमकर पीछे देख लिया। उसके साथ-साथ चल रहा था एक भीगा कुत्ता—कान झटकता हुआ, ख़ामोश और अन्तर्मुख!

फ़ौलाद का आकाश (1966)

भूमिका

(जवाहर चौधरी)

प्रिय जवाहर*,

तुम्हारा मुझ पर बहुत अधिकार है, फिर भी यह संग्रह तुम्हारी सीरीज के अन्तर्गत देने की बात से मैं अपने को सहमत नहीं पा रहा। नई कहानी की पीठिका के साथ मेरा सम्बन्ध किन स्तरों पर है और उसकी मानसिकता के विषय में मेरी क्या धारणाएँ हैं, इस विस्तार में यहाँ नहीं जाऊँगा। केवल इतना कहना चाहूँगा कि मैं उसे एक निरन्तर विकासशील दृष्टि के रूप में लेता हूँ जिसकी आन्तरिक सम्भावनाएँ किसी तरह के विरामचिह्न से अंकित नहीं की जा सकतीं। तुम्हारी योजना में एक ऐसे विराम-चिह्न का आभास है जिससे लगता है कि नई कहानी कुछ इने-गिने नामों तथा उनकी अब तक की उपलब्धियों तक ही सीमित है। ऐसी दृष्टि और किसी की भी हो, मेरी नहीं है। फिर तुम यह भी मानोगे कि यह एक महत्त्वपूर्ण निर्णय है जो कि प्रकाशकीय स्तर पर नहीं लिया जा सकता। इसलिए इस तरह के निर्णय का साझीदार न होने के लिए भी मैं चाहूँगा कि मेरा संग्रह तुम अलग से एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में ही प्रकाशित करो।

एक और बात। अपनी सीरीज को तुमने 'नई कहानी : नये संकलन' यह नाम न देकर कोई और नाम दिया होता–जो कि नई कहानी के अर्थ और सन्दर्भ को सीमित न करता–तो भी उसकी उपयोगिता तभी हो सकती थी, जब हर संग्रह के साथ लेखक की ओर से एक ऐसी भूमिका रहती जिसमें उसने अपनी रचना-प्रक्रिया तथा नई कहानी-सम्बन्धी अपनी दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत किया होता। इससे शायद समकालीन कहानी की विविधता के अन्तर्गत एक व्यापक अन्विति की खोज में और सहायता मिल सकती। परन्तु अब तक इस सीरीज में जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें

---

* यह पत्र राकेश के 1966 में प्रकाशित कहानी संग्रह "फौलाद का आकाश" के आरम्भ में दिया गया है। इसे जवाहर चौधरी एवं राजेन्द्र यादव के 'अक्षर प्रकाशन प्रा.लि.' द्वारा ही छापा गया था।

ऐसा कोई प्रयत्न नहीं है। इसलिए यह समझ में नहीं आता कि इन्हीं लेखकों के स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होनेवाले संग्रहों तथा एक सूत्र में पिरोए गए इन संग्रहों में किस आधार पर अन्तर किया जाए।

मैं तुम्हारे अनुरोध से सहमत हो सकूँ, तो उसका कारण तुम्हारे व्यक्तिगत आग्रह की रक्षा करना ही होगा जो कि निःसन्देह एक साहित्यिक मान नहीं है। इस तरह के व्यक्तिगत आग्रह को मानने का अपराध एक बार पहले कर चुका हूँ, अब दूसरी बार नहीं करना चाहता। स्थिति तब भी लगभग ऐसी ही थी जब राजेन्द्र यादव ने 'नये कहानीकार' शीर्षक सीरीज़ का सम्पादन किया था। तब भी मैं उस योजना के अन्तर्गत अपना संग्रह देने के पक्ष में नहीं था। उस बार आग्रह कमलेश्वर का था—इसलिए कि राजेन्द्र यादव ने पहली बार किसी तरह का सम्पादन-कार्य हाथ में लिया था और उस प्रस्ताव से सहमतच न होने का अर्थ था पूरी योजना का कार्यान्वित न हो पाना क्योंकि प्रकाशकों की ओर से इस आशय का एक पत्र आ चुका था। मेरे ऊपर कमलेश्वर का अधिकार और किसी से भी ज़्यादा है, फिर भी उस सीरीज़ में संग्रह दे देने के खेद से मैं अब तक उबर नहीं सका क्योंकि अर्थ अन्ततः उससे भी यही निकलता है कि नये कहानीकार केवल वे पाँच व्यक्ति हैं जिनके संग्रह उस सीरीज़ में आ गए हैं। पाँच के बाद और कहानी-संग्रह उस सीरीज़ में क्यों प्रकाशित नहीं हुए—और यह अन्य लेखकों के सहयोग के कारण हुआ या सम्पादकीय-प्रकाशकीय निर्णय से—मैं नहीं जानता। परन्तु इससे जो भ्रान्ति पैदा हुई और इसका जो अर्थ लिया गया, उससे मुझे बार-बार लगा है कि गलत समझते हुए भी मैंने तो एक मित्र के अनुरोध से उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया—चाहे इसके मूल में एक और मित्र के प्रति उस मित्र की सद्भावना ही थी—उससे इस तरह की धारणा की भूमि प्रस्तुत करने में कहीं मेरा भी दोष है। आज मैं फिर से वही दोष अपने ऊपर नहीं लेना चाहता।

संग्रह तुम्हें भेज रहा हूँ—परन्तु इस अनुरोध के साथ कि इसे प्रकाशित उसी रूप में करोगे जिस रूप में कि मैं इसका प्रकाशित होना उचित समझता हूँ।

सस्नेह

मोहन राकेश

आर-522, न्यू राजेन्द्रनगर,
नई दिल्ली-5

ग्लास-टैंक

मीठे पानी की मछलियाँ, कार्प परिवार की। देर-देर तक मैं उन्हें देखती रहती। शोभा पीछे से आकर चौंका देती। कहती, ''गोल्डफिश, फिर गोल्डफिश को देख रही है।''

मैं जानती थी वह मेरे भूरे-सुनहरे बालों की वजह से ऐसा कहती है। मुस्कुराकर मैं टैंक के पास से हट जाती। जाहिर करना चाहती कि ऐसे ही चलते-चलते रुक गई थी। शोभा सोफे पर पास बिठा लेती और मेरे बालों को सहलाने लगती। कहती, ''यह ग्लास-टैंक तेरे साथ भेज दें?''

मुझे उसकी उँगलियों का स्पर्श अच्छा लगता। उन्हें हाथ में लेकर देखती। पतली-पतली उँगलियाँ। नसें नीली लकीरों की तरह उभरी हुईं। मन होता उनके पोरों को होंठों से छू लूँ, मगर अपने को रोक जाती। डर लगता वह फिर कह देगी, ''यू सेंसुअस गर्ल। तू ज़िन्दगी में निभा कैसे पाएगी?''

उसकी उँगलियों में उँगलियाँ उलझाए बैठी रहती। सोफे के खुरदरे रेशों पर वे और भी मुलायम लगतीं। सेवार में तैरती नन्ही-नन्ही मछलियाँ। अपना हाथ जाल की तरह लगता। काँपती मछलियाँ जाल में सिमट आतीं। कुछ देर काँपने के बाद निर्जीव पड़ जातीं या हल्के-से प्रयत्न से छूट जातीं।

''तू खुश रहेगी न?'' मैं ऐसे पूछती जैसे मेरे पूछने पर कुछ निर्भर करता हो। वह एक कोमल हँसी हँस देती–ऐसी जो वही हँस सकती है। हवा में ज़र्रे बिखर जाते। मेरे अन्दर भी ज़र्रे बिखरने लगते। मैं उसका हाथ फिर हाथ में कस लेती। चुपचाप उसकी आँखों में देखती रहती। मगर कहीं सेवार नज़र न आती। उसकी आँखें भी हँसती-सी लगतीं।

''खुशी तो मन की होती है,'' वह कहती, ''अपने से ही पानी होती है। बाहर से कौन किसी को खुशी दे सकता है?''

बहुत स्वाभाविक ढंग से वह कहती मगर मुझे लगता झूठ बोल रही है। उसकी मुस्कुराती आँखें भीगी-सी लगतीं। एक ठंडी सिहरन मेरी उँगलियों में उतर आती।

''वह आजकल कहाँ है?'' मैं पूछ लेती।

''कौन?'' वह फिर झूठ बोलती।

"वही संजीव।"

"क्या पता?" उसकी भौंहों के नीचे एक हलकी-सी छाया काँप जाती, पर वह उसे आँखों में न आने देती–"साल-भर पहले कलकत्ता में था।"

"इधर उसकी चिट्ठी नहीं आई?"

"नहीं।"

"तूने भी नहीं लिखी?"

"ना।"

"क्यों?"

वह हाथ छुड़ा लेती। दरवाज़े की तरफ़ देखती, जैसे कोई उधर से आ रहा हो। फिर अपनी कलाई में काँच की चूड़ियों को ठीक करती। आँखें मुँदने को होतीं, पर उन्हें प्रयत्न से खोल लेती। मुझे लगता उसके होंठों पर हलकी-हलकी सलवटें पड़ गई हैं। "वे सब बेवकूफ़ी की बातें थीं," वह कहती।

मन होता उसके होंठों और आँखों को अपने बहुत पास ले आऊँ। उसकी ठोड़ी पर ठोड़ी रखकर पूछूँ, "तुझे विश्वास है न तू खुश रहेगी?" मगर मैं कुछ न कहकर चुपचाप उसे देखती रहती। वह मुस्कुराती और कोई धुन गुनगुनाने लगती। फिर एकाएक उठ जाती। "ममी मुझे ढूँढ़ रही होंगी," वह कहती, "अभी आती हूँ। तू तब तक मछलियों से जी बहला। आंटी से कहना पड़ेगा कि अब तेरे लिए भी..."

"मेरे लिए क्या?"

"उन्हीं से कहूँगी, तू क्यों पूछती है?"

वह चली जाती तो सजा हुआ ड्राइंग रूम बहुत अकेला हो जाता। मैं खिड़की के पास चली जाती। खिड़की के परदे, किवाड़ सब ठंडे लगते। साँस अन्दर रुकती-सी प्रतीत होती। जल्दी-जल्दी साँस लेती कि कहीं ब्रांकाइटस का दौरा पड़ता था तो उसके मुँह से बात नहीं निकलती थी।

लॉन में किन्नी और पप्पू खेल रहे होते। एक-दूसरे के पीछे दौड़ते, किलकारियाँ भरते हुए। किन्नी को गिराकर पप्पू उसके पेट पर सवार हो जाता। किन्नी उठने के लिए छटपटाती, हाथ-पैर पटकती, पर वह उसके कन्धों को हाथों से दबाए उसे ज़मीन से चिपकाए रहता। जितनी ही वह कोशिश करती, उतना ही उसे दबा देता। किन्नी चीख़ने लगती, तो एकाएक छोड़कर भाग खड़ा होता। किन्नी रोती हुई उठती, फ्रॉक से आँसू पोंछती और पल-भर रुआँसी रहकर उसके पीछे दौड़ने लगती। पप्पू उसे धमकाता। वह मुँह बिचका देती। फिर दोनों हँसने लगते। एक चिड़िया घास की तिगलियाँ तोड़-तोड़कर मुँह में भरती जाती...

शोभा से कितनी-कितनी बातें पूछा करती थी। वे मछलियाँ जीती किस तरह से हैं? खाने को उन्हें क्या दिया जाता है? कैसे दिया जाता है? उनकी ज़िन्दगी कितने

दिनों की होती है? अंडे कहाँ देती हैं? और एक बार पूछ लिया था, ''यहाँ पाँच-छह तरह की मछलियाँ एक-एक ही तो हैं। इनकी इमोशनल लाइफ...?''

शोभा ने हँसकर फिर वही बात कह दी थी, ''अरे, मैं तो आंटी से कहना भूल ही गई। अब ज़रूर कह दूँगी कि जल्दी से तेरे लिए...''

मुझे यह मज़ाक अच्छा न लगता। वह न जाने क्या सोचती थी कि मैं टैंक के पास देर-देर तक क्यों खड़ी रहती हूँ? मैं उसे क्या बताती कि मैं वहाँ क्या देखने जाती हूँ। कैलिकोज के पैरों की लचक? ब्लैक मूर के जबड़ों का खुलना और बन्द होना? बिल्लौरी पानी में तैरती सुनहरी मछलियाँ अच्छी लगती थीं, मगर हर बार देखकर मन में उदासी भर जाती थी। सोचती, कैसे रह पाती हैं ये? खुले पानी के लिए कभी इनका जी नहीं तरसता? कभी इन्हें महसूस नहीं होता कि ये सब एक-एक और अकेली हैं। एक दूसरी से कुछ कहना चाहती हैं? या कभी शीशे से इसलिए टकराती हैं कि शीशा टूट जाए? शीशे के और आपस के बन्धन से ये मुक्त हो जाएँ? शोभा कहती, ''देख, यह ओरिंडा है, यह फैन टेल है। साल में एक बार, बसन्त में, ये अंडे देती हैं। कुल दो साल इनकी ज़िन्दगी होती है। हवा इन्हें एरिएटर से दी जाती है। पानी का टेम्परेचर पचास से साठ डिग्री फैरनहाइट के बीच रखना होता है। खाने को इन्हें ड्राई फूड देते हैं, ब्रेड भी खा लेती हैं। नीचे समुद्री घास इसलिए बिछाई जाती है कि...''

मेरे मुँह से उसाँस निकल पड़ती। जाने वह उसका भी क्या मतलब लेती थी। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे अपने साथ सटाए कुछ सोचती-सी खड़ी रहती। उस दिन उसने पूछ लिया, ''सच-सच बता, तू किसी से प्यार नहीं करती?''

मुझे शैतानी सूझी, कहा, ''करती हूँ।''

उसने मेरे गाल अपने हाथ में ले लिये और मेरी आँखों में देखते हुए पूछा, ''क़िस्से?''

मैं हँस दी। कहा, ''तुझसे, ममा से, मछलियों से।''

उसके नाख़ून गालों में चुभने लगे। वह उसी तरह मुझे देखती रही। मैंने होंठ काटकर पूछा, ''और तू?''

उसने हाथ हटाए, तो लगा जैसे मेरे गाल छील दिए हों। उसकी भौंहों के नीचे वही हलकी-सी छाया काँप गई—पर उतनी हलकी नहीं। फुसफुसाने की तरह उसने कहा, ''किसी से भी नहीं।''

जाने क्यों मेरा मन भर आया। चाहा उससे कहूँ शादी न करे। पर कहा नहीं गया। सोचा, उसकी शादी से एक रोज़ पहले ऐसी बात कहना अच्छा नहीं होगा...

सुभाष को आना था, लौटने की जल्दी थी। बार-बार ममा को याद दिलाती थी कि बृहस्पति को ज़रूर चल देना है—ऐसा न हो कि वह आए और हम घर पर न हों। ममा सुनकर व्यस्त हो उठतीं। सुभाष को आने के लिए लिखा खुद उन्होंने ही

था। बचपन से उसे जानती थीं। जब उसके पिता की मृत्यु हुई, कुछ दिनों के लिए उसे अपने यहाँ ले आई थीं। तब वह छोटा नहीं था। बी.ए. में पढ़ता था। हम लोग बहुत छोटे रहे होंगे, हमें उसकी याद नहीं। ममा से ज़िक्र सुना करते थे। वह हफ्ता-भर रहा था। सत्रह साल का था तब। बातों से लगता था जैसे बहुत बड़ा हो। डैडी के साथ फिलॉसफी की बातें किया करता था। ममा उसकी बातें सुनते-सुनते काम करना भूल जाती थीं। डैडी गुस्सा होते थे। ममा को दुख होता कि वह उस छोटी-सी उम्र में ऐसी-ऐसी बातें क्यों करने लगा है। वह उतना पढ़ता नहीं था जितना सोचता था। बात करते हुए भी लगता था जैसे बोल न रहा हो, कुछ सोच रहा हो। अपने घुँघराले बालों में उँगलियाँ उलझाए उनकी गाँठें खोलता रहता था। खाने को कुछ भी दिया जाए, तो चुपचाप खा लेता था। पूछा जाए कि नमक कम-ज़्यादा तो नहीं, तो चौंक उठता था। "...यह तो मैंने नोट ही नहीं किया, अब चखकर बताता हूँ।" बताने के लिए सचमुच चीज़ चखकर देखता था। ममा जब भी उसका ज़िक्र करतीं, उनकी आँखें भर आतीं। कहतीं कि इस लड़के को ज़िन्दगी में मौका मिलता तो जाने क्या बनता। जब पता चला कि वह ए.जी. आफिस में क्लर्क लग गया है, तो ममा से पूरा दिन खाना नहीं खाया गया था।

"ममी, सुभाष हम लोगों का क्या लगता है?" हम थोड़ा बड़े हुए तो ममा से पूछा करते थे। ममा मुझे और बीरे को बाँहों में लिये हुए कहतीं, "वह तुम लोगों का वह लगता है जो और कोई नहीं लगता।" मैं और बीरे बाद में अनुमान लगाया करते, मगर किसी नतीज़े पर न पहुँच पाते। आखिर बीरे कहता, "वह हम लोगों का कुछ भी नहीं लगता।"

इस पर मेरी-उसकी लड़ाई हो जाती।

बाद के सालों में कभी-कभी उसकी खबर आया करती थी। ममा बतातीं कि प्राइवेट एम.ए. करके अब लेक्चरर हो गया है। उसे बाहर जाने के लिए स्कॉलरशिप मिल रहा है, मगर उसने नहीं लिया। कहता है जिस सब्जेक्ट के लिए स्कॉलरशिप मिल रहा है, उसमें रुचि नहीं है। साल गुज़रते जाते, ममा उसे तीन-तीन चिट्ठियाँ लिखतीं तो उसका एक जवाब आता। वह सबको पढ़कर सुनातीं, दिन-भर उसकी बातें करती रहतीं, फिर चिट्ठी सँभालकर रख देतीं। सुना रही होतीं, तो उत्सुकता सिर्फ़ मुझी को होती। बीरे मज़ाक करता। कहता, उस नाम का कोई आदमी है ही नहीं, ममा खुद चिट्ठी लिखकर अपने नाम डाल देती हैं। डैडी सुनते हुए भी न सुनते, अखबार या किताब में आँखें गड़ाए रहते। कभी-कभी उनकी भौंहें तन जातीं और अपनी उकताहट छिपाने के लिए वह उठ जाते। मैं ममा से पूछ लेती, "ममी, ये चिट्ठी तो लिख देते हैं, हमारे यहाँ कभी आते क्यों नहीं?"

"कोई हो तो आए!" बीरे कहता।

ममा बिगड़ उठतीं। उन्हें लगता बीरे अपशकुन की बात कर रहा है। बीरे हँसता हुआ लॉजिक झाड़ने लगता है। ''ममी, किसी चीज़ के होने का सबूत है...''

''वह चीज़ नहीं, आदमी है।'' लगता, ममा उसके मुँह पर चपत मार देंगी। मैं बाँह पकड़कर बीरे को एक दूसरे कमरे में ले जाती। कहती, ''बीरे, तू इतना बड़ा होकर ममी को तंग क्यों करता है?''

बीरे मुस्कुराता रहता, जैसे डाँट या प्यार का उस पर कोई असर ही न होता हो। कहता, ''उन्हें चिढ़ाने में मुझे मज़ा आता है।''

''और वह जो रोती हैं...।''

''इसीलिए तो चिढ़ाता हूँ कि रोने की जगह हँसने लगें।''

दो साल हुए ममा सुभाष के ब्याह की खबर लाई थीं। ट्यूमर के इलाज के लिए दिल्ली गई थीं तो अचानक उससे भेंट हो गई थी। छुट्टी में वह अपनी पत्नी के साथ वहाँ आया हुआ था। ममा ने उसकी पत्नी को दूर से देखा था। वह दुकान के अन्दर शापिंग कर रही थी। सुभाष ने उन्हें मिलाने का उत्साह नहीं दिखाया, व्यस्तता दिखाते हुए झट-से विदा ले ली। कहा, पत्र लिखेगा। ममा बहुत बुरा मन लेकर आईं। बोलीं, सुभाष अब वह सुभाष नहीं रहा, बिलकुल और हो गया है। शरीर पहले से भर गया है ज़रूर, मगर आँखों के नीचे स्याही उतर आई है। बातचीत का लहजा भी बदल गया है। खोया-खोया उसी तरह लगता है; मगर वह खुलापन नहीं है जो पहले था। कहीं अपने अन्दर रुका हुआ, बँधा हुआ-सा लगता है। ममा के पूछने पर कि उसने ब्याह की खबर क्यों नहीं दी, वह बात को टाल गया। एक ही छोटा-सा उत्तर सब बातों का उसने दिया—पत्र लिखेगा।

ममा कई दिन उस बात को नहीं भूल पाईं। ट्यूमर से ज़्यादा वह चीज़ उन्हें सालती रही। सुभाष—वह सुभाष जिसे वह घर लाई थीं, जिसे वह पत्र लिखा करती थीं, जिसकी वह बातें किया करती थीं, वह तो ऐसा नहीं था...ऐसा उसे होना नहीं चाहिए था...तेरह साल हो गए थे उसे देखे हुए, मिले हुए, फिर भी...

''पत्नी सुन्दर मिल गई होगी,'' मैंने ममा से कहा, ''तभी न आदमी सब नाते-रिश्ते भूल जाता है।''

ममा पल-भर अवाक्-सी मेरी तरफ़ देखती रहीं। जैसे अचानक उन्हें लगा कि मैं बड़ी हो गई हूँ; सयानी बात कर सकती हूँ। उन्होंने मेरे बालों को सहला दिया और कहा, ''नाता-रिश्ता नहीं है, फिर भी मैं सोचती थी कि...''

''पत्नी उसकी सुन्दर है न?'' मैंने फिर पूछ लिया।

''ठीक से देखा नहीं,'' ममा अन्तर्मुख-सी बोलीं, ''दूर से लगा था सुन्दर है...''

''तभी...'' शब्द पर अपनी अठारह साल की परिपक्वता का इतना बोझ मैंने लाद दिया कि ममा उस मनःस्थिति में भी मुस्कुरा उठीं।

दो साल उसका पत्र नहीं आया। ममा ने भी उसे नहीं लिखा। उस बार मिलने के बाद उनका मन खिंच गया था। बातें कभी कर लेतीं, मगर ज़िद के साथ कहतीं कि पत्र नहीं लिखेंगी। बीरे मज़ाक में कह देता, सुभाष की चिट्ठी आई है। ममा जानते हुए भी अविश्वास न कर पातीं। पूछ लेतीं, "सचमुच आई है?" मैं उलझती कि वह क्यों नहीं समझतीं कि बीरे झूठ बोलता है। ममा छिली-सी ही रहतीं। अकेले में मुझसे कहतीं "जाने उसे क्या हो गया है। यही मनाती हूँ खुश हो, खुश रहे। उस दिन ठीक से बात कर लेता, तो इतनी चिन्ता न होती..."

मैं सिर हिलाती और तीलियाँ गिनती रहती। उन दिनों आदत-सी हो गई थी। जब भी ममा के पास बैठती, माचिस खोल लेती और तीलियाँ गिनने लगती।

उस दिन कोई बाहर से आए थे। ममा और डैडी को तब से जानते थे, जब वे स्यालकोट में थे। एक ही गली में शायद सब लोग साथ रहते थे। यहाँ अपनी एजेन्सी देखने आए थे। डैडी को पता चला तो घर खाने पर बुला लाए। कुछ काम भी था शायद उनसे। ममा इससे खुश नहीं थीं। स्यालकोट में शायद वह उतने बड़े आदमी नहीं थे। ममा उन दिनों की नज़र से ही उन्हें देखती थीं।

वह आए और काफ़ी देर बैठे रहे। बहुत दिनों बाद डैडी ने उस दिन ह्विस्की पी। खूब घुलमिलकर बातें करते रहे। पहले कमरे में दोनों अकेले थे, फिर उन्होंने ममा को भी बुला लिया। ममा पत्थर की मूर्ति-सी बीच में जा बैठीं। पानी या पापड़ देने के लिए मैं बीच-बीच में अन्दर जाती थी। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "यह बिलकुल वैसी नहीं लगती जैसी उन दिनों कुन्तल लगा करती थी? इतने साल न बीत गए होते, और मैं बाहर कहीं इसे देखता, तो यही सोचता कि..."

मुझे अच्छा लगा। ममा उन दिनों की अपनी तस्वीरों में बहुत सुन्दर लगती थीं। मैं ममा से कहा भी करती थी। मैं भी उन-जैसी लगती हूँ। यह मुझसे पहले किसी ने नहीं कहा था।

एक बार अन्दर गई, तो वह किन्हीं डॉक्टर शम्भुनाथ का ज़िक्र कर रहे थे। कह रहे थे, 'पार्टीशन में डॉक्टर शम्भुनाथ का सारा खानदान तबाह हो गया—एक लड़के को छोड़कर। जिस दिन एक मुसलमान ने केस देखकर लौटते हुए डॉक्टर शम्भुनाथ को छुरा घोंपकर मारा...'

ममा किन्नी को सुलाने के बहाने उठ आईं। किन्नी पहले से सो गई थी। मगर ममा लौटकर नहीं गईं। गुमसुम-सी चारपाई की पायँती पर बैठी रहीं। मैंने पास जाकर कहा, "ममा!" तो ऐसे चौंक गईं जैसे अचानक कील पर पैर रखा गया हो।

खाने के वक़्त फिर वही ज़िक्र उठ आया। वह कह रहे थे, "शम्भुनाथ का लड़का भी ख़ास तरक्की नहीं कर सका। बीवी के मरने के बाद शम्भुनाथ ने किस तरह उसे पाला था! कैसा लाल और गलगोदना बच्चा था। उधर उसका भी एक एक्सीडेंट हो गया है..."

"सुभाष का एक्सीडेंट हुआ है?" ममा, जो बात को अनसुनी कर रही थीं, सहसा बोल उठीं। डैडी ने ख़ाली डूँगा मुझे दे दिया कि और मीट ले आऊँ। उनके चहरे से मुझे लगा जैसे यह बात पूछकर ममा ने कोई अपराध किया हो।

मीट लेकर गई, तो ममा रुआँसी हो रही थीं। ये सज्जन बता रहे थे, "सुना है घर में कुछ ऐसा ही सिलसिला चल रहा था। असलियत क्या है, क्या नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है? लोग कई तरह की बातें करते हैं। पर उसके एक ख़ास दोस्त ने मुझे बताया कि जान-बूझकर ही चलती मोटर के सामने..."

डैडी ने मुझे फिर किचन में भेज दिया। इस बार मेज़ पर चावल और चपातियों की ज़रूरत थी। वापस पहुँची, तो डैडी को कहते सुना, "आई आलवेज़ थॉट द बॉय हैड सुइसाइडल टेंडेंसीज़।"

सुभाष का नया पता ममा ने उन्हीं से लिया था। डैडी कई दिन बिना वजह ममा पर बिगड़ते रहे। बिगड़ते पहले भी थे, मगर इतना नहीं। ममा चुपचाप उनकी डाँट सुन लेतीं, उनसे बहस न करतीं। बहस करना उन्होंने लगभग छोड़ दिया। कड़ी-से-कड़ी बात दम साधकर सुन लेतीं और काम में लग जातीं। कोई काम डैडी की मर्ज़ी के खिलाफ करना होता, तो उसके लिए भी बहस न करतीं, चुपचाप कर डालतीं। डैडी से कुछ कहने या चाहने में जैसे अपना-आप उन्हें छोटा लगता हो। घर के ख़र्च तक के लिए कहने में। डैडी अपने-आप जो दे दें, दे दें। कम पड़ता, तो कुनमुना लेतीं, या मुझसे कह लेतीं। मगर मुझे भी डैडी से माँगने नहीं देतीं।

सुभाष को उन्होंने पत्र खुद नहीं लिखा, मुझसे लिखाया। जो कुछ लिखना था, वह मुझे बता दिया, मेरे पत्र लिखे को सुधार भी दिया। आशय इतना ही था कि हम एक्सीडेंट की खबर पाकर चिन्तित हैं। चाहते हैं कि एक बार वह आकर मिल जाए। पत्र पूरा करके मैंने ममा से पूछा, "ममी, तुम खुद क्यों नहीं देखने चली जातीं?"

ममा ने सिर हिला दिया। सिर हिलाने से पहले एक बार डैडी के कमरे की तरफ़ देख लिया। डैडी किसी से बात कर रहे थे। "आना होगा, आ जाएगा।" ममा ने कुछ तटस्थता और अन्यमनस्कता के साथ कहा। शायद उन दिनों हाथ ज़्यादा तंग था, इसलिए। घर का ख़र्च वह बहुत जुगत से चला रही थीं। उन्हीं दिनों शोभा की शादी में जाना था। उसके लिए भी पैसे की ज़रूरत थी।

जवाब में चिट्ठी जल्दी ही आ गई। मेरे नाम थी। पहली चिट्ठी जो किसी अपरिचित ने मेरे नाम लिखी थी। लिखा था, फरवरी के अन्त में आएगा। और मुझे—ब्राउन कैट, तू इतनी बड़ी हो गई कि अंग्रेज़ी में चिट्ठी लिखने लगी?

ब्राउन कैट वह तब भी मुझे कहा करता था, ममा बताती थीं। बिल्ली की तरह ही गोद में लिटाए सिर और पीठ पर हाथ फेरता था। मैं ख़ामोश लड़की थी। दम घुटने को आ जाता, तो भी विरोध नहीं करती थी। किन्नी बहुत ज़िद करती है, मैं

नहीं करती थी। ज़रा-सी बात हो, वह चीख़-चीख़कर सारा घर सिर पर उठा लेती है। आठ साल की होकर पाँच साल के बच्चों की तरह रोती-रूठती है। ममा उसके लाड़ मानती भी हैं। कहती हैं यह उनकी अपनी ज़रूरत है। और कोई छोटा बच्चा नहीं है, एक वही है जिससे वह जी बहला सकती हैं। मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्नी डॉल की तरह प्यारी लगती है। फिर भी सोचती हूँ बड़ी होकर भी डॉल ही बनी रही तो? कॉन्वेंट में एक ऐसी लड़की हमारे साथ पढ़ती थी। नाम भी था डॉली। उसकी आदतों से सबको चिढ़ होती थी, मुझे ख़ास तौर से। अच्छे-भले हाथ-पैर, तन्दुरुस्त शरीर, और घूम रहे हैं डॉल बने। छिः!

पर ममा नहीं मानतीं। बहस करने लगती हैं। मन में शायद सोचती हैं कि मैं किन्नी से ईर्ष्या करती हूँ—मैं भी और बीरे भी, क्योंकि बीरे किन्नी के गाल मसलकर उसे रुला देता है। उसकी कापियाँ, पेंसिलें छीनकर छिपा देता है। मैं उसे बिना नहाए नाश्ता नहीं देती। अपने से कंघी करने को कहती हूँ। ममा ताना देती हैं, तो बुरा लगता है। कई बार वह कह देती हैं, "तुम लोगों के वक़्त हालात अच्छे थे। तुम्हें कॉन्वेंट में पढ़ा दिया, सबकुछ कर दिया, इस बेचारी के लिए क्या कर पाती हूँ?" मन में खीझ उठती है, पर चुप रह जाती हूँ। कई बात ज़बान तक आकर लौट जाती है। मैं, जो एम.ए. करना चाहती थी, वह? डरती हूँ, ममा रोने लगेंगी। दिन में किसी-न-किसी से कोई बात हो जाती है, जिससे वह रो देती हैं। मैं जान-बूझकर कारण बनना नहीं चाहती।

सुभाष की गाड़ी रात को देर से पहुँची। बीरे लाने के लिए स्टेशन पर गया था। हम लोगों ने उम्मीद लगभग छोड़ दी थी। दो बार उसने प्रोग्राम बदला था। हम लोग घर की सफाइयाँ कर रहे होते कि तार आ जाता, "चार दिन के लिए अम्बाला चला आया हूँ, हफ्ते तक आऊँगा।" फिर, "काम से दिल्ली रुकना है, दूसरा तार दूँगा।" मुझे बहुत उलझन होती, गुस्सा भी आता। उससे ज़्यादा अपने पर और ममा पर। शोभा की शादी के बाद हम लोग एक दिन भी वहाँ नहीं रुकीं, पहली गाड़ी से चली आईं। आकर कमरे ठीक करने में बाँहें दुखाती रहीं और आप हैं कि अम्बाला जा रहे हैं, दिल्ली रुक रहे हैं। उस दिन तार मिला, "पंजाब मेल से आ रहा हूँ।" तो मैंने ममा से कह दिया कि मैं घर ठीक नहीं करूँगी। मेरी तरफ़ से कोई आए, न आए। बीरे कह रहा था, "ज़रूरत भी नहीं है। अभी दूसरा तार आ जाएगा।" दूसरा तार तो नहीं आया, पर बीरे को एक बार स्टेशंन जाकर लौटना ज़रूर पड़ा। पंजाब मेल उस दिन छह घंटे लेट थी।

ममा को बुरा न लगे, इसलिए घर मैंने ठीक कर दिया, मगर खुद सोने चली गई। डैडी भी अपने कमरे में जाकर सो गए थे। ममा किन्नी को सुलाकर मेरे पास आकर लेट गईं। शायद मुझे जगाए रखने के लिए। मैं कुनमुनाकर कहती रही कि ममी, अब

सो जाने दो, हालाँकि नींद आई नहीं थी। ममा ने बहुत दिनों बाद बच्चों की तरह मुझे दुलारा। मेरे गाल चूमती रहीं। मुँह में कितना कुछ बुदबुदाती रहीं—"मेरी रानी बच्ची...अच्छी बच्ची...मेरी रानी माँ...अच्छी माँ...!" मुझे गुदगुदी-सी लगी और मैं उठकर बैठ गई। कहा, "क्या कह रही हो, ममी?" ममा ने जैसे सुना नहीं। आँखें मूँदकर पड़ी रहीं। केवल एक उसाँस उनके मुँह से निकल पड़ी।

घोड़े की टापों और घुँघरुओं की आवाज़ से ही मुझे लग गया था कि वह ताँगा सुभाष को लेकर आ रहा है। और कई ताँगे सड़क से गुज़रे थे, मगर उनकी आवाज़ से ऐसा नहीं लगा था। शायद इसलिए कि यह आवाज़ सुनाई तब दी जब सचमुच आँखों में नींद भर आई थी। आँखें खोलकर सचेत हुई। तो बीरे दरवाज़ा खटखटा रहा था। वह साइकिल से आया था। ममा जल्दी से उठकर दरवाज़ा खोलने चली गईं।

अजीब-सा लग रहा था मुझे। बैठक में जाने से पहले कुछ देर पर्दे के पीछे रुकी रही। जैसे ऊँचे पुल से दरिया में डाइव करना हो। कॉन्वेंट के दिनों में बहुत बोल्ड थी। किसी के भी सामने बेझिझक चली जाती थी। हरेक से बेझिझक बात कर लेती थी। संकोच में दिखावट लगती थी। मगर उस समय न जाने क्यों मन में संकोच भर आया।

संकोच शायद अपनी कल्पना का था। उस नाम के एक आदमी को पहले से जान रखा था—सुनी-सुनाई बातों से। कितने ही क्षण उस आदमी के साथ जिए भी थे—ममा की डबडबाई आँखों में देखते हुए। उसकी एक तस्वीर मन में बसी थी जो डर था, अब टूटने जा रही है। कोई भी आदमी क्या वैसा हो सकता है जैसा हम सोचकर उसे जानते हैं? वैसा होता तो पर्दा उठाने पर मैं एक लम्बे ऊँचे आदमी को सामने देखती, जिसके बाल बिखरे होते, दाढ़ी बढ़ी होती और जो मुझे देखते ही कहता, "ब्राउन कैट, तू तो अब सचमुच लड़की नज़र आने लगी।"

मगर जिसे देखा वह मँझले क़द का गोरा आदमी था। इस तरह खड़ा था जैसे कठघरे में बयान देने आया हो। माथे पर घाव का गहरा निशान था। कमीज़ का कॉलर नीचे से उधड़ा था जिससे वह उसे हाथ से पकड़े था। डैडी से कह रहा था, "मैंने नहीं सोचा था गाड़ी इतनी देर से पहुँचेगी। ऐसे गलत वक़्त आकर आप सबकी नींद ख़राब की..."

मैंने हाथ जोड़े, तो परेशान-सी मुस्कुराहट के साथ उसने सिर हिला दिया। मुँह से कुछ नहीं कहा। पूछा भी नहीं, यह नीरू है?

आधी रात बिना सोए निकल गई। डैडी भी ड्रेसिंग गाउन में सिकुड़कर बैठे रहे। मैंने दो बार कॉफ़ी बनाकर दी। बीरे किचन में आकर मुझसे कहता, "एक प्याली में नमक डाल दे! मीठी कॉफ़ी ऐसे आदमी को अच्छी नहीं लगती।"

"तूने तो सारी ज़िन्दगी ऐसे आदमियों के साथ ही गुज़ारी है न!" मैं उसे हटाती कि भाप उसकी या मेरी उँगलियों से न छू जाए।

"सारी न सही, तुझसे तो ज़्यादा गुजारी है।" वह उँगली से मेरे केतलीवाले हाथ पर गुदगुदी करने लगता, "स्टेशन से अकेला साथ आया हूँ।"

"हट जा, केतली गिर जाएगी," मैं उसे झिड़क देती। बीरे मुँह बनाकर उस कमरे में चला जाता। कहता, "देखिए साहब, और बातें बाद में कीजिएगा, पहले इस लड़की को थोड़ी तमीज़ सिखाइए। बड़े भाई की इज़्जत करना नहीं जानती। इससे सालभर बड़ा हूँ, मगर मुझे ऐसे झिड़क देती है जैसे अभी स्टैंडर्ड में पढ़ता हूँ। कह रही थी कि आप कॉफ़ी में चीनी की जगह नमक पीते हैं। मैंने मना किया तो मुझ पर बिगड़ने लगी।

बीरे न होता तो शायद वह बिलकुल भी न खुल पाता। कभी बीरे कालेज का कोई क़िस्सा सुनाने लगता, कभी बताने लगता कि उसने स्टेशन पर उसे कैसे पहचाना। "ये गाड़ी से उतरकर इधर-उधर देख रहे हैं, और मैं बिलकुल इनके पास खड़ा मुस्कुरा रहा हूँ। देख रहा हूँ कि कब ये निराश होकर चलने को हों, तो इनसे बात करूँ। ये और सब लोगों को तलाशती आँखों से देखते हैं, मुझे ही नहीं देखते जो इनके पास इनसे सटकर खड़ा हूँ। मैं इनके उतरने से पहले से जानता हूँ कि जिसे रिसीव करने आया हूँ, वह यही परेशान-हाल आदमी है..."

ममा टोकतीं कि वह किसी और को भी बात करने दे। मगर बीरे अपनी बात किए जाता। हम सब हँसने लगते, मगर सुभाष गम्भीर बना रहता। थोड़ा मुस्कुरा देता, बस। कभी मुझे लगता कि वह बन रहा है। मगर उसकी आँखों में देखती, तो लगता कि वह कहीं गहरे में डूबा है जहाँ से उबर नहीं पा रहा। उसका हाथ बार-बार उधड़े कॉलर को ढँकने के लिए उठ जाता।

"कमीज़ सुबह नीरू को देना, कॉलर सी देगी," ममा ने कहा तो वह सकुचा गया। पहली बार आँख भरकर उसने मुझे देखा। फिर उसने उधड़े कॉलर को ढँकने की कोशिश नहीं की।

हैरान थी कि सबसे ज़्यादा बातें डैडी ने कीं। उन्होंने ही उससे सबकुछ पूछा। एक्सीडेंट कैसे हुआ? अस्पताल में कितने दिन रहना पड़ा? ज़ख्म कहाँ-कहाँ हैं? कोई गहरी चोट तो नहीं। वे आजकल कहाँ हैं। मैरिड लाइफ कैसी चल रही है? ममा को अच्छा लगा कि यह सब उन्हें नहीं पूछना पड़ा। उन्हें बल्कि डर था कि डैडी इस बार ज़्यादा बात नहीं करेंगे। दो मिनट इधर-उधर की बातें करके उठ जाएँगे। फिर सुबह पूछ लेंगे, "नाश्ता कमरे में करना चाहोगे, या बाहर मेज़ पर।"

उसे भी शायद डैडी से ही बात करना अच्छा लग रहा था। हम सबकी तरफ़ से एक तरह से उदासीन था। हममें से कोई बात करे, तभी उसकी तरफ़ देखता था। मैं देख रही थी कि ममा एकटक उसे ताक रही हैं, जैसे आँखों से ही उसके माथे के ज़ख्म को सहला देना चाहती हों। बीच में वह उठीं और साथ के कमरे से अपना शाल ले आईं। बोलीं, "ठंड है, ओढ़ लो। ओढ़कर बात करते रहो।"

उसने शाल भी बिना कुछ कहे ओढ़ लिया और गुड्डा-सा बना बैठा रहा। डैडी जो कुछ पूछते रहे, उसका जवाब देता रहा। ड्राइवर अच्छा था...शायद ब्रेक भी काफ़ी अच्छी थी...ज़्यादा चोट नहीं आई। मडगार्ड से टक्कर लगी, पहिया ऊपर नहीं आया...दस दिन में ज़ख्म भर गए। बाएँ हाथ की कुहनी ठीक से नहीं उठती...डॉक्टरों का कहना है उसमें पाँच-छह महीने लगेंगे। उसके बाद भी पूरी तरह शायद ही ठीक हो।

मुझे तब भी लग रहा था कि वह अन्दर ही कहीं डूबा है। उसके होंठ रह-रहकर किसी और ही विचार से काँप जाते हैं। मन हो रहा था, उससे वे सब बातें न पूछी जाएँ, उसे चुपचाप सो जाने दिया जाए। उसका बिस्तर बिछा था, उसी पर वह बैठा था। सहसा मुझे लगा कि तकिए का गिलाफ ठीक नहीं है, बीच से सिला हुआ है। चढ़ाते वक़्त ध्यान नहीं गया था। मैं चुपचाप तकिया उठाकर गिलाफ बदलने ले गई।

दूसरा धुला हुआ गिलाफ नहीं मिला। सारे खाने-ट्रंक छान डाले। एक कोरा गिलाफ था, कढ़ा हुआ; उन दिनों का, जब नई-नई कढ़ाई सीखने लगी थी। आखिर वही चढ़ाकर तकिया बाहर ले आई।

आकर देखा, तो उसका चेहरा बदला हुआ लगा। माथे पर शिकन थे और सिगरेट के छोटे-से टुकड़े से वह जल्दी-जल्दी कश खींच रहा था।

ममा का चेहरा फक हो रहा था। डैडी बहुत गम्भीर होकर सुन रहे थे। वह एक-एक शब्द को जैसे चबा रहा था, "...नहीं तो...नहीं तो मेरे हाथों उसकी हत्या हो जाती...यह नहीं कि मैं समझता नहीं था...उसने मुझसे कह दिया होता, तो बात दूसरी थी...हर इंसान को अपनी ज़िन्दगी चुनने का अधिकार है...मगर इस तरह... मुझे उससे ज़्यादा अपने से नफरत हो रही थी..."

ममा ने गहरी नज़र से मुझे देखा कि मैं वहाँ से चली जाऊँ। मगर मैं अनबूझ बनी रही, जैसे इशारा समझा ही न हो। पैरों में चुनचुनाहट महसूस हो रही थी। मन हो रहा था कि उन्हें दरी से खुजलाने लगूँ। पुलोवर के नीचे बगलों में पसीना आ रहा था। सोचने लगी कि सुबह नहाई थी या नहीं। पर नहाई तो थी...

कमरे में ख़ामोशी छा गई। बीरे ऐसे आँखें झपका रहा था जैसे अचानक उन पर तेज़ रोशनी आ पड़ी हो। होंठ उसके खुले थे। डैडी ड्रेसिंग गाउन के अन्दर से अपनी बाँह को सहला रहे थे। ममा काले शाल में ऐसे आगे को झुक गई थीं जैसे कभी-कभी ट्यूमर के दर्द के मारे झुक जाया करती थीं।

बाहर भी ख़ामोशी थी। खिड़की के सीखचों में से आती हवा पर्दे में से झाँककर लौट जाती थी।

तभी डैडी ने घड़ी की तरफ़ देखा और उठ खड़े हुए "अब सो जाना चाहिए," उन्होंने कहा, "तीन बज रहे हैं।"

सुबह जो चेहरा देखा, उसने मुझे और चौंका दिया। बढ़ी हुई दाढ़ी, पहले से साँवला पड़ा हुआ रंग...एक हाथ से अपने घुँघराले बालों की गाँठें सुलझाता हुआ वह अखबार पढ़ रहा था।

''आपके लिए चाय ले आऊँ?'' पहली बार मैंने उससे सीधे कुछ पूछा।

''हाँ-हाँ, उसने कहा और अखबार से नज़र उठाकर मेरी तरफ़ देखा। मैं कई क्षण उसकी आँखों का सामना किए रही। विश्वास नहीं था कि वह दूसरी बार इस तरह मेरी तरफ़ देखेगा।

''रात को हम लोगों ने ख़ामख़ाह आपको जगाए रखा,'' मैंने कहा, ''आज रात को ठीक से सोइएगा।''

उसके होंठों पर ऐसी मुस्कुराहट आई जैसे उससे मज़ाक किया गया हो। ''गाड़ी में खूब गहरी नींद आती है न।'' उसने कहा।

''आप आज चले जाएँगे?''

उसने सिर हिलाया, ''एक दिन के लिए भी मुश्किल से आ पाया हूँ।''

''वहाँ ज़रूरी काम है?''

''बहुत ज़रूरी नहीं, लेकिन काम है। पहली नौकरी छोड़ दी है, दूसरी के लिए कोशिश करनी है।''

''एक दिन बाद जाकर कोशिश नहीं की जा सकती?'' एकाएक मुझे लगा कि मैं यह सब क्यों कह रही हूँ। डैडी सुनेंगे तो क्या सोचेंगे।

''परसों एक जगह इंटरव्यू है,'' उसने कहा।

''वह तो परसों है न। कल तो नहीं...'' और मैं बाहर चली आई, उसकी आँखों में और देखने का साहस नहीं हुआ।

वह बात भी उसने कही जो मैंने चाहा था वह कहे। दोपहर को खाने के बाद किन्नी को गोद में लिये हुए उसने कहा, ''उन दिनों नीरू इससे छोटी थी, नहीं? बिलकुल ब्राउन कैट लगती थी। ऐसे ख़ामोश रहती थी, जैसे मुँह में ज़बान ही न हो।''

''मैं भी तो ख़ामोश रहती हूँ,'' किन्नी मचल उठी, ''मैं कहाँ बोलती हूँ?''

उसने किन्नी को पेट के बल गोद में लिटा लिया और उसकी पीठ थपथपाने लगा। मैंने सोचा था कि किन्नी इस पर शोर मचाएगी, हाथ-पैर पटकेगी। मगर वह बिलकुल गुमसुम होकर पड़ रही। मैं देखती रही कि कैसे उसके हाथ पीठ को थपथपाते हुए ऊपर जाते हैं, फिर नीचे आते हैं, कमर के पास हलकी-सी गुदगुदी करते हैं, और कूल्हे पर चपत लगाकर फिर सिर की तरफ़ लौट जाते हैं। हममें से कोई किन्नी से इस तरह प्यार करता, तो वह उसे नोचने को हो जाती। सुभाष के हाथ रुके तो उसने झुककर किन्नी के बालों को चूम लिया। कहा, ''सचमुच तू बहुत ख़ामोश लड़की है।'' किन्नी उसी तरह पड़ी-पड़ी हँसी। और भी कितनी देर वह

उसकी पीठ सहलाता रहा। बीच-बीच में उसकी आँखें मुझसे मिल जातीं। मुझे लगता जैसे वह दूर कहीं बियाबान में देख रहा हो। मुझे अपना-आप भी अपने से दूर बियाबान में खोया-सा लगता। यह भी लगता कि मैं आँखों से कह रही हूँ कि जिसे तुम सहला रहे हो, वह ब्राउन कैट नहीं है। ब्राउन कैट मैं हूँ। मैं यहाँ से दूर अँधेरे में खड़ी हूँ। चाह रही हूँ कि कोई आकर मुझे देख ले और गोद में उठा ले।

डैडी दिन-भर घर में रहे, काम पर नहीं गए। इस कमरे से उस कमरे में, उस कमरे में इस कमरे में जाते-आते रहे। बहुत दिन से उन्होंने सिगार पीना छोड़ रखा था, उस दिन पुराने डिब्बे में से सिगार निकालकर पीते रहे। दो-एक बार उन्होंने उससे बात चलाने की कोशिश भी की, "जहाँ तक अस्तित्व का प्रश्न है..." मगर बात आगे नहीं बढ़ी। उसने जैसे कुछ और सोचते हुए उनकी बात का समर्थन कर दिया। डैडी ने हरेक से एक-एक बार कहा, "आज सिगार पी रहा हूँ तो अच्छा लग रहा है। मैं इसका टेस्ट ही भूल गया था।" शाम को बीरे उसे घुमाने ले गया। ममा उस वक़्त मन्दिर जा रही थीं। मैं भी उन लोगों के साथ बाहर निकली। रोज़ बीरे और मैं घूमने जाते हैं, सोचा आज भी साथ जाऊँगी। डैडी सिगार के धुएँ में घिरे बैठक में अकेले बैठे थे। मुझे बाहर निकलते देखकर बोले, "तू भी जा रही है, नीरू?"

मेरी ज़बान अटक गई। किसी तरह कहा, "ममा के साथ मन्दिर जा रही हूँ।" अहाते से बाहर आकर ममा के साथ ही मुड़ गई। रास्ते-भर सोचती रही कि क्यों नहीं कह सकी कि बीरे के साथ घूमने जा रही हूँ? कह देती, तो क्या डैडी जाने से मना कर देते?

बीरे लौटकर आया तो बहुत उत्साहित था। कह रहा था, "मैं आपको पढ़ने के लिए भेजूँगा, आप पढ़कर लौटा दीजिएगा। बट इट इज़ एंटायरली बिटवीन यू एंड मी।" दोनों बैठक में थे। मेरे आते ही बीरे चुप कर गया, जैसे उसकी चोरी पकड़ी गई हो। फिर मुझसे बोला, "तेरे लिए नीरू, आज एक बॉल पाइंट देखकर आया हूँ। तू कितने दिनों से कह रही थी। कल जाऊँगा तो लेता आऊँगा। या तू मेरे साथ चलना।"

सोचा, यह मुझे रिश्वत दे रहा है...पर किस बात की?

बीरे अपना माउथ आर्गन ले आया। एक के बाद एक धुन बजाने लगा। "दिस इज़ माई फ्रेंड्स फैवरिट..." एक धुन सुना चुकने के बाद उसने कहा। पर सुभाष उस वक़्त मेरी तरफ़ देख रहा था।

"आप समझ रहे हैं न?" बीरे को लगा, सुभाष ने उसका मतलब नहीं समझा; "वही फ्रेंड जिसका मैंने ज़िक्र किया था। माई ओनली फ्रेंड।"

मैं चाह रही थी कि कोई और भी उससे कहे कि वह एक दिन और रुक जाए। मगर किसी ने नहीं कहा, ममा ने भी नहीं। मन्दिर से आकर शायद डैडी से उनकी कुछ

बात हो गई थी। मैं उस वक़्त रात के लिए कतलियाँ बना रही थी। सब लोग कहते थे कि मैं कतलियाँ अच्छी बनाती हूँ। पर मुझे लग रहा था कि आज अच्छी नहीं बनेंगी। जल जाएँगी, या कच्ची रह जाएँगी। तभी ममा डैडी के पास से उठकर आईं। नल के पास जाकर उन्होंने मुँह धोया। एक घूँट पानी पिया और तौलिया ढूँढ़ती चली गईं।

खाना खिलाते हुए मैंने उससे पूछा, ''कतलियाँ अच्छी बनी हैं?''

वह चौंक गया उसी तरह जैसे ममा बताती थीं। आधी खाई कतली प्लेट से उठाता हुआ बोला, ''अभी बताता हूँ...''

खाना खाने के बाद वह सामान बाँधने लगा। सूटकेस में चीज़ें भर रहा था, तो मैं पास चली गई। ''मुझे बता दीजिए, मैं रख देती हूँ,'' मैंने कहा।

''हाँ...अच्छा।'' कहकर वह सूटकेस के पास से हट गया।

''कैसे रखना है, बता दीजिए?''

''कैसे भी रख दो। एक बार कुछ निकालूँगा, तो सबकुछ फिर उलझ जाएगा।''

''मैंने सुबह कुछ बात कही थी...'' मेरी आवाज़ सहसा बैठ गई।

''क्या बात?''

''रुकने की बात?''

''हाँ, रुक तो जाता, मगर...''

बीरे नींबू उछालता हुआ आ गया। ''आप कह रहे थे, जी घबरा रहा है,'' वह बोला, ''यह नींबू ले लीजिए। रास्ते में काम आएगा। एक कागज़ में नमक-मिर्च भी आपको दे देता हूँ। इस लड़की के हाथ का खाना खाकर आदमी की तबीयत वैसे ही ख़राब हो जाती है।''

मैं चुपचाप चीज़ें सूटकेस में भरती रही। वह बीरे के साथ डैडी के कमरे में चला गया।

उसने चलने की बात कही, तो मुझे लगा जैसे कपड़े उतारकर किसी ने मुझे ठंडे पानी में धकेल दिया हो। डैडी सिगार का टुकड़ा प्याली में बुझा रहे थे। वह डैडी के पास चारपाई पर बैठा था। ममा, बीरे और मैं सामने कुर्सियों पर थे। किन्नी कुछ देर रोकर डैडी की चारपाई पर ही सो गई थी। सोने से पहले चिल्ला रही थी, ''हम फिर शोभा जिज्जी की शादी में जाएँगे। हमें वहाँ से जल्दी क्यों ले आई थीं? वहाँ हम पप्पू के साथ खेलते थे। यहाँ सब लोग बातें करते हैं, हम किसके साथ खेलें!''

सोई हुई किन्नी प्यारी लग रही थी। मैं सोचने लगी—जब मैं उतनी बड़ी थी, तब मैं कैसी लगती थी?

वह चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। उठते हुए उसने किन्नी के बालों को सहला दिया। फिर एक बार भरी-भरी नज़र से मुझे देख लिया। मुझे लगा, मैं नहीं, मेरे अन्दर कोई और चीज़ है जो सिहर गई है।

ताँगा खड़ा था। बीरे पहले से ले आया था। हम सब निकलकर अहाते में आ गए। बीरे ने साइकिल सँभाल ली।

"इंटरव्यू का पता देना," वह ताँगे की पिछली सीट पर बैठ गया, तो ममा ने कहा।

उसने सिर हिलाया और हाथ जोड़ दिए।

मैं हाथ नहीं जोड़ सकी। चुपचाप उसे देखती रही। ताँगा मोड़ पर पहुँचा, तो लगा कि उसने फिर एक बार उसी नज़र से मुझे देखा है।

ममा आदत से मजबूर अपने आँसू पोंछ रही थीं। डैडी अन्दर चले गए थे। मैं कमरे में पहुँची, तो लगा जैसे अब तक घर के अन्दर थी–अब घर से बाहर चली आई हूँ।

रात को ममा फिर से मेरे पास आ लेटीं। मुझे उन्होंने बाँहों में लपेट लिया। मैं सोच रही थी कि उसे गाड़ी में सोने की जगह मिली होगी या नहीं, और मिली होगी, तो वह सो गया होगा या नहीं? न जाने क्यों, मुझे लग रहा था कि उसे नींद कभी नहीं आती। शरीर नींद से पथरा जाता है, तब भी उसकी आँखें खुली रहती हैं। और अँधेरे की परतों में कुछ खोजती रहती हैं...

ममा मुझे प्यार कर रही थीं। पर उनकी आँखें भरी थीं। "ममी, रो क्यों रही हो?" मैंने बड़ों की तरह पुचकारा, "तुम्हें खुश होना चाहिए कि एक्सीडेंट उतना ख़राब नहीं हुआ। दुनिया में एक औरत ऐसी निकल आई तो..."

पर ममा का रोना और बढ़ गया। मुझे भ्रम हुआ कि शायद रो मैं रही हूँ और चुप ममा करा रही हैं। मैंने अपने और उनके शरीर को एक बार छूकर देख लिया।

"नीरू..." ममा कह रही थीं, "तू मेरी तरह मत होना...तेरी ममा...तेरी ममा... ।"

मैंने उन्हें हिलाया, लगा जैसे उन्हें फिट पड़ा हो। "ऐसे क्यों कह रही हो, ममा?" मैंने कहा, "तुम्हारे जैसे दुनिया में कितने लोग हैं! मैं अगर तुम्हारे-जैसी हो सकूँ, तो..."

ममा ने मेरे मुँह पर हाथ रख दिया, "न, नीरू..." वह बोलीं, "और जैसी भी होना...अपनी ममा-जै ी कभी न होना।"

मैं ममा के सिर पर थपकियाँ देने लगी। जब उनकी आँख लगी, उनका सिर मेरी बाँह पर था। कम्बल तीन-चौथाई उन पर था, इसलिए मुझे ठंड लग रही थी। बाँह भी सो गई थी। पर मैं बिना हिले-डुले उसी तरह पड़ी रही। पहली बार मुझे लगा कि अँधेरे की कुछ अपनी आवाज़ें भी होती हैं। गहरी रात की ख़ामोशी बेजान ख़ामोशी नहीं होती। अपनी सोई हुई बाँह को मैं इस तरह देखती रही जैसे वह मेरे शरीर का हिस्सा न होकर एक अलग प्राणी हो। मन में न जाने क्या-क्या सोचती रही। ममा की आँख में एक आँसू अब भी अटका हुआ था। मैंने दुपट्टे से उसे पोंछ दिया—बहुत हलके से, जिससे ममा की आँख न खुल जाए और उनके सिर पर थपकियाँ देती रही।

पाँचवें माले का फ़्लैट

आवाज़ ठीक सुनी थी। साफ़ नाम लेकर पुकारा गया था, ''अविनाश!''

पर सोचा, गलतफ़हमी हुई है। पुकारने को राह-चलती भीड़ में कोई भी पुकार सकता है, पर यहाँ इस नाम से जानता कौन है? जो भी जानता है, घिसेपिटे दफ़्तरी नाम से ही जानता है। ए. कपूर के ए. को कोई गिनती में नहीं लाता। ए. का मतलब अविनाश है या अशोक, यह जानने की ज़रूरत किसी को नहीं। कामकाजी ज़िन्दगी के सब काम कपूर से चल जाते हैं। जो अधूरापन रहता है, वह मिस्टर या साहब से पूरा हो जाता है। 'क्या हालचाल हैं, मिस्टर कपूर?' कहिए, कपूर साहब, क्या हो रहा है आजकल?'

मगर नाम साफ़ सुना था...

भीड़ बहुत थी। सोचा इसलिए गलतफ़हमी हुई होगी। या इसलिए कि फरवरी की हवा में बसन्त की हलकी ताज़गी महसूस हो रही थी। जाने कैसे! यों तो सिवाय गर्मी और बरसात के इस शहर में मौसम का पता ही नहीं चलता। आसमान बादलों से न घिरा हो तो हलका सलेटी बना रहता है। बरसों के इस्तेमाल से उड़ा-उड़ा फीका-फीका-सा एक रंग नज़र आता है। हवा चलती है, तो खूब तेज़ चलती है, नहीं चलती, तो नहीं ही चलती—समुद्र के ज्वार-भाटे का-सा अन्दाज़ रहता है उसका। दिन और रात में भी ज़्यादा फ़र्क नहीं होता—सिवाय अँधेरे और रोशनी के। जहाँ दिन में अँधेरा रहता है, वहाँ रात को रोशनी हो जाती है; जहाँ दिन में रोशनी रहती है, वहाँ रात को अँधेरा हो जाता है। खाना न इस मौसम में पचता है, न उस मौसम में। मगर फरवरी की वह शाम अपने में कुछ अलग-सी थी। हवा में बसन्त का हलका आभास ज़रूर था और पश्चिम का आकाश भी और दिनों से सुन्दर लग रहा था। साढ़े सात बजते-बजते भूख भी लग आई थी। मैं राह चलते लोगों को देख रहा था और ह्वेल मछलियों की बात सोच रहा था। मन हो रहा था कहीं अच्छी करारी मूँगफली मिल जाएँ, तो पाँच पैसे की ले ली जाएँ।

पुकारा किसी ने अविनाश को ही था। अपने लिए विश्वास इसलिए भी नहीं हुआ कि आवाज़ किसी लड़की की थी—लड़की की या स्त्री की। दोनों में फ़र्क होता है, मगर बहुत नहीं। इतने महीन फ़र्क को समझने के लिए बहुत अभ्यास की ज़रूरत है।

बम्बई शहर और मैरीन ड्राइव की शाम। ऐसे में अपने को पुकारे एक लड़की! होने को कुछ भी हो सकता है, पर अपने साथ अक्सर नहीं होता।

जैसे चल रहा था, दस-बीस कदम और चलता गया। मुड़कर पीछे न देखता, तो न भी देखता। पर अचानक यों ही, उत्सुकतावश कि जाने अपने को ही किसी ने पुकारा हो, घूमकर देख लिया। एक हाथ को अपनी तरफ़ हिलते देखा, तो अविश्वास और बढ़ गया। बढ़ने के साथ ही अचानक दूर हो गया। चेहरा बहुत परिचित था। पहचानने में उतनी देर नहीं लगी जितनी कि उसके चेहरे से ज़ाहिर थी। दरअसल हैरानी यह हुई कि वह फिर से यहाँ कैसे!

भेल और नारियलवालों से बचता हुआ उसकी तरफ़ बढ़ा। आवाज़ देने के बाद यह जहाँ-की-तहाँ रुक गई थी। उसके बाद उसे पहचानने और उस तक पहुँचने की सारी ज़िम्मेदारी जैसे मेरे ऊपर हो। पास पहुँच जाने पर भी अपनी जगह से एकदम नहीं हिली। दूर था, तो बन्द होंठों से मुस्कुरा रही थी; पास पहुँचा तो खुले होंठों से मुस्कुराने लगी, बस। भौंहों पर आई-ब्रो पेंसिल की गहराई को चमकाती हुई बोली, ''पहचाना नहीं?''

कैसे कहता कि सवाल बेवकूफ़ाना है? न पहचानता तो इतना रास्ता चलकर आता? सिर्फ़ इतना कहने के लिए कि 'माफ कीजिएगा। मैंने आपको पहचाना नहीं।' कौन तीस गज़ चलकर आता है? मन में जितनी कुढ़न हुई आवाज़ को उतना ही मुलायम रखकर कहा, ''तुम्हें क्या लगता है, नहीं पहचाना?''

वह हँस दी, जाने आदत से या खुशी से। मैं मुस्कुरा दिया बिना किसी भी वजह के।

''पहले से काफ़ी बड़े नज़र आने लगे हो,'' उसने कहा और अपना पर्स हिलाने लगी। शायद साबित करने के लिए कि वह खुद अभी उतनी ही शोख और कमसिन है। पहले सोचा कि उसे सच-सच बता दूँ कि वह कैसी नज़र आती है। पर शराफत के तकाज़े से वही बात कह दी जो वह सुनना चाहती थी, ''तुममें इस बीच ख़ास फ़र्क नहीं आया।''

वह फिर हँस दी। मैं फिर मुस्कुरा दिया, पर इस बार बिना वजह के नहीं।

उसने पर्स हिलाना बन्द कर दिया और उसमें से मूँगफली निकाल ली। कुछ दाने मुँह में डाल लिए और बाक़ी मेरी तरफ़ बढ़ाकर बोली, ''अब तक अकेले ही हो?''

जल्दी से कोई जवाब नहीं सूझा। पहले चाहा कि झूठ बोल दूँ। फिर सोचा कि सच बता दूँ। मगर मन ने झूठ-सच दोनों के लिए हामी नहीं भरी। कहीं से यह घिसी-पिटी बात लाकर ज़बान पर रख दी, ''अकेला तो वह होता है जो अकेलेपन को महसूस करे।''

उसे पर्स में और दाने नहीं मिल रहे थे। कुछ देर इधर-उधर टटोलती रही। किसी कोने में दो-चार दाने हाथ लग गए, तो उसकी आँखें खुशी से चमक उठीं, निकालकर एक-एक करके चबाने लगी।

उसके दाँत अब भी उसी तरह तीखे थे। मूँगफली निगलते हुए गर्दन पर उसी तरह लकीरें बनती थीं। "अच्छा है, तुम महसूस नहीं करते," उसने कहा और दाने चबाती रही।

मैं उसका नाम याद करने की कोशिश कर रहा था। बहुत दिन वह नाम ज़बान पर रहा था, ऐसे नामों में से था, जो कि बहुत-सी लड़कियों का होता है। हर तीसरे घर में उस नाम की एक लड़की मिल जाती है। उन दिनों, छह-सात साल पहले, लगातार बीस-बाईस दिन उन लोगों से मिलता-जुलता रहा था। वे दो बहनें थीं, हालाँकि शक्ल-सूरत से कजिन भी नहीं लगती थीं। बड़ी के चेहरे की हड्डियाँ चौकोर थीं, छोटी के चेहरे की सलीबनुमा। रंग दोनों का गोरा था, मगर छोटी ज़्यादा गोरी लगती थी। आँखें दोनों की बड़ी-बड़ी थीं, मगर छोटी की ज़्यादा बड़ी जान पड़ती थीं। बातूनी दोनों ही थीं, पर छोटी का बातूनीपन अखरता नहीं था। छोटी का नाम था प्रमिला, उर्फ पम्मी, उर्फ मिस पी.। और बड़ी का नाम था कि याद ही नहीं आ रहा था। जिन दिनों उनसे परिचय हुआ, बड़ी की शादी होकर तलाक हो चुका था। इसलिए वह ज़्यादा बचपने की बातें करती थी। हर बात में दस बार अपना नाम लेती थी। मैंने अपने से कहा, "सरला..." हाँ, सरला नाम था। कहा करती थी, "मैंने कहा, सरला, तू हमेशा इसी तरह बच्ची-की-बच्ची ही बनी रहेगी।"

अपना नाम उसे पसन्द नहीं था, क्योंकि स्पेलिंग बदलकर उसमें अंग्रेजियत नहीं लाई जा सकती थी। प्रमिला कभी 'ए.' को 'ओ.' में बदलकर प्रोमिला हो जाती थी, कभी 'आर' ड्राप करके पामेला बन जाती थी। इसे प्रमिला से इस बात की भी जलन थी कि वह अभी क्वाँरी क्यों है। मिलने-जुलनेवाले लोग बातें इससे करते थे, ध्यान उनका प्रमिला की तरफ़ रहता था।

"प्रमिला से मिलोगे?" उसने पूछा।

"वह भी यहीं है?" मैंने पूछा।

"हम दोनों साथ ही आई हैं," उसने कहा, "सतीश को जहाज़ पर चढ़ाना था। उसने आज जर्मन के लिए सेल किया है। वहाँ लोकोमोटिव इंजीनियरिंग के लिए गया है।"

"सतीश...!" दिमाग़ पर ज़ोर देने पर भी उस नाम के आदमी की शक्ल याद नहीं आई।

"तुम्हें सतीश की याद नहीं?" वह बहुत हैरान हुई। पल-भर ज़बान से लिपस्टिक को चाटती रही, "हमारा छोटा भाई सतीश...तुम तो उसके साथ रात-रात भर ताश खेला करते थे।"

ताश ज़रूर खेला करता था, पर जानता तब उसे सत्ती के नाम से था। यह कब सोचा था कि सात साल में सत्ती साहब बड़े होकर सतीश हो जाएँगे और उठकर लोकोमोटिव इंजीनियरिंग के लिए जर्मनी को चल देंगे!

"हाँ, याद क्यों नहीं है?" बहुत स्वाभाविकता से मैंने कहा, "सतीश को मैं भूल सकता हूँ!" भूलना सचमुच आसान नहीं था, ख़ास तौर से उसकी खदरी नाक की वजह से।

"प्रमिला फोर्ट में शॉपिंग कर रही है," वह बोली, "मेरा दुकानों में दम घुटता था, इसलिए हवा लेने इधर चली आई थी।" हवा के झोंके से उसने अपना पल्ला कन्धे से सरक जाने दिया। उँगलियाँ इस तरह ब्लाउज के बटनों पर रख लीं जैसे उन्हें भी खोल देना हो। "आज गरमी बहुत है," यह इस तरह कहा जैसे शहर का तापमान ठीक रखने की ज़िम्मेदारी बात सुननेवाले पर हो। फिर शिकायत का दूसरा पहलू पेश किया, "दिल्ली में फरवरी का महीना कितना अच्छा होता है!"

वह मुकाम आ गया था जहाँ 'अच्छा, फिर मिलेंगे' कहकर एक-दूसरे से अलग हो जाना होता है। चाहता तो मैं खुद ही कह सकता था, पर तकल्लुफ़ में उसके कहने की राह देखता रहा। उसने भी नहीं कहा। उसका शायद इस तरफ़ ध्यान ही नहीं गया। बेतकल्लुफ़ी से उसने मेरी कुहनी अपने हाथ में ले ली और बोली, "चलो, फ्लोरा फाउंटेन चलते हैं। पम्मी ने कहा था, आठ बजे मैं उसे वोल्गा के बाहर मिल जाऊँ। तुम्हें साथ देखकर उसे बहुत खुशी होगी।"

पम्मी को पहचानने में थोड़ी दिक़्क़त हुई—मतलब मुझे दिक़्क़त हुई। वह तो जैसे देखने से पहले ही पहचा गई। "ओह!" उसने चौंककर कहा, "अविनाश, तुम! बम्बई में ही हो तब से?"

उसके चेहरे का सलीब जाने कहाँ गुम हो गया था। गालों में इतनी गोलाई भर आई थी कि हड्डियों का कुछ पता ही नहीं चलता था। सिर्फ़ ठोड़ी का गड्ढा उसी तरह था। बाँहें वज़न में पहले से दुगनी नहीं, तो ड्योढ़ी ज़रूर हो गई थीं। बाक़ी सब साइज साड़ी में ढँके हुए थे। हर लिहाज़ से बड़ी बहन अब वही लगती थी।

बोलना चाहा, तो जल्दी में ज़बान नहीं हिली। हाथ एक-दूसरे में उलझकर रह गए। अपना खड़े होने का ढंग बिलकुल गलत जान पड़ा। "हाँ, यहीं, हूँ," इस तरह कहा कि खुद अपने को हँसी आने को हुई। पर वह सुनकर सीरियस हो गई।

कोफ्त हुई कि क्यों तब से यहीं हूँ। कोई भला आदमी इतने साल एक शहर में रहता है? कहीं और चला गया होता, तो इतनी सीरियस तो न होती।

''उसी फ़्लैट में?'' उसने दूसरा नज़ला गिराया। "एक शहर में रहे जाना किसी हद तक बरदाश्त हो सकता है, मगर उसी फ़्लैट में बने रहना हरगिज़ नहीं। ख़ास तौर से जब फ़्लैट उस तरह का है..."

समझ में नहीं आ रहा था कि किस टाँग पर वज़न रखकर बात करूँ, दोनों ही टाँगें गलत लग रही थीं। पहनी हुई पतलून भी गलत लग रही थी। उसकी क्रीज़ ठीक नहीं थी। पहले पता होता, दूसरी पतलून पहनकर आता। कमीज़ का बीच का बटन टूटा हुआ था। पता होता तो बटन लगा लिया होता। मुँह से कहना मुश्किल लगा कि हाँ, अब तक उसी फ़्लैट में हूँ। सिर्फ़ सिर हिला दिया।

''उसी पाँचवें माले के फ़्लैट में?'' पता नहीं, उसे जानकर खुशी हुई या बुरा लगा। यह शिकायत उससे उन दिनों भी थी। उसकी खुशी और नाराज़गी में फ़र्क का पता ही नहीं चलता था।

ज़ेब में ढूँढ़ा, शायद चारमीनार का कोई सिगरेट बचा हो। नहीं था। अनजाने में दियासलाई की डिबिया ज़ेब से बाहर आ गई, फिर शर्मिन्दा होकर वापस चली गई। ''हाँ, उसी फ़्लैट में,'' किसी तरह लफ्ज़ों को मुँह में धकेला और सूखे होंठों पर ज़बान फेर ली। होंठ फिर भी तर नहीं हुए।

''अब भी उसी तरह पाँच मंज़िल चढ़कर जाना पड़ता है?'' बार-बार कुरेदने में जाने उसे क्या मज़ा आ रहा था। शायद चुइंग-गम नहीं थी, इसलिए मुँह चलाने के लिए ही पूछ रही थी। उन दिनों चुइंग-गम बहुत खाती थी। कभी प्यार से मुँह बनाती, तो भी लगता चुइंग-गम की वजह से ऐसा कर रही है। चेहरे का सलीब उससे और लम्बा लगता था। मैंने एकाध बार मज़ाक में कहा था कि वह बबल-गम ख़ाया करे, तो उसका चेहरा गोल हो जाएगा। उसने शायद इस बात को सीरियसली से लिया था।

''हाँ,'' मैंने मार-खाए स्वर में कहा, ''बिना चढ़े पाँचवीं मंजिल पर कैसे पहुँचा जा सकता है?''

''सोच रही थी कि शायद अब तक लिफ्ट लग गई हो।''

बहुत गुस्सा आया। लिफ्ट जैसे बाहर से लग जाती हो, या छतें फाड़कर लगाई जा सकती हों। लगनी होती तो शुरू से ही न लगी होती? कितनी-कितनी परेशानियाँ उससे बच जातीं। कम-से-कम उस एक दिन की घटना तो उस तरह होने से बच ही सकती थी।

''जब तक मकान न टूटे, लिफ्ट कैसे लग सकती है?'' अपनी तरफ़ से बहुत स्मार्ट बनकर कहा। सोचा कि अब वह इस बारे में और कुछ नहीं पूछेगी, पर उसने फिर भी पूछ ही लिया, ''तो तुमने जगह बदल क्यों नहीं ली?''

पीठ में खुजली लग रही थी, पर उसके सामने खुजलाते शरम आ रही थी। कमर और कन्धों को ऐंठकर किसी तरह अपने पर काबू पाए रहा। ''ज़रूरत ही नहीं

समझी,'' पीछे जाते हाथ को वापस लाकर कहा, ''अकेले रहने के लिए जगह उतनी बुरी नहीं।''

वह थोड़ा शरमा गई, जैसे कि बात मैंने उसे सुनाकर कही हो। गोल चेहरे पर झुकी- झुकी आँखें बहुत अच्छी लगीं। पहले उसकी आँखें इस तरह नहीं झुकती थीं। ''अब तब शादी नहीं की?'' हाथ के पैकेटों की गिनती करते हुए उसने पूछा। आवाज़ से लगा, जैसे बहुत दूर चली गई हो। सवाल में लगाव ज़रा भी नहीं था। हैरानी, हमदर्दी कुछ नहीं। उत्सुकता भी नहीं। ऐसे ही जैसे कोई पूछ ले, ''अब तक दाँत साफ़ नहीं किए?''

मन छोटा हो गया। अफसोस हुआ कि अपने अकेलेपन का ज़िक्र क्यों किया? क्यों नहीं वक़्त निकल जाने दिया? अब जाने वह क्या सोचेगी? जाने उसी वजह से...या जाने उस फ़्लैट की वजह से...

पर अब चुप रहते बनता नहीं था। झक मारकर कहना पड़ा, ''करनी होती तो तभी कर लेता।''

उसने जिस तरह देखा, उसके कई मतलब हो सकते थे–तुम झूठ बोलते हो, तुमसे किसी ने की ही नहीं, या कि देखती तुम किससे करते, या कि सच अगर तुम्हारी बिल्डिंग में लिफ्ट लगी होती...

''अब भी क्या बिगड़ा है?'' वह अपने पैकेटों को सहेजती हुई बोली, ''अभी इतने ज़्यादा बड़े तो नहीं हुए कि...अचानक बड़ी बहन ने आकर उसे बात पूरी करने से बचा लिया। वह इस बीच न जाने कहाँ गुम हो गई थी। मुझे याद भी नहीं था कि वह साथ में है। आते ही उसने हाथ झाड़कर कहा, ''कहीं नहीं मिली।''

हमने हैरानी से उसकी तरफ़ देखा। उसने मुँह बिचका दिया। ''सारे बाज़ार में नहीं मिली।''

''क्या चीज़?''

''मूँगफली, भुनी हुई मूँगफली। पता होता तो मैरीन ड्राइव से खरीद लाती।''

''अब उधर चलें?''

उसने छोटी बहन की तरफ़ देखा। छोटी बहन ने समर्थन नहीं किया, ''इतना सामान साथ में है। लिये-लिये कहाँ चलेंगे?''

''सामान आपस में बाँट लेते हैं,'' बड़ी बहन ने सादगी इस्तेमाल की, ''कुछ पैकेट अविनाश को दे दो। एकाध मुझे पकड़ा दो।''

''वापस पहुँचने में देर नहीं हो जाएगी?'' छोटी बहन ने दूसरा नुक्ता निकाला, ''रिश्तेदारी का मामला है। वे लोग मन में क्या सोचेंगे?''

''सोचते हैं, सोचते रहें!'' बड़ी बहन ने खुद ही पैकेटों का बँटवारा शुरू कर दिया, ''कल हमें चले जाना है। एक ही शाम तो है हमारे पास।''

फुटपाथ। पेडेस्ट्रियन क्रॉसिंग। डोंट क्रॉस। क्रॉस नाउ।

पैकेट लिये-लिये दो लड़कियों के आगे-पीछे चलना। (लड़कियाँ—सुविधा के लिए, उन दिनों की याद में) उन दोनों का आगे या पीछे रहना। बीच में आपस में बात करना। हँसना। प्रमिला का कहना, ''दीदी, तुम्हारा जवाब नहीं।'' दीदी का मुँह खोले आँखों से मुझसे कॉम्प्लिमेंट चाहना। कहना, ''आज शाम कितनी अच्छी है!'' मेरा तापमान को याद रखना। खिसियानी हँसी हँसना। बोलने के वक़्त चुप रहना, चुप रहने के वक़्त बोल पड़ना। हँसी की बात में सीरियस रहना, सीरियस बात में मुस्कुरा देना। सामने से आते परिचितों का मतलब-भरी नज़र से देखना। किसी को आँख मारना, किसी को रोककर पूछ लेना, ''मज़े हो रहे हैं, मज़े!''

जाने कैसा-कैसा लगा। जैसे बरसों से वे पैकेट उठाए हों। बरसों से वही फुटपाथ पैरों के नीचे हो। वही पेडेस्ट्रियन क्रॉसिंग सामने हो। डोंट क्रॉस। क्रॉस नाउ। बरसों से वह कह रही हो, ''दीदी, तुम्हारा जवाब नहीं।'' पास से कोई पूछ रहा हो, ''मज़े हो रहे हैं, मज़े ?''

एक मूँगफलीवाला इरोज़ के पास दिखाई दे गया। सरला फेन्स के नीचे से निकलकर सीधी उसकी तरफ़ चली गई। झपटती हुई जैसे कि उसके भाग जाने का डर हो। दो-एक कारवालों को ब्रेक लगानी पड़ी। एक ने घूरकर मेरी तरफ़ देख लिया। मैं दम साधे नाक की सीध में चलता रहा। प्रमिला ने चलते-चलते पूछ लिया, ''इस तरह ख़ामोश क्यों हो?''

''ख़ामोश! नहीं तो।'' कहकर मैं सीटी बजाने लगा।

''हमने तुम्हें बोर तो नहीं किया?''

अपने पर गुस्सा आया, क्यों उसे ऐसा महसूस करने दिया? क्यों नहीं कुछ न कुछ बात करता रहा? कितनी ही बार सोचा था कि उनसे कहीं चलकर चाय पीने को कहूँ। पर डर था कि पैसे कम न पड़ें। पहले पता होता तो किसी से उधार माँग लेता या पहली तारीख़ को बचाकर रखता। हमेशा ज़रूरत के वक़्त ही पैसे कम पड़ते थे। तब भी तो यही हुआ था। उस दिन ताश में पैसे न हारे होते...

सरला ने मूँगफली लेकर बटुए में भर ली थीं। अब एक-एक दाना निकालकर खा रही थी। बीच-बीच में हम लोगों की तरफ़ देख लेती थी, जैसे हम लोग रनर्ज़-अप हों। इससे पहले कि हम लोग पास पहुँचें, वह अगली सड़क भी क्रॉस कर गई। एलितालिया के बाहर खड़ी होकर मूँगफली चबाने लगी। जब तक हम वहाँ आए, वह चर्चगेट के बाहर पहुँच गई।

प्रमिला गम्भीर हो गई थी। शायद पैकेटों के बोझ से। गोरी-गदराई बाँहें लाल हो आई थीं। पलकें भारी लग रही थीं, जैसे नींद आई हो। ''अब किधर चलना है?'' सरला के पास पहुँचकर उसने पूछा, जैसे कह रही हो—'क्यों मुझे ख़ामख़ाह साथ घसीट रही हो?'

''बैक होम,'' सरला ने पटाख से जवाब दिया, जैसे पूछने, बात करने की ज़रूरत ही नहीं थी; जैसे यहीं तक लाने के लिए मुझसे पैकेट उठवाए गए थे।

''पैकेट ले लें?'' प्रमिला ने गहरी नज़र से उसे देखा। उसने आँखें झपक दीं। साथ ही कहा, ''बेचारे को और कितना थकाएगी?''

मन हुआ कि एकाध पैकेट हाथ से गिर जाने दूँ, ऐसे कि बड़ी को झुककर उठाना पड़े। पर अचानक शरीर में झुरझुरी दौड़ गई। पैकेट लेने-लेने में प्रमिला का हाथ बाँह से छू गया था। अच्छा लगा कि आस्तीन चढ़ा रखी थी, वरना झुरझुरी न होती। पैकेट बहुत सँभालकर देने की कोशिश की। काफ़ी वक़्त लिया कि शायद फिर से उसका हाथ बाँह से छू जाए। मगर नहीं छुआ। इससे आख़िरी पैकेट सचमुच हाथ से छूट गया। प्रमिला ने आँखें मूँद लीं। जाने उसमें कौन-सी नाजुक चीज़ बन्द थी।

गिरा हुआ पैकेट खुद ही उठाना पड़ा। टटोलकर देखा कि कुछ टूटा तो नहीं। कोई टूटनेवाली चीज़ नहीं लगी। शायद कपड़ा था। ''आई एम सॉरी,'' पैकेट उसे देते हुए कहा। सोचा, शायद इस बार हाथ से हाथ छू जाए मगर नहीं छुआ। वह पैकेट लेकर उस पर से धूल झाड़ने लगी।

''कुछ टूटा तो नहीं?'' मैंने पूछा।

उसने सिर हिला दिया, जैसे टूटने पर भी शराफत के मारे इनकार कर रही हो। फिर पैकेट को बच्चे की तरह छाती से चिपका लिया। मन हुआ कि मैं भी दो उँगलियों से उसे बच्चे की तरह सहला दूँ। पुचकारकर कहूँ, ''त्यों बबलू, तोत तो नहीं लदी?''

''चलें?'' प्रमिला ने बड़ी की तरफ़ देखा। बड़ी ने कलाई की घड़ी की तरफ़ देखा। फिर स्टेशन की घड़ी की तरफ़ देखा। फिर मैरीन ड्राइव से आती गाड़ियों पर नज़र डाली। फिर साँस भरकर तैयार हो गई। ''आओ चलें।''

कुछ सेकेंड और गुज़र गए। इस दुविधा में कि पहले कौन चले, वे ख़ामोश मुझे देखती रहीं। मैं उन्हें देखता रहा। अचानक बड़ी मुड़कर अन्दर को चल दी। ''हाय, फास्ट गाड़ी जा रही है,'' उसने लगभग दौड़ते हुए कहा।

छोटी ने चलते-चलते एक बार और देख लिया। आँखें हिलाईं। हाथों को जोड़ने के ढंग से जुम्बिश दी। होंठों को कुछ कहने के ढंग से हिलाया। उसके बाद इस तरह घिसटती हुई चली गई, जैसे चलानेवाली बिजली बड़ी के पैरों में हो।

कुछ देर वहीं खड़ा रहा। गाड़ी को जाते देखता रहा। फिर अपनी नंगी बाँह को सहलाता हुआ बस-स्टॉप पर आ गया।

पहली बस मिस कर दी। दूसरी भी मिस कर दी। तीसरी मिस नहीं कर सका, क्योंकि स्टॉप पर अकेला रह गया था। दो सेकेंड सोचता रहा। इससे कंडक्टर नाराज हो गया। फुटबोर्ड पर पाँव रखा, तो उसने डाँट दिया, ''नहीं जाना मँगता तो इदर ही खड़ा रहो न! बहुत अच्छा-अच्छा शकल देखने को मिलता है।'' मुझ पर कोई असर

नहीं हुआ तो वह बिना टिकट दिए आगे चला गया। वहाँ से बार-बार मुड़कर देखता रहा, जैसे सोचता हो कि मैं उसे मनाने जाऊँगा।

एक लड़की के पास जगह ख़ाली थी। मन हुआ बैठ जाऊँ, मगर खड़ा रहा, उसे देखता रहा। लड़की बुरी नहीं थी। ख़ासी अच्छी थी। बाँहें ज़रा दुबली थीं, बस। शायद स्लीवलेस ब्लाउज़ की वजह से लगती थीं। लोकट और स्लीवलेस। उन दिनों प्रमिला भी ऐसे ही कपड़े पहनती थी। लोकट और स्लीवलेस। बाँहें उसकी ऐसी दुबली नहीं थीं। रोएँ भी उन पर इतने नहीं थे। ख़ामख़ाह मसल देने को मना होता था। उससे एक बार कहा भी था। वह सिर्फ़ अपना होंठ काटकर रह गई थी।

कंडक्टर से नहीं रहा गया। खुद ही टिकट देने चला आया। उम्मीद अब भी थी उसे कि मैं माफ़ी माँगूँगा, या कम-से-कम मुस्कुरा दूँगा। मगर मैं मुस्कुरा नहीं सका। होंठ बहुत खुश्क थे। कंडक्टर ने अपना गुस्सा टिकट पर निकाल लिया। इतने ज़ोर से पंच किया कि उसका हुलिया बिगड़ गया।

घर से एक स्टॉप पहले, मेट्रो के पास उतर गया। सोचा, रात के शो का टिकट खरीद लूँ। टिकट मिल रहे थे मगर तीन-पचास के। एक-पिचहत्तर के बाहर 'सोल्ड आउट' का बोर्ड लगा। तीन-पचास गिनकर ज़ेब से निकाले, फिर वापस रख दिए। उस क्लास में कभी गया नहीं था। दो मिनट क्यू में खड़ा रहकर लौट आया।

हवा थी। गर्मी भी थी। सामने गिरगाँव की सड़क थी। आसानी से क्रॉस कर सकता था। मगर घर आने को मन नहीं था। खाना खाने जाने को भी मन नहीं था। न ईरानी के यहाँ, न गुजराती के यहाँ, न ब्रजवासी के यहाँ। रोज़ तीनों जगह बदल-बदलकर खाता था। एक का ज़ायका दूसरे के ज़ायके से दब जाता था। पैसे अदा करने में सहूलियत रहती थी। चेहरे भी नए-नए देखने को मिल जाते थे। शिकायत भी तीनों से की जा सकती थी।

मगर तीनों जगह जाने को मन नहीं हुआ। कहीं और जाकर खाने को भी मन नहीं हुआ। भूख थी। दिनों बाद ऐसी भूख लगी थी। मगर जाने, बैठने और खाने को मन नहीं हुआ। अपने पर गुस्सा आया। कितनी बार सोचा था कि मक्खन-डबल रोटी घर में रखा करूँ। तरकारी-अरकारी भी वहीं बना लिया करूँ। मगर सोचने-सोचने में सात साल निकल गए थे।

सोचा, घर ही चलना चाहिए, पर कदम ही नहीं उठे। अँधेरे ज़ीने का ख़याल आया। एक के बाद एक—पाँच माले। पहले माले पर सारी बिल्डिंग की सड़ाँध। दूसरे पर खोपड़ की बास। तीसरे पर कुठ और अनारदाने की बू। चौथे पर आयुर्वेदिक औषधियों की गन्ध।

पाँचवें माले की बू का ठीक पता नहीं चलता था। प्रमिला ने तब कहा था कि सबसे तेज़ बू वही है। सरला इससे सहमत नहीं थी। उसका कहना था कि सबसे तेज़ गन्ध आयुर्वेदिक औषधियों की है।

कितनी ही देर वहाँ खड़ा रहा। सब जगहों का सोच लिया कि कहाँ-कहाँ जाया जा सकता है। कहीं जाने को मन नहीं हुआ। लगा कि सभी जगह बेगानापन महसूस होगा। पुरी देखकर कहेगा, "आओ, आओ! और दस मिनट न आते, तो हम लोग खाना खाकर घूमने निकल गए होते।" भटनागर शायद अन्दर से आँखें मलता हुआ निकले और कहे, "अरे, तुम, इस वक़्त? खैरियत तो है?"

सड़क पार कर ली। गिरगाँव के फुटपाथ पर आ गया। प्रिंसेज़ स्ट्रीट के क्रॉसिंग पर कुछ देर रुका, फिर आगे चल दिया।

ईरानी के यहाँ से मक्खन और डबलरोटी ले ली। बिस्कुटों का एक पैकेट भी खरीद लिया। कुछ रास्ता चलकर याद आया कि सिगरेट ज़ेब में नहीं है। पनवाड़ी के यहाँ से दो डिबियाँ चारमीनार की ले लीं। फिर इस तरह आगे चला जैसे घर पर मेहमान आए हों, जाकर उनकी खातिरदारी करनी हो।

सीढ़ियाँ गिनी हुई थीं, फिर भी गिनता हुआ चढ़ने लगा, जैसे फिर से गिनने में फ़र्क आ सकता हो। संख्या एक सौ बीस से सोलह-सत्रह पर लाई जा सकती हो। मगर चौबीस तक गिनकर मन ऊब गया। दूसरे माले से गिनना छोड़ दिया।

उस दिन यहीं तक आकर प्रमिला ऊब गई थी। "अभी और कितने माले चढ़ना हैं?" उसने पूछा था।

"तीन माले और हैं," वह हिम्मत न हार दे, इसलिए एक माले का झूठ बोल दिया था। खुद जल्दी-जल्दी चढ़ने लगा था कि तीसरे माले से पहले और बात न हो। हाथों में चीज़ों को सँभालना मुश्किल लग रहा था। खाने-पीने का कितना ही सामान साथ लाया था–बिस्कुट, भुजिया, अंडे, चिउड़ा। वहाँ चाय पीने का सुझाव सरला का था। "इस तरह तुम्हारा फ़्लैट भी देख लेंगे," उसने कहा था।

प्रमिला शुरू से ही इस बात से खुश नहीं थी। वह पिक्चर देखना चाहती थी–हैमलेट। एक दिन पहले मैं उनसे यही कहकर आया था। खुद ही उसने 'हैमलेट' की तारीफ की थी। पचासेक रुपए एक दोस्त से उधार ले लिये थे, मगर चालीस से ज़्यादा उनके यहाँ ताश में हार गया था–उनके भाई के पास, जो कि इस बीच सतीश से सतीश हो गया था। शर्मा के यहाँ वे लोग ठहरे थे। उसी ने उनसे परिचय कराया था। वह उस वक़्त घर पर नहीं था। शाम की ड्यूटी पर गया था। वह होता तो और दस-बीस उधार ले लेता। जब उन दोनों को साथ लेकर निकला, ज़ेब में कुल छह रुपए बाक़ी थे।

उनके साथ ट्रेन में आते हुए कई-कई बातें सोचीं कि कह दूँ, भी़ड़ में किसी ने ज़ेब काट ली है या किसी तरह पैर में मोच ले आऊँ या आठ बजे का कोई अपाइंटमेंट बता दूँ, पर कहते वक़्त जो बात कही वह ज़्यादा वज़नदार नहीं थी। कहा कि पिक्चर में बहुत रश है, आनेवाले पूरे हफ्ते की सीटें बुक हो चुकी हैं।

प्रमिला को वही बुरा लग गया। वह एकाएक ख़ामोश हो गई। सरला मुस्कुरा दी, "अच्छा ही है" उसने कहा, "तुम आज इतने पैसे हारे भी तो हो।"

इस बात ने काफ़ी देर के लिए मुझे भी ख़ामोश कर दिया।

तीसरे माले तक आते-आते प्रमिला हाँफने लगी थी। आँखों में ख़ास तरह की शिकायत थी। जैसे कह रही हो, 'पिक्चर नहीं चल सकते थे, तो यहाँ लाने की बात भी क्या टाली नहीं जा सकती थी?' सरला आगे-आगे जा रही थी और बार-बार उसकी तरफ़ देखकर हँस देती थी।

चौथे माले से पाँचवें माले की सीढ़ी पर मैंने कदम रखा, तो प्रमिला जहाँ की तहाँ ठिठक गई।

"अभी और ऊपर जाना है?" उसने पूछा। मुझे अपने झूठ पर अफसोस हुआ।

"यह आख़िरी माला है," मैंने कहा। सरला एक बार फिर हँस दी। प्रमिला की आँखों में रंगीन डोरे उभर आए। "कैसी जगह है यह रहने के लिए!" उसने बुदबुदाकर कहा और सरला की तरफ़ देख लिया, इस तरह जैसे सरला की बात अपने मुँह से कह दी हो।

ऊपर पहुँचकर दरवाज़ा खोला, बत्ती जलाई। सब सामान बिखरा पड़ा था, उससे कहीं बुरी हालत में जैसे उन लोगों के आने के दिन पड़ा था। उस दिन तो कुछ चीज़ें फिर भी ठीक-ठिकाने से रखी थीं।

जल्दी-जल्दी उन लोगों के लिए चाय बनाने लगा था। सरला घूमकर कमरे की चीज़ों को देखती रही थी। "यह पलंग कब का है। मराठों के ज़माने का?...पढ़ने की मेज़ पर वह क्या चीज़ रखी है? साबुन की टिकिया? मैंने समझा पेपरवेट है..."

प्रमिला सारा वक़्त ख़ामोश खिड़की के पास खड़ी रही थी।

लौटने से पहले सरला दो मिनट के लिए गुसलखाने में गई, तो प्रमिला ने पहली बात कही, "टिकटों का पता पहले से नहीं कर सकते थे?"

कुछ जवाब देते नहीं बना। हारी हुई नज़र से उसकी तरफ़ देखता रहा। उसने फिर कहा, "मैं अपने लिए नहीं कह रही थी। वह पहले ही कितना कुछ कहती रहती है। अब घर जाकर पता है, क्या-क्या बातें बनाएगी?"

"मुझे इसका पता होता तो..."

"पता होना चाहिए था न!" उसका स्वर तीखा हो गया, "ज़रा-सी बात के लिए अब..."

तभी सरला गुसलखाने से आ गई। हँसते हुए उसने कहा, "यह गुसलखाना तो अच्छा-ख़ासा अजायबघर है। मैं तो समझती हूँ कि अन्दर जानेवालों से एक आना टिकट वसूल किया जा सकता है..."

और प्रमिला हम दोनों से पहले बाहर निकलकर ज़ीने पर पहुँच गई थी।

मक्खन, डबलरोटी और बिस्कुट का डब्बा मेज़ पर रख दिया। कुछ देर चुपचाप पलंग पर बैठा रहा, फिर शेल्फ़ से एक पुरानी किताब निकाल लाया। बहुत दिन उस किताब को सिरहाने रखकर सोया करता था। किताब प्रमिला से ली थी। उन्हीं दिनों एक बार उनके यहाँ से ले आया था। इसलिए नहीं कि पढ़ने का ख़ास शौक था, बल्कि इसलिए कि अन्दर प्रमिला का एक फोटो रखा नज़र आ गया था। प्रमिला जानती थी। जब किताब लेकर चला, तो वह मेरी आँखों में देखकर मुस्कुरा दी थी। तब परिचय शुरू-शुरू का था। वह अक्सर इस तरह मुस्कुराया करती थी।

बाद में किताब लौटाने गया था तब पता चला कि वे लोग दो दिन पहले जा चुके थे।

उस दिन कितना-कुछ सोचकर गया था कि उससे उस दिन के लिए माफ़ी माँगूँगा। कहूँगा कि अब फिर किसी दिन ज़रूर वे मेरे साथ पिक्चर का प्रोग्राम बनाएँ...

उस दिन अपने कमरे को भी अच्छी तरह ठीक करके गया था। यह सोचा भी नहीं था कि वे लोग इतनी जल्दी वापस चले जाएँगे।

उनके आने से पहले ही शर्मा ने बात चलाई। कहा था कि देखकर बताऊँ मुझे वह लड़की कैसी लगती है। यह भी कि वे लोग जल्दी ही शादी करना चाहते हैं।

बाद में उसने नहीं पूछा कि वह मुझे कैसी लगी। कभी उन लोगों का ज़िक्र ही नहीं किया।

किताब खोली। पुरानी फटी हुई किताब थी, पॉकेट-बुक सीरीज़ की। एक-एक वर्का अलग हो रहा था। वह फोटा अब भी वहीं था—चौवन और पचपन सफे के बीच। देखकर लगा, जैसे अब भी वह उसी नज़र से देख रही हो, उसी तरह कह रही हो। 'पिक्चर नहीं चल सकते थे, तो यहाँ लाने की बात भी क्या टाली नहीं जा सकती थी?'

फोटो हाथ में लेकर देखता रहा। फिर वहीं रखकर किताब बन्द कर दी। उसे पलंग पर छोड़कर उठ खड़ा हुआ। फिर पलंग से उठाकर मेज़ पर रख दिया और खिड़की के पास चला गया। बाहर वही छतें थीं, वही सूखते हुए कपड़े, वही टूटी-फूटी बच्चों की गाड़ियाँ, पुरानी कुर्सियाँ, कनस्तर, बोतलें...

लौटकर कुर्सी पर आ गया। कितनी ही देर बैठा रहा। फिर एकाएक उठकर किताब को हाथ में ले लिया। फिर वहीं रख दिया। अन्दर जाकर छुरी ले आया और डबलरोटी से स्लाइस काटने लगा। फिर आधे कटे स्लाइस को वैसे ही छोड़कर खिड़की के पास चला गया था। वहाँ से, जैसे उसकी नज़र से, कितनी देर, कितनी ही देर, अपने को और अपने कमरे को देखता रहा, देखता रहा।

सेफ़्टी पिन

मिसेज़ सक्सेना प्लॉट के नाम पर अपना उपन्यास ज़बानी सुना रही थीं, पर मेरा ध्यान अपनी पतलून के बटनों की तरफ़ था।

उपन्यास में सब पात्रों के नाम एक-से थे...या मुझे लग रहे थे। सबके सब दिल्ली से शुरू करते थे और शिमला, डलहौजी, श्रीनगर घूमकर वापस दिल्ली चले आते थे। दिल्ली में रहकर कुछ दिन पार्टियों में शरीक होते थे; फिर पहाड़ों पर चले जाते थे। उपन्यास में पुरुष ज़्यादा थे या स्त्रियाँ, मुझे याद नहीं, फिर स्त्रियाँ अगर कम थीं तो भी तादाद में ज़्यादा लगती थीं। उम्र में सब चौबीस-छब्बीस के आसपास थीं; मिसेज़ सक्सेना हरेक को 'स्लिम, स्मार्ट एंड प्रेटी' बता रही थीं, फिर भी जाने क्यों मुझे लग रहा था कि सब ठिगने क़द और भरे हुए जिस्म की गोरी-गोरी औरतें हैं जो बात करते हुए जमुहाइयाँ ज़रूर लेती रहती हैं, और अपने ब्रसियर के कसाव से परेशान होकर उसके इलास्टिक को छेड़ती रहती हैं। यह भी लग रहा था कि उनमें से किसी की असली उम्र अड़तीस चालीस से कम नहीं है। वे सब पार्टिशन के बाद दिल्ली आई हैं, और क्लबों में जाते उन्हें ज़्यादा दिन नहीं हुए।

मिसेज़ सक्सेना टेलीफ़ोन सुनने के लिए बरामदे में गईं तो मैंने एक बार अच्छी तरह बटनों को देख लिया। एक भी बटन बाहर नज़र नहीं आ रहा था। मैं अपनी टाँग पर टाँग रखे, कुहनियों पर झुका हुआ बैठा था। अब मैंने बाँहें खोल लीं और टाँगों को थोड़ा फैल जाने दिया।

कसूर मेरा नहीं धोबी का था। या शायद धोबी का भी नहीं...पर मेरा बिलकुल नहीं था। घर से धुली पतलून और बुश्शर्ट पहनकर निकला था। बस में इत्मीनान से टाँगें फैलाकर बैठा रहा था। यह अहसास उतरते वक़्त हुआ कि बटनों के अन्दर का अस्तर उधड़ गया है। उधड़ा न होगा तो फट गया होगा। बहरलाल कुछ ऐसा था जिससे बटनों की कतार तिरछी होकर बाहर नज़र आ रही थी। गनीमत थी कि मिसेज़ सक्सेना के यहाँ पहुँचकर नहीं पता चला। रास्ते में कनॉट प्लेस से एक दर्जन सेफ्टी पिन खरीद लिए। एक रेस्तराँ के टॉयलेट में जाकर अस्तर को अन्दर से टाँक लिया। दर्जन में से जो आठ पिन बच रहे, उन्हें पिछली ज़ेब में ठूँस लिया। सोचा, फिर कभी इसी तरह काम आएँगे।

मिसेज़ सक्सेना झुकी-झुकी लौट आईं। देखकर लगा, उनके पति का फ़ोन होगा। अन्दाज़ा गलत नहीं था।

वह आकर सोफे पर नहीं बैठीं; सीधी बोतलोंवाली तिपाई के पास चली गईं। बोलीं, "भाई, बताओ, क्या लोगे? सुदर्शन नाराज़ हो रहा है कि मैंने अभी तक तुम्हें कुछ पीने को नहीं दिया?"

सुदर्शन को मैं भी एक वचन में ही जानता था। पर मिसेज़ सक्सेना का एक वचन दूसरी तरह का था। उसमें घनिष्ठता से ज़्यादा ऊब की झलक थी, जैसी कि बारह साल शादी के बाद ही आ सकती है।

"बताओ, क्या दूँ, स्कॉच?" उन्होंने फिर पूछा।

मैंने सिर हिला दिया, "अभी कुछ नहीं।"

"क्यों?"

"मेरे सिर में दर्द हो जाता है।"

"पर मैंने देखा है तुम्हें पीते..."

"कभी-कभी नहीं भी होता।"

"आज तुम्हें पहले से ही पता है कि होगा?"

मैं मुस्कुरा दिया। बता नहीं सका कि अब भी हो रहा है। कहा, "सुदर्शन आ जाए तो थोड़ी-सी ले लूँगा।"

मिसेज़ सक्सेना ने घड़ी की तरफ़ देखा और अन्दर चली गईं। लौटकर आईं तो नौकर साथ था। बड़ा-सा फ्रेम लिये हुए।

"बरसात ने बहुत तंग किया है इस साल," कहती हुई वह मुस्कुराईं। नौकर फ्रेम दीवार पर लगाकर चला गया।

"हाँ, पहले तो बिजली ही फेल होती थी," मैंने कहा, "इस साल पानी भी उबालकर पीना पड़ रहा है।"

"हमारे घर में दीमक बहुत हो गई हैं," वह बोलीं, "फ़र्श से कार्पेट मैंने इसीलिए उठवा दिया है। दीवार से पेन्टिंग भी उतरवा दी थीं...पर आज मेहमान आ रहे हैं, इसलिए..."

मैंने पेन्टिंग की तरफ़ देखा। स्याह और पीले रंग में एक औरत का चेहरा। नीचे दीवार पर दीमक की दो लकीरें।

"इसे दीमक से थोड़ा हटाकर क्यों नही लगवातीं?" मैंने कहा।

"दीवार पर चौखट का निशान है," वह बोलीं, "ख़ाली बुरा लगता है।"

मैंने फ़र्श की तरफ़ देखा। उस पर कार्पेट का कोई निशान नहीं था। फिर भी वह नंगा लगता था। महसूस होता था कि कोई चीज़ वहाँ से हटाई गई है। दीमक की कुछ लकीरें वहाँ पर भी थीं। मैंने हाथ ज़ेबों में डाल दिए। दोनों ज़ेबों में सूराख थे। मैंने हाथ बाहर निकाल लिए।

मिसेज़ सक्सेना उपन्यास का बाक़ी हिस्सा 'संक्षेप में' सुनाने लगीं। संक्षेप में सभी स्त्रियाँ प्यार करती थीं...पर पहाड़ों पर जाकर। अक्सर झील के किनारे या क्लब के पिछले कमरे में। अपने 'लवर्ज़' के साथ। 'हस्बैंड्स' उन्हें पहाड़ों पर छोड़कर दिल्ली चले आते थे...या शराब पीकर लाउंज में लुढ़के रहते थे। लवर्ज़ की अपनी बीवियाँ थीं, पर हस्बैंड्स का कोई लव-अफेयर नहीं था। उपन्यास की हीरोइन का नाम सुजाता था...या शायद सुनीता था। उसे अन्त में झील में डूबकर आत्महत्या करनी थी, इसलिए शुरू से ही उसे पानी में एक खिंचाव महसूस होता था। उसने 'भृगुसंहिता' से अपनी जन्मपत्री निकलवा रखी थी जिसके मुताबिक उसकी मौत 'प' अर्थात् पानी में ही होनी थी।

"मैं तुम्हें बोर तो नहीं कर रही?" उन्होंने हीरोइन की आत्महत्या से कुछ पहले ही पूछ लिया।

"नहीं, बिलकुल नहीं," मैंने कहा, "मुझे बहुत दिलचस्प लग रहा है।"

"बस अब तीन-चार चैप्टर ही बाक़ी हैं..."

"आप सुनाइए। अन्त तो इसका और भी दिलचस्प होगा।"

पर अन्त तक सुनने की नौबत नहीं आई। एक जोड़ी मेहमान उसी वक़्त चले आए।

मिस्टर और मिसेज़ सिंह। मिस्टर सिंह...मेजर, पचास, गम्भीर। मिसेज़ सिंह... सुन्दर, बत्तीस, शोख। मिसेज़ सक्सेना से परिचय कराया। मेजर सिंह झुककर मुस्कुराए। मिसेज़ सिंह ने अनदेखे ढंग से कहा, "हलो।"

मैंने भी 'हलो' कहा, पर उस तरह से नहीं। अच्छी तरह देखकर कि वह भी मिसेज़ सक्सेना के उपन्यास में से तो नहीं हैं। लगा कि हेयरकट को छोड़कर और बातें मिलती हैं। हाँ, बात करने का लहजा उनका अपना है। उपन्यास में तो हर स्त्री की आवाज़ सिक्के में ढली लगती थी।

मिसेज़ सिंह अकेली ही बात कर रही थीं...कि हिन्दुस्तान में यह उनकी आख़िरी शाम है, इस बार की आख़िरी...कि कल इस वक़्त वह इस ज़मीन से ऊपर खुली हवा में उड़ रही होंगी...कि दुनिया की हर चीज़ कुछ अरसे के बाद बोरिंग हो जाती है...कि हर देश किसी एक ही लिहाज़ से अच्छा होता है...कि यह देश किसी भी लिहाज़ से अच्छा नहीं है...कि सिवाय टैक्स अदा करने के यहाँ कुछ ज़िन्दगी ही नहीं है...कि स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए आदमी को साल में दो महीने ज़रूर यहाँ से बाहर रहना चाहिए।

मेजर सिंह कुहनियाँ सोफे की बाँहों पर रखे एक-एक इंच नीचे को झुकते जाते थे। झटके से अपने को ऊपर उठाते थे, और फिर उसी तरह झुकने लगते थे। मिसेज़ सक्सेना ने व्हिस्की के गिलास सबके हाथों में दे दिए थे। मेजर सिंह की आँख जब भी मुझसे मिलतीं, वह ज़रा-सा मुस्कुराते। लगता कि कोई बात है जो उन्हें मुझसे

कहनी है। मिसेज़ सिंह ह्विस्की का घूँट भरने के लिए रुकीं, तो वह धीमी आवाज़ में जल्दी-जल्दी बोले, "मुझे लग रहा था कि हमें आने में देर हो गई है...यहाँ आने से पहले एक और दोस्त के यहाँ ड्रिंक्स के लिए चले गए थे...उससे कहा भी कि हम लोग ज़्यादा नहीं लेंगे...पर कहने से कौन मानता है..." वह धीरे से हँसे। हँसते हुए उन्होंने एक-एक करके तीनों की तरफ़ देखा और सहसा ख़ामोश हो गए...ज़रा-से वकफे के बाद फिर उसी तरह मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुरा दिए।

मैं भी मुस्कुराया। एक पिन अन्दर से मुझे चुभ रहा था।

मिसेज़ सिंह उस वक़्त हालैंड में थीं। वहाँ से होती हुई वेस्ट जर्मनी आ रही थीं। अपनी शॉपिंग उन्हें वेस्ट जर्मनी से करनी थी। हर साल वहीं से करती थीं। तकलीफ़ सिर्फ़ चुंगी की थी जो वापस आने पर अदा करनी पड़ती थी। "पता है शारदा, पिछले साल मुझे कितने रुपए चुंगी के देने पड़े थे...?"

शारदा, अर्थात् मिसेज़ सक्सेना न जाने किस वजह से नाराज़ लग रही थीं। शायद इसलिए कि उन्हें कभी उतने रुपए चुंगी के देने पड़े थे या इसलिए कि उन लोगों के चले आने से उनके आख़िरी तीन चैप्टर बीच में रह गए थे।

मुझे भी बीच-बीच में झील का ध्यान हो आता था। हमने हीरोइन को बोट में रोमांस करते छोड़ा था। वे लोग न आए होते, तो वह कब की आत्महत्या कर चुकी होती। तब मिसेज़ सक्सेना ज़्यादा सहज भाव से काजू और निमकी की प्लेटें सबकी तरफ़ बढ़ा रही होतीं।

वेस्ट जर्मनी से लौटकर मिसेज़ सिंह ने अपने दामाद का ज़िक्र शुरू किया, तो मैं चौंक गया। मेजर सिंह एक इंच और नीचे को झुक गए।

"अपनी पैकिंग तो मैंने अभी की ही नहीं। सारा दिन लड़की की पैंकिंग कराती रही। लड़की और दामाद आज ही वापस जा रहे हैं...।"

इससे पहले कि मेजर सिंह थोड़ा उठ पाते, दूसरी गाड़ी बाहर आ पहुँची।

नए आनेवाले लोग मेरे परिचित थे। सुदर्शन उन्हें अपनी गाड़ी में लेकर आया था। रमेश खन्ना और उसकी पत्नी शानो।

"हलो एवरीबडी!" शानो ने अपना पल्लू फैलाए भरतनाट्यम् की मुद्रा में दहलीज़ के पास आकर कहा। उत्तर केवल मिसेज़ सक्सेना ने दिया, पोस्ट-ग्रेजुएट-स्टाइल में, "हैलो...!"

सुदर्शन सिगरेट-साइज का सिगार मुँह में लगाए सबसे पीछे था। रमेश उससे आगे...जैसे कि वह उन दोनों की हिरासत में हो।

"मैंने अपने दामाद से कहा..." सबके बैठते ही मिसेज़ सिंह ने अपनी बात फिर शुरू कर दी।

'आपका मतलब...आपका...अपना दामाद!"

"हाँ मेरा...मतलब मेरी...मतलब इनकी...बड़ी लड़की का पति।"

मेजर सिंह अब हरेक की तरफ़ देखकर मुस्कुराए। मेरी तरफ़ देखकर ख़ासतौर से।

"हाँ-हाँ...!" शानो भी मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुराई। साथ ही उसने पूछ लिया, "तुम गुमसुम होकर क्यों बैठे हो?"

मैंने एक बार बटनों की तरफ़ देख लिया। मुस्कुराकर कहा, "कुछ नहीं, ऐसे ही...बात सुन रहा था।"

शानो ने आँखें झपक लीं। ऐसे जैसे मेरा मतलब समझ गई हो।

सुदर्शन सबके लिए ह्विस्की डाल रहा था। शानो का गिलास उसे देता हुआ बोला, "मिसेज़ सिंह की लड़की हर हारनेस है...अब भी मध्यप्रदेश और राजस्थान में उनकी काफ़ी जागीर है।"

"आई सी।"

"मेजर सिंह भी एक रियासत के आधे वारिस तो हैं ही।"

"आई सी।"

"मैंने अपने दामाद से कहा कि..." मिसेज़ सिंह बोलीं, "...कि हो सकता है इस बार मैं साल-भर बाहर ही रह जाऊँ, तो पता है वह क्या बोला? बोला कि..."

"मज़ाक में..." मेजर सिंह ने आहिस्ता से समझा दिया, "वह इनसे अकसर मज़ाक करता है।"

"पर यह उसने मज़ाक में नहीं कहा था।" मिसेज़ सिंह ने होंठ भींच लिए।

मेजर सिंह हँस दिए। "तुम्हारी 'सेंस ऑफ ह्यूमर' भी किसी से कम थोड़े ही है! हाँ, बताओ इन्हें...बात काफ़ी दिलचस्प है।"

"यह मज़ाक नहीं है..." मिसेज़ सिंह ने फिर ज़ोर देकर कहा, "ही मेंट इट। उसने कहा कि मुझे साल-भर बाहर रहना हो, तो उसे उसके ड्राइंगरूम के लिए अपना एक बड़ा-सा पोर्ट्रेट बनवाकर भेज दूँ...किसी भी अच्छे पेंटर से। वह उसके लिए एक लाख तक ख़र्च करने को तैयार है।"

सुदर्शन ने पास जाकर ख़ाली गिलास उनके हाथ से ले लिया और उसे भरता हुआ बोला, "काश, कि मुझे पेंट करना आता!"

"वह सीरियसली कह रहा था, सुदर्शन...!" मिसेज़ सिंह ने अपने बालों को हाथ से सहेज लिया।

"मैं भी सीरियसली कह रहा हूँ," सुदर्शन गिलास वापस देता हुआ बोला, "मुझे चाहे एक लाख न भी मिलता।"

मेजर सिंह फिर हँसे...अकेले। "दैट्स इट...दैट्स इट। यह विट मुझे पसन्द है। शाम की सारी उदासी एक फिकरे से दूर हो जाती है।"

"डोंट टेल मी...कि सारी शाम तुम उदास रहे हो!" मिसेज़ सिंह मेजर के सोफे पर झुक गईं।

"नॉट दैट...नॉट दैट..." मेजर जल्दी से बोले, "मेरा मतलब था कि..."

"रहने दो," मिसेज़ सिंह ने उन्हें काट दिया, "तुम्हारा मतलब हमेशा बोरिंग होता है।"

मेजर पल-भर के लिए गम्भीर हुए, फिर मुस्कुरा दिए। मिसेज़ सिंह ह्रिस्की के घूँट भरने लगीं।

मिसेज़ सक्सेना जाने किस वक़्त उठकर बाहर चली गई थीं। अचानक बरामदे के दरवाज़े पर आकर उन्होंने कहा, "खाना मेज़ पर लग गया है।"

इस बार सुदर्शन ने एक-एक करके सबकी तरफ़ देख लिया। फिर धीरे से दीवार पर लगी तस्वीर से बोला, "खाने की अभी क्या जल्दी है?"

"अब मेज़ पर लग गया है, तो पड़ा-पड़ा ठंडा हो जाएगा!" कहती हुई मिसेज़ सक्सेना दहलीज़ से ही वापस चली गईं। पर इससे पहले कि कोई भी अपना गिलास होंठों तक ले जाता, या एक लफ्ज़ भी मुँह से कहता, फिर उसी तरह आकर बोलीं, "भई, जिसे गरम खाना हो, वह बाहर आ जाए। बाद में मुझसे कोई न कहे कि खाना ठंडा मिला है।"

मेजर सुनते ही उठ खड़े हुए, "मेरा ख़याल है, खाना खा लेना चाहिए। मुझे भूख भी लग रही है..."

"तुम चलकर शुरू करो," मिसेज़ सिंह सोफे की पीठ से सिर टिकाकर बोलीं, "हम थोड़ी देर में आ रहे हैं।"

मेजर उठने के बाद फिर बैठ नहीं सके। दरवाज़े की तरफ़ बढ़ते हुए बोले, "ठीक है, ठीक है। मैं चलकर शुरू कर रहा हूँ..."

दूसरा उठनेवाला रमेश था। "मेरा ख़याल है, जेंट्स को शुरू करना चाहिए। लेडीज़ बाद में आ जाएँगी।"

अब मैंने भी उठना अपना फर्ज़ समझा। बटन बदस्तूर बन्द थे, फिर भी सबके बीच से गुज़रकर जाते मेरे पैर उखड़े रहे। मेजर जा चुके थे, इसलिए मुस्कुराने का सहारा भी नहीं मिला।

पर दहलीज़ लाँघने से पहले शानो ने रोक लिया। "तुम्हें भूख लग आई है?"

"नहीं।"

"तो ठहर जाओ, बाद में हमारे साथ चलना।"

"मैं..." मैंने कहा, "वह...दरअसल..."

"चन्दर आ जाए, तो सब लोग साथ चलते हैं।"

"अरे, हाँ, चन्दर तो अभी आया ही नहीं।" सुदर्शन अपनी जगह से उठकर इधर-उधर देखने लगा...ऐसे जैसे कोई खोई हुई चीज़ तलाश कर रहा हो।

"उसने कहा था कि साढ़े नौ बजे तक पहुँच जाएगा।" शानो ने अपनी घड़ी देखी ओर रूमाल से पसीना पोंछने लगी।

सुदर्शन खोई हुई चीज़ को ढूँढ़ता हुआ बरामदे तक गया और वहाँ से लौट आया। आकर बोला, "शारदा न जाने कहाँ चली गई! शायद उधर किचन में हो। बिना चन्दर का इन्तज़ार किए उसे खाना नहीं लगाना चाहिए था। यह तो बहुत ही बुरी बात है। एक्सक्यूज़ मी..." और लम्बे कदम रखता हुआ वह पिछले दरवाज़े से अन्दर चला गया।

मैं ऐसे खड़ा था कि चेहरा शानो की तरफ़ रहते हुए भी बटन दूसरी तरफ़ रहें। दिमाग़ में वे दो लफ्ज़ नहीं आ रहे थे जो कहकर उसी एंगल से बाहर चला जाता। बगलों से टपककर पसीना बेल्ट के अन्दर जा रहा था।

"थोड़ी देर बैठो, अभी साथ ही चलते हैं," शानो ने कहा, तो एंगल बनाए रखने के लिए मुझे बैठ जाना पड़ा। बैठते हुए एक नोक अन्दर से चुभी लेकिन मैंने माथे पर शिकन नहीं आने दी।

"आजकल क्या कर रहे हो? शानो ने पूछा।

"आजकल..." मुझे कुछ देर सोचते रहना पड़ा कि आजकल मैं क्या कर रहा हूँ। लगा कि कोई ऐसा काम नहीं कर रहा जो बताने लायक हो। ऐसा भी नहीं जो न बताने लायक हो।

"बहुत दिनों से नज़र नहीं आए..." मुझे लगा कि शानो चाहे बात मुझसे कह रही है, पर उसकी दिलचस्पी मुझमें नहीं है। आँखें उसकी मिसेज़ सिंह के चेहरे पर टिकी थीं। इसलिए अपने नज़र न आने का मसला मुझे हल नहीं करना पड़ा।

"कभी हमारे घर पर आओ," शानो बात को ऐसी जगह ले आई जहाँ उसका सीधा-सा जवाब दिया जा सकता था। मैंने झट से कहा, "तुम जब भी कहो।"

"तुम्हें जिस दिन भी फुरसत हो," वह बोली, "किसी भी दिन जब तुम्हें फुरसत हो। रमेश नौ बजे चला जाता है। मैं सारा दिन घर पर ही रहती हूँ।"

मिसेज़ सिंह ने अपने गिलास से आख़िरी घूँट भरकर उसे तिपाही पर रखा और मुस्कुराई। मुझे लगा कि वह मुस्कुराहट मेरे लिए है। पर मेरा ख़याल गलत था। वह दरअसल दीवार पर लगी तस्वीर के लिए थी।

मैं तब तक जवाब में आधा मुस्कुरा चुका था। उतनी मुस्कुराहट बरकरार रखते हुए मैंने कहा, "अच्छी तस्वीर है। नहीं?"

मिसेज़ सिंह के होंठ सिकुड़ गए। "लगता है मक्खन के कूपन देकर ली गई है," कहकर वह फिर मुस्कुराई। मैंने घूमकर तस्वीर को एक बार और अच्छी तरह देख लिया।

शानो ने भी देखा, मगर सरसरी नज़र से। "कितनी भयंकर है!" उसने लज़्जत के साथ कहा। मुझे यह फिकरा रिहर्सल किया हुआ लगा। याद आया, एक नाटक में उसने चारुमित्रा का पार्ट किया था।

मिसेज़ सिंह के चेहरे पर जो भाव आया, वह कुछ-कुछ फ्रांसीसी क़िस्म का था। कन्धे भी उन्होंने ख़ास कांटिनेंटल अन्दाज़ से हिलाए। इससे बाँहें सोफे के बाहर फैल गईं। उन्हें समेटती हुई वह उठ खड़ी हुईं। उठकर एक जायज़ा लेती नज़र उन्होंने नंगे फ़र्श पर डाली। दूसरी अपनी सैंडिल पर। तीसरी चौखट की दहलीज़ पर। "पुराना घर है," वह हलके कदमों से दहलीज़ की तरफ़ चलती हुई बोलीं, "पचास साल से कम पुराना किसी भी तरह नहीं। पता नहीं कैसे...ये लोग...कैसे ये लोग रह लेते हैं यहाँ!"

दहलीज़ से उन्हें ठोकर लग सकती थी, पर नहीं लगी। ज्यों ही वह पर्दे की ओट में हुईं, शानो ने मेरे हाथ पर चुटकी काटी। "तुम इसे जानते हो?" उसने कहा।

'नहीं' कहने के लिए मैंने सिर हिलाया। मुँह से आवाज़ नहीं निकलने दी। मुझे लग रहा था कि पर्दे की ओट से मिसेज़ सिंह सारी बात सुन रही हैं।

"यह सुदर्शन की एक्स-फियांसे है।"

इस बार भी मैंने सिर ही हिलाया, मगर दूसरी तरह से।

"मैं आज पहले तो इसे पहचान ही नहीं सकी," शानो कहती रही, "तब से अब तक कितना फ़र्क आ गया है इसमें!" उन दिनों सुदर्शन इसे अपनी साइकिल पर बिठाकर कुतुब ले जाया करता था। बातें उन दिनों भी यह बहुत बढ़-चढ़कर करती थी। कहती थी कि हिज़ हाइनेस से कम किसी से शादी नहीं करूँगी। सुदर्शन के अलावा और भी कई बॉय फ्रेंड थे इसके। एक सिफ्त थी कि अपनी कोई बात छिपाती नहीं थी। सुदर्शन से अपने सब लव-अफेयर डिस्कस किया करती थी। यहाँ तक कह देती थी कि आज मैंने अपने कमरे में किसी को बुला रखा है, इसलिए तुम्हारे साथ नहीं जा सकती।" वह एक पैर हिला रही थी और सोफे से टेक लगाए जाने क्या सोचकर खुश हो रही थी। "उम्मा नाम है इसका। छह-सात साल हुए, सुदर्शन ने बताया था कि किसी अड़तालीस साल के जागीरदार मेजर से इसने शादी कर ली है...तीसरी शादी।"

"तीसरी शादी?"

"हाँ, इसकी यह तीसरी शादी है," शानो मेरे कन्धे पर हाथ रखकर हँस दी, "मेजर की दूसरी।"

मुझे ईर्ष्या हुई...पता नहीं किससे। ईर्ष्या छिपाने के लिए मैं भी हँस दिया।

"तुम समझते हो, यह इस आदमी के साथ भी वफादार होगी?" उसका हाथ मेरे दूसरे कन्धे तक बढ़ आया। मेरी ईर्ष्या गायब हो गई। साथ ही हँसी भी। "क्या पता है हो," मैंने कहा। कम-से-कम एक मौका मैं हरेक को देना चाहता था।

शानो ने मेरी गर्दन को नाख़ून से कुरेद दिया। "तुम हो बस ऐसे ही!" उसने कहा।

"कैसा?"

"ऐसे ही..."

पर्दा हिला और मिसेज़ सिंह दहलीज़ की दूसरी ठोकर बचाकर कमरे में आ गई। शानो ने आहिस्ता से अपनी बाँह मेरे कन्धे से हटा ली।

"कुछ पता ही नहीं चलता कहाँ है," मिसेज़ सिंह वहीं से बोलीं, "इधर-उधर सभी कोनों में मैंने देख लिया है।" एक हाथ से मोटे पर्दे का सिरा वह अब भी सँभाले थीं...जैसे कि उसे सँभाले रहने से कमरे में आकर भी वह कमरे से बाहर हों।

शराफत का तकाज़ा था कि मैं कुर्सी से उठ जाऊँ, मगर मैं उठा नहीं। जितना झुककर बैठा था, उससे थोड़ा और ज़्यादा झुक गया।

"आप बता सकती हैं?" मिसेज़ सिंह ने शानो से कहा। शानो अपना पल्लू झुलाती हुई उठ खड़ी हुई, "आप क्या ढूँढ़ रही हैं?"

"दैट थिंग..." मिसेज़ सिंह ने हाथ से पीछे की तरफ़ इशारा किया, "दैट थिंग देयर..."

इस पर शानो न जाने क्यों पहले से भी ज़्यादा खुश हो गई। उसकी तरफ़ बढ़ती हुई बोली, "चलिए, मैं आपको दिखा देती हूँ।"

वे दोनों ज्यों ही पर्दे के पीछे हुईं, मैं एक नज़र बटनों पर डालकर उठ खड़ा हुआ। पर बरामदे में पहुँचने से पहले ही मिसेज़ सक्सेना से सामना हो गया।

"कोई नहीं है यहाँ?" उन्होंने पूछा। मैंने अपने होने का ज़िक्र करना बेकार समझा। उनकी निगाह पर्दे से टकराकर लौट आई, तो खुद-बखुद उन्होंने मेरे होने को स्वीकार कर लिया है।

"वह कहाँ है?" इस बार उन्होंने सवाल छोटा कर दिया।

मैंने इसमें भी दिलचस्पी नहीं दिखाई कि वह किस 'वह' के लिए पूछ रही हैं। "दोनों अन्दर हैं," मैंने इत्मीनान के साथ कह दिया।

मिसेज़ सक्सेना ने एक हाथ अपने गाल पर रख लिया। तब मुझे ख़याल आया कि दीवार पर लगी तस्वीर कहीं उनका पोर्ट्रेट ही तो नहीं। उसमें भी पीले चेहरे पर स्याह हाथ उसी तरह रखा था। मिसेज़ सक्सेना हाथ रखे-रखे मुस्कुराईं। फिर गम्भीर होकर उदास हो गईं। तिपाई से बोतल और गिलास उठाकर बाहर की तरफ़ चलती हुई बोलीं, "उससे कह देना, वह आ गया है। मैं उसे उसका ड्रिंक बाहर ही दे रही हूँ।"

मैंने वाक्य से सर्वनाम निकालकर उनकी जगह संज्ञाएँ रख लीं। उससे कहना...मतलब शानो से कहना। वह आ गया है...मतलब चन्दर आ गया है। चन्दर का स्कूटर मिसेज़ सक्सेना के अन्दर आने के बाद बाहर रुका था। इसका मतलब था कि वह उसके गेट से दाखिल होते ही पता देने चली आई थीं।

मैं जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रहकर इन्तज़ार करता रहा। जैसे कि मिसेज़ सक्सेना मुझे वहाँ बाँधकर छोड़ गई हों। बीच में दो बार पर्दे की तरफ़ देख लिया। एक बार फ़र्श की तरफ़। एक बार पीले चेहरे की तरफ़। एक बार अपनी तरफ़।

अपनी तरफ़ नज़र डाली ही थी कि मिसेज़ सक्सेना दूसरी बार अन्दर चली आईं। आते ही बोलीं, ''वे अभी नहीं आईं?''

''नहीं,'' मैंने कहा और कुछ खुला-सा महसूस किया। एक कदम अपनी जगह से चल भी लिया।

''दीज़ विमेन!'' मिसेज़ सक्सेना ने होंठ कस लिए। मुझे पोर्ट्रेट वाली बात पर और भी विश्वास हो गया।

''मैंने इन औरतों के बारे में जो कुछ लिखा है, गलत लिखा है?'' वह बोलीं।

मैंने मुस्कुराकर हाथ ज़ेबों में डाल लिए। उँगलियों से दोनों सूराख बन्द कर लिए।

''मैं अपना क्लाइमेक्स तुम्हें ज़रूर सुनाना चाहती थी,'' मिसेज़ सक्सेना मेरी मुस्कुराहट का गलत मतलब समझ गई, ''उसमें कुल चार ही चैप्टर बाक़ी हैं।''

''मतलब उसके आत्महत्या करने में?''

मिसेज़ सक्सेना ने सिर हिलाया और पहले से ज़्यादा गम्भीर हो गईं। ''होता इस तरह है,'' वह बोलीं, ''किश्ती में लेटे-लेटे वह अपना हाथ झील के पानी में डाल देती है। तब उसे लगता है कि पानी में से कोई चीज़ उसे अन्दर खींच रही है। वह बहुत कोशिश करके अपना हाथ बाहर निकालती है...''

पर अब भी बात क्लाइमेक्स तक नहीं पहुँच सकी। पर्दे पर उस तरफ़ साड़ियों की फड़फड़ाहट सुनाई देने लगी। मिसेज़ सक्सेना जल्दी से बरामदे की तरफ़ चलती हुई बोलीं, ''बाक़ी तुम्हें फिर किसी वक़्त सुनाऊँगी। शानो को बता देना कि चन्दर ड्रिंक बाहर ही ले रहा है। मैं बाहर खाना सर्व कर रही हूँ।''

मुझे शानो को बताना नहीं पड़ा। बात उसने सुन ली थी। मिसेज़ सक्सेना के बाहर जाने से पहले ही वह और मिसेज़ सिंह पर्दा हटाकर कमरे में आ गई थीं। जैसे कि इन्तज़ार में ही रही हों कि कब मिसेज़ सक्सेना निकलें और वे अन्दर आएँ। ''दिस वोमन!'' शानो ने अन्दर आते ही कहा। मुझे समझ नहीं आया कि यह उसने किसके लिए कहा है, मिसेज़ सिंह के लिए या मिसेज़ सक्सेना के लिए?

''बाहर आप लोगों का इन्तज़ार हो रहा,'' मैंने बारी-बारी से दोनों की तरफ़ देखा। लगा जैसे अन्दर से वे किसी बात पर लड़कर आई हों।

पर उन्होंने मेरी बात जैसे सुनी ही नहीं। मिसेज़ सिंह चुपचाप अपनेवाले सोफे पर जा बैठीं, शानो अपने सोफे पर। मुझे लगा कि यही वक़्त है जब मैं बिना किसी रुकावट के वहाँ से निकलकर जा सकता हूँ। मेरे एक जूते का तस्मा ढीला हो रहा

था। मैंने झुककर उसे कस लिया और दोनों से 'एक्सक्यूज़ मी' कहकर बाहर को चल दिया। अभी दहलीज़ ही लाँघ रहा था कि पीछे से सुना, "ज़रा चन्दर को भेज दीजिए। कहिए, मैं उसे बुला रही हूँ।" आवाज़ शानो की होनी चाहिए थी। पर उसकी नहीं, मिसेज़ सिंह की थी। मैंने बाहर आकर सरसरी नज़र से पीछे देख लिया। वे दोनों एक-दूसरी की तरफ़ देख रही थीं।

बरामदे में हवा कमरे से ठंडी थी। डाइनिंग टेबुलवाले हिस्से के अलावा आसपास ज़्यादा रोशनी नहीं थी। डाइनिंग टेबुल से थोड़ा हटकर एक कुर्सी पर चन्दर बैठा था...अपना गिलास दोनों हाथों में लिये हुए। साथ की कुर्सी पर, जो लगभग उससे सटी हुई थी, मिसेज़ सक्सेना उसी तरह अपना गिलास लिये बैठी थीं। बहुत धीमी आवाज़ में वह चन्दर से कुछ बात कर रही थीं।

डाइनिंग टेबुल से कुछ फासले पर तीन आदमी अँधेरे में चुपचाप खड़े थे...हाथों में खाने की प्लेटें लिये। मेजर सिंह, रमेश खन्ना और सुदर्शन। बात न करते हुए भी तीनों एक-दूसरे की तरफ़ झुके हुए थे।

मैंने चन्दर के पास जाकर उसे मिसेज़ सिंह का सन्देश दिया, तो मिसेज़ सक्सेना त्योरी डालकर मुझे देखने लगीं। मैं चुपचाप डाइनिंग टेबुल के पास जाकर अपनी प्लेट में खाना डालने लगा। खाना लेकर अँधेरे में खड़े उस तीन के झुरमुट में जा शामिल हुआ...पर अपनी पीठ दीवार की तरफ़ किए हुए। तस्मा बाँधने में बैक पॉकेट की पिनों में से भी एक की नोक खुल गई थी और पॉकेट में सूराख करके वह उधर से बाहर निकल आई थी।

सोया हुआ शहर

ख़ाली सड़क पर सिर्फ़ रोशनी नज़र आती है—एक पतली चमकदार झिल्ली की तरह यहाँ से वहाँ तक फैली हुई। एक दुम हिलाता कुत्ता झिल्ली के ऊपर दौड़ता चला जाता है--जब तक कि वह मोड़ नहीं आता जहाँ जाकर उसकी दौड़ खत्म हो जाती है और वह चुपचाप कुछ देर हवा को सूँघकर एक कोने में दुबक जाता है। कोने के खम्भों की रोशनी और सब खम्भों से अलग और बहुत मद्धिम नज़र आती है...मद्धिम और अन्तर्मुख...जैसे कि सुलगने का क्षण आने पर भी उससे सुलगा न जा सका हो। बस-स्टॉप के शेड से सटा पेड़ काफ़ी धुँधला और घना नज़र आता है—खिड़कियों की बत्तियाँ बुझी रहने पर यह पता नहीं चलता कि उसके पीछे कोई मकान भी है।

जहाँ जाकर कुत्ता दुबक जाता है, वहीं से एक जीप खड़खड़ाती हुई मोड़ मुड़ जाती है। पहिए झिल्ली को कुचलते हुए तेज़ी से सामने की तरफ़ बढ़ते आते हैं। जीप की आवाज़ से बस-स्टाप के अँधेरे कोने में दुबककर सोया आदमी करवट बदल लेता है। ब्रेक की तेज़ चीख़ के साथ जीप अचानक रुक जाती है, तो वह एक बार हलके से सिर उठाता है, कपड़ा आँखों से हटाकर बाहर देखता है और फिर उसी तरह ओढ़कर पड़ जाता है।

साड़ी और कोट पहने, रूमाल में सिर लपेटे, एक लड़की जीप से उतरती है। उतरकर साड़ी के बल ठीक करती है और अपने पर्स में कुछ टटोलने लगती है। जीप का गियर बदलता है और एक भारी बैठी हुई-सी आवाज़ लड़की से कुछ पूछती है।

लड़की बिना उस तरफ़ देखे सिर हिला देती है और एड़ीदार सैंडिल की आवाज़ सड़क पर आगे बढ़ने लगती है। एक सिगरेट की डिब्बी का फटा टुकड़ा पर्स से बाहर निकलता है, जिसे मुट्ठी में लेकर वह बन्द कर देती है। जीप कुछ गज़ पीछे की तरफ़ जाकर तेज़ी से रुख पलटती है और झन्नाटे के साथ मोड़ की तरफ़ बढ़ जाती है।

कुछ देर ख़ाली सड़क पर वह आवारा घूमती है। बस-स्टाप के पीछे मकान की छत पर एक छाया टहलती है। उस मकान की छत पर लगे एरियल, उखड़े शामियाने के बाँसों की तरह नंगे और मनहूस, हवा से काँप जाते हैं। सामने की बुझी चिमनी में एक कबूतर पंख फड़फड़ाने लगता है।

ऊपर मकानों की तरफ़ से सीटी की आवाज़ सुनाई देती है—जैसे रात के सन्नाटे में अपने अकेलेपन को भुलाने के लिए आसमान सीटी बजा रहा हो।

किसी दरवाज़े पर दी जा रही हलकी दस्तक सुनाई देती है। हलकी होने पर भी आवाज़ दूर तक सुनाई देती है। शेड के कोने में सोया आदमी करवट बदलकर उठ बैठता है। दस्तक की आवाज़ पहले से तेज़ हो जाती है जैसे कि काँच लगे बरामदे में कोई कीड़ा तड़फड़ा रहा हो। सीटी की आवाज़ रुक जाती है। वह आदमी अपनी चादर ढीली करके फिर से लपेट लेता है।

दस्तक के साथ हलकी आवाज़ भी सुनाई देती है—एक लड़की की घबराई-सी आवाज़। मोड़ के कोने में दुबका कुत्ता अब दौड़ता हुआ इस तरफ़ बढ़ आता है। शेड के पास आकर अन्दर बैठे आदमी को देखता है और भौंकने लगता है। आदमी उठ खड़ा होता है। कुत्ता उसकी घुड़की खाकर चार गज़ पीछे हट जाता है, मगर भौंकना बन्द नहीं करता।

एक साइकिल मस्ती में चलती हुई गली की तरफ़ मुड़ जाती है। एक कार बिना हार्न दिए तेज़ी से निकल जाती है। कुत्ता मुश्किल से अपने को उसकी लपेट से बचाता है। उसका भौंकना गुर्राने में बदल जाता है...बीच-बीच में, जैसे अपनी कमज़ोरी छिपाने के लिए वह एकाध बार भौंक भी लेता है। मकान की छत पर टहलती छाया सड़क की तरफ़ झुक जाती है। औंधी रखी चारपाइयों के पाये उसके आसपास एक चौखटा-सा बना देते हैं। सामने की चिमनी से दो टूटे पंख हवा में गोल-गोल तैरते हुए नीचे उतर आते हैं।

शेड के पास खड़े आदमी को अपने पैरों के नीचे ज़मीन में थरथराहट महसूस होती है। घुटनों पर वज़न कम करने के लिए वह पीठ को शेड का सहारा दे लेता है। फौज़ी कनवाय की कई गाड़ियाँ धड़धड़ाती हुई सामने से गुज़रने लगती हैं...कुछ नंगी और कुछ हरे खाकी कपड़े से ढँकी हुई। कुछ ही मिनटों में गाड़ियों में रखी कई तरह की मशीनें पास से निकल जाती हैं...वह आदमी उनके पहियों-पुरज़ों को देखने में अपने पैरों के नीचे की थरथराहट को भूला रहता है। झंडा हिलाती आख़िरी गाड़ी भी पास से निकल जाती है तो थरथराहट रुक जाने से वह घुटने सीधे कर लेता है। मोड़ पर गुम होती गाड़ी की तरफ़ इस तरह देखता है जैसे अभी एक मिनट पहले तक वह भी उसमें सवार रहा हो और अब उसे वहाँ उतार गाड़ी आगे चली गई हो।

गाड़ियाँ दूर चली जाने पर भी उनकी आवाज़ कुछ देर कानों में बसी रहती है...जैसे कि एक हवाई कनवाय अब भी सामने से गुज़र रहा हो...और लगातार उसे उसी तरह गुज़रते रहना हो।

ऊपर आसमान में एक रोशनी दूर-दूर तक कुछ तलाशती है...शायद हवाई अड्डे से आती सर्चलाइट की रोशनी। किसी-किसी क्षण आसमान एकाएक सुलग उठता है,

फिर उसी तरह बुझा-बुझा हो जाता है। बहुत-से ज़र्रे तेज़ रोशनी में काँप उठते हैं। रोशनी के गुज़रकर दूसरी तरफ़ चले जाने पर बेजान होकर अँधेरे में दफ़न हो जाते हैं।

हलकी भनभनाहट से शुरू होकर कई लोगों की मिली-जुली आवाज़ कनवाय की दूर जाती आवाज़ को छा लेती है। एरियल के बाँस बार-बार हिल जाते हैं। दरवाज़े पर दस्तक अब सुनाई नहीं देती। शोर ने उसे भी अपने में निगल लिया है।

किसी घर में फ्लश का हत्था ज़ोर-ज़ोर से हिलाया जाता है। छपाके के साथ फ्लश का पानी बहने लगता है। फिर वह आवाज़ हलकी किलकारियों में बदलकर सू-ऊँ आवाज़ में गुम हो जाती है। लगता है जैसे कोई हवा को लगातार अपने अन्दर खींच रहा हो।

मिलीजुली आवाज़ों का शोर पहले से ऊँचा हो जाता है। कुछ जगह बत्तियाँ जल जाने से अँधेरे में खिड़कियों के चौखटे उभर आते हैं। एक खिड़की के किवाड़ खुल जाते हैं। दो सिर खिड़की से बाहर देखने लगते हैं।

शोर बढ़ता जाता है। मिलीजुली अवाज़ें अलग-अलग आवाज़ों में छँटने लगती हैं—"मार-मारकर मलीदा कर दो हरामज़ादे का!"

"पहले यह तो पूछो कि इसका नाम-पता क्या है?"

"देखने में तो किसी शरीफ़ खानदान का लगता है...पर शराफ़त आजकल के ज़माने में नहीं रह गई।"

"इसे पकड़कर इसके बाप के पास ले चलो! वहीं इससे और बातें पूछ ली जाएँगी।"

"बाप के पास बाद में ले चलना, पहले इससे यहीं सबकुछ पूछ लिया जाता है।"

"पूछो इससे कि यह इस वक़्त यहाँ कर क्या रहा था?"

"कर क्या रहा था! वही कर रहा था जो मसें फूटते ही आजकल के लड़कों को करना आ जाता है।"

"लड़का किसका है?"

"लड़का बताएगा, किसका लड़का है। पूछिए इससे!"

"पूछेंगे बाद में। पहले इसके होश तो ठिकाने ले आएँ।"

गाली-गलौज, धौल-धप्पा, और बीच-बीच में..."देखिए, अंकल...अंकल, आप बात तो सुनिए..."

ठक्-ठक्-ठक्...किसी के ज़ीने से उतरने की आवाज़। चिमनी में छिपा कबूतर गुटर-गूँ...गुटर-गूँ करता है। कुत्ता पूँछ हिलाता हुआ सड़क के बीचोबीच आ खड़ा होता है।

शेड के पास खड़ा आदमी खाँसता है। एक बार दूर तक नज़र दौड़ाकर देखता है...जैसे कि अब भी उसे किसी कनवाय के आने की उम्मीद हो। पेड़ के तने के पास

से एक गिलहरी सिर निकालती है और छिपा लेती है। सड़क के पास उस तरफ़ के अँधेरे से एक आदमी तेज़ नज़रों से हवा को घूरता हुआ सामने आता है..लुंगी के ऊपर लम्बा कुरता और गरम जैकेट पहने। मुँह से भाप छोड़कर वह सुनसान वातावरण को अपने अस्तित्व का पता देना चाहता है। पैर की ठोकर से वह कुत्ते को रास्ते से हटा देता है। कुत्ता चिचियाकर विरोध करता है, फिर एकाएक भाग खड़ा होता है।

"क्या हुआ है?" जैकेटवाला चादर में सिकुड़े आदमी के पास आकर पूछता है। रोबीले दाढ़ीदार चेहरे के सामने सिकुड़े हुए आदमी की बाँहें और सिकुड़ जाती हैं। "अभी पता नहीं," वह कहता है, "शायद किसी लड़के को चोरी-ओरी करते पकड़ा है लोगों ने।"

"और तूने जाकर देखा भी नहीं कि क्या बात है? किसे पकड़ा गया है?"

"मैं लेटा हुआ था। अभी उठा हूँ।"

"लेटा हुआ था! इतना ही तो काम है तेरा! लेटा हुआ था।"

"मैं अब देखने ही जा रहा था।"

"देखने जा ही रहा था! यहाँ खड़े कुत्ते को देख-देखकर काँप रहा था या देखने जा रहा था?"

बाँह पर झटका लगने से चादर में लिपटा आदमी खड़खड़ा जाता है। पेड़ के पत्ते सरसराते हैं। डालें हवा से झूल जाती हैं।

सैंडिल की आवाज़ सड़क की तरफ़ आती सुनाई देती है—कई एक और आवाज़ों में घिरी हुई। शोर दो हिस्सों में बँट गया है। एक हिस्सा सैंडिल की आवाज़ से जुड़ा है। दूसरा पहले से दूर हटता जाता है।

सैंडिलवाली लड़की को घेरे हुए कई लोग सड़क के सिरे पर आकर रुक जाते हैं। शेड के पास खड़े दोनों आदमी भी भीड़ में शामिल हो जाते हैं।

"क्या हुआ है?"

"कहाँ है वह?"

"लोग उसे उसके बाप के पास ले गए हैं।"

"ये उस लड़के को जानती हैं?"

"नहीं। वह अभी-अभी इधर से साइकिल से आया था।"

"ये बाहर से आई हैं, अपने किसी रिश्तेदार से मिलने। जिनसे मिलने आई हैं, वे घर पर नहीं हैं।"

"एक दरवाज़े पर ताला लगा है, दूसरा अन्दर से बन्द है। हो सकता है कि..."

"नहीं, वे अन्दर होते तो इतना शोर सुनकर जाग न जाते?"

"वे अकसर देर से घर आते हैं। अभी लौटकर आए नहीं होंगे।"

"किसके यहाँ आई थीं आप?"

"उनके यहाँ...वे हमारे भाई साहब हैं...बेनी साहब।"

"बेनी साहब?"

"वे इनके भाई साहब हैं।"

"आप दिल्ली से ही आई हैं?"

"जी नहीं, आज ही कुरुक्षेत्र से आई हूँ। गाड़ी लेट हो गई थी, इसलिए..."

"अब आपको कहाँ जाना है? जहाँ जाना है, हम पहुँचा देते हैं।"

"जी नहीं, इन्होंने टैक्सी के लिए फ़ोन किया है, मैं अकेली चली जाऊँगी।"

"इतनी रात में आपका अकेली जाना ठीक नहीं।"

"जी नहीं, शहर की बात है। शहर में ऐसा कोई डर नहीं।"

"आप किसी को फ़ोन करना चाहेंगी?"

"नहीं।"

"आपको जाना कहाँ है?"

"न्यू राजेन्द्रनगर।"

"न्यू राजेन्द्रनगर के किस हिस्से में?"

"मकान का नम्बर मेरे पर्स में है। मैं पहुँच जाऊँगी।"

दूर किसी सड़क से घोड़ों की टाप सुनाई देती है। घोड़े के पाँव एक जगह फिसलकर सँभलते हैं और आगे बढ़ने लगते हैं। पीछे स्टेशन पर एक इंजन सीटी देता है और गाड़ी धीरे-धीरे लाइनों पर सरकने लगती है। मोड़ की तरफ़ से दो रोशनियाँ सड़क की झिल्ली पर एक और झिल्ली चढ़ाती हुई पास आ जाती है। टैक्सी का दरवाज़ा खुलकर बन्द हो जाता है। रुके हुए पहिए फिर आगे फिसलने को तैयार हो जाते हैं।

"आप चाहें तो हममें से कोई आदमी आपको छोड़ने चल सकता है।"

"जी नहीं। मेहरबानी! शुक्रिया।"

उलझे हुए सायों पर से होकर पहिए आगे निकल जाते हैं। साये एक-एक करके अलग होने लगते हैं। भनभनाहट गली के अँधेरे में डूबने लगती है।

"हो सकता है उस लड़के ने इसे दरवाज़ा खटखटाते देखा हो और ऐसे ही पूछने के लिए रुक गया हो।"

"ऐसा होता, तो वह बेचारी ख़ामख़ाह शोर क्यों मचाती? उस हरामी ने ज़रूर कोई शरारत की होगी।"

"मुझे तो लगता है कि वह ज़रूर इसे पहले से जानता होगा। कहता नहीं था कि यह उसके कालेज में पढ़ती है?"

"पर वह तो कहती है कि वह आज ही कुरुक्षेत्र से आई है।"

"कुरुक्षेत्र से आना था, तो इतनी रात को ही आना था उसे? वह भी बिना पहले खबर दिए?"

"छोड़िए साहब, ख़ामख़ाह किसी पर शक करने में क्या रखा है?"

"उसे जहाँ जाना था, चली गई। क़िस्सा खत्म हुआ।"

सायों के साथ-साथ आवाज़ें भी हलकी पड़ जाती हैं। अँधेरे में उभरे हुए खिड़कियों के चौखटे गायब होने लगते हैं। मकान की छत पर झुका आदमी फिर पीछे हटकर टहलने लगता है।

जैकेट और लम्बे कुरतेवाला आदमी, माथे पर त्यौरी डाले ख़ाली सड़क को देखता रहता है। फिर कहता है, "लगता है सब्जी मंडी वालों की कोई लड़की थी।"

चादर में लिपटा आदमी डरी-डरी आँखों से उसकी तरफ़ देखता है–"पता नहीं।"

"तुम्हें कभी कुछ पता भी रहता है? वे कुत्ते के बीज अब इस इलाके में भी मार करने लगे हैं।"

सिकुड़ा हुआ आदमी उसी तरह सिकुड़ा रहता है। कोई जवाब नहीं देता।

"सवेरे सब्जी मंडी से सीतलदास को बुलाना।"

'अच्छा।"

"कहना, सोहनसिंह को तुमसे कुछ बात करनी है।"

"अच्छा।"

"वे हरामी हमारे इलाकों में मार करेंगे तो हम उनका बोरिया सब्जी मंडी से उठवा देंगे।"

"पर पहले तो इस लड़की को कभी देखा नहीं।"

"आज तो देख लिया? अब आगे के लिए ख़याल रखना।"

चादर में सिकुड़ा आदमी सिर हिलाता है।

"बेनी साहब से भी कह देना कि सरदार साहब याद कर रहे थे।"

"उनसे तो अभी कह दूँगा। चार बजे उन्हें जगाना है।"

"चार बजे फकीरा यहाँ आ जाएगा। तू लाजो को टैक्सी में छोड़ आना।" और शक की निगाह से आसपास देखता हुआ वह सड़क पार कर लेता है।

चादर में सिकुड़ा हुआ आदमी कुछ देर शेड के पास चहलकदमी करता है। एक बार रुककर गली की तरफ़ देखता है और अपनी पहलेवाली जगह पर जाकर लेट जाता है।

सड़की की झिल्ली पर हलकी धुन्ध-सी बिखरने लगती है। एक टूटी हुई साइकिल धुन्ध में रास्ता बनाती हुई शेड के पास से निकल जाती है। पेड़ सरसराता है तो उससे झड़कर कुछ पत्ते आसपास बिखर जाते हैं। शेरवानी पहने एक दुबला-सा आदमी कहीं से निकलकर सड़क पर आ जाता है। एक बार पीछे की तरफ़ देखता है, जैसे कि उसे डर हो कि कोई उसके पीछे तो नहीं आ रहा। फिर बिना पैरों से आवाज़ किए फुटपाथ के कच्चे हिस्से पर चलता हुआ जल्दी-जल्दी मोड़ की तरफ़ बढ़ जाता है।

तभी पेड़ के पीछे एक रोशनी बुझ जाती है।

धुन्ध की जालियों में सड़क के खम्भे अब पहले से भी अकेले हो जाते हैं। मोड़ की तरफ़ से कुत्ता एक और कुत्ते का पीछा करता हुआ सामने आ जाता है। दोनों कुछ देर एक-दूसरे की तरफ़ भौंकते और गुर्राते हैं, फिर उसी तरफ़ दौड़ते हुए आगे निकल जाते हैं।

पेड़ की डाल से किसी चीज़ के टकराने की आवाज़ होती है। डाल के छिटककर कपड़े में लिपटा कुछ सामान फुटपाथ पर बिखर जाता है। गत्ते की डिबियाँ और चमकते हुए गोल सुनहरे पत्ते। साथ ही एक और खिड़की की बत्ती बुझ जाती है। खम्भों के आसपास धुन्ध गहरी होने लगती है।

एरियलों के ऊपर आसमान को सर्चलाइट उसी तरह बार-बार काट जाती है। एरियल काँपकर स्थिर होने लगते हैं कि फिर उसी तरह काँप जाते हैं।

फ़ौलाद का आकाश

ड्राइंग-रूम काफ़ी खुला और बड़ा था, अकेले बैठने के लिए बहुत ही बड़ा। रात को वहाँ से गुज़रकर पैंट्री में जाना पड़ता तो मीरा को अपने अन्दर एक डर-सा महसूस होता। ड्राइंग-रूम का ख़ालीपन एक तस्वीर की तरह लगता, दीवारों के चौखटों में जड़ी तस्वीर की तरह। बेडरूम के अलावा और सब कमरों की बत्तियाँ बुझाकर जब शंकर अपने क्वार्टर में सोने चला जाता, तो किसी-न-किसी काम से रोज़ उसे उधर जाना पड़ता था। कभी अपनी ज़रूरत से, कभी रवि के कुछ माँगने पर। बिजली के बटन पर हाथ रखने तक गद्दों और कुर्सियों की आकृतियाँ उसे अँधेरे में ऊँघती-सी जान पड़तीं। कई बार वह बटन दबाने का हौसला न करती–कि कहीं ऊँघती आकृतियों को बत्ती जल जाने से उलझन न हो।

रवि रात को देर तक काम करता रहता था। ढेर-ढेर कागज़ आँकड़ों और ग्राफों से भरे रहते थे। उसके हाथ इस तरह हिलते रहते थे जैसे काम करने के लिए उसे ज़रा भी सोचना न पड़ता हो। कागज़ पर उसकी कलम फिसलती जाती थी, फिसलती जाती थी। फिर एकाएक वह कागज़ सरकाकर कुर्सी की पीठ से टेक लगा लेता और दाएँ हाथ को बाएँ हाथ से दबाने लगता। तब भी मीरा को लगता कि दिमाग़ उसका नहीं थका, सिर्फ़ हाथ थक जाने से उसे मजबूरन रुक जाना पड़ा है। चीख़ने की-सी हलकी आवाज़ के साथ चिप्स के फ़र्श पर कुर्सी पीछे को सरकती और रवि उठता हुआ कहता, ''तो तुम अभी तक जाग रही हो? कितनी बार तुमसे कहा है कि वक़्त पर सो जाया करो।''

मीरा मुस्कुराती हुई उठती और उसे गिलास में पानी दे देती। वह जानती थी कि रवि जान-बूझकर रोज़ तकल्लुफ़ में यह बात कहता है। उसके काम खत्म करने तक अगर वह सचमुच सो जाए, तो रवि को झुँझलाहट होती है। ऐसे में वह सुराही से पानी लेने में इतनी आवाज़ करता है कि ख़ामख़ाह दूसरे की नींद खुल जाए। या फिर भारी कदमों से कमरे में चहलकदमी करने लगता है। या अलमारी से मोटी-मोटी किताबें निकालकर धप्-धप् उनकी धूल झाड़ने लगता है। चैन उसे तभी मिलता है जब किसी-न-किसी आवाज़ से वह अचानक जाग जाती है। उस पर भी वह तकल्लुफ़

छोड़ता नहीं। कहता है, "अरे तुम ज़रा-सी आवाज़ से जाग गई? बहुत कच्ची नींद है तुम्हारी।"

बिस्तर में लेट जाने के बाद अचानक रवि को अपनी किसी फ़ाइल का ध्यान हो आता, जिसे वह बाहर बरामदे में भूल आया होता। या हलकी भूख का एहसास होता। या अपनी मल्टी विटामिन टिकिया की याद हो आती। कहता वह बहुत उलझे ढंग से, "देखो, हो सके तो..." या, "देखो, कर सको तो..." दस साल साथ रहकर मीरा जान चुकी थी कि इस तरह बात उसकी मर्जी पर नहीं छोड़ी जाती, सिर्फ़ आदेश को तकल्लुफ़ का जामा पहना दिया जाता है। वह चुपचाप उठती, ड्राइंग-रूम पार करके जाती और जो कुछ माँगा गया होता, लेकर लौट आती। आदेश का पालन हो चुकने पर रवि के मन में न जाने कैसी कुंठा जाग आती कि वह उसे कसकर बाँहों में भरने का प्रयत्न करता। पूछने लगता, "मेरे साथ अपनी ज़िन्दगी तुम्हें बहुत रूखी लगती है न?" कहकर किसी भी उत्तर की प्रतीक्षा या अपेक्षा वह न करता—कुछ भी बोलने से पहले उसके होंठों को अपने होंठों से भींच देता। फिर फुसफुसाकर कहता, "मैं बहुत बुरा हूँ, हूँ न?" इस पर भी उसे किसी उत्तर की आशा न रहती। वह अपने-आप सवाल पर सवाल किए जाता। "तुम्हें मैं बहुत दुखी करता हूँ, नहीं? पर अब तो तुम्हें सहने की आदत हो गई है, नहीं? साथ ही उसके हाथ उसके शरीर की गोलाइयों को मसलने लगते, उसके दाँत जगह-जगह उसके मांस को काटने लगते। "साथ तुम यह भी जानती हो कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ, कितना ज़्यादा प्यार करता हूँ, नहीं?" और मंजिल दर-मंजिल शारीरिक निकटता की हदें पार होती जातीं। आखिर जब पसीना-पसीना होकर वह उससे अलग होता, तो भी मीरा को यही लगता जैसे अब भी लिखते-लिखते हाथ थक जाने से उसने कागज़ परे हटा दिए हों और इसके बाद अब पानी का गिलास माँगने जा रहा हो। वह अनायास ही उसे पानी देने के लिए उठना चाहती, पर तब तक रवि के खर्राटे भरने की आवाज़ सुनाई देने लगती है। वह चुपचाप कुछ देर उसके माथे के ज़ख्म को और अधपके बिखरे बालों को देखती रहती, फिर उसाँस भरकर सिर तकिए पर डाल लेती। कुछ देर बाद उठकर गुसलखाने में जाती और वापस आकर फिर उसी तरह लेटी रहती। बाहर कच्ची सड़क से कोई टूटी साइकिल खरड़-खरड़ की आवाज़ करती निकल जाती।

बीच रात में अचानक नींद खुलने पर मीरा को लगा कि वह किसी ऐसी साइकिल की आवाज़ सुनकर ही जागी है। सुबह-सुबह दूधवाले बड़े-बड़े पीपे साइकिलों से लटकाए उधर से गुज़रकर जाया करते थे। पर सुबह अभी हुई नहीं थी, रोशनदान के शीशों की स्याही अभी ज़रा भी नहीं बुझी थी। बाहर झींगुरों की तेज़ आवाज़ सुनाई

दे रही थी—जैसे कि एक तेज़ चर्खी लगातार घूम रही हो। मीरा को वह आवाज़ उस वक़्त रोज़ से ज़्यादा ऊँची, ज़्यादा चुभती हुई लगी। खिड़की के बाहर पेड़ों के पीछे जितना आकाश झुक आया था, उसमें एक सितारा बहुत तेज़ चमक रहा था। इतना तेज़ कि वह सितारा नहीं लगता था। मीरा बिस्तर से उठी कि खिड़की बन्द कर दे—कि हवा और झींगुरों की आवाज़ उससे कुछ कम हो जाए। पर खिड़की के पास आई तो देर तक वहीं रुकी रही। फौलादी जाली से आँख सटाकर उस सितारे को देखती रही। फौलाद का ठंडा स्पर्श आँख पर अच्छा नहीं लगा तो ड्राइंग-रूम में से होकर बाहर बरामदे में आ गई। आते हुए नज़र पड़ी ड्राइंग-रूम की रोगनी मूर्तियों पर अज़हदे की शक्ल की ऐश-ट्रे पर, वाट सिक्स्टी नाइन की बोतल के बने टेबल लैम्प पर और असमिया मछुओं की टोपी जैसी वाल-प्लेट पर। बत्ती जलते ही ये सब चीज़ें एकसाथ चमक उठी थीं। बरामदे में आकर उसने मुक्ति की साँस ली—उन सब चीज़ों से मुक्ति की। उस सितारे की सीध में पेड़ों और पत्तियों के पीछे काँपता आकाश जैसे उसके अन्दर बहुत गहरे में किसी चीज़ को छू गया। उसने अपने ठंडे चेहरे को हथेलियों से छुआ और बरामदे में पड़ी आरामकुर्सी पर ढीली-सी बैठ गई। हवा से पत्तियों का काँपना, घास का सरसराना और उँगलियों का सर्द पड़ते जाना उसे ऐसे लगा जैसे कोई कसी हुई गाँठ उसके अन्दर ढीली पड़ रही हो, कोई सोई हुई चीज़ धीरे-धीरे करवट बदल रही हो। उसकी हथेलियाँ गालों से फिसलकर आँखों पर आ गईं, जिससे ठंडी आँखें कुछ गरमा गईं, हथेलियाँ कुछ ठंडी पड़ गईं। फिर उसने चार-चार उँगलियों की नालियों से बाहर देखा, तो लगा कि सितारा लॉन की घास पर उतर गया है—वहाँ से आँख झपकता हुआ उसे ताक रहा है। वह उठी और अपनी रबड़ की चप्पल वहाँ छोड़कर लॉन में उतर गई। पास जाकर देखा कि शबनम की एक अकेली बूँद उस सितारे को अपने में समेटे है। अँधेरे के बावजूद घास की नमी में सुबह की ताज़गी भर आई थी। वह अपने तलुओं से उस ताज़गी को पीती हुई चलने लगी। शबनम के कई-कई कतरे शरीर को सिहरा गए। लगा कि घास की महक से सारा शरीर गमक उठा है।

पैर बहुत ठंडे पड़ गए थे, जब पुरवइया के स्पर्श ने शरीर को फिर सिहरा दिया। पूरब में अँधेरे की सतह पर एक हलकी लाल किरण तैर आई थी। मीरा देखती रही कि कैसे वह लाली उजली होकर सफ़ेद होती है, कैसे रंगों की झिलमिल अँधेरे में घुलती-फैलती अपनी तरफ़ बढ़ती आती है। एकाएक वह अपने मन में चौंक गई। उसे एहसास हुआ कि पच्छिम का आकाश आज रात गहरा काला रहा है, फौलाद की भट्ठी की ताँबई लौ वहाँ दिखाई नहीं दी। फौलाद की भट्ठी चौबीसों घंटे सुलगती

रही थी, पर उसका आभास मिलता था राते को ही—जब वह साथ आसपास के आकाश को भी सुलगा देती थी। उसे पहली बार उस तरह देखा था, तो लगा था कि जंगल या किसी घर-मोहल्ले में आग लग गई है। बताए जाने पर भी विश्वास नहीं हुआ था कि वह लौ फौलाद की भट्ठी है। बाद में धीरे-धीरे ऐसी आदत हो गई थी कि लगता था उतने हिस्से में आकाश का रंग ही वैसा है। रात के वक़्त ड्राइव से लौटने पर मीलों दूर से आकाश का चेहरा तमतमाया नज़र आता था। वह रवि से देखने को कहती, तो वह झुँझला उठता। "क्या बच्चों की-सी बातें करती हो? आज फौलाद का युग है। देखना एक दिन पूरे आसमान का रंग बदलकर ऐसा हो जाएगा।" वह कल्पना में सारे आकाश को उस रंग में सुलगते देखती और काँप जाती। क्या बिना सितारों के ताँबई आकाश के नीचे भी ज़िन्दगी उसी तरह जी जाएगी?

यह पहला मौका था जब पच्छिम के आकाश में एक सितारा चमकता दिखाई दिया था। आठ महीने में पहली बार उधर का आकाश ताँबई नहीं था। उसे आश्चर्य हुआ कि इतनी बड़ी घटना पहले उसके ध्यान में क्यों नहीं आई? हर रात सुलगता रहनेवाला आकाश आज धुएँ की कालिख की तरह निर्जीव था और सुबह की लौ ने अब उसमें हलकी काई निकाल दी थी। उसका मन हुआ कि जाकर रवि से कहे कि उठो, देखो आज फौलाद की भट्ठी बुझ गई है। पर यह सोचकर उसका उत्साह ठंडा पड़ गया कि रवि शायद यह बात पहले से जानता होगा। वह झुँझलाकर इतना ही कहेगा, "तुम्हें मैंने बतलाया नहीं था कि आज से प्लांट में स्ट्राइक है?" और उसे याद आया कि दिन में किसी वक़्त सचमुच रवि ने प्लांट की स्ट्राइक का ज़िक्र किया था। सुनकर उसने अनमने ढंग से हूँ-हाँ भी किया था जैसे कि उसकी हर बात पर किया करती थी। यह नहीं सोचा था कि स्ट्राइक होने से आसमान से वह रंग भी बुझ जाएगा।

पैर सुन्न हो रहे थे। उसने बरामदे में आकर चप्पल पहनी और कमरे में लौट आई। रवि अब तक जाग गया था। उसके पास आते ही करवट बदलकर बोला, "शंकर से कहोगी चाय दे जाए?" वह चुपचाप वापस चल दी। जानती थी चाय लाने के लिए उसी से कहा गया है। शंकर इतनी जल्दी नहीं उठता, यह रवि अच्छी तरह जानता था।

नीम की टहनियों पर काँपती सुबह धीरे-धीरे कमरे में उतर आई। धूप की चकत्तियाँ रोज़ की परिचित जगहों पर छितरा गईं। सुबह-सुबह कितने ही लोग रवि से मिलने आ गए। मैनेजमेंट का दासचौधरी, पर्सनेल का मुकर्जी और श्रम-विभाग का जे. दारूवाला। शाम को क्लब में मिलनेवाले लोगों का सुबह-सुबह घर आना एक नई-सी बात थी। मीरा खुद किचन में व्यस्त रहकर शंकर के हाथ उन्हें चाय भिजवाती रही। रवि से कोई भी मिलने के लिए आए, किसी भी समय आए, चाय की माँग ज़रूर होती थी। नाश्ते से पहले तीन बार चाय जा चुकी थी, जब चौथी बार ट्रे तैयार

हो रही थी। सब लोग ड्राइंग-रूम में थे, पर लगता था जैसे कहीं दूर बैठे बात कर रहे हों। विषय वही था—प्लांट के मज़दूरों की हड़ताल। जे. दारूवाला के हर दिन के मज़ाक उस समय उसकी ज़बान पर नहीं आ रहे थे। हकला भी वह रोज़ से ज़्यादा रहा था। मुकर्जी बहुत कम बात कर रहा था। ज़्यादातर आवाज़ दासचौधरी की ही सुनाई दे रही थी। जब रवि बोलता, तो उसकी बात में शब्द कम और आँकड़े ज़्यादा होते। आँकड़े, आँकड़े, आँकड़े! क्या बिना आँकड़ों के रवि कोई बात सोच ही नहीं सकता था? मीरा को लगता कि उससे प्यार करते वक़्त भी वह मन-ही-मन चुम्बनों की गिनती करता रहता होगा...तभी तो न उसका आवेश एक चरम पर पहुँचकर एकाएक रुक जाता था।

इस बार चाय की ट्रे वह खुद बाहर ले गई। उसके आने पर पल-भर के लिए बातचीत रुक गई। फिर रवि ने ही बात को आगे बढ़ाया। "मुझसे पूछा जाए, तो इसमें बहुत-कुछ लंच के मीनू पर निर्भर करता है," उसने कहा।

मीरा एक तरफ़ हटकर बैठ गई जिससे उसकी उपस्थिति उनकी बातचीत के रास्ते में न आए और प्यालियों में चाय बनाने लगी। रवि की बात पर पहली बार सब लोगों के गले से हँसी फूटी। दारूवाला के सुर्ख चेहरे की लकीरें फैल गईं। "दैट्स इट," उसने कहा, "मेरा तजुर्बा भी यही कहता है कि जो काम वैसे बहुत मुश्किल नज़र आते हैं, लंच का मीनू ठीक होने से वे आसान हो जाते हैं।"

मीरा ने प्यालियाँ उन्हें दे दीं। मीनू की बात ने उसके मन में उत्सुकता जगा दी थी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि रवि जो प्लेट में सामने पड़ी चीज़ों को कभी ध्यान से देखता भी नहीं, वह आज कैसे लंच के मीनू में इतनी दिलचस्पी दिखा रहा है!

दासचौधरी ने मीनू बताया, तो रवि उसमें संशोधन करने लगा। मीरा स्थिर दृष्टि से उसके चेहरे की तरफ़ देखती रही। क्या सचमुच रवि रोस्ट मटन और रोस्ट चिकन के अन्तर को महत्त्वपूर्ण समझता था?

वापस किचन में पहुँचने तक वह इतना जान गई कि मालिकों और मज़दूरों के झगड़े में मध्यस्थता करने के लिए कोई व्यक्ति बाहर से आ रहा है, और दोनों पक्ष अपना-अपना केस आज उसके सामने रखने जा रहे हैं। दोपहर को स्थानीय कांग्रेस के प्रधान के यहाँ उसकी दावत है। उसी खाने का मीनू इस वक़्त यहाँ तय किया जा रहा है। वह जब वहाँ से उठी, तो रवि कह रहा था, "मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। मुझे पता है उसके मेदे को क्या चीज़ मुआफिक आती है।"

लोगों के चले जाने के बाद रवि दफ़्तर जाने के लिए तैयार हुआ, तो मीरा ने पूछ लिया, "देखो, आज वहाँ कुछ गड़बड़ तो नहीं होगी?"

"हड़ताल प्लांट में है, दफ़्तर में नहीं," रवि ने कुछ उलझकर कहा, "तुम नाहक परेशान होने लगती हो।"

मीरा पल-भर रवि के ऊँचे डीलडौल को, कसे हुए भूरे सूट और नुकीले जूते को, देखती रही। रवि को जब उसने अपने लिए पसन्द किया था, तो उसमें उसका ऊँचा डीलडौल क्या एक बड़ा कारण नहीं था? उन दिनों रवि की ज़बान पर हर वक़्त आँकड़े नहीं रहते थे और वह इतना उलझता भी नहीं था। तब वह एक डिग्री कॉलेज में साधारण लेक्चरर था–स्टील प्लांट में लेबर-एडवाइज़र नहीं।

"यह रंग तुम्हारे जिस्म पर बहुत खिलता है," मीरा ने आँखों की चोरी पकड़े जाने से कहा। रवि के माथे पर हलकी शिकन पड़ गई। "तुम आज भी उन दिनों जैसी ही बातें करती हो," कहते हुए उसका निचला होंठ ख़ास ढंग से सिकुड़ गया, "इतने साल साथ रहकर भी तुममें ज़रा फ़र्क नहीं आया।"

मीरा की आँखें छलछला आईं। रवि जब ऐसी बात कह देता था, तो वह अपने को उससे बहुत दूर महसूस करती थी। रवि के चेहरे का भाव उस फासले को और भी बढ़ा देता था। उस फासले को भरने की कोशिश उसे एक ऐसा झूठ लगता था जो वह दस साल से लगातार अपने से बोल रही थी। रात-दिन साथ रहकर भी वह फासला कम होने में नहीं आता था। जितना ही वह उसके नज़दीक आती, फासले का एहसास उतना ही ज़्यादा होता था।

चलते वक़्त अपनी फ़ाइलें समेटते हुए रवि ने कहा, "आज मैं लंच के लिए घर नहीं आऊँगा। शुक्लाजी के यहाँ आज राजकृष्ण की दावत है। मुझे भी वहाँ जाना है।"

"राजकृष्ण यहाँ आया है?"

"हाँ," रवि घड़ी देखता हुआ दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गया, "वह सरकिट हाउस में ठहरा है। हो सके, तो तुम किसी वक़्त उसे फ़ोन कर लेना। नहीं तो वह बुरा मानेगा कि उसके यहाँ होने की बात जानते हुए भी तुमने उससे मिलने या बात करने की कोशिश नहीं की।"

मीरा भी उसके साथ-साथ बरामदे में आ गई। रवि कार में बैठकर उसे रिवर्स में बाहर ले चला, तो वह वहीं खड़ी उसे देखती रही। कार के निकल जाने पर कच्ची सड़क की धूल बरामदे की तरफ़ बढ़ आई। मीरा फिर भी खड़ी रही, जैसे कि धूल में घिर जाना ही उसका उद्देश्य रहा हो।

अज़दहे की शक्ल की ऐश-ट्रे में काफ़ी राख और टुकड़े जमा हो गए थे। रवि किसी बात से उत्तेजित होता था, तो उसके चेहरे से उतना पता नहीं चलता था, जितना उसके लगातार सिगरेट फूँकने से। पिछले कुछ सालों में उसका सिगरेट पीना लगातार

बढ़ता गया था। डॉक्टर का कहना था कि इसका उसकी सेहत पर बुरा असर पड़ रहा है, फिर भी वह सिगरेट पीना कम नहीं कर पाता था। कभी-कभी तो आधी रात को न जाने क्या सोचता हुआ वह बिस्तर से उठ पड़ता था और खिड़की के पास खड़ा लगातार एक के बाद एक सिगरेट फूँकता जाता था।

मीरा ने ऐश-ट्रे उठाकर झाड़ दी। फिर राख-लगे हाथों को साबुन से धो लिया। ऐश-ट्रे झाड़ते हुए उसे हमेशा लगता था जैसे वह भुरभुरी राख रवि के व्यक्तित्व का ही एक हिस्सा हो—जैसे लगातार सिगरेट पीने से रवि का शरीर अन्दर से वैसा ही हो गया। उसे रवि से सहानुभूति होती, पर उस सहानुभूति में एक तटस्थता भी रहती। ब्याह से पहले वह जिस तरह रवि के व्यक्तित्व के साथ घुल-मिल जाने की बात सोचा करती थी, उसका आभास भी अब उसे अपने में नहीं मिलता था। अन्तरंग से अन्तरंग क्षणों में भी अपने को रवि से अलग, बिलकुल अलग, पाती थी। कभी उसे लगता कि ऐसा उम्र के बढ़ते सालों की वजह से है। पर इससे आगे के सालों की बात सोचकर मन में और टीस जागती। कभी उसे लगता कि इसमें सारा दोष रवि का है। कभी लगता कि दोषी रवि नहीं, वह स्वयं है।

रवि को लंच के लिए घर नहीं आना था, इसलिए उसे खाना बनाने का उत्साह नहीं हो रहा था। बहुत उत्साह पहले भी नहीं होता था, पर रोज़ की बँधी हुई लकीर वक़्त पर उसे गैस के चूल्हे के पास ले जाती थी। शंकर के हाथ का खाना रवि को पसन्द नहीं था; इसलिए दोनों वक़्त का खाना वह अपने हाथ से ही बनाती थी। दो आदमियों का खाना बनाने में देर भी कितनी लगती थी? कभी यह सोचकर भी उसके शरीर में झुरझुरी भर जाती कि इतने सालों से वह हर रोज़ दोनों वक़्त, दो आदमियों का, सिर्फ़ दो आदमियों का खाना बनाती आ रही है। ज़िन्दगी की यह एकतारता दो-एक बार तभी टूटी थी जब उसकी एबार्शन हुई थी और उसे अस्पताल जाना पड़ा था।

शंकर को उसने दोपहर के लिए छुट्टी दे दी थी, इसलिए उसका पूरा वक़्त ख़ाली ड्राइंग-रूम में अलसाते हुए बीता। तीन बजे के करीब शंकर लौटकर आया। उससे पता चला कि प्लांट के बाहर मज़दूरों का बहुत भारी जमघट है। मज़दूर इस तरह बेकाबू हो रहे हैं कि उनके नेताओं के लिए भी उन्हें सँभालना मुश्किल हो रहा है। कोई मिनिस्टर फैसला कराने के लिए बाहर से आए हैं, पर मज़दूरों का एक बहुत बड़ा वर्ग उनकी मध्यस्थता स्वीकार करना नहीं चाहता। नेता लोग उन्हें समझा रहे हैं, पर मज़दूरों का जोश अभी काबू में नहीं है।

मीरा को इस सबमें ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। फिर भी अकेलेपन की ऊब को कम करने के लिए वह यह सब सुनती रही। फिर अचानक उसे याद आया कि रवि

ने जाते हुए राजकृष्ण को फ़ोन करने के लिए कहा था। उसने वहीं सोफ़े से हाथ लम्बा करके सरकिट हाउस का नम्बर मिलाया। नाम और काम पूछने के बाद उसे बताया गया कि मिनिस्टर साहब अभी-अभी बाहर से लौटकर आए हैं। होल्ड-ऑन करें, तो उनसे पूछ लिया जाए कि वह इस वक़्त बात कर सकेंगे या नहीं। एक मिनट बाद उससे कहा गया कि मिनिस्टर साहब फ़ोन पर हैं, वह बात कर ले। फिर उधर से राजकृष्ण की भारी आवाज़ सुनाई दी, ''कहो मीरा, क्या हाल हैं?''

मीरा को समझ नहीं आया कि वह क्या उत्तर दे। बातें सबकी सब जैसे एकाएक दिमाग़ से गायब हो गईं। उसे अजीब लगा कि जिस आदमी के साथ कभी एक ही टीम में वह यूनिवर्सिटी की डिबेटों में हिस्सा लिया करती थी, आज टेलीफ़ोन पर उसकी आवाज़ सुनकर वह एकाएक पथरा क्यों गई है? उसने कोशिश करके किसी तरह कहा, ''रवि ने आज सुबह बताया था कि आप आए हुए हैं...।''

''हाँ, अभी थोड़ी देर पहले एक लंच में रवि से मुलाक़ात हुई थी,'' उधर की आवाज़ पहले से भी भारी लगी, ''उसने बताया था कि तुम भी यहीं हो और शायद किसी वक़्त फ़ोन करोगी।''

मीरा को अपने अँधेरे दिमाग़ में टटोलते हुए अब भी कुछ कहने को नहीं मिल रहा था। पल-भर के वकफे के बाद उधर से आवाज़ आई, ''हलो, आर यू ऑन द लाइन?''

''हाँ-हाँ,'' मीरा बोली, ''आप अभी दो-एक दिन रुकेंगे न यहाँ?''

''मुझे रात के प्लेन से चले जाना है,'' उधर से सुनाई दिया। ''मगर उससे पहले किसी वक़्त मिल सको, तो बहुत अच्छा है। इधर चार-पाँच साल से तो तुम्हें देखा ही नहीं है। मैं शाम को ख़ाली हूँ, पाँच और छह के बीच। चाय तुम यहीं आकर पियो। रवि के पास वक़्त हो, तो उसे भी साथ ले आना।''

रिसीवर रखने के बाद मीरा का हाथ देर तक वहीं रुका था। जिस आदमी के साथ कितनी ही बार कॉलेज की कैंटीन में बैठकर चाय पी थी, आज उसी के साथ सरकिट हाउस में चाय पीना इतना अस्वाभाविक क्यों लग रहा था?

पहले से आए हुए लोग अन्दर बात कर रहे थे इसलिए उसे बाहर के कमरे में इन्तज़ार करने को कहा गया। सरकिट हाउस की इमारत उसके लिए अपरिचित नहीं थी। दो-एक बार पहले भी वह वहाँ आ चुकी थी। पर उस वक़्त वह जगह उसे बेगानी-सी लग रही थी। रोशनदान से झाँकती एक चिड़िया जैसे लगातार कोई सवाल पूछ रही थी, ''चि-चि-चि-चि-चु-चु-चु-चि-चि...?'' लॉन में बिखरी अलसाई धूप फीकी पड़ रही थी। धूप की उदासी उसे अपने तन-मन में समाती-सी लगी, तो अपनी जगह से उठकर वह

अलमारी के पास चली गई। अलमारी में सभी किताबें बहुत पुरानी थी...अंग्रेजों के ज़माने की खरीदी हुई। बरसों से शायद किसी ने भी न तो अलमारी को खोला था, न किताबों को छुआ था। जिल्दों का सुनहरा रंग गर्द की परतों से मटियाला हो चला था। चमड़े में सफ़ेदी उभर आई थी और गत्ते कागज़ों से चिपक गए-से लगते थे। सालों की बास जैसे काँच की दीवारें लाँघकर बाहर आ रही थी। वहाँ से हटते हुए उसने दीवार-घड़ी की तरफ़ देखा। दिए गए वक़्त से पन्द्रह मिनट ऊपर हो चुके थे।

"साहब ने कहा है कि अभी पाँच मिनट में बुला रहे हैं," उस दुबले-से व्यक्ति ने आकर कहा जो उसे वहाँ छोड़ गया था। "तब तक आपके लिए ठंडा या गरम कुछ भेजूँ?"

"मुझे कुछ नहीं चाहिए," मीरा ने अन्यमनस्कता से कहा और अपने में व्यस्त हो रही। "वह ख़ाली हों, तो मुझे पता दे दें।"

दीवारों पर लगी तस्वीरें भी शायद जॉर्ज पंचम के ज़माने की थीं। बिगबेन...सेंट पॉल्ज़...टेम्ज़ का पुल...उसे लगा जैसे उस कमरे में ज़िन्दगी बरसों से एक जगह पर रुकी है...वक़्त को सन् चालीस के मॉडल की दीवार-घड़ी ने अपने में बन्द कर रखा है...और टिक्-टिक् की आवाज़ लगातार उस पर पहरा दे रही है।

"आइए, साहब बुला रहे हैं।" दुबले व्यक्ति ने कुछ देर बाद फिर आकर कहा। वह चौंककर उसके साथ चल दी। बरामदे से गुज़रते हुए उसने इस तरह हवा को अन्दर खींचा जैसे जॉर्ज पंचम के ज़माने की सारी गर्द अपने फेफड़ों से बुहार देना चाहती हो।

राजकृष्ण हाल के उस तरफ़ छोटे कमरे में था। हाल में से गुज़रते हुए मीरा को लगा कि कितनी ही आँखें एकटक उसे देख रही हैं। न जाने किस-किस काम से कितने-कितने लोग वहाँ आकर बैठे थे। भीड़ में अचानक किसी परिचित व्यक्ति से नज़र न मिल जाए, इसलिए वह आँखें नीची किए रही। छोटे कमरे का दरवाज़ा खुलते ही वह जल्दी से अन्दर चली गई।

राजकृष्ण ने उसे देखकर हाथ के कागज़ मेज़ पर रख दिए और उठकर उसकी तरफ़ बढ़ आया। वही उजला खादी का लिबास जो वह उन दिनों पहना करता था। लम्बे चेहरे पर वही चमक, वही गोराई। वही आँखें—ऑपरेशन के औज़ारों की तरह तीखी। "आओ, मीरा," उसने कहा, "ज़्यादा देर तो नहीं बैठना पड़ा?"

"ज़्यादा नहीं, सिर्फ़ बीसेक मिनट!" वह मुस्कुराई।

"मुझे बहुत अफसोस है, पर किया क्या जाए?" राजकृष्ण ने सोफे की तरफ़ इशारा कर दिया, "वही स्ट्राइकवाला मामला फँसा हुआ है। लोग किसी भी तरह

मानने में नहीं आते। आजकल लेबर के नखरे इतने बढ़े हुए हैं कि कुछ पूछो नहीं...।''

मीरा बैठ गई। राजकृष्ण पास आ बैठा। ''तुम बहुत दुबली लग रही हो,'' उसने कहा।

''मैं दुबली लग रही हूँ? नहीं तो...'' मीरा ने अपने को थोड़ा समेट लिया। वह इतनी आत्मीयता के लिए तैयार नहीं थी।

''या कहो कि मुझे तुम्हारे उन दिनों के चेहरे की ठीक से याद नहीं रही।''

मीरा अन्दर-ही-अन्दर सकपका गई। क्या ज़रूरी था कि इस वक़्त उनकी चर्चा की जाए? ''कह नहीं सकती,'' वह कुछ अटकती हुई बोली। ''छह-सात साल से वज़न तो मेरा लगभग एक-सा रहा है।''

''मैंने वज़न की बात नहीं कही।''

मीरा को लगा कि राजकृष्ण की आँखें कैंटीन के दिनों की तरह उस वक़्त भी उसकी आँखों से अपने को बचा रही हैं कि वह उसी तरह उन बचती आँखों का पीछा कर रही है—कहीं किसी तरह उन्हें अपनी पकड़ में ले आना चाहती है।

''यूँ मेरा ख्याल है, देखने में भी मैं अब तक वैसी ही लगती हूँ,'' उसने कहा।

''अपना चेहरा आईने में देखती हो न?''

मीरा और सकपका गई, ''मुझे तो नहीं लगता कि मुझमें कोई ख़ास फ़र्क आया है।''

''हाँ, जिस तरह का फ़र्क आना चाहिए, उस तरह का फ़र्क नहीं आया।''

मीरा को लगा कि अब राजकृष्ण की आँखें बचने की जगह उसकी आँखों का पीछा कर रही हैं। ''मतलब?'' उसने पूछ लिया।

''मतलब कुछ नहीं। बस ऐसे ही कह रहा था। शायद इसलिए कि मन में कहीं ख्याल था कि दो-एक बच्चे-अच्चे हो जाने से अब तक तुम मुटिया गई होगी।''

मीरा को अपना गला खुश्क होता जान पड़ा। सहसा कोई भी बात उसके होंठों पर नहीं आई। बैरा तभी चाय की ट्रे लेकर आ गया, इसलिए वह कुछ कहने से बची रही।

लौटकर घर आते ही मीरा ने अपना कमरा अन्दर से बन्द कर लिया। उसने पहले शंकर से कह दिया कि रात का खाना वही बना ले, उसकी तबीयत ठीक नहीं है। यह भी कि साहब आएँ, तो भी उसे न बुलाया जाए—वह कुछ देर सोना चाहती है। मगर कमरा बन्द करके वह लेटी नहीं, पलंग की पीठ पर हाथ रखे काफ़ी देर चुपचाप खड़ी रही।

उसे लग रहा था कि उसके दाँत दर्द कर रहे हैं, माथा दर्द कर रहा है, आँखें दर्द कर रही हैं। गले से नीचे साँस की नाली में भी उसे दर्द महसूस हो रहा था।

नाभि के दाईं तरफ़ एक गाँठ-सी पड़ गई लगती थी, जैसे किसी ने उस हिस्से को मुट्ठी में कस लिया हो और ज़ोर से भींच रहा हो। अपने-आपसे, सामने बिस्तर पर बिखरे कपड़ों से, और कोने में रवि की टेबल पर रखे कागज़ों से जॉर्ज पंचम के ज़माने की चिपचिपी किताबों की बू आ रही थी लग रहा था कि वह बू उसकी साँसों में और रोम-रोम में समा गई है। बू के मारे एक चिड़िया पंख फड़फड़ाती हुई पास ही कहीं तड़फ रही है—चि-चि-चु-चु-चु-चि...चि-चि-चि-चि।

खिड़की के बाहर शाम गहराकर रात में घुल रही थी। पेड़, पत्ते, घास, सड़क और सड़क पर चलते लोग—सब स्याह धूल की परतों में ओझल होते जा रहे थे। हवा से पत्ते सरसराते, तो सारे शरीर पर नाख़ून-से रेंगने लगते। कच्ची सड़क पर आती मोहरों की बत्तियाँ दूर से अपने को घूमती हुई लगतीं। मैदान के उस तरफ़ पुरानी बस्ती के घर ऐसे लग रहे थे जैसे शराब पीकर औंधे पड़े हों। सिर चकरा रहा था और उसे लग रहा था कि अभी उसे कै होने लगेगी।

उसने साड़ी निकाल दी और माथा पकड़ बिस्तर पर बैठ गई। हर आहट से मन चौंक जाता कि रवि आ गया है और अभी दरवाज़े पर दस्तक देनेवाला है। कोशिश करके अपने को समझाना पड़ता कि रवि के आने से पहले बाहर कार का हार्न सुनाई देगा, फिर कार अन्दर आकर रुकेगी, फिर दरवाज़ा बन्द होने के साथ रवि की आवाज़ सुनाई देगी, ''शंकर!''

हर बार यह विश्वास हो जाने पर कि रवि अभी नहीं आया, मन को कुछ सहारा मिलता। अन्दर और बाहर की हर आहट से वह बची रहना चाहती थी। रवि से, या किसी से भी, बात करने से पहले वह वक़्त चाहती थी—अभी काफ़ी और वक़्त। इतना कि कम-से-कम उसके बीतने में सुबह हो जाए।

उसका दायाँ हाथ सरककर कन्धे पर आ गया...वहाँ जहाँ राजकृष्ण ने कुछ देर पहले उसे छुआ था। उसे लगा कि राजकृष्ण की गरम साँस अब भी उसके गाल को चुनचुना रही है, उसके होंठों से निकलते शब्द अब भी कानों में लकीरें खींच रहे हैं। 'कितनी बार सोचता हूँ, मीरा, कि तब मैंने कितनी ग़लती की थी। ख़ामख़ाह झूठे आदर्शवाद में पड़कर तुम्हें और अपने को छलता रहा कि वह ज़िन्दगी मेरे लिए नहीं है जो तुम मुझे देना चाहती थीं...।'

राजकृष्ण का हाथ कन्धे से हटाकर, अपने होंठों पर झुके उसके होठों से बचकर, वह एकाएक उठ खड़ी हुई थी। राजकृष्ण कुछ देर अपनी जगह से हिला नहीं था, वहीं बैठा चुभती नज़र से उसे देखता रहा था। ''मेरी बात से तुम्हें चोट पहुँची है?'' उसने पूछा था।

तब तक उसने अपने को थोड़ा सँभाल लिया था और मेज़ के सहारे खड़ी होकर बालों की पिनें ठीक कर रही थी। ''मुझे अब चलना चाहिए,'' उसने कहा था, ''रवि के आने का वक़्त हो रहा है।''

"रवि को यह पता तो है कि तुम यहाँ आई हो," राजकृष्ण कुछ अटकते स्वर में बोला था, "अभी कुछ देर पहले वह यूनियन के नेताओं के साथ यहीं था। घर पहुँचने में आज उसे काफ़ी देर हो जाएगी।"

"फिर भी मुझे चलना चाहिए," रूमाल से मुँह और माथे का पसीना पोंछते हुए उसने कहा था, "घर पर खाना मैं खुद बनाती हूँ—आज मेरी तबीयत भी कुछ ठीक नहीं है।"

राजकृष्ण अपनी जगह से उठा, तो उसे लगा कि उसके पैर डर के मारे ज़मीन से चिपक गए हैं। "आज बहुत थका हुआ था," राजकृष्ण ने कहा, "सोचा था, तुम आओगी तो कुछ देर थोड़ा रिलैक्स कर लूँगा। तुम सोच भी नहीं सकतीं कि इस ज़िन्दगी में रात-दिन कितना तनाव मन में रहता है...।"

वह ठीक से सोच भी नहीं पा रही थी कि कब और कैसे राजकृष्ण के होंठ उसके होंठों से आ मिले थे। उसने ज़ोर से चीख़ना चाहा था, पर गले से आवाज़ नहीं निकली थी। "मुझे जाने दीजिए," सिर्फ़ इतना कहकर और उसकी बाँहों से अपने को अलग करके जल्दी से वह बाहर चली आई थी। यह ध्यान भी उसे बाद में आया था कि अपना रूमाल और पर्स वह उस कमरे में ही भूल आई है।

गाँठ कस रही थी और शरीर पसीने से तर-ब-तर हो रहा था। मन हो रहा था कि बाक़ी कपड़े भी जिस्म से उतार दे और जाकर शॉवर के नीचे खड़ी हो जाए। घंटा-दो घंटे फुहार को अपने ऊपर लेती रहे, जिससे जिस्म का एक-एक हिस्सा, एक-एक मुसाम, सीज जाए और उसमें उस सीजन के अलावा कुछ भी महसूस करने की शक्ति न रहे। साथ ही एक नामालूम-सा डर उसके रोएँ-रोएँ में काँप गया। यह साँस-साँस में उभरती जलन...यह कसती गाँठ में बसा हुआ दर्द...आज तक क्या कभी उसका शरीर पसीने से इस तरह भीगा था?

शरीर सुन्न होता-सा लगा, तो उसने जैसे डर से सिहरकर दरवाज़े की चटखनी खोल दी। ड्राइंग-रूम की बत्ती जल रही थी। जल्दी से उसने शरीर को साड़ी में लपेट लिया। मन में बहुत अचम्भा हुआ। रवि कब आया और कब ड्राइंग-रूम में सोफे पर लेटकर किताब पढ़ने लगा? फाटक के बाहर गाड़ी का हार्न क्यों सुनाई नहीं दिया? अन्दर आकर उसने शंकर को आवाज़ क्यों नहीं दी?

तकिए का सहारा लेकर वह बिस्तर पर लेटने जा रही थी कि रवि के जूते की आवाज़ बहुत पास सुनाई दी। अन्दर आकर भी रवि ने बत्ती नहीं जलाई थी। "कैसी तबीयत है?" उसने बिस्तर पर पास बैठकर पूछा। स्वर में वही उदासीनता थी जिससे

वह दस साल से लड़ती आ रही थी। मन में शायद अब भी रवि दफ़्तर की, स्ट्राइक की, आँकड़ों की, बात सोच रहा था।

"ठीक नहीं है," उसने फुसफुसाकर कहा और रवि के कन्धे का सहारा ले लिया। सिर उसका रवि की छाती पर झुक गया।

"डॉक्टर को दिखाना चाहोगी?"

फिर सवाल! पर वह जानती थी कि रवि के किसी सवाल का अर्थ निश्चयात्मक नहीं होता। उसकी साँस तेज़ हो गई। सिर झुककर रवि की छाती पर और नीचे आ गया और उसके होंठ उसके सीने के बालों को सहलाने लगे।

"मुझे अभी फिर जाना होगा," रवि ने कहा, "राजकृष्ण को एयरपोर्ट पर सी-ऑफ करना है।"

मीरा ने सिर उसकी छाती से हटा लिया और तकिए में मुँह छिपाकर पड़ रही।

"कहो तो पहले डॉक्टर को बुला दूँ?" रवि बात करता रहा, "नहीं तो आते हुए साथ लेता आऊँगा...राजकृष्ण ने मेरे आँकड़ों के आधार पर ही झगड़े का निपटारा किया है...सबसे कहता रहा कि हम लोग बहुत पुराने दोस्त हैं...।"

मीरा ने चादर ओढ़कर जैसे अपने को ओट में कर लिया। "तुम्हें जाना है, जाओ," उसने कहा, "मेरी तबीयत ऐसी ज़्यादा ख़राब नहीं है। तुम्हारे लौटने तक शायद ठीक भी हो जाऊँगी।"

रवि ने उसकी बाँह को हलके से थपथपा दिया और वहाँ से चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। "बत्ती जला दूँ?" उसने चलते-चलते पूछा।

"नहीं, रहने दो," मीरा ने करवट बदल ली। "ज़रूरत होगी, तो शंकर से कहकर जलवा लूँगी।"

रवि के जूते की आवाज़ ड्राइंग-रूम से होकर बाहर चली गई। कार का दरवाज़ा खुलकर बन्द हुआ। कार के पहिए कच्ची सड़क पर दूर तक आवाज़ करते रहे।

मीरा तकिए में सिर छिपाए कल्पना में देखती रही—पहियों के नीचे कुचलती सड़क...व्याकुल होकर पनाह के लिए इधर-उधर चक्कर काटती धूल...पीछे पेड़ों की घनी रेखाएँ...दूर नई बस्ती के घरों की बत्तियाँ...और उसके पीछे फौलाद की भट्ठी का ताँबई आकाश...स्ट्राइक खत्म हो गई थी। चार दिन में भट्ठी फिर जल उठेगी।

मीरा ने सिर उठाया और तकिए में अपने सिर से बने निशान पर हाथ रखे आकाश में वह जगह ढूँढ़ने लगी जहाँ सुबह-सुबह एक सितारा चमकता देखा था...यह सोचकर उसकी उदासी गहरी हो गई कि भट्ठी जलने के बाद वह अब फिर वहाँ दिखाई नहीं देगा—कभी, किसी भी सुबह...।

तलुओं में सुबह की घास और शबनम की ठंडक ताज़ा हो आई। मन हुआ कि

कुछ देर फिर उसी तरह घास पर टहले, वहाँ से खुले आकाश को देखे। अभी तीन-चार रातें तो पच्छिम में सितारों की चमक देखी ही जा सकती थी।

साड़ी ठीक से बाँधकर उसने बालों में पिनें फिर से लगाईं। चलते-चलते आईने में अपने पर एक नज़र डाली और बाहर ड्राइंग-रूम में आ गई। ड्राइंग-रूम उस वक़्त उसे और दिनों से भी खुला और बड़ा लगा। अज़दहे की शक्ल की ऐश-ट्रे में कितनी ही सिगरेटें बुझी हुई थीं और वहीं पास में तिपाई पर उसका पर्स और रूमाल रखा था। इससे पहले कि वह शंकर से पूछती, शंकर ने खुद ही उसे बता दिया, "सरकिट हाउस का चौकीदार ये चीज़ें दे गया था।"

मीरा पल-भर उन चीज़ों को देखती रही। फिर बरामदे से होकर बाहर लॉन में आ गई, आते हुए शंकर से कह आई, "देखो, पर्स उठाकर अलमारी में रख दो। और रूमाल...रूमाल को धोबी के कपड़ों में डाल देना।"

ज़ख़्म

हाथ पर ख़ून का लोंदा...सूखे और चिपके हुए गुलाब की तरह। फुटपाथ पर औंधे पीपे से गिरा गाढ़ा कोलतार...सर्दी से ठिठुरा और सहमा हुआ। एक-दूसरे से चिपके पुराने कागज़...भीगकर सड़क पर बिखरे हुए। खोदी हुई नाली का मलबा...झड़कर नाली में गिरता हुआ। बिजली के तारों से ढका आकाश...रात के रंग में रँगता हुआ। चिकने माथे पर गाढ़ी काली भौंहें...उँगली और अँगूठे से सहलाई जा रहीं।

आवाज़ों का समन्दर...जिसमें कभी-कभी तूफान-सा उठ आता। एक मिलाजुला शोर फुटपाथ की रेलिंग से, स्टालों की रोशनियों से, इससे, उससे और जिस-किसी से आ टकराता। कुछ देर की कसमसाहट...और फिर बैठते शोर का हलका फेन जो कि मुँह के स्वाद में घुल-मिल जाता...या सिगरेट के कश के साथ बाहर उड़ा दिया जाता।

सोचते होंठों को सोचने से रोकती सिगरेट थामे उँगलियाँ। क्रासिंग पर एक छोटे कदों का रेला...ऊँचे कदों को धकेलता हुआ। एक ऊँचे कदों का रेला...छोटे कदों को रगेदता हुआ। उस तरफ़ छोटे और ऊँचे कदों का एक मिला-जुला कहकहा। बालकनी पर छटके जाते बाल। एक दरम्याना क़द की सीटी। सड़क पर पहियों से उड़ते छींटे।

एक-एक साँस खींचने और छोड़ने के साथ उसकी नाक के बाल हिल जाते थे। वह हर बार जैसे अन्दर जाती हवा को सूँघता था। उसका आना-जाना महसूस करता था।

उसके कॉलर का बटन टूटा हुआ था। शेव की दाढ़ी का हरा रंग गर्दन की गोराई से अलग नज़र आता था। जहाँ से हड्डी शुरू होती थी, वहाँ एक गड्ढा पड़ जाता था जो थूक निगलने या जबड़े के कसने से गहरा हो जाता था। कभी, जब उसकी ख़ामोशी ज़्यादा गाढ़ी होती, वह गड्ढा लगातार काँपता। कॉलर के नीचे के दो बटन हमेशा की तरह खुले थे। अन्दर बनियान नहीं थी, इसलिए घने बालों से ढकी खाल दूर तक नज़र आती थी। इतनी लाल कि जैसे किसी बिच्छू ने वहाँ काटा हो। छाती के कुछ बाल स्याह थे, कुछ सुनहरे। पर जो बटनों को लाँघकर बाहर नज़र आ रहे थे, वे ज़्यादातर सफ़ेद थे।

सड़क के उस तरफ़ पत्थर के खम्भों से डोलचों की तरह लटकते कुमकुमे एक-सी रोशनी नहीं दे रहे थे। रोशनी उनके अन्दर से लहरों में उतरती जान पड़ती थी जो कभी हलकी, कभी गहरी हो जाती थी। रोशनी के साथ-साथ कॉरिडोर की दीवारों, आदमियों और पार्क की गई गाड़ियों के रंग हलके-गहरे होने लगते थे। बिजली के तारों से ऊपर, आसमान से सटकर, अँधेरा हलकी धूल की तरह इधर से उधर मँडरा रहा था। कुछ अँधेरा पास के कोने में बच्चे की तरह दुबका था। ठंडी हवा पतलून के पायँचों से ऊपर को सरसरा रही थी।

"तो?" मैंने दूसरी या तीसरी बार उसकी आँखों में देखते हुए कहा। लगा जैसे वह मेरी नहीं, किसी घूमती हुई गरारी की आवाज़ हो जो हर दो मिनट के बाद 'तो' के झटके पर आकर लौट जाती हो।

उसका सिर ज़रा-सा हिला। घने घुँघराले बालों में कुछ सफ़ेद लकीरें रोशन होकर बुझ गईं। चकोतरे की फाँकों जैसे भरे हुए लाल होंठ पल-भर के लिए एक-दूसरे से अलग हुए और फिर आपस में मिल गए। माथे पर उसके चिलगोज़े जितनी एक शिकन पड़ गई थी।

"तुम और भी कुछ कहना चाहते थे न!" मैंने गरारी का फ़ीता तोड़ा। उसने रेलिंग पर रखी बाँह पर पहले से ज़्यादा भार डाल लिया। कहा कुछ नहीं। सिर्फ़ सिर हिलाकर मना कर दिया।

कई-कई दोमुँहाँ रोशनियाँ आगे-पीछे दौड़ती पास से निकल रही थीं। रोशनियों से बचने के लिए बहुत-से पाँव और साइकिलों के पहिए तिरछे होने लगते थे। रेलिंग में कई-कई ठंडे सूरज एकसाथ चमक जाते थे।

मैं समझने की कोशिश कर रहा था। अभी-अभी कोई आध घंटा पहले घर से निकलकर बाल कटाने जा रहा था, तो पूसा रोड के फुटपाथ पर किसी ने दौड़ते हुए पीछे से आकर रोका था। कहा था कि उस तरफ़ टू-सीटर में कोई साहब बुला रहे हैं। दौड़कर आनेवाला टू-सीटर का ड्राइवर था। मैंने घूमकर देखा, तो टू-सीटर में पीछे से घूँघराले बालों के गुच्छे ही दिखाई दिए। ड्राइवर ने वहीं से सड़क पार कर लिया, पर मैंने कुछ दूर तक फुटपाथ पर वापस जाने के बाद पार किया। पार करते हुए रोज़ से ज़्यादा खतरे का एहसास हुआ क्योंकि तब तक मैं उसे देख नहीं पाया था। टू-सीटर के पास पहुँचने तक कई तरह की आशंकाएँ मन को घेरे रहीं।

मेरे पास पहुँच जाने पर भी वह पीछे टेक लगाए बैठा रहा। हुड के अन्दर देखने तक मुझे पता नहीं चला कि कौन है...घुँघराले बालों से हलका-सा अन्दाज़ा हालाँकि मुझे हो रहा था। जब पता चल गया कि वही है, तो खतरे का एहसास मन से जाता रहा।

"मुझे लग रहा था कि तुम्हीं हो," मैंने कहा। पर मुस्कुराया नहीं। सिर्फ़ कोने की तरफ़ को थोड़ा सरक गया।

"कहीं जा रहे थे तुम?" मैं पास बैठ गया, तो उसने पूछा।

"बाल कटाने," मैंने कहा, "इस वक़्त सैलून में ज़्यादा भीड़ नहीं होती।" वह सुनकर ख़ामोश रहा, तो मैंने कहा, "बाल मैं फिर किसी दिन कटा सकता हूँ। इस वक़्त तुम जहाँ कहो, वहाँ चलते हैं।"

"मैं नहीं, तुम जहाँ कहो,..." उसने जिस तरह कहा, उससे मुझे कुछ अजीब-सा लगा...हालाँकि बात वह अक्सर इसी तरह करता था। उसका पिए होना भी उस वक़्त मुझे ख़ास तौर से महसूस हुआ, हालाँकि ऐसा बहुत कम होता था कि वह पिए हुए न हो। उसके होंठ खुले थे और एक बाँह टू-सीटर की खिड़की पर रखकर वह इस तरह कोने की तरफ़ फैल गया था कि डर लगता था, झटके से नीचे न जा गिरे।

"घर चलें?" मैंने कहा। वह पल-भर सीधी नज़र से मुझे देखता रहा। फिर जवाब देने की जगह होंठ गोल करके ज़बान ऊपर को उठाए हुए हँस दिया।

"कुछ देर बाहर ही कहीं बैठना चाहो, तो कनाट प्लेस चले चलते हैं।"

जवाब उसने फिर भी नहीं दिया। सिर्फ़ ड्राइवर को इशारा किया कि टू-सीटर को पीछे की तरफ़ मोड़ ले।

सड़क के गड्ढों पर से हिचकोले खाता टू-सीटर नाले से आगे बढ़ आया, तो एक बार वह मुश्किल से गिरते-गिरते सँभला। मैंने अपनी बाँह उसके कन्धे पर रखते हुए कहा, "आज तुमने फिर बहुत पी है।"

"नहीं," उसने मेरी बाँह हटा दी, "पी है पर बहुत नहीं। सिर्फ़...मैं बहुत खुश हूँ।"

मैं थोड़ा सतर्क हो गया। वह जब भी पीकर धुत हो जाता था, तभी कहता था, "मैं बहुत खुश हूँ।"

मैंने हँसने की कोशिश की...बहुत कुछ मन को घेरती आशंका और उससे पैदा हुई अस्थिरता की वजह से। उसका हाथ भी उसी वजह से अपने हाथों में ले लिया और कहा, "मुझे पता है तुम जब बहुत खुश होते हो, तो उसका क्या मतलब होता है।"

उसका सिर टू-सीटर के कोने से सटा हुआ था। उसने वहीं से उसे हिलाया और कहा, "तुम समझते हो कि तुम्हें पता है...तुम हर चीज़ के बारे में यही समझते हो कि तुम्हें पता है।"

मुझे अब भी लग रहा था कि वह झटके से बाहर न जा गिरे, पर अब उसके कन्धे पर मैंने बाँह नहीं रखी। अपने हाथों में लिये हुए उसके हाथ को थोड़ा और कस लिया... ।"

आती-जाती बसों, कारों और साइकिलों के बीच रास्ता बनाता टू-सीटर लगभग सीध चल रहा था। खड़खड़ाहट के साथ गुर्र-गुर्र की आवाज़ ऊँची उठकर धीमी पड़ने लगती थी। बीच में किसी खुमचे या घोड़ा-गाड़ी के सामने पड़ जाने से ब्रेक लगता और हम सीट से ऊपर को उछल जाते। आर्यसमाज रोड के बड़े दायरे पर एक बस के झपाटे से बचकर टू-सीटर फुदकता हुआ गोल घूमने लगा। घूमकर लिंक रोड पर आने तक मैं बाईं तरफ़ के पोस्टर पढ़ता रहा...जिससे मन इर्द-गिर्द के बड़े ट्रैफिक की दहशत से बचा रहे।

पर वह उस बीच एकटक ट्रैफिक की तरफ़ देखता रहा। लिंक रोड पर आ जाने पर उसने अपना हाथ मेरे हाथों से छुड़ा लिया।

"मैं आज तुमसे एक बात करने आया था," उसने कहा। आँखें उसकी अब सड़क को बीच से काटती पटरी को देख रही थीं...और उससे आगे पैट्रोल पम्प के अहाते को।

मैं क्षण-भर उसे और अपने को जैसे पैट्रोल पम्प के अहाते में खड़ा होकर देखता रहा...टू-सीटर के साथ-साथ बैठे और हिचकोले खाते हुए। लगा जैसे हम लोगों के उस वक़्त उस तरह वहाँ से गुज़रकर जाने में कुछ अलग-सी बात हो जिसे बाहर खड़े होकर पैट्रोल पम्प की दूरी से ही देखा और समझा जा सकता हो।

"तुम बात अभी करना चाहोगे या पहले कहीं चलकर बैठ जाएँ?" मैंने पूछा। दूसरी जगह का ज़िक्र इसलिए किया कि अच्छा है बात कुछ देर और टली रहे।

"तुम जब जहाँ चाहो," उसने दोनों हाथ घुटनों पर रख लिए और कोने से थोड़ा आगे को झुक गया। "बात सिर्फ़ इतनी है कि आज से मैं और तुम...मैं और तुम आज से...दोस्त नहीं हैं।"

इतनी देर में मन में जो तनाव महसूस हो रहा था वह सहसा कम हो गया... शायद इसलिए कि वह बात मुझे सुनने में ज़्यादा गम्भीर नहीं जान पड़ी। कुछ वैसी ही बात थी जैसी बचपन में कई बार कई दूसरों के मुँह से सुनी थी। यह भी लगा था कि शायद वह नशे की बहक में ही ऐसा कह रहा हो। मैं पहले से ज़्यादा खुलकर बैठ गया। अपना हाथ मैंने टू-सीटर की खिड़की पर फैल जाने दिया।

पंचकुइयाँ रोड पर टू-सीटर को कहीं भी रुकना नहीं पड़ा। सड़क उसे साफ़ मिलती रही। बत्तियाँ भी दोनों जगह हरी मिलीं। मैंने अपना ध्यान दुकानों के बाहर रखे फर्नीचर की आड़ी-तिरछी बाँहों और लैम्प शेड्स के गोल और लम्बूतरे चेहरों में उलझाए रखा। ऊपर से ज़ाहिर नहीं होने दिया कि मैंने उसकी बात को ज़्यादा गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। एकाध बार बल्कि इस तरह उसकी तरफ़ देख लिया जैसे मुझे आगे की बात सुनने की उत्सुकता हो...और उत्सुकता ही नहीं, साथ गिला भी हो कि उसने ऐसी बात क्यों कही।

पंचकुइयाँ रोड पार करके अन्दर के दायरे में आते ही उसने ड्राइवर से रुक जाने को कहा। फिर मुझसे बोला, "आओ, यहीं उतर जाएँ।" मैं ज़ेब से पैसे निकालने लगा, तो उसने मेरा हाथ रोक दिया और अपना बटुआ निकाल लिया।

कुछ देर हम लोग ख़ामोश चलते रहें। मैं अपने पैरों को और सामने की पटरी को देखता रहा। लगा कि पैरों के नाख़ून बहुत बढ़ गए हैं...कि इतनी ठंड में मुझे सिर्फ़ चप्पल पहनकर घर से नहीं निकलना चाहिए था। कुछ गीली मिट्टी चप्पलों में घुसकर पैरों से चिपक गई थी। पैर ठंड के बावजूद पसीने से तर थे...हमेशा की तरह। मैंने सोचा कि इन दिनों मोज़ा तो कम-से-कम मुझे पहनना ही चाहिए।

चलते-चलते एक क्रासिंग के पास आकर वह रेलिंग के सहारे रुक गया। तब मैंने पहली बार देखा कि उसकी पतलून और बुश्शर्ट पर लहू के दाग हैं। दाईं हथेली पर छिगुनी के नीचे डेढ़ इंच का ज़ख्म मुझे कुछ बाद में दिखाई दिया।

"तुम्हारी बुश्शर्ट पर ये दाग कैसे हैं?" मैंने पूछा।

उसने भी एक नज़र उन दागों पर डाली–ऐसे जैसे उन्हें पहली बार देख रहा हो। "कैसे हैं? उसने ऐसे कहा जैसे मैंने उस पर कोई इल्ज़ाम लगाया हो। "हाथ कट गया था, उसी के दाग होंगे।"

"हाथ कैसे कट गया?"

उसका चेहरा कस गया। "कैसे कट गया?" वह बोला, "कैसे भी कटा हो, तुम्हें इससे क्या है?"

कुछ देर ख़ामोश रहकर हम इधर-उधर देखते रहे...बीच-बीच में एक-दूसरे की तरफ़ भी। नियॅन साइनस की जलती-बुझती रोशनियाँ गीली सड़क में दूर अन्दर तक चमक जाती थीं। पहियों की कई-कई फिरकियाँ उसके ऊपर से फिसलती हुई निकल जाती थीं। जब वह मेरी तरफ़ न देख रहा होता, तो सड़क पर फिसलती रोशनियाँ उसकी आँखों में भी बनती-टूटती नज़र आतीं।

मैं मन-ही-मन कल के ताने-बाने को आज से जोड़ रहा था। कल वह सिन्धिया हाउस के चौराहे पर मेरे साथ खड़ा हँस रहा था। दस आदमियों के घेरे में से खुद ही मुझे उठाकर ले आया था। फुटपाथ पर चलते हुए ज़िद के साथ उसने मेरा सिगरेट सुलगाया था। फिर मुझे अपने कमरे में चलने और चलकर बियर पीने को कहा था। मेरे कहने पर कि उस वक़्त मैं नहीं चल सकूँगा, उसने बुरा भी नहीं माना था। मुझे छोड़ने बस-स्टाप तक आया था। क्यू में मेरे साथ खड़ा रहा था। बस की भीड़ में मेरे फुटबोर्ड पर पाँव उठा लेने पर उसने दूर से हाथ हिलाया था। मैं जवाब में हाथ नहीं हिला सका क्योंकि मेरे दोनों हाथ भीड़ के कब्ज़े में थे। बस चल दी, तब वह

स्टाप से थोड़ा हटकर अँधेरे में खड़ा मेरी तरफ़ देखता रहा था। मुझसे आँख मिलने पर हलके से मुस्कुरा दिया था।

कल हम घंटा-भर साथ थे, पर उस दौरान हमारे बीच कोई ख़ास बात नहीं हुई थी। उसने कहा था कि अब जल्दी ही कोई अच्छी-सी लड़की देखकर वह शादी कर लेना चाहता है...अकेलेपन की ज़िन्दगी उससे और बर्दाश्त नहीं होती। पर यह बात उसने पिछले हफ्ते भी कही थी, महीना-भर पहले भी कही थी, और चार साल पहले भी। मैंने हमेशा की तरह सरसरी तौर पर हामी भर दी थी। हमेशा की तरह यह भी कहा था कि पहले ठीक से सोच ले कि कहाँ तक वह उस ज़िन्दगी को निभा सकेगा। कहीं ऐसा न हो कि बाद में आज से ज़्यादा छटपटाहट महसूस करे। सिन्धिया हाउस के चौराहे पर इसी बात पर वह हँसा था। "मुझे मालूम था," उसने कहा था, "कि तुम मुझसे यही कहोगे। यह बात तुम आज पहली बार नहीं कह रहे।" मुझे इससे थोड़ी शरम आई थी, क्योंकि सचमुच मैं उससे यह बात कई बार कह चुका था... शिमला में डेविकोज़ की पिछली खिड़की के पास बैठकर बियर पीते हुए...जमशेदपुर में उसके होटल के कमरे में बिस्तर में लेटे हुए...इलाहाबाद में गज़दर के लान में चहलकदमी करते हुए...और बम्बई में कफ परेड पर समन्दर में जाती गन्दी नाली की उस सँकरी डंडी पर चलते हुए, जहाँ नाजायज़ शराब पीना और नाजायज़ प्रेम करना दोनों ही नाजायज़ नहीं हैं। इनके अलावा और भी कई जगह यह बात मैंने उससे कही होगी क्योंकि नौ साल की दोस्ती में ज़्यादातर हमारी बात स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर ही होती रही थी।

"कल रात तक तो हमारे बीच ऐसी कोई बात नहीं थी," "मैंने कहा, "उसके बाद इस बीच ऐसा क्या हो गया जिससे...?"

वह हँसा। "क्या हो सकता था उसके बाद?...उसके बाद मैं अपने कमरे में चला गया और जाकर सो गया।" रेलिंग पर रखी उसकी बाँह शरीर के बोझ से एक बार फिसल गई। वह जिस तरह रेलिंग से सटकर खड़ा था उससे लग रहा था कि अब आगे चलने का उसका इरादा नहीं है।

"आज दिन-भर कहाँ रहे?"

"वहीं अपने कमरे में। इसके बाद अगर पूछोगे कि क्या करता रहा, तो जवाब है कि टहलता रहा, किताब पढ़ता रहा, शराब पीता रहा।"

उसका ज़ख्मी हाथ अब मेरे सामने था। नियॅन साइनस के बदलते रंगों में लहू का रंग हरा-नीला होकर गहरा-भूरा हो जाता था।

किसी-किसी क्षण मुझे लगता कि शायद वह मज़ाक कर रहा है, कि अभी वह ठहाका लगाकर हँसा और बात वहीं समाप्त हो जाएगी। मगर उसकी आँखों में मज़ाक की कोई छाया नहीं थी। जिस हाथ पर ज़ख्म नहीं था उससे वह लगातार अपनी भौंहों

को सहला रहा था। इस तरह भौंहों को वह तभी सहलाता था जब 'बहुत खुश' होता था।

इस तरह 'बहुत खुश' उसे मैंने कितनी ही बार देखा था। एक बार शिमला में, जब कम्बरमियर पोस्ट आफिस के बाहर उसने अपने एक साथी को पीट दिया था। वह आदमी इसके दफ़्तर का स्टेनो था...और इसका पीने और उधार लेने का साथी था। उस घटना के बाद दोनों की डिपार्टमैंटल इन्क्वायरी हुई और उन्हें शिमला से ट्रांसफर कर दिया गया। फिर इलाहाबाद के एक बार में, जब किसी ने पास आकर अपने गिलास की शराब इसके मुँह पर उछाल दी थी। यह उसके बाद रात-भर अपनी चारपाई के गिर्द चक्कर काटता रहा और कहता रहा कि उस आदमी की जान लिए बग़ैर अब यह नहीं सो सकेगा। बम्बई के दिनों में तो यह अक्सर ही 'बहुत खुश' रहता था। मैं उन दिनों चर्चगेट के एक गेस्टहाउस में रहता था। यह दिन में या रात में किसी भी वक़्त मेरे पास चला आता...दो में से एक बार अपनी भौंहों को सहलाता हुआ। कभी झगड़ा उस घर के लोगों से हुआ होता जिनके यहाँ यह पेइंग गेस्ट था...कभी कोलाबा के बूट-लेगर्ज़ से जो नौ बजने के साथ ही अपने दरवाज़े बन्द कर लेना चाहते थे। एकाध बार जब इसे लगा कि उस तरह पीकर आने पर मैं भी इससे कतराता हूँ, तो यह मेरे पास न आकर रात-भर कफ परेड के खुले पेवमेंट पर सोया रहा।

वह जिस ढंग से जीता था, उससे कई बार खतरा महसूस करते हुए भी मुझे उसके व्यक्तित्व में एक आकर्षण लगता था। वह बिना लाग-लिहाज़ के किसी के भी मुँह पर सच बात कह सकता था...दस आदमियों के बीच अलफ-नंगा होकर नहा सकता था...अपनी ज़ेब का आख़िरी पैसा तक किसी को भी दे सकता था। पर दूसरी तरफ़ यह भी था कि किसी लड़की या स्त्री के साथ दस दिन के प्रेम में जान देने और लेने की स्थिति तक पहुँचकर चार दिन बाद वह उससे बिलकुल उदासीन हो सकता था। अक्सर कहा करता था कि किसी ऐसी स्त्री के साथ ही उसकी पट सकती है जो एक माँ की तरह उसकी देखभाल कर सके। यह शायद इसलिए कि बचपन में माँ का प्यार उसके बड़े भाई को उससे ज़्यादा मिला था। इसी वजह से शायद ज़्यादातर उसका प्रेम विवाहित स्त्रियों से ही होता था...पर उसमें उसे यह बात सालती थी कि वह स्त्री उसके सामने अपने पति से बात भी क्यों करती है...बच्चों के पास न होने पर भी उनका ज़िक्र ज़वान पर क्यों लाती है! "मुझे यह बर्दाश्त नहीं," वह कहता, "कि मेरी मौजूदगी में वह मेरे सिवा किसी और के बारे में सोचे, या मुझसे उसका ज़िक्र करे।"

नौ साल में मैं उसे उतना जान गया था जितना कि कोई भी किसी को जान सकता है। उसकी ज़िन्दगी जितनी दुर्घटनापूर्ण होती गई थी, उतना ही मेरा उससे

लगाव बढ़ता गया था। यह लगाव उसकी दुर्घटनाओं के कारण शायद उतना नहीं था जितना अपनी दुर्घटनाओं को बचाकर चलने के कारण। मेरी जानकारी में वह अकेला आदमी था जो दाएँ-बाएँ का ख़याल न करके सड़क के बीचोबीच चलने का साहस रखता था। सिर्फ़ हठ या ज़िद की वजह से ऐसा नहीं करता था...उसका स्वभाव ही यह था। कई बार जब गहरी चोट खा जाता, तो यह भी कोशिश करता कि अपने इस स्वभाव को बदल सके। तब वह बड़े-बड़े मनसूबे बाँधता, योजनाएँ बनाता और अपने इरादों की घोषणा करता। कहता कि उसे समझ आ गया है कि ज़िन्दगी के बारे में उसका अब तक का नज़रिया कितना गलत था कि अब से वह एक निश्चित लकीर पकड़कर चलने की कोशिश करेगा...कि अब अपने को ज़िन्दगी से और निर्वासित नहीं करेगा...कि अब जल्दी ही शादी करके सही ढंग से जीना शुरू करेगा। जब तक नौकरी लगी रहती और पीने को काफ़ी शराब मिल जाती, तब तक वह कहता, ''नहीं, मैं तुम लोगों की तरह नहीं जी सकता...मैं अपने वक़्त का हिस्सा नहीं, उसका निगहबान हूँ। मैं जीता नहीं, देखता हूँ...क्योंकि जीना अपने में बहुत घटिया चीज़ है। जीने के नाम तो पेड़-पौधे भी जीते हैं...पशु-पक्षी भी जीते हैं।'' पर जब कभी लम्बी बेकारी के दौर से गुज़रना पड़ता, और कई-कई दिन शराब छूने को न मिलती, तो वह भूलभुलैया में खोए आदमी की तरह कहता, ''मुझे समझ आ रहा है कि मैं बिलकुल कट गया हूँ...हर चीज़ से बहुत दूर हो गया हूँ।'' अभी चन्द महीने पहले नई नौकरी मिलने पर उसने कहा था, ''मुझे खुशी है, मैं अपनी दुनिया में लौट आया हूँ। इस बार बेकारी में तो मुझे लग रहा था कि मैं तुमसे भी कट गया हूँ...अपने में बिलकुल अकेला पड़ गया हूँ। मुझे यह भी एहसास हो रहा था कि तुम सब लोगों ने मुझे बीता हुआ मान लिया है...बीता हुआ और गुमशुदा।'' उसके बाद मैंने उसे लगातार कोशिश करते देखा था—अपने को वक़्त का निगहबान बनने से रोकने की। अब काम के वक़्त के बाद वह अपने को कमरे में बन्द करता था...इधर-उधर लोगों से मिलने चला जाता था। जिन लोगों के नाम से ही कभी भड़क उठता था, उनके साथ बैठकर चाय-कॉफी पी लेता था। उनके मज़ाक में शामिल होकर साथ मज़ाक करने की कोशिश भी करता था। इसी बीच दो-एक मैट्रिमोनियल विज्ञापनों के उत्तर में उसने पत्र भी लिखे थे...दो-एक लड़कियों को जाकर देख भी आया था। एक लड़की देखने में साधारण थी...दूसरी साधारण भी नहीं थी। वैसे दोनों लड़कियाँ नौकरी में थीं। मैं किसी ऐसी ही लड़की से शादी करना चाहता हूँ,'' उसने कहा था, ''जो अपना भार खुद सँभाल सकती हो। ताकि आगे कभी बेकारी आए, तो मुझे दुहरी तकलीफ़ में से न गुज़रना पड़े।''

पर दोनों में से किसी भी जगह वह बात तय नहीं कर पाया...बात सिरे पर पहुँचने से पहले ही किसी बहाने उसने उन्हें टाल दिया। अभी दस दिन हुए, एक

चायघर में बैठे हुए अचानक ही वह लोगों के बीच से उठ खड़ा हुआ था। "मैं जाऊँगा," उसने कहा था, "मेरी तबीयत ठीक नहीं है। लग रहा है मेरा दिल 'सिंक' कर रहा है।" चेहरा उसका सचमुच ज़र्द हो रहा था। सर्दी के बावजूद माथे पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं।

मैं तब उसके साथ उठकर बाहर चला आया था। बाहर फुटपाथ पर आकर वह खोई नज़र से इधर-उधर देखता रहा था। "किसी डॉक्टर के यहाँ चलें?" मैंने उससे पूछा, तो वह जैसे चौंक गया। बोला, "नहीं-नहीं, डॉक्टर को दिखाने की ज़रूरत नहीं। मैं अपने कमरे में जाकर लेट रहूँगा, तो सुबह तक ठीक हो जाऊँगा।" दूसरे-तीसरे दिन मैं उसके कमरे में उसे देखने गया, तो वह वहाँ नहीं था। ताले में किसी के नाम उसकी चिट लगी थी, "मैं रात को देर से आऊँगा। मेरा इन्तज़ार मत करना।" तीन दिन बाद मैं फिर गया, तो पता चला कि उसके मालिक-मकान ने एक रात अपनी बीवी को बुरी तरह पीट दिया था...उस औरत के रोने-चिल्लाने की आवाज़ सुनकर यह मालिक-मकान को पीटने जा पहुँचा था। उसके बाद से बहुत कम अपने कमरे में नज़र आया था। यह अस्वाभाविक नहीं लगा क्योंकि एक बार जब दफ़्तर में उसके सामने की कुर्सी पर बैठनेवाले अधेड़ बैचलर की हार्ट-फेल से मौत हो गई थी, तो यह कई दिन दफ़्तर नहीं गया था और कोशिश करता रहा था कि उसकी मेज़ उस कमरे से उठवाकर दूसरे कमरे में रखवा दी जाए।

पर कल मुलाक़ात होने पर वह मुझे हमेशा की तरह मिला था। न उसने अपने मालिक-मकान का जिक्र किया था, न ही अपनी सेहत की शिकायत की थी। बल्कि मैंने पूछा कि अब तबीयत कैसी है, तो उसने आँखें मूँदकर सिर हिला दिया था कि बिलकुल ठीक है...हालाँकि जिस तरह वह मुझे उठाकर लाया था, उससे मुझे लगा था कि वह कोई ख़ास बात करना चाहता है। क्या बात होगी...यह मैं बस में चढ़ने के बाद भी सोचता रहा था।

एक परिचित चेहरा सामने की भीड़ से हमारी तरफ़ आ रहा था। सफ़ेद बाल और नुकीली ठोड़ी। आँखें बचाने पर भी वह व्यक्ति मुस्कुराता हुआ पास आ खड़ा हुआ। "क्या हो रहा है?" उसने बारी-बारी से दोनों को देखते हुए पूछा।

"कुछ नहीं, ऐसे ही खड़े थे," मैंने कहा। इस पर वह हाथ मिलाकर चलने को हुआ, तो अचानक उसकी नज़र हाथ पर पड़ गई। "यह क्या हुआ है यहाँ?" उसने पूछ लिया।

"यह कुछ नहीं है," ज़ख्मी हाथ रेलिंग से हटकर नीचे चला गया। "कल खिड़की खोलते हुए कट गया था...खिड़की के काँच से। बन्द खिड़की थी...खुल नहीं रही थी। उसी का ज़ख्म है...खिड़की के काँच का।"

"पर यह ज़ख्म कल का तो नहीं लगता," उस व्यक्ति ने अविश्वास के साथ हम दोनों की तरफ़ देख लिया।

''नहीं लगता? नहीं लगता, तो आज का होगा, इसी वक़्त का। यह ठीक है?''

उस व्यक्ति की आँखें पल-भर के लिए चौकन्नी-सी हो रहीं। फिर एक बार सन्देह की नज़र उस हाथ पर डालकर और कुछ हमदर्दी के साथ मेरी तरफ़ देखकर वह भीड़ में आगे बढ़ गया। उसके सफ़ेद बाल सलेटी-से होकर कुछ दूर तक नज़र आते रहे।

''तो?''

वह हिला नहीं। और भी गहरी नज़र से मेरी तरफ़ देखने लगा। जैसे आँखों से मेरी चीरफाड़ कर रहा हो।

''कुछ देर कहीं चलकर बैठें?'' मैंने पूछा।

उसने सिर हिला दिया। ''मैं अब जा रहा हूँ,'' उसने कहा।

''कहाँ जाओगे?''

''अपने कमरे में...या जहाँ भी मन होगा।''

''पर मेरा ख़याल था कि तुम अभी कुछ और बात करना चाहोगे।''

''मैं और बात करना चाहूँगा?'' वह हँसा। ''मैं अब किसी से भी और बात करना चाहूँगा?''

''पर मैं तुमसे बात करना चाहूँगा,'' मैंने कहा, ''तुम कहो, तो यहीं कहीं बैठते हैं। नहीं तो कुछ देर के लिए मेरे घर चल सकते हैं।''

''तुम्हारा घर?'' नियॉन लाइट्स के रंग उसकी आँखों में चमककर बुझ गए। ''तुम्हारा घर कल से आज में कुछ और हो गया है?''

बात मेरी समझ में नहीं आई। मैं चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहा। वह पहले से थोड़ा और मेरी तरफ़ को झुककर बोला, ''तुम्हारा घर वही है न जहाँ तुम कल भी गए थे...अकेले? बस के फुटबोर्ड पर लटके हुए...? कल तुम्हें मेरे साथ रहने से... मुझे साथ ले जाने से—डर लगता था...आज नहीं लगता? मैं जैसा बेकार कल था वैसा ही आज भी हूँ...बिलकुल उतना ही बेकार और उतना ही बदचलन।''

ट्रैफ़िक की आवाज़ से हटकर एक और आवाज़—आसमान में बादल की हलकी गड़गड़ाहट। मैंने ऊपर की तरफ़ देखा...जैसे कि देखने से ही पता चल सकता हो कि बारिश फिर तो नहीं होने लगेगी। बिजली के तारों के ऊपर धुँधला अँधेरा था और उससे भी ऊपर हलकी-हलकी सफ़ेदी। मुझे लगा कि मेरे पैर पहले से ज़्यादा चिपचिपा रहे हैं, और चप्पल के अन्दर गई मिट्टी की परतें दोनों तलवों से चिपक गई हैं। मेरे दोनों होंठ आपस में चिपक रहे थे। उन्हें कोशिश से अलग करके मैंने कहा, ''तुमने कल नहीं बताया कि तुमने यह नौकरी भी छोड़ दी है।''

''तुम्हारा ख़याल है, मैं नौकरी छूटने की वजह से यह बात कर रहा हूँ?'' वह अपनी आँखें अब और पास ले आया। ''तुम समझते हो कि इसी वजह से कल मैं

तुमसे चिपका रहना चाहता था?...पर खातिर जमा रखो, नौकरी न रहने पर भी मैं दस आदमियों को खिला सकता हूँ।'' खाता मैं कभी किसी से नहीं। और यह भी विश्वास रखो कि मुझे अभी बीस साल और जीना है...कम-से-कम बीस साल।''

नीचे से चिपचिपाते पैर ऊपर से मुझे बहुत नंगे और ठंडे महसूस हो रहे थे। सामने रोशनी का एक दायरा था जिसमें कई-एक स्याह बिन्दु हिल-डुल रहे थे। उस दायरों में घिरा एक और दायरा था...तारीकी का...जिसमें कोई बिन्दु अलग नज़र नहीं आता था, पर जो पूरा-का-पूरा हलके-हलके काँप रहा था।

उसने पास से गुज़रते एक टू-सीटर को हाथ के इशारे से रोका, तो मैंने फिर कहा, "चलो, घर चलते हैं। वहीं चलकर बातें करेंगे।''

"तुम जाओ अपने घर,'' उसने मेरा हाथ अपने ज़ख्मी हाथ में लेकर हिला दिया। ''क्यों...तुम्हारे लिए एक ही जगह है जहाँ तुम जा सकते हो। पर जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरे लिए एक ही जगह नहीं है...मैं कहीं भी जा सकता हूँ।'' और रेलिंग के नीचे से निकलकर वह टू-सीटर में जा बैठा। टू-सीटर स्टार्ट होने लगा, तो उसने बाहर की तरफ़ झुककर कहा, ''पर इतना तुम्हें बता दूँ, कि मुझे कम-से-कम बीस साल और जीना है। तुम्हारे या दूसरे लोगों के बारे में नहीं कह सकता...पर अपने बारे में कह सकता हूँ कि मुझे ज़रूर जीना है।''

मेरे हाथ पर ठंडा-सा जज़ीरा बन गया था...वहाँ जहाँ वह उसके ज़ख्म से छुआ था। उसका टू-सीटर दायरे में घूमता हुआ काफ़ी आगे निकल गया, तो भी मैं कुछ देर रेलिंग के सहारे वहीं खड़ा हाथ के जज़ीरे को सहलाता रहा। दो-एक और ख़ाली टू-सीटर सामने से निकले, पर मैंने उन्हें रोका नहीं। जब अचानक एहसास हुआ कि मैं बेमतलब वहाँ खड़ा हूँ, तो वहाँ से हटकर कॉरिडोर में आ गया और शीशे के शो-केसों में रखे सामान को देखता हुआ चलने लगा। कुछ देर बाद मैंने पाया कि कनाट प्लेस पीछे छोड़कर मैं पार्लियामेंट स्ट्रीट के फुटपाथ पर चल रहा हूँ...उस स्टॉप से कहीं आगे जहाँ से कि रोज़ घर के लिए बस पकड़ा करता था।

जंगला

एक हाथ से पम्प चलाकर दूसरे से बदन को मलता हुआ बनवारी भगत धीरे-धीरे गुनगुनाता है, "जागिए, ब्रजराज कुँअर...कमल-कुसुम फू-ऊऽऽलेऽ।"

फूलकौर तवे पर झुककर कच्ची रोटी को पोने से दबाती हुई आँखें मिचकाती है। जैसे कि फू-ऊऽऽले की लम्बी तान सुनकर ही रोटी को फूल जाना हो। रोटी नहीं फूलती, तो वह शिकायत की नज़र से बनवारी भगत की तरफ़ देख लेती है। शरीर की रेखाएँ साफ़ नज़र नहीं आतीं। नज़र आता है साँवले शरीर पर गमछे का लाल रंग...ठीक लाल भी नहीं...और पम्प का हिलता हुआ हत्था, बहता हुआ पानी। दूसरी बार तवे पर झुकने तक रोटी आधी जल जाती है। उसे जल्दी से उतारकर दूसरी रोटी तवे पर डालती हुई वह कहती है, "नहाए जाओ चाहे और घंटा-भर! मुझे क्या है?"

भगत 'भृंग लता भू-ऊऽऽले' की लय के साथ जल्दी-जल्दी पम्प चलाने लगता है। "कौन भंडेरिया कहता है तुझे कुछ है? कभी होता ही नहीं।"

खट्-खट्-खट्...बेलन तीन-चार बार चकले से टकराता है। चूल्हे से फूटकर एक चिनगारी फूलकौर के माथे तक उड़ आती है। बेलन रखकर वह पल-भर निढाल हो रहती है। "और कहो, और कहो। कभी कुछ होता ही नहीं! माथे की जगह कपड़े पर आ पड़ती, तो अभी हो जाता?"

भगत पम्प के नीचे से उठ खड़ा होता है। "...बोलत वनरा-आऽऽइ...राँभति गो खरिकन में बछरा हित धा-आऽऽइ..."

दो-तीन चिनगारियाँ और उड़ जाती हैं। फूलकौर जैसे उन्हें रोकने के लिए बाँह माथे के आगे कर लेती है। "लगाए जाओ तुम अपनी धौंकनी! दूसरे की चाहे जान चली जाए!"

भगत आधा बदन हाथ से निचोड़ लेता है बाक़ी आधे के लिए फूलकौर की तरफ़ पीठ करके गमछा उतार लेता है। "किसकी जान चली जाए? तेरी? आज तक न गई!"

"हाँ, मेरी ही नहीं गई? तुम तो प्रेत होकर आए हो!"

"प्रेत होकर यहाँ आता?" भगत हँसता है, "इस घर में? तेरे साथ रहने?"

"नहीं, तुम तो जाते उसके घर...वह जो थी राँड तुम्हारी...अच्छा हुआ मर गई।"

भगत की हँसी गले में ही रह जाती है, "मरों के सिर तोहमत लगाती है? देखना, एक दिन तेरी ज़बान को लकवा मार जाएगा।"

"मेरी ज़बान को? उसे नहीं, जिसने वे सब करम किए हैं?"

भगत की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। "किस भंडरिए ने करम किए हैं? क्या करम किए हैं?"

"अपने से पूछो, मुझसे क्यों पूछते हो?"

भगत गमछे को जल्दी-जल्दी निचोड़कर कमर से लपेट लेता है। फिर लोटा-बाल्टी उठाकर जंगले के उस तरफ़ को चल देता है। "एक औरत के सिवाय दूसरी का हाथ तक नहीं छुआ ज़िन्दगी-भर। इसकी बीमारियाँ ढो-ढोकर उम्र गला दी, पर इसकी तसल्ली नहीं हुई...तब तक नहीं होने की जब तक इसे आँख के सामने जीता-जागता, चलता-फिरता नज़र आता हूँ। अब अकेला ही तो बच रहा हूँ इस घर में...इसकी नज़र के सामने।"

फूलकौर गमछे के लाल रंग को दूर जाते देखती है, फिर चिमटे से पकड़कर तवा एकाएक नीचे उतार लेती है। तवा ज़मीन तक जाने से पहले चिमटे से निकल जाता है। ऊपर पड़ी रोटी फिसलकर नीचे आ गिरती है। "बोलो, बोलो!" वह चिल्लाकर कहती है, "और काली ज़बान बोलो!"

भगत लोटा-बाल्टी जंगले के उस तरफ़ की दीवार के पास रखकर लौट आता है। "तू और ज़ोर से चिल्ला, जिससे आसपास के दस घर सुन लें!"

"सुन लें जिन्हें सुनना हो?" फूलकौर की आवाज़ हलकी नहीं पड़ती, "शरम नहीं आती तुम्हें अपने लड़के की जान से दुश्मनी करते?"

"अब यह बात कहाँ से आ गई? उस भरनचोर का किसी ने नाम भी लिया है?"

"तुम क्यों नाम लोगे उसका?" फूलकौर ज़मीन पर गिरी रोटी को आँखों के पास लाकर उसकी धूल झाड़ने लगती है, "तुम्हारे लिए तो इस घर में तुम्हारे सिवाय कोई बचा ही नहीं है।"

"यह कहा है मैंने? अपनी इसी अक्ल से तो तूने घर का सत्यानास किया है। यह अक्ल न होती तेरी, तो वह भरनचोर, माखनचोर, यहीं घर में होता आज भी। छोड़कर चला न जाता।"

"बके जाओ गाली!" फूलकौर तवा फिर चढ़ा देती है, "गाली बकने के सिवाय तुम्हें कुछ आता भी है?"

"गाली बक रहा हूँ मैं?"

"नहीं, गाली कहाँ बक रहे? यह तो तुम हरि-सिमरन कर रहे हो!"

पम्प का पानी जंगले के आसपास फ़र्श को दिन-भर गीला रखता है। दालान के उस हिस्से को पार करते फूलकौर को डर लगता है कितनी ही बार पैर फिसलने से गिर जाती है। जंगले के उस तरफ़ कुछ गिनी हुई ईंटें हैं, जिन तक पानी के छींटे नहीं पहुँचते। पर वही ईंटें सबसे ज़्यादा चिकनी हैं। धोखा उन्हीं पर से गुज़रते हुए होता है। बहुत जमा-जमाकर पैर रखती है, फिर भी ठीक से अपने को सँभाला नहीं जाता। दस ईंटों का वह सफर हमेशा जानलेवा लगता है। सही-सलामत उसे पार करके नए सिरे से ज़िन्दगी मिलती है। यूँ जंगले की सलाखों पर पैर रखकर भी जाया जा सकता है, पर वह उससे ज़्यादा ख़तरनाक लगता है।

आगे के कमरे में जाने से पहले ड्योढ़ी में कपड़ों का ढेर पड़ा रहता है, धुले-अनधुले सभी तरह के कपड़ों का। कपड़ों को हाथ लगाने पर कोई न कोई टिड्डी या मकड़ी बाँह पर चढ़ आती है, या सामने से उछलकर निकल जाती है। 'हाय' कहकर फूलकौर कुछ देर के लिए बदहवास हो रहती है। छाती तेज़ी से धड़कने लगती है, जो कपड़ा हाथ में हो, उसे हाथ में ही लिये बैठी रहती है। अपने से बुदबुदाती है, ''कपड़े तो अभी ले ही नहीं गया।''

कमरे में क़ई रंगों की धूप आती है, रंगीन शीशों से छनकर। रोशनी के उन रंगीन टुकड़ों के सरकने से वक़्त का पता चलता है। नीचे बाज़ार से गौओं की घंटियों की आवाज़ सुनाई देती है, तो वह सिर उठाकर कहती है, ''चार बज गए।'' इधर-उधर देखती है, जैसे चार बजने का कुछ अर्थ हो...जैसे उससे किसी चीज़ में कुछ फ़र्क पड़ सकता हो। रोशनी के रंग जब फ़र्श से गायब हो जाते हैं, तो मन में फिर हौल उठने लगती है...कि दालान पार करके फिर चौके में जाना होगा...टोकरी में ढूँढ़कर कोयले निकालने होंगे...कनस्तर में झाँककर आटे की थाह लेनी होगी। ड्योढ़ी में आकर कुछ देर वह मन को तैयार करती रहती है। उसाँस के साथ कहती है, ''अब तो रात उतर आई।''

ज़ीने पर पैरों की हर आहट से वह चौंक जाती है, ''कौन है?''

कुछ देर गौर से उस तरफ़ देखती रहती है। कुछ कदम उस तरफ़ चली भी जाती है। आहट बहुत करीब आकर एक शक्ल में बदलने लगती है, तो वह फिर एक बार पूछ लेती है, ''कौन है?''

''मैं हूँ,'' कहता हुआ भगत दालान में आ जाता है। फूलकौर शिकायत की नज़र से उसे देखती है। जैसे भगत ने जान-बूझकर उसे झुठला दिया हो।

''हो आए?'' वह चिढ़कर पूछती है।

''कहाँ?''

''जहाँ भी गए थे?''

''गया था अपना सिर मुँड़ाने!''

''अपना या जिसका भी। गए तो थे ही।''

''हाँ, गया तो था ही। अच्छा होता गया ही रहता। लौटकर न आता।''

फूलकौर को साँस ठीक से नहीं आती। कुछ कहना चाहती है, पर कह नहीं पाती। भगत पास से निकलकर पीछे के कमरे में चला जाता है। कुछ देर गुनगुनाता रहता है, ''किलकत काऽन्ह घुटुरवनि आऽऽववत...मनिमय कनऽक नन्द कैऽआँऽऽगन मुख-प्रतिबिम्ब पकरिबेंऽधाऽऽवत...'' धीरे-धीरे आवाज़ खुश्क हो जाती है। एक कसैला स्वाद मुँह में रह जाता है। वह बाहर आकर मोढ़े पर बैठ जाता है। फूलकौर उसकी तरफ़ नहीं देखती। वह खुद ही कहता है, ''वह आज मिला था...''

फूलकौर चौंक जाती है। ''कौन, बिशना...?

''वह नहीं, उसका वह दोस्त...कढ़ी-चोर राधेश्याम!''

''फूलकौर का उत्साह ठंडा पड़ जाता है। ''क्या कहता था?''

''कुछ नहीं। कहता था...कि वह किसी दिन आएगा...सामान लेने।''

''कौन आएगा? राधेश्याम?''

''नहीं। वह खुद आएगा। बिशना।''

चूल्हे की लपट से दीवार पर साए हिलते हैं। कुछ साफ़ नज़र नहीं आता। फूलकौर आपस में उलझते सायों की तरफ़ देखती रहती है। ''आए,'' वह कहती है, ''अगर ले जाए जो कुछ ले जाना हो। बाक़ी सब चीज़ों की उसे ज़रूरत है। सिर्फ़ माँ-बाप की ही ज़रूरत नहीं है।''

भगत मुँह के कसैलेपन को अन्दर निगल लेता है। ''देखो, इस बार वह आए, तो उससे लड़ना नहीं।''

''फिर लगे तुम मुझसे कहने?'' फूलकौर आवाज़ को साँस के आख़िरी छोर तक खींच ले जाती है, ''पहले मैं उससे लड़ती थी?''

''मैंने इस बार के लिए कहा है,'' भगत अपने उबाल को किसी तरह रोकता है, ''पहले की बात नहीं की।''

''पहले की बात नहीं की! बात करोगे भी और कहोगे भी कि नहीं की।''

कुछ देर आगे बात नहीं होती। भगत मोढ़े से एक तीली तोड़कर उससे दाँत कुरेदने लगता है। फूलकौर बार-बार तवे पर झुकती और पीछे हटती है। फिर पूछ लेती है, ''क्या कहता था वह...कब आएगा?''

''उसे भी ठीक मालूम नहीं था। कहता था, ऐसे ही बात-बात में उसके मुँह से सुना था। हो सकता है कल-परसों ही किसी वक़्त चला आए।''

फूलकौर का हाथ आटे में ठीक से नहीं पड़ता। आटा ले लेने पर उसका पेड़ा नहीं बन पाता। पेड़े को चकले पर रखकर बेलन नहीं चलता। ''क्या पता उसने कहा भी था या राधे अपने मन से ही कह रहा था?'' वह कहती है।

"राधे अपने मन से क्यों कहेगा? हमसे झूठ बोलने की उसे क्या ज़रूरत है?"

फूलकौर बेली हुई रोटी को गोल करके फिर पेड़ा बना लेती है। "मुझे एतबार नहीं आता कि वह चुड़ैल उसे आने देगी।"

"क्यों नहीं आने देगी?...लड़का अपने माँ-बाप के घर आना चाहे, तो वह उसे कैसे रोक लेगी?"

फूलकौर बेली हुई रोटी हाथ पर लिये पल-भर कुछ सोचती रहती है। फिर उसे तवे पर डालती हुई कहती है, "उस दिन आई थी, तो मैंने उस पर सौंह जो डाली थी! कहा था कि बाप की बेटी है, तो इसके बाद न कभी खुद इस घर में कदम रखे, न उसे रखने दे!"

भगत दाँत का मैल तीली से फ़र्श पर रगड़ देता है। "तो किसी के सिर क्यों लगाती है, अपने से कह।"

"और तुमसे न कहूँ जो खाना-पीना तक छोड़ बैठे थे? हाय-हाय करते थे कि दूसरे की ब्याहकर छोड़ी हुई औरत घर में बहू बनकर कैसे आ सकती है?"

भगत कुछ देर तीली को देखता रहता है, फिर उसे कई टुकड़ों में तोड़ देता है। "तुम मुझे बात करने देतीं, तो मैं जैसे-तैसे लड़के को समझा लेता।"

"तुम समझा लेते...तुम!" फूलकौर इतना उसकी तरफ़ झुक आती है कि भगत को उसे सँभालकर पीछे हटा देना पड़ता है। "देखती नहीं, आगे चूल्हा है?"

फूलकौर धोती के पल्लू को हाथ से दबा लेती है। देखती है कि कहीं जल तो नहीं गया। कहती है, "नहीं देखती तभी तो रात-दिन चूल्हे के पास बैठना पड़ता है।"

"तुझे...!" भगत बाँह फेरकर मुँह साफ़ करता है।

"क्या कह रहे थे?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ न कहना हो, तो चुप ही रहा करो न," फूलकौर और चिढ़ उठती है, "हमेशा इसी तरह आधी बात कहकर दूसरे का जी जलाते हो।"

भगत के गले से अजीब-सी आवाज़ पैदा होती है। खुले होंठ कुछ देर ढीले हो रहते हैं। फिर वह थूक निगलकर अपने को समेट लेता है।

"रोटी अभी खाओगे या ठहरकर?" फूलकौर कुछ देर बाद पूछती है।

"अभी दे दो...या ठहरकर दे देना।"

"तुम एक बात नहीं कह सकते? या कहो अभी दे दो, या कहो ठहरकर दो!"

भगत कुछ देर घूरकर देखता रहता है, जैसे सहने की हद को उसने पार कर लिया हो। "तुझे एक ही बात सुननी है," वह कहता है, "तो वह यह है कि न मैं अभी खाऊँगा, न ठहरकर खाऊँगा। तेरे हाथ की रोटी खाने से ज़हर खा लेना ज़्यादा अच्छा है।"

...सीढ़ियों के हर खटके से वह चौंकती रहती है, "कौन है?" भगत उसे सीढ़ियों की तरफ़ जाते देखता है, तो गुस्से से रोककर खुद आगे चला जाता है। "कोई नहीं है," वह सीढ़ियों में देखकर कहता है, "जा रही थी वहाँ मरने! अपना हाथ तक तो नज़र आता नहीं...आनेवाले का सिर-मुँह इसे नज़र आ जाएगा!"

फूलकौर बिना देखे लौट आती है...पर मन में सन्देह बना रहता है। उसे लगता है जैसे भगत के देखने की वजह से ही सीढ़ियाँ हर बार ख़ाली हो जाती हों। वह इन्तज़ार करती है कि कब भगत घर से जाए और वह कुछ देर अकेली रहे। अकेले में ज़रा-सा भी खटका सुनाई देता है, तो वह जाकर सीढ़ियों में झुक जाती है। "बिशने...!"

कई बार देख चुकने के बाद एक बार सचमुच कोई सीढ़ियाँ चढ़ता नज़र आता है। बहुत पास आ जाने पर वह फिर एक बार धीरे से कहती है, "कौन है? बिशना!"

"हाँ, बिशना!" भगत कुढ़ता हुआ उसे सहारे से अन्दर ले आता है। "तेरी आवाज़ सुनने के लिए ही रुका बैठा है वह! जब तक एक बार तू लुढ़क नहीं जाएगी, तब तक वह ठीक से सुन नहीं पाएगा..."

फूलकौर अन्दर आकर भगत की तरफ़ नहीं देखती। उसे लगता है कि उसी की वजह से सब गड़बड़ हो गया है। अगर वह इस वक़्त न आया होता...।

आधी रात को हौदी से उठकर पम्प पर हाथ धोने जाते फूलकौर सहमकर खड़ी रहती है। गीली ईंटों से भी ज़्यादा डर लगता है जंगले से, जो पम्प के आगे दालान के एक तिहाई हिस्से को घेरे है। लकड़ी के चौखटों में जड़ी बड़ी-बड़ी सलाखें, जिन पर से वह दिन में भी गुज़रती। लगता है नीचे से दीवानखाने का अँधेरा पैरों को बाँध लेगा...एक कदम रखने के बाद अगला कदम रख पाना सम्भव ही नहीं होगा। वह इस घर में आई थी, तब से अब तक दीवानखाना कभी खोला नहीं गया। वहाँ अन्दर क्या है, क्या नहीं, यह कोई भी नहीं जानता। यह भी नहीं कि कब कितनी पुश्तें पहले वह कमरा दीवानखाने के तौर पर इस्तेमाल होता था। कब से वह दीवानखाना भोहरा कहलाने लगा था, इसका भी कुछ पता नहीं था...बनवारी भगत को भी नहीं। उसके होश से पहले एक बार दरवाज़ा खुला था...जिसके दूसरे-तीसरे दिन ही, कहा जाता था कि उसके बड़े भाई की मौत हो गई थी।

फूलकौर हौदी से उठकर देर तक जंगले के इस तरफ़ खड़ी रहती है। सलाखों की ठंडक और चुभन उसे दूर-दूर से ही महसूस होती है...लगता है कि रात को दीवानखाने का अँधेरा अपनी ख़ास गन्ध के साथ जंगले से ऊपर उठा आता है... उस वक़्त हलकी-से-हलकी आवाज़ भी उसे उस अँधेरे की ही आवाज़ जान पड़ती

है... जैसे कि अँधेरा हर आनेवाले की आहट लेता हो...और फिर चुपके से उसकी खबर नीचे दीवानखाने में पहुँचा देता हो।

किसी भी तरह हौदी से पम्प तक जाने का हौसला नहीं पड़ता। बिना हाथ धोए चुपचाप कमरे में जाकर सोया भी नहीं जाता। वह भगत के सिरहाने बैठकर धीरे से कहती है, "सुनो...मैं कहती हूँ, ज़रा-सी देर के लिए उठ जाओ।" भगत के शरीर को वह हाथ से नहीं छूती। छूने से शरीर गन्दा हो जाता है। भगत को उतनी रात में भी कपड़े बदलकर नहाना पड़ता है।

जब तक भगत की आँख नहीं खुलती, वह आवाज़ें देती रहती है। तब अचानक भगत सिर उठाकर कहता है, "क्या हुआ है?...कौन आया है?"

"आया कोई नहीं है," वह कहती है, "मैं तुम्हें जगा रही हूँ।"

भगत हड़बड़ाकर उठ बैठता है। पेट तक आई धोती को सँभालकर घुटनों से नीचे कर जाता है। होंठों को हाथ से साफ़ करता हुआ कहता, "कढ़ी-चोर!"

"अब कौन है जिसे गाली दे रहे हो?" फूलकौर हलके से कहती है...कुछ खुशामद के साथ...जैसे कि गाली देनेवाले की जगह कसूरवार गाली खानेवाला हो।

भगत जवाब नहीं देता। जम्हाई के साथ चुटकी बजाता हुआ उठ खड़ा होता है। "श्री हरि...श्रीनाथ हरि...श्रीकृष्ण हरि..."

पम्प तक होकर वापस आते ही भगत फिर चादर ओढ़ लेता है। फूलकौर लेटने से पहले दालान का दरवाज़ा बन्द कर देती है।

भगत दूसरी तरफ़ करवट बदलने लगता है, तो वह कहती है, "सुनो...अब उसे गाली मत दिया करो।"

"तू मुझे सोने देगी या नहीं?" भगत झुंझलाता है, "किसे गाली दे रहा हूँ मैं?"

"अभी उठते ही तुमने उसे गाली नहीं दी थी?" अब फूलकौर के स्वर में खुशामद का भाव नहीं रहता।

"किसे?"

"उसे ही। बिशने को।"

"वह यहाँ सामने बैठा था जो मैं उसे गाली दे रहा था?"

"इसका मतलब है कि वह सामने आएगा, तो तुम गाली देने से बाज़ नहीं आओगे? मैं पहले नहीं कहती थी कि लड़का बड़ा हो गया है, तुम्हें उससे ज़बान सँभालकर बात करनी चाहिए?"

भगत मुँह का झाग गले में उतार लेता है। "उसे पता है गाली मेरे मुँह पर चढ़ी हुई है। मैं जान-बूझकर नहीं देता।"

"तो ठीक है। तुम आज तक अपनी कहानी से बाज़ आए हो, जो आज ही आओगे? मैं खामख्वाह अपना सिर खपा रही हूँ।"

भगत कुछ देर चुप रहकर आँखें झपकता है। "तू ऐसे बात कर रही है जैसे वह आज इसी वक़्त चला आ रहा है।"

फूलकौर का सिर थोड़ा पास को सरक आता है। रुकती-सी साँस के साथ वह कहती है, "कम से कम मुँह से तो अच्छी बात बोला करो।"

"अब मैंने क्या कह दिया है?" एक तेज़ साँस फूलकौर की साँस से जा टकराती है।

"जिसे आना हो, वह भी ऐसी बात मुँह पर लाने से नहीं आता।"

भगत की साँस कुछ धीमी पड़ जाती है। वह कहता है, "उसके आने पर मैं कुछ बात ही नहीं करूँगा। चुप रहूँगा, तो गाली भी मुँह से नहीं निकलेगी।"

फूलकौर का सिर सरककर वापस अपने तकिए पर चला जाता है। "हाँ, तुम मत कुछ भी बात करना उससे। जिससे वह आए भी, तो उसी वक़्त लौट भी जाए। मुँह तुम बन्द रख सकते हो, पर गाली देने से बाज़ नहीं आ सकते!"

"मैंने यह कहा है?"

"नहीं, यह नहीं, और कुछ हुआ है। तुम हमेशा अपने मुँह से ठीक बात कहते हो। सुननेवाला गलत सुन लेता है।"

भगत को नींद नहीं आती। हर करवट शरीर का बोझ बाँह के किसी-न-किसी हिस्से पर भारी पड़ता है, हड्डियाँ चुभती हैं। एक ठंडक-सी महसूस होती है। बाहर से नहीं, अन्दर से लगता है कि वही ठंडक है, जो धीरे-धीरे बाहर फैलती जा रही है।

सिर के नीचे हाथ रखे वह अँधेरे को देखता रहता है...कभी-कभी अँधेरे में अपने को देखने की कोशिश करता है...जैसे कि लेटा हुआ आदमी कोई और हो, देखनेवाला कोई और। पर ज़्यादा देर अपने को इस तरह नहीं देखा जाता।

दो साँसों की आवाज़ लगातार सुनाई देती है...एक अपनी, दूसरी फूलकौर की। एक साँस नीचे जाती है, तो दूसरी ऊपर आती है...फिर पहली ऊपर उठती है और दूसरी नीचे चली जाती है। कभी-कभी दोनों साँसें एक दूसरी को काटती हैं। वह पल-भर साँस रोके रहता है, जिससे दोनों की लय फिर ठीक हो जाए...पर लय कुछ देर के लिए ठीक होकर फिर उसी तरह बिगड़ने लगती है।

कोई चीज़ पैर पर से गुजर जाती है। 'हा' की आवाज़ के साथ वह अचानक उठ बैठता है। पैर को छूकर इधर-उधर देखता है। फिर उठकर खड़ा हो जाता है। वह दीवार, जिस पर बिजली का बटन है, दो गज़ के फासले पर है। एक-एक कदम वह उस दीवार की तरफ़ बढ़ता है। हर बार जमीन को छूने से पहले एक सरसराहट जिस्म में भर जाती है...लगता है कि पैर किसी लिजलिजी चीज़ से टकराने जा रहा

है। साथ ही एक डर भी महसूस होता है...कि कहीं अगर वह चीज़...ठोस-ठंडा फ़र्श पैर से छू जाता है, तो हलका-सा आभास सुख का भी होता है, सुरक्षित होने के सुख का, पर तब तक अगला कदम डर की हद तक पहुँच चुका होता है...

टटोलता हुआ हाथ बटन को ढूँढ़ लेता है, तो उस सुख की कई लहरें एकसाथ शरीर में दौड़ जाती हैं। पचीस वाट के बल्ब की रोशनी कमरे की हर चीज़ को नए सिरे से ज़िन्दा कर देती है।

भगत सारे फ़र्श पर नज़र दौड़ता है। सन्दूकों के ऊपर-नीचे देखता है। बन्द दरवाज़े में हलकी-सी दरार देखकर उसे पूरा खोल देता है...जैसे कि देखने की जिम्मेदारी बाहर देखे बिना पूरी न होती हो। ''हट, हट, हट!'' कहकर दहलीज़ लाँघने से पहले वह कुछ देर रुका रहता है। ड्योढ़ी में बिखरे मैले कपड़ों और पुराने बिस्तरों में आहट का इन्तज़ार करता है। अफसोस होता है कि सब चीज़ें उस तरह क्यों पड़ी हैं। पर उन्हें उठाने की हिम्मत नहीं पड़ती। एक-एक चीज़ को आँखों से टटोलता है। छूता नहीं। लगता है छूने से वह लिजलिजी चीज़ आँखें और पंजे उठाए अचानक सामने नज़र आ जाएगी।

लौटने से पहले दो-एक बार वह पैर से फ़र्श में धमक पैदा करता है। कहीं कोई हरकत नहीं होती। किसी तरफ़ से आहट सुनाई नहीं देती। पर दहलीज़ लाँघकर वापस कमरे में कदम रखते ही बिजली टूटती है...वही लिजलिजी चीज़ तेज़ी से पैर के ऊपर से गुज़र जाती है...और ड्योढ़ी पार करके जंगला पार करने की कोशिश में धप् से नीचे जा गिरती है। एक हलकी-सी आवाज़...च्यों च्यों च्यों...और बस।

भगत काँपकर सन्न हो रहता है। लगता है जैसे उस तेज़ दौड़ती चीज़ के साथ उसके अन्दर की कोई चीज़ भी धप् से दीवानखाने में जा गिरी हो...और अब वहाँ से उठकर वापस आने की कोशिश में वहीं डूबती जा रही हो। दरवाज़ा बन्द करके लम्बे कदम रखता हुआ वह बिस्तर पर लौट आता है।

अब उसे बत्ती बुझाने का ध्यान आता है। वापस दीवार तक जाने, बत्ती बुझाने और लौटकर बिस्तर तक आने की बात सोचकर घुटने काँपने लगते हैं।

उसे बिशने का ख़याल आता है। अभी तीन साल पहले की बात थी, जब बिशन ने दीवानखाने से निकले साँप को निचली ड्योढ़ी में लाठी से मार दिया था। इस बात पर बिशने से कितनी खटपट हुई थी! बड़ों से सुन रखा था कि दीवानखाने में खानदान का पुराना धन गड़ा है, और उनके बाबा-पड़दादा साँप बनकर उसकी रखवाली करते हैं। दीवानखाने को खोला इसीलिए नहीं जाता था कि पुरखे उससे नाराज न हो जाएँ। और यह लड़का था कि इसने नाली के रास्ते हवा लेने बाहर आए एक पुरखे को जान ही से मार डाला था!

''सुन!'' वह फूलकौर को धीरे से हिलाता है। दो जागती आँखों के सामने ही वह बत्ती बुझाना चाहता है।

फूलकौर आँखें खोलती है...इस तरह जैसे कि जगाए जाने की राह ही देख रही हो, उसके होंठों पर हलकी मुस्कुराहट आती है...सपने से बाहर चली आई-सी। "क्या बात है?" वह पूछती है।

"कुछ नहीं। ऐसे ही आवाज़ दी थी।"

फूलकौर के होंठ उसी तरह फैले रहते हैं...सिर्फ़ मुस्कुराहट की रेखा परेशानी की रेखा में बदल जाती है। "तबीयत ठीक है?" वह पूछती है।

"हाँ, ठीक है।"

"पानी-आनी चाहिए?"

"नहीं।"

"फिर...?"

"एक बात कहनी थी..."

फूलकौर बैठ जाती है। "मुझे पता है जो बात कहनी थी, बत्ती बुझानी होगी।"

"इतनी ही तो समझ है तेरी!" भगत खीज उठता है, "बत्ती बुझाने के लिए मैं तुझे जगाऊँगा!...मैं बात करना चाहता था, उसके बारे में..."

"पहले उठकर बत्ती बुझा दो...फिर जो चाहो बात करते रहना।"

भगत उठता है...जैसे ताव में...और बत्ती बुझाकर लौट आता है। अँधेरे में कुछ देर दोनों राह देखते हैं...एक-दूसरे की आवाज़ सुनने की। फिर फूलकौर धीरे से कहती है। "अब बोलते क्यों नहीं।"

भगत चुप रहता है। सोचता है कि अगली बार भी जवाब नहीं देगा। सिर्फ़ इतना कह देगा "कुछ नहीं।"

मगर फूलकौर दोहराकर नहीं पूछती। कहती है, "अच्छा, मत बताओ।" भगत के मुँह तक आया हुआ 'कुछ नहीं' तब तक बाहर फिसल आता है। वह उसे समेटता हुआ कहता है, "कुछ ख़ास बात नहीं...इतना ही कहना चाहता था कि...अगर दो चूल्हे अलग-अलग कर लिए जाएँ...वे लोग कुछ खाना-पकाना चाहें, अलग खा-पका लें..."

फूलकौर की आँखें अँधेरे में उसके चेहरे को टटोलती हैं, "क्या कहा है तुमने?"

"यही कि..."

"तुम कह रहे हो यह बात?"

खटमल जैसी कोई चीज़ भगत को अपनी जाँघ पर रेंगती महसूस होती है। उसे वह अँगूठे से मसल देता है। "मैं तेरी वजह से कह रहा था...क्योंकि बाद में तू सारी बात मेरे सिर पर डाल देगी।"

"बिशना आए तो कह दूँ मैं उससे?"

"हाँ...कह देना।"

"तो इसका मतलब है कि..."

भगत कुछ न कहकर आगे सुनने की राह देखता है।

"...कि वह भी बिशने के साथ यहीं रहेगी आकर...?"

भगत धोती उठाकर जाँघ को अच्छी तरह झाड़ लेता है। "अब मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं। मुझे पता था, तू इन्हें घर में रखने को राजी नहीं है।"

"यह कहा है मैंने?"

"खुद चाहती नहीं है, और तोहमत मेरे सिर पर लगाती है।"

"मैं नहीं चाहती?...मेरी तरफ़ से वह किसी को भी घर में ले आए। मैं यहाँ न पड़ रहूँगी, पीछे के कमरे में पड़ रहूँगी। फ़र्क जो पड़ता है, वह तो तुम्हारी भगताई को ही पड़ता है।"

"मुझे क्या फ़र्क पड़ता है?" भगत उतावला होकर कहता है, "ठाकुरजी की सेवा के लिए मैं कुएँ से किरमिच के डोल में पानी ले आया करूँगा।"

कुछ देर ख़ामोशी रहती है। दोनों की साँसें एक-तार चलती हैं। फिर भगत कहता है, "दरअसल उसे संगत अच्छी नहीं मिली।"

"किसे?"

"बिशने को, और किसे?...अब यह राधे ही है...न रखता उन्हें अपने घर में...कह रहा था कटरे में उनके लिए अलग मकान भी देख रहा है।"

"वह अलग मकान लेकर रहेगा?"

भगत हुंकारा भरकर ख़ामोश ही रहता है। कुछ देर बाद करवट बदलते हुए कहता है, "कढ़ी-चोर...!"

चौगान

पीछे का दरवाज़ा खुलकर बन्द हुआ और बरामदे में पैरों की आहट सुनाई दी तो साहब की मुँदी हुई आँखें अनायास खुल गईं। गर्दन लेटे-लेटे जकड़ गई थी, इसलिए उसने आँखों को ही थोड़ा घुमाकर देख लिया। काशीराम कॉफी की ट्रे लिये आ रहा था और उसका जूता बरामदे में ठक्-ठक् कर रहा था। साहब के माथे पर हलकी-सी शिकन पड़ गई। उसने बीसियों बार इस आदमी को समझाया था कि वह चाय-कॉफी लेकर उसके पास आए तो अपना कीलोंवाला जूता उतार दिया करे, और दूसरा रबड़ का जूता पहन लिया करे। मगर काशीराम के दिमाग़ में जाने कैसा सूराख था कि उसे यह बात कभी याद ही नहीं रहती थी।

"साहबजी, कॉफी!" काशीराम पास आकर खड़ा हो गया, तो भी पल-भर साहब उसे गुस्से की नज़र से देखता रहा। मगर मन में दूसरी बात उठ आने से वह कीलोंवाले जूते की बात भूल गया और उसका गुस्सा बैठ गया। काशीराम ने एक तिपाई खींचकर साहब की कुर्सी के पास कर दी और चाय की ट्रे उस पर रख दी।

"मेम साहब नहीं आया?" साहब ने पूछा।

"नहीं साहबजी, अभी नहीं आया," कहकर काशीराम कॉफी प्याली में डालने लगा।

"तुम जाओ, हम खुद बनाएगा।" कहते हुए साहब ने अपने शरीर को सीधा कर लिया। काशीराम कॉफी-पॉट ट्रे में रखकर चला गया। उसके जूतों की आवाज़ काफ़ी देर साहब के माथे की नसों पर चोट करती रही। एक बार उसने हाथ बढ़ाया कि अपने लिए कॉफी की प्याली बना ले, मगर हाथ चायदानी के दस्ते को छूकर लौट आया। उसे कॉफी बनाने-पीने की ज़रा भी इच्छा अपने अन्दर महसूस नहीं हुई। उसका शरीर आरामकुर्सी पर थोड़ा नीचे को सरक गया, पैर बरामदे की रेलिंग पर फैल गए और दोनों हाथ सिर के नीचे चले गए। उसे लगा जैसे वह अभी-अभी कड़ी मेहनत करके हटा हो जिससे उसका शरीर निढाल हो गया हो, और अब उसे आराम की ज़रूरत हो।

उसे अपनी टाँगों, बाँहों और आँखों पर न जाने कैसा बोझ-सा महसूस हो रहा था। आँखें बन्द होतीं तो खुली रहना चाहतीं, और खुली होतीं तो अपने-आप बन्द होने लगतीं। सामने का आकाश किसी-किसी क्षण बिलकुल स्याह हो जाता, मगर फिर वह स्याही ज़रा-ज़रा साफ़ होने लगती और कुछ बरसे हुए बादल के टुकड़े, कुछ पतले-पतले वृक्षों की रेखाएँ और उनकी दरारों के बीच रात होने से पहले ही भटक आया एकाध तारा, ये सब धुँधले दृश्य की तरह दिखाई दे जाते। उसके बाद आँख फिर मुँदने लगतीं और वह धुँधला दृश्य फिर गहरी स्याही में बदल जाता है।

बरामदे में दूसरी बार आहट सुनाई दी तो उसको आँखें खोलने का मन नहीं हुआ। वह आहट काशीराम के जूते की आवाज़ से अलग थी। उसे पता था कि वह किसके पैरों की आहट है, पर चाहते हुए भी उससे आँखें नहीं खोली गईं। आहट उसके कानों के बहुत पास तक आकर दूर जाने लगी, तो उसने किसी तरह कठिनाई से अपने को झटक लिया। वृक्षों की रेखाएँ तब तक सचमुच अँधेरे में डूब गई थीं, यद्यपि बादलों के टुकड़े पहले से ज़्यादा सफ़ेद हो गए थे और वह अकेला तारा कितने ही तारों के झुरमुट में घिर गया था। उसने अपनी नज़र बाईं तरफ़ घुमाई तो देखा कि सन्तो अपनी चप्पल हाथों में लिये उसके पास से गुज़रकर दबे पैरों पीछे के कमरे की तरफ़ जा रही है।

"सुनो," साहब के गले से डूबी-सी आवाज़ निकली। सन्तो चलती-चलती ठिठक गई और उसने जल्दी से चप्पल पैरों में पहन ली। हलके कदमों से चलती हुई वह साहब के पास आ गई।

"साहब जी," वह अपराधी की तरह ज़मीन पर बैठने लगी तो साहब ने हाथ के इशारे से उसे रोक दिया।

"उधर नहीं बैठो, कुर्सी लेकर बैठो।"

सन्तो ने सहमी हुई नज़र से इधर-उधर देखा। बरामदे में दूसरी कुर्सी नहीं थी।

"मैं अभी लेकर आती हूँ," उसने कहा।

"काशीराम को बोलो।"

सन्तो ने काशीराम को आवाज़ दी। वह उसी तरह ठक्-ठक् करता आया और कुर्सी रखकर चला गया।

"बैठो।"

सन्तो बैठ गई। साहब ने सीधे होने की चेष्टा की तो उससे उठा नहीं गया। उसकी टाँगें सो गई थीं और बाँहों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि पूरे शरीर का भार सँभालकर उसे ऊपर उठा दें। सन्तो ने उठकर साहब की बाँहों को सहारा दिया और उसे ठीक से बिठाकर फिर अपनी कुर्सी पर चली गई। साहब को खाँसी उठ आई। कुछ क्षण बेहाल-सा बैठा सन्तो के चेहरे की तरफ़ देखता रहा

"मैंने तुमको बोला था," साहब की बात पूरी नहीं हुई। उसका गला बुरी तरह खुश्क हो रहा था।

"मैं उधर नहीं गई थी, साहब जी!" सन्तो कुर्सी से उठकर ज़मीन पर बैठ गई और अपने दोनों हाथ उसने साहब के पैरों पर रख दिए, "मैं अपनी माँ की कसम खाकर कहती हूँ कि मैं उधर नहीं गई थी।"

"उठकर कुर्सी पर बैठो," साहब ने अन्दर से उठती खाँसी की वजह से अपनी छाती को दबाए हुए कहा, "मैंने तुमको बोला नहीं था कि..."

"अच्छा साहब जी, ग़लती माफ कर दो। मैं कुर्सी पर बैठ जाती हूँ।" सन्तो की आँखों में आँसू आ गए और वह ऐसी नज़र से साहब की तरफ़ देखने लगी जैसे अभी उसकी पिटाई होनेवाली हो।

"तुम चौगान नहीं गई थीं।"

सन्तो चुपचाप देखती रही। जैसे उसे लग रहा हो कि चाँटा अब आया कि अब आया—हालाँकि पिछले एक-डेढ़ साल से साहब के हाथों में इतनी ताकत नहीं रही थी कि चाँटा लगाने के लिए उठ भी सकें।

"मैं क्या पूछ रहा हूँ? तुम चौगान गई थीं कि नहीं?"

सन्तो ने सिर हिला दिया। उसकी पलकों में रुके हुए आँसू नीचे लुढ़क आए। उसने अपनी कमीज़ की बाँह से आँखें पोंछ लीं।

"कमीज़ से आँखें क्यों पोंछती हो?" साहब सहसा चौगान की बात भूल गया और उसका चेहरा गुस्से से तमतमा उठा।

"नहीं पोंछती, साहब जी," कहती हुई सन्तो हाथों से आँख मलने लगी।

"मैंने तुमको यह बोला था कि तुम हाथों से आँखें पोंछा करो?" साहब गुस्से में थोड़ा ऊँचा उठने को हुआ, पर सहसा उसे पसीना आ गया। उसका शरीर शिथिल हो गया और चेहरे पर ज़र्दी छा गई। वह आँखें मूँदकर कुर्सी पर नीचे को लुढ़क गया।

सन्तो घबराकर कुर्सी से उठ खड़ी हुई और साहब का चेहरा दोनों हाथों में लेकर हिलाने लगी।

"साहब जी! साहब जी ओ!"

साहब की आँखें पल-भर बाद ज़रा-सी खुलीं, और उसने बुदबुदाकर कहा, "ब्रांडी।" सन्तो नंगे पैरों ब्रांडी लाने के लिए दौड़ पड़ी। साहब के माथे की त्योरी गहरी हो गई और उसने एक लम्बी साँस लेकर कहा, "ओ गॉड्!"

पत्तों से छनकर आती चितकबरी चाँदनी में लेटे हुए साहब की आँखें कमरे की और आकाश के उस टुकड़े की जो खिड़की से दिखाई दे रहा था, गहराई को नाप रही

थीं। हैरी, हैरी विलसन...जो कभी लन्दन के क्लबों और नाचघरों का शौकीन था, जो अपने यूनिवर्सिटी के दिनों में एक फैशनपरस्त नवयुवक था, अब अपने देश से हज़ारों मील दूर, हिन्दुस्तान के इस छोटे-से कस्बे में आकर केवल 'साहब' रह गया था। साहब–जिसके आगे न हैरी लगता था, न पीछे विलसन। वह विदेशी नाम ही जैसे उसका एक नाम रह गया था, हालाँकि बरसों से सुनते रहने के बाद भी वह उसे बेगाना-सा लगता था। परन्तु वह बेगानापन, जो उसे अपने-आपसे भी बेगाना रखता था, उसके व्यक्तित्व के लिए कितना स्वाभाविक हो गया था!

बाहर से आती हवा में सेब, अनार और नाशपाती की मिली-जुली गन्ध थी जो बहुत परिचित होते हुए भी अपरिचित लग रही थी। जैसे कि वह गन्ध भी उस नाम की तरह बेगानी हो। उस गन्ध में वह आत्मीयता नहीं थी जो लन्दन के धुएँ और कोहरे में प्रतीत होती थी। पहले महायुद्ध के दिनों में मोर्चे पर लड़ते हुए भी उसे कई बार उस धुएँ और कोहरे की गन्ध याद आया करती थी। जाने वह धुआँ और कोहरा उसके स्नायुओं में क्यों इस तरह बसा हुआ था?

चितकबरी चाँदनी के नन्हे-नन्हे गोले रह-रहकर हिल जाते। उसका सिर जकड़ा हुआ था और कनपटियों की नसों में हलका-हलका दर्द हो रहा था। उसे लग रहा था जैसे वह बिस्तर पर न होकर एक जहाज़ की छत पर लेटा हो और वह जहाज़ उसे न जाने किस अज्ञात दिशा की ओर लिये जा रहा हो। किसी-किसी क्षण उसे महसूस होता कि अभी जहाज़ का भोंपू बजेगा और वह सिर उठाकर देखेगा, तो उसे टेम्ज़ के किनारे बसे हुए घरों की पंक्तियाँ दिखाई देंगी।

उसे लग रहा था कि वह एक लम्बी तट-रेखा के साथ-साथ चल रहा है और कई-कई चेहरे उसके पास से गुज़रते जाते हैं। उसका बड़ा लड़का जिमी कप्तान की वर्दी में किसी जहाज़ की रेलिंग के पास खड़ा सिगार पी रहा है...छोटा लड़का फ्रेड एक कारखाने में मशीन चला रहा है...उसकी लड़की मार्गरेट एक क्लब में अधनंगी नाच रही है...और उसकी पत्नी लिज़ी एक मामूली-से घर में एक उसी जैसे बूढ़े आदमी को प्यार से कॉफी की प्याली बनाकर दे रही है। लिज़ी! उसे बहुत अजीब लगता था कि लिज़ी का चेहरा जब भी याद आता था, तो वह तीस बरस पहले का युवा चेहरा ही होता था जिसे उसने आख़िरी बार अदालत के कटघरे में देखा था। लिज़ी ने उसके तीन बच्चों की माँ होकर भी उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। उसने कहा था कि वह उसे नहीं चाहती, किसी और को चाहती है...और इस तरह की ज़िन्दगी ढोना उसके लिए सम्भव नहीं है। वह स्वभाव का सख़्त आदमी था और लिज़ी को उससे काफ़ी शिकायत रहती थी। पहले कुछ साल लिज़ी सबकुछ सहती हुई भी ख़ामोश रही थी मगर जब वह बोल पड़ी, तो ज़िन्दगी को फिर पुरानी सतह पर ले जाना सम्भव नहीं हुआ। मगर लिज़ी ने हैरी की डाँट-फटकार को ही सुना था,

उसके अन्दर क्या कभी झाँककर नहीं देखा था? काश कि लिज़ी उसके दिल को समझ सकी होती...!

उसने करवट बदल ली। उसका चेहरा तकिए में धँसा, तो जैसे वह स्वयं ही एक गहराई में धँसता चला गया। लिज़ी के साथ सम्बन्ध-विच्छेद के बाद के दस वर्ष! कितनी यातना थी इन दस वर्षों में! उसे घर में रहना तो क्या, लन्दन में जीना ही एक यन्त्रणा लगती थी। माँ के बाद बच्चे बिलकुल अपनी मर्ज़ी से चलने लगे थे–उसका ज़रा कहा नहीं मानते थे। वह क्लबों और नाचघरों में जाता, तो उसे लगता जैसे वह अपनी ही भूत हो जो अपनी गुज़री हुई ज़िन्दगी के आसपास मँडरा रहा हो। उसकी सेहत काफ़ी गिर गई थी और उसके डॉक्टर भी उसे लन्दन छोड़कर चले जाने का परामर्श देते थे। आखिर उसने तय किया था कि वह कहीं बहुत दूर चला जाएगा–किसी बहुत एकान्त जगह पर और अपनी ज़िन्दगी बिलकुल नए सिरे से शुरू करेगा। उस समय वह पचपन को छू रहा था, फिर भी उसी आशा का सूत्र पकड़े वह हिन्दुस्तान चला आया था। कुल्लू का वह गाँव उसने युद्ध के दिनों में एक बार पहले भी देखा था...उन दिनों रोहतांग के पास उनकी छावनी थी। न जाने क्यों, जब भी वह देश से बाहर जाकर कहीं बसने की बात सोचता, तो उसी गाँव का चित्र उसके सामने आ जाता। वह जब वहाँ आया, तो गाँव बिलकुल उजाड़ था। उसने वहाँ अपनी कोठी बनवाई और बगीचे लगवाए। उसके बाद इस इलाके की आबादी बढ़ने लगी। लोग उसकी इज़्ज़त करते थे और उससे डरते भी थे। वह बन्दूक हाथ में लिये जब घूमने के लिए निकलता, तो उसे स्वयं लगता जैसे वह उस प्रदेश का शासक हो और बाक़ी सब लोग उसकी प्रजा हों। यह सब उसे अच्छा लगता था, मगर जब वह खाने की मेज़ पर अकेला बैठता, तो एक विचित्र बेगानापन उसे घेर लेता। अकेले क्षणों में उसे अपने 'साहब' से घृणा होने लगती और उसका मन फिर से हैरी विलसन बनकर जीने को करता।

कुछ वर्ष तो उसने अकेले काट लिए, मगर जब वह अकेलापन बहुत ही असह्य प्रतीत होने लगा तो उसने अपने आख़िरी दिन काटने के लिए बगीचे की बूढ़ी नौकरानी की लड़की सन्तो को घर में रख लिया। सन्तो तब मुश्किल से सत्रह साल की थी। वह उसकी भाषा नहीं बोल सकती थी, पर उसने स्वयं उन लोगों की भाषा काफ़ी सीख ली थी। सन्तो की माँ को उसने पाँच सौ रुपया देकर वहाँ से साठ मील दूर एक और गाँव में बसा दिया जिससे उस सम्बन्ध की हीनता को वह कुछ हद तक भुलाए रख सके।

परन्तु उससे भी उसका अकेलापन दूर नहीं हुआ। सन्तो उसकी निकटता में आकर ऐसे व्यवहार करती थी जैसे एक बच्चे को किसी बहुत ऊँची कुर्सी पर बिठा दिया गया हो और वह वहाँ बैठकर खुश भी हो और साथ डरता भी हो कि कहीं

नीचे न गिर जाए। वह सन्तो से प्यार करता था, तो सन्तो इस तरह उसके मुँह की तरफ़ देखती रहती थी जैसे वह इंसान न होकर किसी कीमती धातु का बना एक बुत हो। वह चाहता था कि सन्तो किसी तरह उसके बराबर की हो जाए, उसकी बात को समझ सके और उसके दर्द की गहराई को नाप सके। परन्तु वह कभी उसे अपने पिछले जीवन की बातें सुनाने लगता, तो सन्तो सहसा खिलखिलाकर हँस पड़ती और वह अवाक् होकर उसके चेहरे की तरफ़ देखता रह जाता।

"तो तुम्हारा वह बेटा बहुत बड़ा है, साहब जी?" वह पूछती।

वह सिर हिला देता और पल-भर के लिए आँखें मूँद लेता।

"तुमसे भी बड़ा?"

वह फिर सिर हिलाता और आँखें खोल लेता। सन्तो फिर हँसती, "कैसी बात करते हो, साहब जी? तुम्हारा बेटा तुमसे बड़ा कैसे हो सकता है?"

सन्तो उसे निःसंकोच भाव से अपने शरीर से खेल लेने देती थी, और जब वह खेल चुकता तो सारे घर में खुशी से नाचती फिरती थी। जैसे वह हरेक को यह बता देना चाहती हो कि साहब कैसे उसके बालों में उँगलियाँ उलझाता है और उससे मीठी-मीठी बातें कहता है। वह नंगे पैरों घर-भर में दौड़ती थी, और ज़रा-ज़रा देर में अपने नये फ्रॉक मैले कर आती थी। वह उसे रहन-सहन की आदतें सिखाने के लिए रात-दिन मेहनत करता था। "सन्तो, तुमसे कहा था कि चाय पीते वक़्त यह कपड़ा अपनी जाँघों पर बिछा लेते हैं। फिर तुमने चाय अपने कपड़ों पर गिरा ली?"

सन्तो डरी हुई नज़र से उसकी तरफ़ देखती। उसके हाथ की प्याली से और चाय छलक जाती।

"जाओ, कपड़े बदलकर आओ!"

"साहब जी, आज माफ कर दो, कल से नहीं गिराऊँगी।" यह कहते-कहते चाय की प्याली उसके हाथ में फिर तिरछी हो जाती।

"तुम्हें अभी तक चाय की प्याली पकड़ना भी नहीं आया? मैंने कितनी बार सिखाया है?"

"हाँ, साहब जी, तुमने बहुत बार सिखाया है।"

"तो फिर?"

"अब नहीं गिराऊँगी, साहब जी। मैं अब कभी नहीं गिराऊँगी," और वह होंठ बिसोरकर रोने लगती।

"मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि मेरे सामने रोया मत करो?"

"अब नहीं रोऊँगी साहब जी!" और वह फ्रॉक की बाँह से और हाथों से आँखें मलने लगती।

वह झल्लाकर अपनी जगह से खड़ा होता। "मैंने तुमसे यह नहीं कहा था कि आँखें फ्रॉक से और हाथों से नहीं पोंछते?"

सन्तो कभी डर से सहमी हुई उसकी तरफ़ देखती रहती और कभी ज़मीन पर उलटी लेटकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगती।

वह हताश होकर कमरे से निकल जाता। कुछ देर बाद लौटकर स्वयं ही उसे ज़मीन से उठाता।

"अब तुम रोना बन्द करोगी या नहीं?"

वह सिर हिलाती और उठ खड़ी होती।

"जाकर कपड़े बदलोगी या नहीं?"

"बदलूँगी।"

"सिर में आज तेल डाला था?"

"नहीं।"

"दाँत साफ़ किए थे?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"अब जाकर कर लेती हूँ।"

"तुम्हें मैं तुम्हारी माँ के पास भेज दूँ?" वह फिर झल्ला उठता। सन्तो डरकर सिर हिलाती, "नहीं।"

"तुम्हारी ये गन्दी आदतें छूटेंगी भी?"

वह सिर हिलाती, "क्यों नहीं छूटेंगी?"

"कब छूटेंगी?"

"कल से छूट जाएँगी।"

वह एक उसाँस भरकर बन्दूक उठाता और बाग़ीचों की तरफ़ निकल जाता।

पहले दिनों में उसके झल्लाने से सन्तो बहुत रोया करती थी, मगर पिछले एक-डेढ़ साल से स्थिति बदल गई थी। जब से उसे दिल का दौरा पड़ने लगा था और उसका घूमना-फिरना बन्द हुआ था, तब से उसका डाँटना भी काफ़ी कम हो गया था। इससे सन्तो पहले से खुश रहती और वही कभी-कभी तकिए में मुँह छिपाकर चुपचाप रो लिया करता था। सन्तो उसे रोते देखती, तो उसके सिरहाने आ खड़ी होती। "साहब जी, बहुत दर्द होता है क्या?"

वह हाथ के इशारे से उससे कहता कि वह पास से हट जाए—वह कोई बात नहीं करना चाहता।

"साहब जी, डॉक्टर को बुलवाकर सूई लगवा लो, दर्द ठीक हो जाएगा," वह कहती।

यह व्यथित भाव से आँखें उठाकर उसकी तरफ़ देखता। सन्तो उसके और पास झुक आती। "साहब जी, तुम्हारा दर्द कितने दिन में ठीक हो जाएगा?"

"क्यों?" उसका मन खिड़की से बाहर दूर की गहराई में डूबने लगता।

"कितने दिन हो गए साहब जी, तुमने...तुमने..."

"जाओ।" उसका सिर तकिए में गहरा डूब जाता। आकाश की सारी गहराई उसके आसपास सिमट आती।

"साहब जी, जहाँ दर्द है, वहाँ तेल की मालिश कर दूँ?"

वह कुछ न कहकर चुप पड़ा रहता।

"देसी तेल की मालिश से दर्द को बड़ी जल्दी आराम आ जाता है।"

वह करवट बदलकर मुँह दूसरी तरफ़ कर लेता।

"अच्छा साहब जी, मैं चौगान से लकड़ियाँ चिरवा लाऊँ!"

वह फटी-फटी आँखों से सामने की दीवार की तरफ़ देखता रहता। वह धीरे से कमरे से बाहर चली जाती।

साहब का तकिया भीग गया था। कुछ पसीने से, कुछ आँसुओं से। चितकबरी चाँदनी के गोले उस पर हिल रहे थे, जैसे हवा में पत्तियाँ काँप रही हों। दूर के व्यास की आवाज़ इस तरह सुनाई दे रही थी जैसे लगातार एक ज़ोर का विस्फोट चल रहा हो। व्यास की आवाज़ में डूबती-उतारती कुछ और आवाज़ें थीं जो अस्पष्ट होती हुई भी हवा के किसी-किसी झोंके से स्पष्ट हो जाती थीं—एक हँसी, एक गीत का टुकड़ा, एक शराबी की बड़बड़ाहट और एक बाँसुरी की लय—और सहसा वे सब आवाज़ें फिर दरिया की गड़गड़ाहट में डुबकी लगा जाती थीं। साहब के मन में हर आवाज़ की एक तस्वीर बन जाती—एक लड़की—शायद सन्तो—दरिया के किनारे एक पत्थर पर बैठी हँसती और गुनगुनाती है। एक युवक शराब के नशे में बाँहें हिलाता और उसके पास आता है। उसकी बाँह पकड़कर अपनी तरफ़ खींचने लगता है। और...और...टेम्ज़ की सतह से गुज़रते जहाज़ का भोंपू बज उठता है...दूर की चिमनियों से उठता धुआँ कोहरे के साथ संघर्ष करता है और एप्रन बाँधे एक बुढ़िया अंडे और बेकन की प्लेट उसी जैसे एक बुड्ढे आदमी के सामने रख देती है। बुड्ढा हाथ बढ़ाकर बुढ़िया को अपनी तरफ़ खींच लेता है और...और फिर व्यास के चौगान से कुछ आवाज़ें आती हैं जो फिर दरिया की गड़गड़ाहट में डूब जाती हैं...।

साहब एकाध बार बुख़ार में बुदबुदाया, "ओह! कुतियाएँ! कुतियाएँ!"

साहब के मरने के बाद घर के आँगन में ही एक तरफ़ उसकी कब्र बनवा दी गई। कब्र के पत्थर और अपने दफ़नाए जाने की जगह साहब ने बहुत पहले से चुन

रखी थी। साहब की इच्छा के अनुसार क़ब्र के पास एक युक्लिप्टिस का पौधा लगवा दिया गया।

रात के अँधेरे में सन्तो कभी-कभी उस कमरे का दरवाज़ा खोल लेती जिसमें साहब ने अपनी आख़िरी साँस छोड़ी थी। एक सहमी नज़र अन्दर डालती, जैसे अब भी उसे वहाँ से साहब की डाँट का डर हो और काँपते होंठों से अपनी रुलाई किसी तरह रोके हुए दरवाज़ा बन्द कर देती। साहब के रहते उसे उस कमरे से उतना डर नहीं लगता था जितना अब लगता था। साहब उसे कभी डाँटता था, तो कभी प्यार भी करता था। मगर वह अँधेरा तो केवल डाँटता ही था, कभी प्यार नहीं करता था। वह दरवाज़ा बन्द करके दबे पैरों बाहर आती, तो उसे एहसास होता कि उसके पैर नंगे हैं और वह झट से जाकर पैरों में चप्पल पहन लेती। घर और बाग़ीचों के छोटे-छोटे कामों में अब साहब की जगह उसी को आदेश देने पड़ते थे। काशीराम, जो पहले उसकी बात की परवाह नहीं करता था, अब माथे पर बल डाले उसके सामने आ खड़ा होता। ''मेम साहब, मैनेजर पूछता है कि सेब बड़ी पेटियों में ही भरे जाएँगे या कुछ छोटी पेटियाँ भी भरवानी हैं।''

वह कुछ पल असमंजस में चुप रहती। इस तरह की ज़िम्मेदारियाँ कभी उस पर भी पड़ सकती हैं, यह उसने नहीं सोचा था। आखिर वह कहती, ''साहब जिस तरह भरवाता था, उसी तरह भरी जाएँगी। सौ में अस्सी मन की बड़ी पेटियाँ और बीस मन की छोटी।'' और कुछ इस तरह की अनुभूति के साथ जैसे एक बहुत बड़ा पहाड़ उसने आसानी से उठा लिया हो, वह दूसरे कामों में लग जाती। खाना खाने बैठती, तो जिस तरह साहब उसे छुरी-काँटा पकड़कर खाना सिखाता था, उसी तरह पकड़कर आधा-आधा घंटा खाने के साथ कसरत करती, हालाँकि पूरा खाना फिर भी उससे उस तरह न खाया जाता। अन्त में उसे याद न रहता कि खाना खाने के बाद छुरी-काँटे को एक-दूसरे के ऊपर रखना होता है या अलग-अलग उलटा करके रखना होता है। उसे हर समय अपने से ग़लती हो जाने का डर बना रहता और वह इस तरह कातर दृष्टि से दीवार की तरफ़ या काशीराम की तरफ़ देखती जैसे साहब की आत्मा उनके अन्दर से उसकी तरफ़ झाँक रही हो और उसे अपने हर काम के लिए उनके सामने जवाबदेही करनी हो। काशीराम घर पर उसे देखता रहता और उसके पास से रसोईघर में जाकर मुँह बिचका देता। ''अब साली शौकीन हो रही है! खसम के मरने की खुशी मना रही है!''

पहले रात को तकिए पर सिर रखते ही उसे नींद आ जाती थी। मगर अब वह देर तक जागती रहती और दरिया की आवाज़ सुनती रहती। पहले कभी वह आवाज़ उसे उतनी डरावनी नहीं लगती थी। अब उसे लगता जैसे वह आवाज़ जंगल में दहाड़ते शेरों की आवाज़ हो। दरिया की आवाज़ में घुलीमिली चौगान की दूसरी

आवाज़ें भी कभी-कभी सुनाई दे जातीं। वे आवाज़ें बीते दिनों को उसके मन में लौटा लातीं। जब वह बहुत छोटी थी, तो उसी चौगान में भेड़ों के पीछे छड़ी लेकर घूमा करती थी। उसकी माँ एक पेड़ के नीचे बैठी हुक्का गुड़गुड़ाती रहती थी। वह भेड़ों का पीछा करती हुई घुटनों तक कीचड़ में लथपथ हो जाती थी, तो माँ उसे डाँट देती थी। वह माँ की डाँट की तरफ़ कभी ध्यान नहीं देती थी। कीचड़ में लथपथ होना उसे अच्छा लगता था। चौगान की घास में लोटना और घास की तिगलियों को दाँतों से चबाना भी उसे अच्छा लगता था। घास पर लेटे हुए आकाश का जो रूप नज़र आता था, वह सीधे खड़े होने पर बिलकुल बदल जाता था। उसे आकाश का वही रूप अच्छा लगता था जो लेटकर आँखें झपकाते हुए दिखाई देता था।

चौगान में साल में दो बार मेला लगता था। लोग वहाँ आकर लुगड़ी पीते, गाते नाचते और हँसी-ठ्टठा करते थे। उसकी माँ उन मेलों में सबसे बढ़-चढ़कर भाग लेती थी। कई बार तो वह लुगड़ी पीकर नाचते-नाचते वहीं ढेर हो जाती थी और उसे रातभर माँ के पास पहरा देना पड़ता था। उसने स्वयं भी उस चौगान में ही मेले के दिन पहली बार लुगड़ी पी थी। उस दिन वह स्वयं भी अपनी माँ की तरह नाचते-नाचते बेहोश हो गई थी...और उसके बाद ही साहब ने उसकी माँ से उसे माँग लिया था।

उस चौगान में न जाने ऐसा क्या था कि हर समय उसके कदम अनजाने ही उस तरफ़ उठने लगते थे। मगर साहब के यहाँ आ जाने के बाद से उसे वहाँ जाने का बहुत कम अवसर मिला था। मेले के दिन तो वहाँ जाने से साहब ने ख़ासतौर से मना कर रखा था। कभी चोरी से वह वहाँ चली भी जाती, तो पहले की तरह घास पर लोटना उसके लिए सम्भव न होता। लोग साहब के नाते उसे भी सलाम करते थे। फिर साहब को न जाने कैसे और किससे पता चल जाता था कि वह चौगान में घूमती रही है। घर लौटते ही उसे डाँट पड़ती थी। साहब ज्यों-ज्यों बूढ़ा हो रहा था, उसे गन्दी गालियाँ देने की आदत होती जा रही थी। वह साहब की गालियाँ सुनकर चुप रहती थी, क्योंकि सामने कुछ कह देने से साहब और भड़क उठता था। वह साहब को उसके बुढ़ापे के बावजूद बहुत चाहती थी, मगर न जाने क्यों साहब को विश्वास नहीं होता था। वह गुस्से में आकर उससे ऐसी-ऐसी बातें कह देता था कि वह पथराई आँखों से उसकी तरफ़ देखती रह जाती थी।

वह दिन-भर अकेली कमरे में पड़ी रहती, अकेली ही खाना खाती और अकेली ही सो रहती। उसकी माँ ने उसके पास रहने के लिए आना चाहा था, पर उसने मना कर दिया था। उसे लगता था कि उसकी माँ उस घर में आ जाएगी तो साहब की नाराज़गी बढ़ जाएगी। अपने अकेलेपन में उसका मन बहुत भारी हो जाता, तो वह कई बार रात को भी साहब की कब्र के पास जा बैठी। युक्लिप्टिस की टहनियाँ उसके

बालों को सहलाती रहतीं और वह कब्र के सफ़ेद पत्थरों पर कुहनियाँ टिकाए साहब की बातें सोचती रहती। व्यास की आवाज़ के साथ चौगान की तरफ़ से आवाज़ें सुनाई देतीं तो कई-कई यादें उसके मन में ताज़ा होने लगतीं। पर वह उन यादों को बुहारकर मन से निकाल देती, जैसे वे यादें उसकी दुश्मन हों। अपना चेहरा वह कब्र के ठंडे पत्थर पर टिकाए रहती। साहब के लगाए सेबों और अनारों में से होकर आती हवा उसके शरीर में एक ठंडक भर देती। हवा के कहीं ज़्यादा गहरी ठंडक कब्र के पत्थरों में से उठकर उसे छा लेती–उसे लगता जैसे उस ठंडक के साथ साहब के मन की कोई बात उठकर ऊपर आ रही हो–जैसे साहब का विकृत चेहरा उसकी तरफ़ देखकर अपने सुपरिचित ढंग से कह रहा हो, "ओह! कुतियाएँ!"

उसकी आँखों में आँसू भर आते, तो वह कमीज़ की बाँहों से उन्हें पोंछ लेती। फिर यह सोचकर सहम जाती कि कमीज़ से आँखें पोंछकर उसने ग़लती की है, और अपनी बाँहें वह साहब की कब्र पर फैला देती। उसके काँपते होंठ उसके गले की आवाज़ को रोके रहते क्योंकि उसे ख़याल आ जाता कि साहब को उसके रोने से बहुत चिढ़ थी।

एक ठहरा हुआ चाकू

अजीब बात थी कि खुद कमरे में होते हुए भी बाशी को कमरा ख़ाली लग रहा था।

उसे काफ़ी देर हो गई थी कमरे में आए—या शायद उतनी देर नहीं हुई थी जितनी कि उसे लग रही थी। वक़्त उसके लिए दो तरह से बीत रहा था—जल्दी भी और आहिस्ता भी...उसे, दरअसल, वक़्त का ठीक अहसास हो नहीं रहा था।

कमरे में कुछ-एक कुर्सियाँ थीं...लकड़ी की। वैसी ही, जैसी सब पुलिस स्टेशनों पर होती हैं। कुर्सियों के बीचोबीच एक मेज़नुमा तिपाई थी जो कि कुहनी ऊपर रखते ही झूलने लगती थी। आठ फुट और आठ फुट का वह कमरा इनसे पूरा घिरा था। टूटे पलस्तर की दीवारें कुर्सियों से लगभग सटी हुई जान पड़ती थीं। शुक्र था कि कमरे में दरवाज़े के अलावा एक खिड़की भी थी।

बाहर अहाते में बार-बार चरमराते जूतों की आवाज़ सुनाई देती थी—यही वह सब-इंस्पेक्टर था जो उसे कमरे के अन्दर छोड़ गया था। उस आदमी का चेहरा आँखों से दूर होते ही भूल जाता था, पर सामने आने पर फिर एकाएक याद हो आता था। कल से आज तक वह कम-से-कम बीस बार उसे भूल चुका था।

उसने सुलगाने के लिए सिगरेट ज़ेब से निकाला, पर यह देखकर कि उसके पैरों के पास पहले ही काफ़ी टुकड़े जमा हो चुके हैं, उसे वापस ज़ेब में रख लिया। कमरे में एक ऐश-ट्रे का न होना, उसे शुरू से ही अखर रहा था। इस वजह से वह एक भी सिगरेट आराम से नहीं पी सका था। पहला सिगरेट पीते हुए उसने सोचा था कि पीकर टुकड़ा खिड़की से बाहर फेंक देगा। पर उधर जाकर देखा कि खिड़की के ठीक नीचे एक चारपाई बिछी है। जिस पर लेटे या बैठे हुए दो-एक कांस्टेबल अपना आराम का वक़्त बिता रहे हैं। उसके बाद फिर दूसरी बार वह खिड़की के पास नहीं गया।

अकेले कमरे में वक़्त काटने के लिए सिगरेट पीने के अलावा भी जो कुछ किया जा सकता था, वह कर चुका था। जितनी कुर्सियाँ थीं, उनमें से हरएक पर एक-एक बार बैठ चुका था। उनके गिर्द चहलकदमी कर चुका था। दीवारों का पलस्तर दो-एक जगह से उखाड़ चुका था। मेज़ पर एक बार पेंसिल से और न जाने कितनी बार उँगली से अपना नाम लिख चुका था। एक ही काम था जो उसने नहीं किया था—

वह था दीवार पर लगी क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर को थोड़ा तिरछा कर देना। बाहर अहाते से लगातार जूते की चरमर सुनाई न दे रही होती, तो अब तक उसने यह भी कर दिया होता।

उसने अपनी नब्ज़ पर हाथ रखकर देखा कि बहुत तेज़ तो नहीं चल रही। फिर हाथ हटा लिया—कि कोई उसे ऐसा करते देख न ले।

उसे लग रहा था कि वह थक गया है और उसे नींद आ रही है। रात को ठीक से नींद नहीं आई थी। ठीक से क्या, शायद बिलकुल नहीं आई थी। या शायद नींद में भी उसे लगता रहा था कि वह जाग रहा है। उसने बहुत कोशिश की थी कि जागने की बात भूलकर किसी तरह सो सके—पर इस कोशिश में ही पूरी रात निकल गई थी।

उसने ज़ेब से पेंसिल निकाल ली और बाएँ हाथ पर अपना नाम लिखने लगा—बाशी, बाशी, बाशी। सुभाष, सुभाष, सुभाष।

आज सुबह यह नाम प्रायः सभी अखबारों में छपा था। रोज़ के अखबार के अलावा उसने तीन-चार अखबार और खरीदे थे। किसी में दो इंच में खबर दी गई थी, किसी में दो कॉलम में। जिसने दो कॉलम में खबर दी थी, वह रिपोर्टर उसका परिचित था। वह अगर उसका परिचित न होता, तो शायद...

वह अब अपनी हथेली पर दूसरा नाम लिखने लगा—वह नाम जो उसके नाम के साथ-साथ अखबारों में छपा था—नत्थासिंह, नत्थासिंह, नत्थासिंह।

यह नाम लिखते हुए उसकी हथेली पर पसीना आ गया। उसने पेंसिल रखकर हथेली को मेज़ से पोंछ लिया।

जूते की चरमर दरवाज़े के पास आ गई। सब-इंस्पेक्टर ने एक बार अन्दर झाँककर पूछ लिया, "आपको किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं?"

"नहीं," उसने सिर हिला दिया। उसे तब ऐश-ट्रे का ध्यान नहीं आया।

"पानी-आनी की ज़रूरत होगी, तो माँग लीजिएगा।"

उसने फिर सिर हिला दिया—कि ज़रूरत होगी, तो माँग लेगा। साथ पूछ लिया, "अभी और कितनी देर लगेगी?"

"अब ज़्यादा देर नहीं लगेगी," सब-इंस्पेक्टर ने दरवाज़े के पास से हटते हुए कहा, "पन्द्रह-बीस मिनट में ही उसे ले आएँगे।"

इतना ही वक़्त उसे तब भी बताया गया था जब उसे उस कमरे में छोड़ा गया था+ तब से अब तक क्या कुछ भी वक़्त नहीं बीता था?

जूते के अन्दर, दाएँ पैर के तलवे में, खुजली हो रही थी। जूता खोलकर एक बार अच्छी तरह खुजला लेने की बात कितनी ही बार सोच चुका था। पर हाथ दो-एक बार नीचे झुकाकर भी उससे तस्मा खोलते नहीं बना। उस पैर को दूसरे पैर से दबाए वह जूते को ज़मीन पर रगड़कर रह गया।

हाथ की पेंसिल फिर चल रही थी। उसने अपनी हथेली को देखा। दोनों नामों के ऊपर उसने बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया था—अगर।

अगर...।

अगर कल सुबह वह स्कूटर की बजाय बस से आया होता...।

अगर वर्फ़ खरीदने के लिए उसने स्कूटर को दायरे के पास न रोका होता...

अगर...

उसने जूते को फिर ज़मीन पर रगड़ लिया। मन में मिन्नी का चेहरा उभर आया। अगर वह कल मिन्नी से न मिला होता...

वह, जो कभी सुबह नौ बजे से पहले नहीं उठता था, सिर्फ़ मिन्नी की वजह से उन दिनों सुबह छह बजे तैयार होकर घर से निकल जाता था। मिन्नी ने मिलने की जगह भी क्या बताई थी—अजमेरी गेट के अन्दर हलवाई की एक दुकान! जिस प्राइवेट कॉलेज में वह पढ़ने आती थी, उसके नज़दीक बैठने लायक और कोई जगह थी ही नहीं। एक दिन वह उसे जामा मस्जिद ले गया था—कि कुछ देर वहाँ के किसी होटल में बैठेंगे। पर उतनी सुबह किसी होटल का दरवाज़ा नहीं खुला था। आखिर मेहतरों की उड़ाई धूल से सिर-मुँह बचाते वे उसी दुकान पर लौट आए थे। दुकान के अन्दर पन्द्रह-बीस मेज़ें लगी रहती थीं। सुबह-सुबह लस्सी-पूरी का नाश्ता करनेवाले लोग वहाँ जमा हो जाते थे। उनमें से बहुत-से तो उन्हें पहचानने भी लगे थे—क्योंकि वे रोज़ कोने की मेज़ के पास घंटा-घंटा-भर बैठे रहते हैं। मिन्नी अपने लिए सिर्फ़ कोकाकोला की बोतल मँगवाकर सामने रख लेती थी—पीती उसे भी नहीं थी। लस्सी-पूरी का ऑर्डर उसे अपने लिए देना पड़ता था। जल्दी-जल्दी खाने की आदत होने से सामने का पत्ता दो मिनट में ही साफ़ हो जाता था। मिन्नी कई बार दो-दो पीरियड मिस कर देती थी, इसलिए वहाँ बैठने के लिए उसे और-और पूरी मँगवाकर खाते रहना पड़ता था। उससे सुबह-सुबह उतना नाश्ता नहीं खाया जाता था, पर चुपचाप और निगलते जाने के सिवा कोई चारा नहीं होता था। मिन्नी देखती कि खा-खाकर उसकी हालत खस्ता हो रही है, तो कहती कि चलो, कुछ देर पास की गलियों में टहल लिया जाए। सड़क पर वे नहीं टहल सकते थे; क्योंकि वहाँ कॉलेज की और लड़कियाँ आती-जाती मिल जाती थीं। हलवाई की दुकान के साथ से गली अन्दर को मुड़ती थी—उससे आगे गलियों की लम्बी भूल-भुलैया थी, जिसमें वे किसी भी तरफ़ को निकल जाते थे। जब चलते-चलते सामने सड़क का मुहाना नज़र आ जाता, तो वे वहीं से लौट पड़ते थे।

"इस इतवार को कोई देखने आनेवाला है," उस दिन मिन्नी ने कहा था।

"कौन आनेवाला है?"

"कोई है—काठमांडू से आया है। दस दिन में शादी करके लौट जाना चाहता है।"

''फिर?''

''फिर कुछ नहीं। आएगा, तो मैं साफ़-साफ़ सब कह दूँगी।''

''क्या कह दोगी?''

''यह क्यों पूछते हो? तुम्हें पूछने की ज़रूरत नहीं है।''

''अगर उस वक़्त तुम्हारी ज़बान न खुल सकी, तो?''

''तो समझ लेना कि ऐसे ही बेकार की लड़की थी...इस लायक थी ही नहीं कि तुम उससे किसी तरह की रास्त रखते।''

''पर तुमने पहले ही घर में क्यों नहीं कह दिया?''

''यह तुम जानते हो कि मैंने नहीं कहा?'' कहते हुए मिन्नी ने उसकी उँगलियाँ अपनी उँगलियों में ले ली थीं। ''अभी तो तुम दूसरे के घर में रहते हो। जब तुम अपना घर ले लोगे, तो मैं...तब तक ग्रेजुएट भी हो जाऊँगी।''

एक बहते नल का पानी गली में यहाँ से वहाँ तक फैला था। बचने की कोशिश करने पर भी दोनों के जूते कीचड़ से लथपथ हो गए थे। एक जगह उसका पाँव फिसलने लगा तो मिन्नी ने बाँह से पकड़कर उसे सँभाल लिया। कहा, ''ठीक से देखकर नहीं चलते न! पता नहीं, अकेले रहकर कैसे अपनी देखभाल करते हो?''

अगर...

अगर मिन्नी ने यह न कहा होता, तो वह उतना खुश-खुश न लौटता। उस हालत में ज़रूर स्कूटर के पैसे बचाकर बस से आया होता।

अगर घर के पास के दायरे में पहुँचने तक उसे प्यास न लग आई होती...

उसने स्कूटर को वहाँ रोक लिया था—कि दस पैसे की बर्फ़ खरीद ले। महीना जुलाई का था, फिर भी उसे दिन-भर प्यास लगती थी। दिन में कई-कई बार वह बर्फ़ खरीदने वहाँ आता था। दुकानदार उसे दूर से देखकर ही पेटी खोल लेता था और बर्फ़ तोड़ने लगता था।

पर तब तक अभी बर्फ़ की दुकान खुली नहीं थी।

बर्फ़ खरीदने के लिए उसने जो पैसे ज़ेब से निकाले थे, उन्हें हाथ में लिये वह लौटकर स्कूटर के पास आया, तो एक और आदमी उसमें बैठ चुका था। वह पास पहुँचा, तो स्कूटरवाले ने उसकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया—जैसे कि वहाँ उतरकर वह स्कूटर ख़ाली कर चुका हो!

''स्कूटर अभी ख़ाली नहीं है,'' उसने स्कूटरवाले से न कहकर अन्दर बैठे आदमी से कहा।

''ख़ाली नहीं से मतलब?'' उस आदमी का चेहरा सहसा तमतमा उठा। वह एक लम्बा-तगड़ा सरदार था—लुंगी के साथ मलमल का कुर्ता पहने। लम्बा शायद उतना नहीं था, पर तगड़ा होने से लम्बा भी लग रहा था।

"मतलब कि मैंने अभी इसे ख़ाली नहीं किया है।"

"ख़ाली नहीं किया, तो मैं अभी कराऊँ तुझसे ख़ाली?" कहते हुए सरदार ने दाँत भींच लिये। "जल्दी से उसके पैसे दे, और अपना रास्ता देख, वरना..."

"वरना क्या होगा?"

"बताऊँ तुझे क्या होगा?" कहते हुए सरदार ने उसे कॉलर से पकड़कर अपनी तरफ़ खींच लिया और उसके मुँह पर एक झापड़ दे मारा... "यह होगा। अब आया समझ में? दे जल्दी से उसके पैसे और दफ़ा हो यहाँ से।"

उसका ख़ून खौल गया—कि एक आदमी, जिसे वह जानता तक नहीं, भरे बाज़ार में उसके मुँह पर थप्पड़ मारकर उससे दफ़ा होने को कह रहा है! उसका चश्मा नीचे गिर गया था। उसे ढूँढ़ते हुए उसने कहा, "सरदार, ज़रा ज़बान सँभालकर बात कर।"

"क्या कहा? ज़बान सँभालकर बात करूँ? हरामज़ादे, तुझे पता है मैं कौन हूँ?" जब तक उसने आँखों पर चश्मा लगाया, सरदार स्कूटर से नीचे उतर आया था। उसका एक हाथ कुर्ते की ज़ेब में था।

"तू जो भी है, इस तरह की बदतमीज़ी करने का तुझे कोई हक नहीं," कहते न कहते उसने देखा कि सरदारजी की ज़ेब से निकलकर एक चाकू उसके सामने खुल गया है। "तू अगर समझता है कि..." यह वाक्य वह पूरा नहीं कर पाया। खुले चाकू की चमक से उसकी ज़बान और छाती सहसा जकड़ गई। उसके हाथ से पैसे वहीं गिर गए और वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

"ठहर मादर...अब जा कहाँ रहा है?" उसने पीछे से सुना।

"पैसे साहब!" यह आवाज़ स्कूटरवाले की थी।

उसने ज़ेब में हाथ डाला और जितने सिक्के हाथ में आए निकालकर सड़क पर फेंक दिए। पीछे मुड़कर नहीं देखा। घर की गली बिलकुल सामने थी, पर उस तरफ़ न जाकर वह जाने किस तरफ़ को मुड़ गया। कहाँ तक और कितनी देर तक भागता रहा, इसका उसे होश नहीं रहा। जब होश हुआ, तो वह एक अपरिचित मकान के ज़ीने में खड़ा हाँफ रहा था...

उसने पेंसिल हाथ से रख दी और हथेली पर बने शब्दों को अँगूठों से मल दिया। तब तक न जाने कितने शब्द और वहाँ लिखे गए थे जो पढ़े भी नहीं जाते थे। सब मिलाकर आड़ी-तिरछी लकीरों का एक गुंझल था जो मल दिए जाने पर भी पूरी तरह मिटा नहीं था। हथेली सामने किए वह कुछ देर उस अधबुझे गुंझल को देखता रहा। हर लकीर का नोक-नुक्ता कहीं से बाक़ी था। उसने सोचा कि वहाँ कहीं एक वाश बेसिन होता, तो वह दोनों हाथों को अच्छी तरह मलकर धो लेता।

"हलो...!"

उसने सिर उठाकर देखा। महेन्द्र, जिसके यहाँ वह रहता था, और वह रिपोर्टर जिसने दो कॉलम में खबर दी थी, उसके सामने खड़े थे। सब-इंस्पेक्टर के जूते की चरमर दरवाज़े से दूर जा रही थी।

"तुम इस तरह बुझे-से क्यों बैठे हो?" महेन्द्र ने पूछा।

"नहीं तो," उसने कहा और मुस्कुराने की कोशिश की।

"ये लोग उसे लॉक-अप से यहाँ ले आए हैं। अभी थोड़ी देर में उसे शनाख्त के लिए इधर लाएँगे।"

उसने सिर हिलाया। वह अब भी वाश बेसिन की बात सोच रहा था।

"थानेदार बता रहा था कि सुबह-सुबह उसके घर जाकर इन्होंने उसे पकड़ा है। ये लोग कब से उसके पीछे थे—पर पकड़ने का कोई मौका इन्हें नहीं मिल रहा था। कोई भला आदमी उसकी रिपोर्ट ही नहीं करता था।"

उसने अब फिर मुस्कुराने की कोशिश की। पेंसिल उसने मेज़ से उठाकर ज़ेब में डाल ली।

"मैं आज फिर अखबार में उसकी खबर दूँगा," रिपोर्टर बोला—"जब तक इस आदमी को सज़ा नहीं हो जाती, हम इसका पीछा नहीं छोड़ेंगे।"

उसे लगा कि उसके कान गरम हो रहे हैं। उसने हलके से एक कान को सहला लिया।

"तय हुआ है," महेन्द्र ने कहा, "कि उसे साथ लिये हुए चार सिपाही अहाते में दाईं तरफ़ से आएँगे और बाईं तरफ़ से निकल जाएँगे। उसे यह पता नहीं चलने दिया जाएगा, कि तुम यहाँ हो। तुम यहाँ बैठे-बैठे उसे देख लेना और बाद में बता देना कि हाँ, यही आदमी है जिसने तुम पर चाकू चलाना चाहा था। वह थानेदार के सामने इतना तो मान गया है कि कल उसने स्कूटर को लेकर झगड़ा किया था, पर चाकू निकालने की बात नहीं माना। कहता है कि चाकू-आकू तो उसके पास होता ही नहीं—उसके दुश्मनों ने ख़ामख़ाह उसे फँसाने के लिए रिपोर्ट लिखवा दी है। यह भी कह रहा था कि वह तो अब इस इलाके में रहना नहीं चाहता—दो-एक मुकदमों का फैसला हो जाए, तो वह इस इलाके से चला जाएगा।"

वह कुछ देर क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर को देखता रहा। फिर अपनी उँगलियों को मसलता हुआ आहिस्ता से बोला, "मेरा ख़याल है, हमें रिपोर्ट नहीं लिखवानी चाहिए थी।"

"तुम फिर वही बुज़दिली की बात कर रहे हो?" महेन्द्र थोड़ा तेज़ हुआ। "तुम चाहते हो कि ऐसे आदमी को गुंडागर्दी की खुली छूट मिली रहे?"

उसकी आँखें तस्वीर से हटकर पल-भर महेन्द्र के चेहरे पर टिकी रहीं। उसे लगा कि जो बात वह कहना चाहता है, वह शब्दों में नहीं कही जा सकती।

"आपको डर लग रहा है?" रिपोर्टर ने पूछा।

"बात डर की नहीं...।"

"तो और क्या बात है?" महेन्द्र फिर बोल उठा। "तुम कल भी कम्प्लेंट लिखवाने में आनाकानी कर रहे थे...।"

"मैंने यह बात भी अपनी रिपोर्ट में लिखी है," रिपोर्टर ने कहा और एक सिगरेट सुलगा लिया।

"ख़ैर, रिपोर्ट तो अब हो गई है और उस आदमी को गिरफ़्तार भी कर लिया गया है," महेन्द्र बोला। "तुम्हें डरना नहीं चाहिए। इतने लोग तुम्हारे साथ हैं।"

"मैं समझता हूँ कि गुंडागर्दी को रोकने में आदमी की जान भी चली जाए, तो उसे परवाह नहीं करनी चाहिए," रिपोर्टर ने कश खींचते हुए कहा। "इन लोगों के हौसले इतने बढ़ते जा रहे हैं कि ये किसी को कुछ समझते ही नहीं। पिछले दो साल में ही गुंडागर्दी की घटनाएँ पहले से पौने तीन गुना हो गई हैं—यानी पहले से एक सौ पचहत्तर फीसदी ज़्यादा। अगर अब भी इनकी रोकथाम न की गई, तो पाँच साल में आदमी के लिए घर से निकलना मुश्किल हो जाएगा।"

रिपोर्टर के सिगरेट की राख उसके घुटने पर आ गिरी। उसने हलके से उसे झाड़ दिया और बाहर की तरफ़ देखने लगा।

"ये लोग अब उसके घर चाकू तलाश करने गए हैं," महेन्द्र दोनों ज़ेबों में हाथ डाले चलने के लिए तैयार होकर बोला। "हो सकता है, तुमसे चाकू की शनाख्त के लिए भी कहा जाए।"

"चाकू की शनाख्त कैसे होगी?" उसने उसी स्वर में पूछ लिया।

"कैसे होगी?" महेन्द्र फिर उत्तेजित हो उठा। "देखकर कह देना होगा कि हाँ, यही चाकू है—और शनाख्त कैसे होती है?"

"पर मैंने तो चाकू ठीक से नहीं देखा था।"

"नहीं देखा था, तो अब देख लेना। हम थोड़ी देर में फ़ोन करके यहाँ से पता कर लेंगे। तुम यहाँ से निकलकर सीधे घर चले जाना और रात को मेरे लौटने तक घर पर ही रहना।"

वे लोग चले गए, तो कमरा उसे फिर ख़ाली लगने लगा—बिलकुल ख़ाली—जिसमें वह खुद भी जैसे नहीं था। सिर्फ़ कुर्सियाँ थीं, दीवारें थीं और एक खुला दरवाज़ा था—बाहर जूते की चरमर अब सुनाई नहीं दे रही थी।

"सुनो...," उसे लगा जैसे उसने मिन्नी की आवाज़ सुनी हो। उसने आसपास देखा। कोई भी वहाँ नहीं था। सिर्फ़ सिर के ऊपर घूमता पंखा आवाज़ कर रहा था। उसे हैरानी हुई कि अब तक उसे इस आवाज़ का पता क्यों नहीं चला। उसे तो इतना अहसास भी नहीं था कि कमरे में एक पंखा भी है।

सिर कुर्सी की पीठ से टिकाए वह पंखे की तरफ़ देखने लगा—उसकी तेज़ रफ़्तार में अलग-अलग परों को पहचानने की कोशिश करने लगा। उसे ख़याल आया कि उसके सिर के बाल बुरी तरह उलझे हैं और वह सुबह से नहाया नहीं है। आज सुबह से ही नहीं, कल सुबह से...।

कल दिन-भर वे लोग स्कूटरों और टैक्सियों में घूमते रहे थे। वह और महेन्द्र। घर पहुँचकर उसने महेन्द्र को उस घटना के बारे में बतलाया, तो वह तुरन्त ही उस सम्बन्ध में 'कुछ करने' को उतावला हो उठा था। पहले उन्होंने दायरे के पास जाकर पूछताछ की। वहाँ कोई भी कुछ बतलाने को तैयार नहीं था। जो मोची दायरे के पास बैठा था, वह सिर झुकाए चुपचाप हाथ के जूते को सीता रहा। उसने कहा कि वह घटना के समय वहाँ नहीं था—नल पर पानी पीने गया था। और भी जिस-जिससे पूछा, उसने सिर हिलाकर मना कर दिया कि वह उस आदमी के बारे में कुछ नहीं जानता। सिर्फ़ मेडिकल स्टोर के इंचार्ज ने दबी आवाज़ में कहा, ''नत्थासिंह को यहाँ कौन नहीं जानता? अभी कुछ ही दिन पहले उसके आदमियों ने पिछली गली में एक पानवाले का कत्ल किया है। वे तीन-चार भाई हैं और इस इलाके के माने हुए गुंडे हैं। खैरियत समझिए कि आपकी जान बच गई, वरना हममें से तो किसी को इसकी उम्मीद नहीं रही थी। अब बेहतरी इसी में है कि आप इस चीज़ को चुपचाप पी जाएँ और बात को ज़्यादा बिखरने न दें। यहाँ आपको एक भी आदमी ऐसा नहीं मिलेगा, जो उसके खिलाफ गवाही देने को तैयार हो। अगर आप पुलिस में रिपोर्ट करें और पुलिस यहाँ तहकीकात के लिए आए, तो सब लोग साफ़ मुकर जाएँगे कि यहाँ पर ऐसा कुछ हुआ ही नहीं।''

पर महेन्द्र का कहना था कि रिपोर्ट ज़रूर करेंगे—ऐसे आदमी को सज़ा दिलवाए बगै र नहीं छोड़ा जा सकता।

थानेदार से बात करने पर उसने कहा, ''हाँ-हाँ, रिपोर्ट आपको ज़रूर लिखवानी चाहिए। इन गुंडों से मत्था लेने में यूँ थोड़ा-बहुत खतरा तो रहता ही है—और कुछ न करें, आप पर एसिड-वेसिड ही डाल दें। ऐसा उन्होंने दो-एक बार किया भी है। पर हम आपकी हिफाज़त के लिए हैं, आपको डरना नहीं चाहिए। एक अच्छे शहरी होने के नाते आपका फर्ज़ है कि आप रिपोर्ट ज़रूर लिखवाएँ। हम लोगों को भी तो इनके खिलाफ कार्रवाई करने का मौका इसी तरह मिल सकता है।''

रिपोर्ट लिखवाने के बाद वे लोग अखबारों के दफ़्तरों में गए—एस.पी. और डी.एस.पी. से मिले। उस दौरान कई बातों का पता चला—कि उस आदमी का मुख्य धन्धा लड़कियों की दलाली करना है—कि ऊँचे सरकारी और राजनीतिक हलके के अमुक-अमुक व्यक्तियों को वह लड़कियाँ सप्लाई करता है—कि उसकी कितनी भी रिपोर्टें की जाएँ, कभी उसके खिलाफ कार्रवाई नहीं की जाती—कि नीचे से

अमुक-अमुक लोग उससे पैसे खाते हैं—कि नीचे से कार्रवाई कर भी दी जाए, तो ऊपर से अमुक-अमुक का फ़ोन आ जाता है जिससे कार्रवाई वापस ले ली जाती है...।

"वह तो बेचारा सिर्फ़ दलाली करता है," डी.एस.पी. ने ज़रूरी फ़ाइलों पर दस्तखत करते हुए कहा, "कत्ल-अत्ल करने का उसका हौसला नहीं पड़ सकता। हम उसके खिलाफ कार्रवाई करेंगे—आपको डरना बिलकुल नहीं चाहिए।"

अखबारों के चीफ-क्राइम रिपोर्टर ने तीस हज़ारी कैंटीन की ठंडी चाय के लिए छोकरे को डाँट-फटकार करते हुए सलाह दी, "आप पहला काम यही कीजिए कि जाकर अपनी रिपोर्ट वापस ले लीजिए। थानेदार मेरा वाकिफ है, आप चाहें तो उससे मेरा नाम ले सकते हैं—कि पंडित माधोप्रसाद ने यह राय दी है वह अकेला नहीं है, एक बहुत बड़ा गिरोह उसके साथ है। हम लोग इनसे उलझ लेते हैं क्योंकि एक तो हम इन सबको पहचानते हैं और दूसरे हिफाज़त के लिए रिवाल्वर-आल्वर अपने साथ रखते हैं। वे भी जानते हैं कि जितने बड़े गुंडे ये दूसरों के लिए हैं, उतने ही बड़े गुंडे हम इनके लिए हैं। इसलिए हमसे डरते भी हैं। पर आप जैसे आदमी को तो ये एक दिन में साफ़ कर देंगे—आपको इनसे बचकर रहना चाहिए...।"

अपनी अनेक राजनीतिक व्यस्तताओं से समय निकालकर उस विभाग के मन्त्री ने भी अपने लॉन में चहलकदमी करते हुए शाम को एक मिनट उनसे बात की। छूटते ही पूछा, "किस चीज़ की अदावत थी तुम लोगों में?"

"अदावत का तो कोई सवाल नहीं था," वह जल्दी-जल्दी कहने लगा, "मैं सुबह स्कूटर में घर की तरफ़ आ रहा था...।"

"तुम अपनी शिकायत एक कागज पर लिखकर सेक्रेटरी को दे दो," उन्होंने बीच में ही कहा, "उस पर जो कार्रवाई करनी होगी, कर दी जाएगी।" और वे लॉन में खड़े दूसरे ग्रुप की तरफ़ मुड़ गए।

रात को घर लौटने पर उसे अपने हाथ-पैर ठंडे लग रहे थे। पर महेन्द्र का उत्साह कम नहीं हुआ था। वह आधी रात तक इधर-उधर फ़ोन करके तरह-तरह के आँकड़े जमा करता रहा। "उसे कम-से-कम तीन साल की सज़ा होनी चाहिए," उसने होने से पहले आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकाल लिया।

महेन्द्र के सो जाने के बाद वह काफ़ी देर साथ के कमरे से आती साँसों की आवाज़ सुनता रहा था—उस आवाज़ में उतनी सुरक्षा का अहसास उसे पहले कभी नहीं हुआ था। वह आवाज़—एक जीवित आवाज़—उसके बहुत पास थी और लगातार चल रही थी। जितनी जीवित वह आवाज़ थी, उतना ही जीवित था उसे सुन सकना—चुपचाप लेटे हुए, बिना किसी कोशिश के, अपने कानों से सुन सकना। गर्मी और उमस के बावजूद रात ठंडी थी—कुछ देर पहले से हलकी-हलकी बूँदें पड़ने लगी थीं। कभी-कभी उसे सन्देह होता कि जो आवाज़ वह सुन रहा है, वह रात की ही तो आवाज़ नहीं—सिर्फ़ पत्तों के

हिलने और बूँदों के गिरने की आवाज़। कि सुनना भी कहीं सुनना न होकर अपने से बाहर का कोरा शब्द ही तो नहीं। तब वह करवट बदलकर अपने हाथ-पैरों का 'होना' महसूस करता और फिर से साँसों का शब्द सुनने लगता...

खिड़की से कभी-कभी हवा का झोंका आता जिससे रोंगटे सिहर जाते थे। उस सिहरन में हवा के स्पर्श के अतिरिक्त भी कुछ होता—शायद रोंगटों में अपने अस्तित्व की अनुभूति। एक झोंके के बीत जाने पर वह दूसरे की प्रतीक्षा करता, जिससे कि फिर से उस स्पर्श और सिहरन को अपने में महसूस कर सके। उस सिहरन के बाद उसे अपना हाथ ख़ाली-ख़ाली-सा लगता। मन होता कि हाथ में कसने के लिए एक और हाथ उसके पास हो—मिन्नी का पतली और चुभती उँगलियोंवाला हाथ। कि हाथ के अलावा मिन्नी का पूरा शरीर भी पास में हो—इकहरा, पर भरा हुआ शरीर—जिसके एक-एक हिस्से से अपने सिर और होंठों को रगड़ता हुआ वह अपने नाक-कान-गालों से उसकी साँसों का शब्द और उतार-चढ़ाव महसूस कर सके। पर मिन्नी वहाँ नहीं थी—और उसके हाथ ही नहीं, पूरा अपना-आप ख़ाली था। उसकी आँखें दर्द कर रही थीं और कनपटियों की नसें फड़क रही थीं। अगर वह रात रात न होकर सुबह होती—एक दिन पहले की सुबह—वह अभी मिन्नी से बात करके उससे अलग न हुआ होता, और स्टैंड पर आकर अभी स्कूटर में न बैठा होता...!

कोई चीज़ हलक में चुभ रही थी—एक नोक की तरह। वह बार-बार थूक निगलकर उस चुभन को मिटा लेना चाहता। कभी-कभी उसे लगता कि किसी हाथ ने उसका गला दबोच रखा है और यह चुभन गले पर कसते नाख़ूनों की है। तब वह जैसे अपने को उन हाथों से छुड़ाने के लिए छटपटाने लगता। उसे अपने अन्दर से एक हौलनाक-सी आवाज़ सुनाई देती—अपनी तेज़ चलती साँसों की आवाज़। रात तब दिन में और कमरा सड़क में घुल-मिल जाता और वह अपने को फूली साँस और अकड़ी पिंडलियों से बेतहाशा सड़क पर भागते पाता। सड़क है—सिर्फ़ सलेटी सड़क—जिसका कोलतार जहाँ-तहाँ से पिघल रहा है। उस पर, जैसे उससे आगे-आगे, दो पैर हैं—उसके अपने पैर। जूते की फीते खुले हैं। पतलून के पायंचे जूते में अटक-अटक जाते हैं। पर वह सरपट भाग रहा है—जैसे जूते और पायंचों के ऊपर-ऊपर-से। आगे एक-दूसरे में गड्मड मकान हैं, नालियाँ हैं, लोग हैं। सब उसके रास्ते में हैं—पर कोई भी, कुछ भी, उसके रास्ते में नहीं हैं। सिर्फ़ सड़क है, वह है, और भागना है...।

आँख खुल जाती, तो बाहर बिजली चमकती दिखाई देती। फिर मुँद जाती तो कोई चीज़ अन्दर कौंधने लगती।...एक ज़ीने की सीढ़ियों ने उसे रस्सियों की तरह लपेट रखा है। एक तेज़ धार का चाकू उन रस्सियों को काटता आता है। उसके पास आने से पहले ही उसकी धार जैसे शरीर में चुभने लगती है। यह उसकी पीठ है...पीठ नहीं, छाती है। चाकू की नोक सीधी उसकी छाती की तरफ़...नहीं, गले की तरफ़...आ रही

है। वह उस नोक से बचने के लिए अपना सिर पीछे हटा रहा है...पर पीछे आसमान नहीं, दीवार है। वह कोशिश कर रहा है कि उसका सिर दीवार में गड़ जाए...दीवार के अन्दर छिप जाए। पर दीवार दीवार नहीं रस्सियों का जाल है, और जाल के उस तरफ़...फिर वही चाकू की नोक है। जाल टूट रहा है। सीढ़ियाँ पैरों के नीचे से फिसल रही हैं। क्या वह किसी तरह सीढ़ियों में—रस्सियों में—उलझा रहकर अपने को नहीं बचा सकता?

आँख फिर खुल जाती, तो उसे तेज़ प्यास महसूस होती। पर जब तक वह उठने और पानी पीने की बात सोचता, तब तक आँख फिर झपक जाती।

चाप् चाप् चाप्...।

जूते की आवाज़ फिर दरवाज़े के पास आ गई। वह कुर्सी पर सीधा हो गया।

"आप तैयार हैं?" सब-इंस्पेक्टर ने अन्दर आकर पूछा।

उसने सिर हिलाया। उसे लग रहा था कि रात से अब तक उसने पानी पिया ही नहीं।

"तो अपनी कुर्सी ज़रा तिरछी कर लीजिए और बाहर की तरफ़ देखते रहिए। हम लोग अभी उसे लेकर आ रहे हैं," कहकर सब-इंस्पेक्टर चला गया।

चाप् चाप् चाप्...।

उसे लगा कि उसके हाथों की उँगलियाँ काँप रही हैं—ऐसे जैसे वे हाथों से ठीक से जुड़ी न हों।

साथ के कमरे में एक आदमी रो रहा था—धौल-धप्पे से कोई चीज़ उससे कबुलवाई जा रही थी।

क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर जैसे दीवार से थोड़ा आगे को हट आई थी—उसके और ज़मीन के बीच का फासला भी अब पहले जितना नहीं लग रहा था।

चाप् चाप् चाप्—यह कई पैरों की मिली-जुली आवाज़ थी। साथ के कमरे में पिटाई चल रही थी : "बोल हरामज़ादे, तू किस रास्ते से घुसा था घर के अन्दर?" और इसके जवाब में आती आवाज़ : "नहीं, मैं नहीं घुसा था। मैं तो उस घर की तरफ़ गया भी नहीं था...।"

चार सिपाही कमरे के बाहर आ गए थे, और उनके बीच था वही सरदार—उसी तरह लुंगी के साथ मलमल का लम्बा कुरता पहने। हथकड़ी के बावजूद उसके हाथ बँधे हुए नहीं लग रहे थे।

पल-भर के लिए बाशी को लगा जैसे उसे उस आदमी का नाम भूल गया हो। कल दिन में कितनी ही बार, कितने ही लोगों के मुँह से, वह नाम सुना था। जिस किसी से बात हुई थी, वह उस आदमी को पहले से ही जानता था। अभी कुछ ही देर पहले उसने वह नाम अपनी हथेली पर लिखा था। क्या नाम था वह?

दरवाज़े के पास आकर वे लोग रुक गए थे—जैसे किसी चीज़ का पता करने के लिए। थानेदार और सब-इंस्पेक्टर में से कोई उनके साथ नहीं था।

"कहाँ चलना है? इस तरफ़?" कहता हुआ सरदार उसी दरवाज़े की तरफ़ बढ़ आया। अब वे दोनों आमने-सामने थे। चारों सिपाही पीछे चुपचाप खड़े थे।

बाशी को अचानक उसका नाम याद हो आया। नत्थासिंह। सुबह प्रायः सभी अखबारों में यह नाम पढ़ा था। तब उसे इस आदमी की सूरत याद नहीं आ रही थी। सोच रहा था कि उसे देखकर पहचान भी पाएगा या नहीं। पर अब वह सामने था, तो उसकी सूरत बहुत पहचानी हुई लग रही थी। जैसे कि वह उसे एक मुद्दत से जानता हो।

वह आदमी सीधी नज़र से उसकी तरफ़ देख रहा था—जैसे कि उसका चेहरा आँखों में बिठा लेना चाहता हो। पर बाशी अपनी आँख हटाकर दूसरी तरफ़ देखने की कोशिश कर रहा था—खिड़की की तरफ़। खिड़की के बाहर पेड़ के पत्ते हिल रहे थे। पेड़ की डाल पर एक कौआ पंख फड़फड़ा रहा था।

वह एक लम्बा वक्फा था—ख़ामोश वक्फा—जिसमें कि उसके कान ही नहीं गाल भी दहकने लगे। पैर में तेज़ खुजली उठ रही थी, फिर भी उसने उसे दूसरे पैर से दबाया नहीं। उसकी आँखें खिड़की से हटकर ज़मीन में धँस गईं और तब तक धँसी रहीं जब तक कि वह वक्फा गुज़र नहीं गया। उन लोगों के चले जाने के कई क्षण बाद उसने आँखें दरवाज़े की तरफ़ मोड़ीं। तब थानेदार अहाते में खड़ा सब-इंस्पेक्टर को डाँट रहा था, "मैंने तुमसे कहा नहीं था कि उसे यहाँ रोकना नहीं, चुपचाप दरवाज़े के पास से निकालकर ले जाना?"

सब-इंस्पेक्टर अपनी सफ़ाई दे रहा था कि कसूर उसका नहीं, सिपाहियों का है—उन लोगों ने, लगता है बात ठीक से समझी नहीं।

थानेदार माफ़ी माँगता हुआ उसके पास आया, और आश्वासन देकर कि उसे फिर भी डरना नहीं चाहिए, वे लोग उसकी हिफाज़त करेंगे, बोला, "उसे पहचान लिया है न, आपने? यही आदमी था न जिसने आप पर चाकू चलाना चाहा था?"

बाशी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। उठते हुए उसे लगा कि उसके घुटनों में ख़ून जम गया है। उसे जैसे सवाल ठीक से समझ ही नहीं आया—वे जैसे अलग-अलग शब्द थे जिन्हें मिलाकर उसके दिमाग़ में पूरा वाक्य नहीं बन पाया था।

"यह वही आदमी था न?"

उसके पैरों में पसीना आ रहा था। बगलों में भी। साथ के कमरे में ठुकाई करते हुए पूछा जा रहा था, "तू नहीं था, तो कौन था कुत्ते के बीज? सीधे से बता दे—क्यों अपनी पसलियाँ तुड़वाता है?" जवाब में मार खानेवाला न जाने क्या कहने की कोशिश कर रहा था।

अब तक वाक्य उसके दिमाग़ में स्पष्ट हो गया था। जो सवाल पूछा गया था, उसका जवाब उसे 'हाँ' में देना था। यह बात पहले से ही तय थी—तब से ही जब कि उसे उस कमरे में लाया गया था। वह आदमी वही है, यह सब जानते थे—वह भी, थानेदार भी और लोग भी। फिर भी उसके 'हाँ' कहने पर ही सबकुछ निर्भर करता था।

उसने कमीज़ के निचले हिस्से से बगलों का पसीना पोंछ लिया। फिर उसे ख़याल आया कि वह दो दिन से नहाया नहीं है, और कि मिन्नी हमेशा उसे सुबह नहाकर न आने के लिए ताना देती है। आज सुबह मिन्नी ठीक वक़्त पर वहाँ पहुँची होगी। उसके वहाँ न मिलने से उसने जाने क्या सोचा होगा!

उसे यह भी लग रहा था कि वह जाने कोट-टाई पहनकर क्यों आया है—उसे क्या थाने में नौकरी के लिए दरख़्वास्त देनी थी?

"आप क्या सोच रहे हैं?" थानेदार ने पूछा, "आपने उस आदमी को पहचाना नहीं?"

यह एक नया विचार था। अगर सचमुच उसने उस आदमी को न पहचाना होता?...और पहचानने के बाद भी इस वक़्त अगर वह कह दे कि उसने नहीं पहचाना?

पर इस विचार के दिमाग़ में ठीक से बनने के पहले ही, पहले की तय की बात उसके मुँह से निकल गई, "हाँ, वही आदमी है यह।"

जवाब सुनते ही थानेदार व्यस्ततापूर्वक वहाँ से हट गया। सब-इंस्पेक्टर पल-भर उसकी तरफ़ देखता रहा, फिर यह कहकर कि 'अब आप घर जा सकते हैं। चाकू शनाख्त के लिए, आपके पास वहीं भेज दिया जाएगा,' वह भी वहाँ से चला गया।

वह अपने में उलझा हुआ थाने से बाहर आया। बाहर की तेज़ खुली धूप में उसे अपने-आप बहुत असुरक्षित और नंगा-सा लगा। लगा, जैसे वह अपना बहुत कुछ उस कमरे में छोड़ आया हो—कल तक का सारा संघर्ष, मिन्नी का चेहरा और आगे की सब योजनाएँ। फुटपाथ, सड़क और खम्भे पहले कभी उसे इतने सपाट और नंगे नहीं लगे थे। सामने जो पहली इमारत नज़र आ रही थी, और जिसकी ओट में जाकर वह अपने को कुछ ढका हुआ महसूस कर सकता था, वह भी सौ गज़ से कम फासले पर नहीं थी। खुले में चारों तरफ़ से सबको दिखाई देते हुए, उतना फासला तय करना उसे असम्भव लग रहा था। 'अब मैं उस इलाके में नहीं रह पाऊँगा,' उसने सोचा। 'और वह घर छोड़ देना पड़ा, तो और कहाँ रहूँगा? नौकरी तो अब तक मिली नहीं...।'

उसने एक असहाय नज़र से चारों तरफ़ देख लिया। एक ख़ाली टैक्सी पीछे से आ रही थी। उसने ज़ेब के पैसे गिने और हाथ देकर टैक्सी को रोक लिया। फिर चोर नज़र से आसपास देखकर उसमें बैठ गया। टैक्सीवाले को घर का पता देकर वह नीचे को झुक गया जिससे खिड़की के बाहर सिवाय सिर के, जिस्म का और कोई हिस्सा दिखाई न दे।

पैर में खुजली बहुत बढ़ गई थी। वह उसी तरह झुके-झुके काँपती उँगलियों से जुते का फ़ीता खोलने लगा।

और अंत में... (1972)

भूमिका

'नये बादल' तथा 'एक और ज़िन्दगी' शीर्षक संग्रहों की भूमिकाएँ अपने समय-सन्दर्भ में इस विकसित होती विधा के साथ मेरे सम्बन्ध को रेखांकित करती थीं। परन्तु आज के सन्दर्भ में जबकि कहानी-नई कहानी की चर्चा पत्र-पत्रिकाओं के स्तम्भों से आगे कई एक पुस्तकों का विषय बन चुकी है, उन भूमिकाओं की यह प्रासंगिकता नहीं रही। इसका एक अर्थ यह भी है कि एक लेखक का वास्तविक कथ्य उसकी रचना है, वास्तविक प्रासंगिकता भी उसके इसी कथ्य की होती है। शेष सब यात्रा का गुबार है जो धीरे-धीरे बैठ जाता है। इसके अतिरिक्त इस विधा की सम्भावनाओं तथा इसके साथ अपनी आज की प्रयोगशीलता के सम्बन्ध को लेकर कई-एक प्रश्न मन में हैं जो मेरे आज के लेखन को निर्धारित कर रहे हैं। परन्तु वे सब एक व्यक्ति-लेखक द्वारा अपने ही लिए अपने सामने रखे गए प्रश्न हैं जिन्हें सामान्य प्रश्नों के रूप में प्रस्तावित करने का मुझे कोई आग्रह नहीं है।

अपनी कथा-यात्रा का संक्षिप्त विवरण मैंने 'मेरी प्रिय कहानियाँ' शीर्षक संकलन की भूमिका में दिया है जिसे वहाँ से देखा जा सकता है।

—मोहन राकेश

आर-802
न्यू राजेन्द्र नगर
नई दिल्ली-60

ख़ाली

तोषी को फिर वही चिढ़ हो रही थी। वह समझ नहीं पा रही थी किस चीज़ से। अपने से? कमरे के कोने-कोने में लदे सामान से? खिड़की से कमरे में फैल आई धूप से?

वह दहलीज़ तक जाकर कमरे में लौट आई। बरामदे में कितना कुछ था—जूठी प्यालियों को लेकर गुड्डों की किताबों तक—जिसे उसी को सिमेटना था। और कुछ करने को नहीं था, वह दस मिनट में वह काम कर सकती थी। मगर काफ़ी देर तक वह उसे शाम के लिए टाल चुकी थी। इसीलिए उस वक़्त उसने उन चीज़ों की तरफ़ देखा भी नहीं। वे जैसे वहाँ थीं ही नहीं। उन्हें उस वक़्त नहीं, शाम को ही वहाँ होना था।

दहलीज़ की तरफ़ जाते हुए उसे लग रहा था कि गरमी उसे परेशान कर रही है। उधर से लौटते हुए लगने लगा कि गरमी नहीं, एक गन्ध है जो उसे ठीक से साँस नहीं लेने दे रही। वह गन्ध हर चीज़ से आ रही थी। पलंग से, खूँटी पर टँगे कपड़ों से, फ़र्श से, अपने-आपसे। एक बार फिर उसके मन में आया कि अगर वह नहा सकती, तो शायद इस गरमी, या गन्ध से कुछ हद तक छुटकारा मिल जाता। पर बारह बज चुके थे और गुसलखाने में एक बूँद पानी नहीं था। जब पानी था, तो जाने किससे नल खुला रह जाने से पूरा दालान पानी से भर गया था। उस समय वह सब्ज़ी खरीदकर बाज़ार से आई थी। सोच रही थी कि घर पहुँचते ही पहला काम नहाने का करेगी। पर दालान को पानी से भरा देखकर उसका सिर भन्ना गया था। यह जानने का कोई उपाय नहीं था कि नल किससे खुला रहा है। बेबी स्कूल जा चुकी थी, जुगल दफ़्तर। मुमकिन यह भी था कि नल खुद उसी से खुला रह गया हो। मगर उसे झल्लाहट हुई कि बेबी और जुगल उस समय उसके सामने क्यों नहीं हैं। दोनों में से कोई भी सामने होता, तो वह कुछ देर उस पर झींख लेती। यूँ बहते को देखकर मन में किसी कोने में एक ख़याल यह भी उठा था कि क्यों न कपड़े उतारकर उस पानी को अपने ऊपर उलीचने लगे? पर पानी की ठंडक को अपने में भर लेने की ललक के बावजूद वह जैसे एक ज़िद के साथ कुछ देर गुस्से में भरी खड़ी रही थी। फिर उसी गुस्से के साथ गुसलखाने में जाकर नल बन्द कर आई थी

और किसी को सज़ा देने की तरह तीखे हाथ से झाड़ू चलाती हुई पानी बाहर निकालने लगी थी। इससे जो छींटे उड़कर शरीर पर पड़े, उनसे उसे कुछ राहत भी मिली थी–पर दालान को सुखा देने के बाद अपनी ज़िद में ही नहाना टालकर वह कमरे के अन्दर चली आई थी। आकर हाँफती हुई दीवार के सहारे फ़र्श पर बैठकर पानी से नरम पड़ी हाथों की लकीरों को देखती रही थी। कुछ देर बाद चाय बनाकर उसके साथ उसने एस्पिरीन की एक टिकिया ली थी। सोचा था टिकिया लेकर कुछ देर लेट रहेगी। पर पलंग के पास जाने पर उसे और चिढ़ होने लगी थी–उसके मेहराबदार पायों से, उस पर बिछी चादर से और दो दीवारों के बीच उसकी स्थिति से। वह कुछ देर इस पलंग को देखती रही थी जैसे उसे लेकर अभी-अभी कुछ किया जाना हो। फिर वहाँ से हटकर खूँटी पर लटकते कपड़ों को देखती रही थी–जैसे कि जो किया जाना था, उसका सम्बन्ध पलंग से न होकर उन कपड़ों से हो। उन कपड़ों से मन हटाने के लिए शायद वह दहलीज़ की तरफ़ बढ़ गई थी–या शायद बिना किसी भी इरादे के।

गुसलखाने में पानी नहीं है, इस ख़याल से उलझकर उसने पंखे की नाब को पूरा घुमा दिया। हवा हलकी आँच की तरह शरीर को छूने लगी, तो वह आरामकुर्सी पंखे के नीचे खींचकर उस पर पसर गई। अपने ब्लाउज़ की हुकें उसने एक-एक करके खोल दीं। गरम हवा के नीचे सरसराते पसीने की ठंडक उसे अच्छी लगी। मन हुआ कि कुछ देर के लिए ब्लाउज़ ब्रेज़ियर सब उतारकर पूरे बदन का पसीना सूख जाने दे। पर ब्रेज़ियर का फ़ीता खोलने से ज़्यादा वह कुछ नहीं कर सकी। जुगल घर पर नहीं था, पर उसका 'होना' उसके बाहर रहने पर भी उसी तरह महसूस होता था जैसे घर पर रहने पर। उसकी साड़ी की निचाई और ब्लाउज की ऊँचाई–इन पर जुगल की नज़र हर वक़्त रहती थी। शुक्र था नहाते वक़्त वह गुसलखाने में उसके साथ नहीं होता। रात को बिस्तर में साथ होता था, तो उस वक़्त बत्तियाँ बुझी रहती थीं। वरना तब भी वह त्यौरी डालकर कह सकता था, "तुम्हें खुद ही अपने-आप की शरम नहीं, तो दूसरा कोई तुमसे क्या कह सकता है? तुम्हें अच्छा लगता है अपने को उघाड़कर दिखाना, तो ठीक है...दिखाती रहा करो। मैं आगे से तुमसे इस बारे में कुछ कहूँगा भी नहीं।" पर आगे से कुछ न कहने के लिए ही शायद वह उसके ब्लाउज़ों की टूटी हुकें खुद टाँकने लग जाता था।

वह ऐसे में कोशिश करती थी कि किसी तरह अपना मन जुगल की बातों से हटाए रख सके! जुगल को जब उससे किसी भी चीज़ की शिकायत होती थी, तो उसका चेहरा मरी हुई मुर्गी की तरह लटक जाता था। उसकी आँखें इस तरह झपकने लगती थीं कि उसकी तरफ़ देखा भी नहीं जाता था। ज़िन्दगी की हर चीज़ का गिला आँखों में लिए या तो वह असहाय-सा खड़ा रहता था, या उस एक ही घड़ी में हर चीज़ का प्रतिशोध ले लेने के लिए ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगता था।

"मुझे अपने लिए इस घर से कुछ नहीं चाहिए। मेरी तरफ़ से आग लगा दो इस घर को। मेरा कसूर इतना ही है न कि शाम को दफ़्तर से सीधा घर चला आता हूँ? कल से नहीं आया करूँगा। सो रहा करूँगा किसी दोस्त के घर जाकर।" इस तरह बात करते हुए जुगल की छोटी-छोटी बिल्लौरी आँखें बिलकुल दूसरी तरह की हो जाती थीं—न जाने किस किताब में उसने रात में चमकती बाघ की आँखों का ज़िक्र पढ़ा था—कुछ-कुछ वैसी ही। तब उसे जुगल का सारा शरीर एक जानवर का-सा लगने लगता था, जिसके शरीर के लम्बे-लम्बे बाल कपड़े रहने के बावजूद उसके सामने उभर जाते थे। उसके शब्द भी शब्द नहीं रह जाते थे—झपट्टा मारने से पहले जानवर के गले से निकलती आवाज़ों का रूप ले लेते थे। आँखों के अलावा सामने नज़र आते थे दो हिलते पंजे और काँपते जबड़े। उसका मन होता था कि उस जानवर के झपटने से पहले वह खुद ही उसे झपट ले—और यह सोचकर कि अपनी झपटने की मुद्रा में वह खुद कैसी नज़र आती होगी, उसके मन में एक दहशत दौड़ जाती थी।

जुगल जो भी बकझक करता था, उसके प्रायः सभी शब्द उसे याद थे। उनका पूरा क्रम, और सारे उतार-चढ़ाव। जब वह ज़ोर-ज़ोर से बोलकर थक जाता था, तो ठंडे और चुभते ढंग से बात करने लगता था। उसके बाद फिर गुस्सा चढ़ जाता था, तो ख़ामोशी साधकर बिस्तर पर पड़ जाता था। कई-कई घंटे दोतरफ़ा ख़ामोशी से कमरे का वातावरण कसा रहता था। फिर खाना खाने की शुरुआत के तौर पर वह बेबी को अपने पास बुलाता था। बेबी भी सोफे के कोने में दुबकी हुई पहले से इसके लिए तैयार रहती थी। थोड़ी देर पापा का प्यार पा चुकने के बाद वह दबी आवाज़ में पूछ लेती थी, "पापा, ममी से कहूँ खाना ले आएँ?" इस पर जुगल के गले से एक ख़ास तरह की आवाज़ निकलती थी—समझौता करने के लिए मजबूर जानवर की गुर्राहट जैसी। बेबी पापा की बाँहों से छूटकर किचन में या जहाँ भी वह होती, उसके पास आ जाती थी। "ममी, पापा खाना माँग रहे हैं," कहते हुए बेबी के स्वर में हलका सन्तोष होता कि अब शायद कार्यक्रम पूरा हो जाने से रात-भर के लिए सोया जा सकता है।

तोषी सहसा कुहनियों पर भार दिए कुर्सी पर सीधी हो गई। उसे अपने अन्दर से लगा था जैसे सोचते-सोचते वह किसी निर्णय के मुकाम पर पहुँच गई हो। पर वह निर्णय क्या था, यह सोच पाने से पहले ही वह फिर से निढाल होकर पहले की तरह लम्बी हो गई। उसे लगा कि फुल-स्पीड पर होने पर भी पंखा काफ़ी तेज़ नहीं चल रहा। हर दोपहर की तरह उस समय भी बिजली का वाल्टेज शायद काफ़ी डाउन हो गया था।

उसने बाँहें और टाँगें सीधी करके एक अँगड़ाई ली। पर जँभाई के लिए मुँह न खुले, इसके लिए उसने अपने जबड़ों को कसे रहा। अपने गले से सुनाई देती जँभाई

की आवाज़ के साथ की अक्सर अपनी उम्र के साल गिनने लगती थी। एक उम्र वह थी—उन्नीस-बीस तक की—जब वह किसी को भी जँभाई लेते देखती थी, टोक देती थी। या आँखें हटाकर दूसरी तरफ़ देखने लगती थी। तब से अब तक मुश्किल से आठ साल बीते थे और उसे अपनी आँखों के नीचे और होंठों के आसपास बुढ़ापा घिरता नज़र आने लगा था। कोई उसकी उम्र पूछ लेता था, तो उसे खुद लगता था जैसे अपने को सत्ताईस-अट्ठाईस की बताकर वह एक झूठ बोल रही हो। सुननेवालों की आँखों से उसे हर बार लगता था कि उसे उसकी बात पर विश्वास नहीं आया। तब वह उसे पूरा ब्यौरा देने लगती थी कि उसने मैट्रिक किस साल में किया था, बी. ए. किस साल में और जुगल से जब उसकी शादी हुई, तब वह कितनी दुबली लगा करती थी। "उन दिनों की अपनी फोटो दिखाऊँ?" कहते हुए वह अपनी शादी का एलबम भी निकाल लाती थी।

पर अब तो इसका भी मौका नहीं आता था क्योंकि पिछले दो-तीन साल में यह सवाल उससे बहुत कम पूछा गया था। जुगल के साथ रहते हुए उसकी ज़िन्दगी बाहर की दुनिया से उत्तरोत्तर कटती गई थी। जुगल को उसके मायके के लोगों से चिढ़ थी, अपने घर के लोगों से चिढ़ थी, पास-पड़ोस के लोगों से चिढ़ थी, हर आने-जानेवाले से चिढ़ थी। कभी-कभी तो लगता था कि उस आदमी को सिवाय अपने, हरएक से चिढ़ है, बल्कि अपने-आपसे भी चिढ़ है। वह सुबह दफ़्तर जाता था, तो दफ़्तर के लोगों पर बड़बड़ाता हुआ। शाम को घर आता था, तो घर के लोगों पर बड़बड़ाता हुआ। ज़िन्दगी की हर चीज़ उसकी नज़र से किसी वजह से गलत थी—और वह अकेला हर गलत चीज़ को ठीक करने के लिए क्या कर सकता था? "मेरी तरफ़ से भाड़ में जाए सबकुछ—मैं अकेला क्या कर सकता हूँ?" ऐसा कुछ कहने के बाद वह अक्सर एक लम्बी जँभाई लेता था, जिसको मुँह के अँधेरे दायरे में उसकी ज़बान ऊँची उठकर अज़ान देती-सी जान पड़ती थी। जब मुँह बन्द हो जाता, तो होंठों के कोनों तक फैल आई चिपचिपाहट को उसे हाथ और कुहनी के जोड़ से साफ़ करना पड़ता था। शायद एक यह भी वजह थी जो वह खुलकर जँभाई लेने से अक्सर अपने को रोक जाती थी। अपना मुँह खुलने के साथ ही जुगल का खुला मुँह सामने नज़र आ जाता था।

जुगल का बालों से लदा दुबला शरीर सामने रहने पर उसे उतना परेशान नहीं करता था जितना परे रहने पर। वह उसे उसके वास्तविक आकार में ही देखती थी, पर परे रहने पर वह आकार जैसे काफ़ी बड़ा होकर उसे चारों तरफ़ से घेर लेता था। शाम को उसके घर आने से लेकर सुबह दफ़्तर जाने तक वह दोपहर के इस एकान्त की राह देखती थी। पर दोपहर के अकेलेपन की खीझ इसे सुबह-शाम की झुंझलाहट से कहीं ज़्यादा छा लेनेवाली लगती थी। इस खीझ में जुगल से उसका विरोध उसकी

उपस्थिति से कहीं ज़्यादा बढ़ जाता था। तब वह प्रतीक्षा करती थी जुगल के लौटकर आने की—क्योंकि सामने के जुगल पर तो वह हावी भी हो सकती थी जबकि इस अनुपस्थित जुगल से वह अपने को बुरी तरह परास्त महसूस करती थी।

बक्सों की तरह से सुनाई दी खट् की आवाज़ से वह थोड़ा चौंकी, फिर गर्दन का पसीना सुखाने के लिए सिर पीछे को झुकाकर थोड़ा और पसर गई। उस घर की सब आवाज़ों से वह अच्छी तरह परिचित थी—बहुत थोड़ा-सा दायरा था उन आवाज़ों का। बक्सों की तरफ़ चुहियों के सुराख थे। इधर हर आवाज़ चुहियों की भूल और उसे मिटाने की उनकी दौड़-धूप से सम्बन्ध रखती थी। एक आवाज़ जो पंखा चलने पर लगातार होती रहती थी, वह थी सामने दीवार के कैलेंडर की। बाहर बरामदे से भी कभी हलकी-सी काँय और परों की फड़फड़ाहट सुनाई दे जाती। चार बजे के करीब पानी आने से पहले नल के अन्दर एक लम्बी साँस-सी खिंचने लगती थी। महीने में एक या दो बार बाहर से डाकिया आवाज़ देता था, "डाक जी!" और खर्र से कोई इनलैंड या पोस्टकार्ड अन्दर को सरक आता था।

चिट्ठी लिखनेवाले भी दो-एक लोग ही थे। उसकी बड़ी बहन, जुगल का छोटा भाई और मीना, जो साल-भर पहले साथ के घर में रहती थी। तीनों की चिट्ठियों के वही बँधे-बँधाए मज़मून थे जो हर बार लगभग उन्हीं शब्दों में लिखे हुए उन्हें मिल जाते थे। उनका उत्तर भी उसी तरह दे दिया जाता था। हर महीने की खरीदारी में दो इनलैंड और पोस्टकार्ड उसी तरह शामिल रहते थे जैसे नमक, मिर्च और हल्दी के पैकेट।

एक बहन, एक देवर, एक फ्रेंड—बाहर की इतनी दुनिया भी उन लोगों की वजह से ही बची हुई थी। जैसे उन लोगों की साज़िश हो कि महीने में एक-एक बार चिट्ठी ज़रूर लिखेंगे। वरना बाक़ी सारी दुनिया की तरह यह इतनी-सी दुनिया भी मर जा सकती थी। अगर उन तीनों की चिट्ठियाँ आना बन्द हो जाता, तो अपनी तरफ़ से ये लोग शायद कभी उन्हें लिखकर इसकी याद भी न दिलाते। कुछ साल पहले और भी कुछ लोगों की चिट्ठियाँ आती थीं। कुछ जुगल के दोस्त थे—कुछ और रिश्तेदार थे दोनों तरफ़ के। मगर धीरे-धीरे, न जाने कैसे, उनके सम्बन्ध चुकते गए थे। वह भी एक साज़िश ही थी जैसे कि तीन को छोड़कर बाक़ी सब लोगों ने एक-एक करके लिखना छोड़ दिया था। "कोई किसी का कुछ नहीं लगता," जुगल उनका ज़िक्र उठ आने पर कहता था, "ऐसे ही वहम होता हैं कुछ दिनों का, इन दो-तीन लोगों के साथ भी वहम ही बना हुआ है। जब खत्म हो जाएगा, तब किसी को याद भी नहीं आएगी किसी की...।"

जुगल के ऐसी बात करने पर उसे सबकुछ बहुत ख़ाली और भयानक लगने लगता था—जुगल की चमकती आँखोंसमेत। गुस्सा भी आता था कि जुगल इतनी

आसानी से इस बात को कैसे स्वीकार कर सकता है। वह खुद स्वीकार नहीं कर सकती, इस पर भी गुस्सा आता था। जुगल से शादी होने से पहले उसे दुनिया–कितनी भरी हुई लगती थी! लगता था की वह अभी इस छोर पर है–उस भरी हुई दुनिया में अभी उसे उतरना है। अपनी तब तक कि ज़िन्दगी उसे बहुत अधूरी लगती थी क्योंकि उसमें 'वास्तविक' कुछ भी नहीं था। जो कुछ था, वह उस आनेवाले 'वास्तविक' का हलका आभास-सा था। कुल जमा चार, छह आठ या दस दिन, जिसमें लगा था कि एक शुरुआत हो सकती है। कुल जमा तीन या चार चेहरे।...सतीश उसका मौसेरा भाई था, फिर भी जहाँ कहीं उसे अकेली पाकर तीन-चार बार उसने ज़बर्दस्ती उसे चूम लिया था।...हरकृष्ण की शादी में वह जो एक दोस्त आया था उसका, जो शादी की भीड़ में कई जगह उसके साथ सटकर बैठा था।...मधु का भाई हरीश, जिसने उसके नाम दो-एक पत्र लिखे थे।...बस में रोज़ साथ जा बैठनेवाला वह लड़का, जिसने एक दिन कसकर उसकी जाँघ पर चिकुटी काट ली थी।...भूषण जो शादीशुदा होने पर भी उससे कहता था कि वह अपनी पत्नी से तलाक लेकर उससे शादी कर लेगा...।

ऐसे ही छिटपुट था सबकुछ...पर कुल मिलाकर कुछ भी नहीं, क्योंकि लगातार कुछ नहीं था। 'लगातार' थी सिर्फ़ यह ज़िन्दगी जो आठ साल से जुगल के साथ जी जा रही थी। साथ रहकर सबकुछ से, यहाँ तक कि एक-दूसरे से भी, ख़ाली होते जाने की ज़िन्दगी।

वह कुर्सी से उठ खड़ी हुई। जैसे कि तय कर लिया हो कि ज़िन्दगी के इस 'लगातार' को अब अपने से झटक देगी। उठकर सबसे पहले खूँटी पर लटकते कपड़ों के पास गई। उन्हें उतारकर उसने बक्से पर पटक दिया। बक्से पर पड़ा उनका ढेर और भी बेहूदा लगा, तो उन्हें ऊपर से हटाकर इस तरह बक्से में ठूँस दिया कि बक्से के ढक्कन में कूबड़-सा निकल आया। फिर दीवार से कैलेंडर उतारकर गोल किया और पलंग के नीचे दाग दिया। बिस्तर से चादर और गद्दा उतारकर कोने में डाल दिया और कुछ देर नंगे पलंग को देखती रही। उसके बाद उसने आसपास देखा। कितना कुछ था कमरे में जिसे उथल-पुथल किया जा सकता था। बक्से, मेज़, रेडियो, सिलाई की मशीन, चटाइयाँ, कुर्सियाँ...सब चीज़ों पर नज़र दौड़ा चुकने के बाद आँखें किसी 'और' चीज़ की तलाश करने लगीं। "और क्यों?" उसने सोचा और इस एहसास से उसका मन उदास हो गया कि इन गिनी-चुनी चीज़ों के सिवा और कुछ नहीं है जिसे उथल-पुथल कर सकती हो। उदासी के साथ उसे अपने में एक गहरी थकान भी महसूस हुई। उसने फिर अन्दर से उमड़ती जँभाई को रोका। सोचा कि दफ़्तर से लौटकर आने पर जुगल को घर में सबकुछ उथल-पुथल मिले, तो उसे कैसा लगेगा? शायद वह अपना मरी हुई मुर्गी जैसा चेहरा थोड़ा और लटकाकर चुपचाप

कमरे को देखता रहेगा। या उससे वजह पूछेगा कि उसने यह सब क्यों किया है, और उसके जवाब न देने पर ज़ोर-ज़ोर से बकझक करने लगेगा। उसके बाद या किवाड़ ज़ोर से बन्द करके कहीं चला जाएगा, या मुँह दीवार की तरफ़ करके पलंग पर लेटा रहेगा। "इसमें नया क्या होगा?" उसने सोचा और अब खुलकर जँभाई ले ली। फिर जिन चीज़ों को उथल-पुथल करने में इतना समय लगाएगी; उन्हें बाद में समेटना भी तो उसी को होगा...।

वह पलंग के पास से हटकर फिर बरामदे में आ गई। जैसे कि जो कमरे में नहीं हो सकता था, वह बरामदे में हो सकता हो। धूप अब भी पूरे बरामदे और दालान को ढके थी। दालान की पीली मैली दीवार के उस तरफ़ कोई साइकिल में हवा भर रहा था। शायद साथ के घर का नौकर शिवजीत। हर दूसरे-तीसरे दिन दोपहर को वह आवाज़ सुनाई देती थी...अभी दो-तीन हफ्ते से ही...पर दोपहर के वक़्त ही क्यों? क्या उसकी साइकिल की हवा हमेशा इसी वक़्त निकल जाती थी।

उसके मन में आया कि दालान का दरवाज़ा खोलकर एक बार देख ले, पर उसने टाल दिया। उसे इसमें क्या दिलचस्पी है कि किसी की साइकिल की हवा किस वक़्त निकली है और क्यों? वह दालान पार करके गुसलखाने में चली गई। वहाँ उसने नल खोलकर देखा। वही लम्बी साँस भरने की आवाज़...और कुछ नहीं। दोनों बाल्टियाँ भी इस तरह ख़ाली थीं जैसे बिलकुल नई लाकर वहाँ रखी गई हों। उसने नल की टोंटी पूरा खोल दी कि पानी आए, तो नीचे की बाल्टी पूरी भर जाए। फिर उस ख़याल से कि वक़्त से उसने टोंटी बन्द नहीं की तो फिर कहीं पूरा दालान पानी से न भर जाए, उसने उसे पूरा भर दिया और बाहर निकल आई।

इस बार बरामदे से कमरे में दाखिल होते हुए उसने अपने को अलग रखकर कमरे को देखने की कोशिश की। फर्ज़ करो कि जुगल दफ़्तर से लौटकर आए और कमरे की हर चीज़ तो अपनी जगह उसी तरह हो, पर वह वहाँ न हो? वह अब जैसे जुगल के पैरों से कमरे में दाखिल हुई। पर उसे लगा कि जब तक हर चीज़ बिलकुल पहले की तरह न हो, वह जुगल की नज़र से कमरे को नहीं देख सकती। कैलेंडर पलंग के नीचे जाकर पूरा खुल गया था। उसे उसने उठाकर वापस दीवार पर टाँग दिया। गद्दे और चादर को एक बार हलके हाथों से झाड़ा और फिर पहले की तरह पलंग पर बिछा दिया। जो कपड़े चमड़े के बक्से में ठूँसे थे, उन्हें निकालकर पहले की तरह खूँटी पर लटका दिया। उसमें इतना एहतियात रखा कि न सिर्फ़ हर कपड़ा बिलकुल पहले की तरह लटकाया जाए, बल्कि उसका साया भी दीवार पर उसी तरह पड़े जैसे कि पहले पड़ रहा था। मन में अच्छी तरह इत्मीनान कर लेने पर कि सबकुछ बिलकुल पहले की तरह हो गया है, वह फिर दहलीज़ के पास आ गई। अब उसने जुगल की नज़र से देखा। कमरा है, सारा सामान है, पर वह नहीं है। इस वक़्त ही

नहीं इसके बाद भी कभी नहीं है। जुगल के पास पूरा घर है, बेबी है, सबकुछ है...पर बग़ैर उसके पूरा घर उसी तरह है, बेबी उसी तरह है...सोफे के कोने में गुमसुम बैठी हुई है...सबकुछ उसी तरह है...पर बग़ैर उसके। उसे लगा कि यह स्थिति जुगल के लिए सचमुच नई है। इस नई स्थिति में जुगल को कैसा लग रहा है? वह घबराया-सा चारों तरफ़ देख रहा है? उसे ढूँढ़ रहा है? लोगों से पूछताछ कर रहा है?...उसके होंठों पर मुस्कुराहट आ गई। सचमुच यह कितना चाहेगी कि जुगल को ऐसी घबराहट में देख सके? पर उसकी मुस्कुराहट पूरी तरह होंठों पर फैल नहीं सकी। क्योंकि ख़ाली कमरे को जुगल की नज़र से देखते हुए उसे घबराहट की जगह हलकी तसल्ली-सी महसूस हुई। उसे लगा कि यह जानकर कि वह घर में नहीं है और अब कभी नहीं आएगी, जुगल का लटका हुआ चेहरा थोड़ा खिल गया है और उसके होंठों पर वैसी ही मुस्कुराहट आ गई है जैसी कि अभी-अभी उसके होंठों पर थी और वह उसे छिपाने की कोशिश कर रहा है। इससे एक झटका-सा लगा। नहीं, वह ऐसा नहीं होने दे सकती...खुद वहाँ से गायब होकर जुगल को उस तरह मुस्कुराते नहीं देख सकती। उसने झट से अपने को भी वापस अपनी जगह पर रख दिया और कमरे से निकल आई। उसके बरामदे में निकलते-निकलते एक हलकी फड़फड़ाहट वहाँ से उठकर आकाश में चली गई।

उसने जूठी प्यालियाँ उठाकर रसोई में रख दीं। गुड्डो की किताबें समेटकर एक तरफ़ कर दीं। पसीने से शरीर तरबतर हो रहा था, इसलिए गुसलखाने में जाकर फिर एक बार टोंटी खोल दी। नल के अन्दर से कुछ देर वही खखारने की परिचित आवाज़ सुनाई देती रही, फिर एक-एक बूँद पानी नीचे रिसने लगा।

क्वार्टर

दरवाज़े के चौखट पर काल-बेल है। काल-बेल के पास ही नेम-प्लेट। काल-बेल जितनी नई है; नेम-प्लेट उतनी ही मैली। नेम-प्लेट पर तिरछी-सी लिखावट है–शंकर राजवंशी।

नई दिल्ली में, गोल डाकखाने के पास, कनाट प्लेस से कुल आधा मील दूर, पाँच कमरे का फ़्लैट। यह बात अपने में इतनी बड़ी है कि बातचीत में अक्सर इसका ज़िक्र आ ही जाता है।

शंकर अपनी तनखाह की गिनती करता है। ''मिलते तो स्कूल से पाँच ही सौ हैं, पर मुझे कुल मिलाकर डेढ़ हज़ार के करीब पड़ जाते हैं। चार सौ तो क्वार्टर के ही जोड़ने चाहिए। कम-से-कम। हालाँकि चार सौ में इससे आधी जगह भी नहीं मिलती इस इलाके में। फिर बिजली-पानी का कुछ नहीं देना पड़ता। सेंट्रल जगह होने से स्कूटर-टैक्सी की बहुत बचत होती है। एम्पोरियम भी बहुत पास में है, जहाँ राधा नौकरी करती है। साढ़े तीन सौ वह ले आती है।''

उसकी आँखें चमकने लगती हैं। ''और काम कितना है? हफ्ते के कुल बाईस पीरियड। सात दिन में पन्द्रह घंटे पढ़ाना, बल्कि उससे भी बहुत कम। कितनी छुट्टियाँ आ जाती हैं। कितनी बार पीरियड लिए ही नहीं जाते।''

पता वह बहुत संक्षिप्त बताता है। चौदह-ए, अर्विन लेन, नई दिल्ली-एक। ''अर्विन लेन में बाहर की तरफ़ से आइए। दाएँ हाथ क्वार्टरों की लम्बी कतार मिलेगी। हरे रंग के दरवाज़े हैं। उसमें आठवाँ दरवाज़ा।''

अपनी आँखों की चमक वह दूसरे की आँखों में भी खोजता है। उसे और विश्वास दिला सकने के लिए अनुरोध करता है कि वह किसी दिन उसके यहाँ ज़रूर आए। ''बारह बजे के बाद मैं अक्सर घर पर ही होता हूँ। आप जब भी टेलीफ़ोन कर लीजिए। नम्बर है...।''

डिंग-डांग-डिंग–काल-बेल की आवाज़ सारे क्वार्टर में गूँज जाती है।

दरवाज़े के सामने पहला कमरा पापा का है। पापा गर्दन उचकाकर और आँखें गोल करके प्रतीक्षा करते हैं कि कोई दरवाज़ा खोलकर आ रहा है या नहीं। अगर गुन्नू या पुन्नु में से कोई आ जाता है, तो उनकी गर्दन तकिए पर सीधी हो जाती है। आँखें

उदासीन भाव से छत से जा जुड़ती हैं। मुँह में वे गुनगुनाने लगते हैं, "बस के दुशवार है... ।"

मगर दो-तीन बार बेल बजने पर भी कोई नहीं आता, तो 'पड़े सो रहे होंगे सब...' जैसा कुछ बुदबुदाते, एक हाथ से दो-गज़ लुंगी को सँभाले झटके से जाकर वे कुंडी खोल देते हैं। खोलते ही वापस अपनी चारपाई की तरफ़ लपकते हैं जिससे आनेवाले को अपनी पहले की स्थिति में लेटे नज़र आएँ।

पापा देखें चाहे छत की तरफ़ या दीवार की तरफ़, पर जो कोई भी बाहर से आता है, उसका पूरा जायजा वे कनखियों से ले लेते हैं। गुन्नू को बाज़ार जाते और कोकाकोला की बोतलों के साथ लौटते देखकर वे पूछ लेते हैं, "फिर वही आई है पटेल नगर वाली जोड़ी? आज अभी बड़ी बोतल नहीं खोली साहब ने?"

गुन्नू मुस्कुरा देता है। मुस्कुराने में होंठ उसके आधे ही खुलते हैं, चेहरे का आधा हिस्सा गम्भीर बना रहता है। "आज ड्राई डे है, पापा।" कहता हुआ वह सामने से गुज़र जाता है। पापा तकिए से थोड़ा उचकते हैं, फिर ढीले पड़कर करवट बदल लेते हैं। "ड्राई डे है। इनके लिए भी कोई ड्राई डे होता है जैसे। हराम की कमाई आती है, ख़र्च किए जाते हैं।" खिड़की से आती धूप से आँखें मिचकाते वे तकिए की स्थिति बदलने की कोशिश करते हैं। "और कमाई भी कहाँ की है? कर्ज़ का पैसा है सब। ठीक है। लिये जाओ कर्ज़ और किए जाओ ऐश। पता उस दिन चलेगा जिस दिन बर्तन नीलाम होंगे। बाहर खड़े होंगे सड़क पर तौलिया बाँधे।"

सहसा वे ज़बान रोककर आँखें मूँद लेते हैं। आहट से ही उन्हें अन्दाज़ा हो जाता है कि शंकर ताव में उनसे कुछ कहने आ रहा है।

शंकर चारपाई के पास खड़ा होकर कुछ देर बेबसी की नज़र से पापा को देखता रहता है। फिर धीमे मगर सख़्त स्वर में पूछ लेता है, "अब किस चीज़ की तकलीफ़ है आपको? ख़ामख़ाह बकझक क्यों किए जा रहे हैं?"

पापा की आँखें आहिस्ता से खुलती हैं। मगर शंकर की तरफ़ न देखकर वे सामने दीवार पर लगे छोटे पंखे की तरफ़ देखते हुए बात करते हैं, "मुझे किस चीज़ की तकलीफ़ हो सकती है यहाँ? खिड़की पर कहा था परदा लगवा दो, किसी ने लगवाकर नहीं दिया। किवाड़ बन्द नहीं होता, उसे ठीक करवाने की भी फुर्सत नहीं है किसी के पास। पंखा लगवा रखा है फ़र्श को हवा देने के लिए। मुझ तक हवा कभी पहुँचती ही नहीं उसकी।"

शंकर थोड़ा झुककर अपनी आँखें उनकी आँखों के सामने ले आता है, "आपको पता है आपकी आवाज़ कहाँ तक जाती है?"

पापा गुस्से से तनकर सिर ऊँचा कर लेते हैं, "कहाँ तक जाती है? जब चाय या पानी के लिए चिल्लाता रहता हूँ, तब तो किसी को मेरी आवाज़ सुनती ही नहीं। अगर खिड़की बन्द हो जाएगी, तो कोई भी आवाज़ बाहर नहीं जाया करेगी।"

वज़न बाँहों पर होने से पापा की कमज़ोर बाँहें काँपने लगती हैं। यह देखकर कि उनकी चादर और तकिया कितने मैले हैं, शंकर को राधा पर गुस्सा आता है। उसके हाथ पापा के कन्धों तक जाकर उन्हें सीधा लिटा देते हैं, "मैं शाम को बात करूँगा आपसे। इस वक़्त बाहर से लोग आए हुए हैं, इसलिए थोड़ा रहम रखिए मेरे ऊपर।"

पापा लेटकर चुपचाप उसे घूरने लगते हैं। शंकर को कमरे के पूरे वातावरण में उनके बुढ़ापे की गन्ध बसी महसूस होती है। फ़र्श से, दीवारों से, हर चीज़ से जैसे वही गन्ध आती है। उससे ज़्यादा वहाँ नहीं रुका जाता, तो वह बाहर निकलता हुआ कहता है, "कभी सो भी जाया कीजिए थोड़ी देर।"

मगर पापा को दिन में नींद नहीं आती। जब बाहर के लोग घर में आए हों, तब तो बिलकुल ही नहीं आती। वे आसपास से गुज़रनेवाली हर आहट का मन में अर्थ लगाते रहते हैं। ये ख़ाली गिलास गए हैं उधर। यह तिपाई लाई गई है बीच के कमरे से। यह अन्दर की अलमारी से निकला है कुछ, यह बर्फ़ निकली है फ्रिज से, और दोनों चीज़ें साथ-साथ गई हैं। यह कोई उधर से उठा है और इस तरफ़ को आ रहा है।

गुसलखाने का रास्ता पापा के कमरे से होकर है, इसलिए जिस किसी को बीच में उधर आना पड़ जाता है। अगर आनेवाले की नज़र उन पर पड़ जाए, तो पापा खखारकर उसका स्वागत करते हैं, 'आदाब अर्ज़ है।' लेकिन वह बिना उन्हें देखे गुसलखाने की तरफ़ बढ़ जाए, तो पापा खाँस-खाँसकर उसे अपने वहाँ होने की सूचना देने लगते हैं। उधर से पुराना फ्लश उसी अन्दाज़ में आवाज़ करता है–ढीं-ढुच्, ढीं-ढुच्, ढीं-ढुच्। पापा बिस्तर पर सीधे बैठ जाते हैं। मुँह में झाग बनने लगता है। उधर फ्लश से पानी छूटता है, इधर उनके मुँह से शेर फूटता है :

"कावे कावे
सख़्तजानीहाए तनहाई
न पूछ।"

और ज्योंही गुसलखाने का दरवाज़ा खुलने की आवाज़ होती है, उनके अंग-प्रत्यंग में जैसे हारमोनियम बजने लगता है और तबले पर थाप दी जाने लगती है :

"कावे कावे
कावे कावे
कावे कावे
सख़्तजानीहाए तनहाई न पूछ
हाए तनहाई न पूछ।
कि सुबह करना

सुबह करना
सुबह करना शाम का
लाना है जूए शीर का
लाना है जूए शीर का।
कावे कावे...।"

गुसलखाने ने निकलकर आता व्यक्ति अगर ज़रा भी मुस्कुरा दे, तो चारपाई पर उसके लिए जगह छोड़ते हुए वे कहते हैं, "आइए-आइए! तशरीफ रखिए। सेहत कैसी है?" लेकिन अगर वह आँख बचाता निकल जाना चाहे, तो वे पीछे से आवाज़ दे लेते हैं, "क्यों साहब, जिता दिया न आखिर आपने इन्दिरा को?" और उसके मुड़कर अपनी तरफ़ देखते ही वे चारपाई पर सरक जाते हैं। "आइए, बैठिए एक मिनट। तशरीफ रखिए। सेहत कैसी है?"

एक नज़र खिड़की से बाहर डालकर कि शंकर वहीं तो नहीं खड़ा, वे पहले थोड़ी भूमिका बाँधते हैं, "हमारे साहबज़ादे तो वोट देने गए ही नहीं। बताइए, यह भी कोई बात हुई ? मेरी टाँगें बेकार न होतीं, तो मैं तो ज़रूर जाता वोट देने। वोट न देने का क्या मतलब होता है? कि जो हो रहा है, ठीक हो रहा है। मैं तो अब इन लोगों से बहस भी नहीं करता। कहता हूँ ठीक है, मत जाओ वोट देने। तुम लोग मरद हो ही नहीं। जनखे हो। तुम्हारे लिए औरत का राज ही ठीक है।" लेकिन जल्दी ही वे अपनी असली बात पर आ जाते हैं, "आपको इसे समझाना चाहिए इस बार। कहीं इस तरह भी घर चला करते हैं? कमाना बाद में और ख़र्च पहले कर देना। मैं कहता हूँ सारे अरमान एक ही बार पूरे कर लोगे, तो बाक़ी उम्र काटने को बचेगा क्या? अपने वक़्त पर हमने भी काफ़ी ख़र्च किया है। लेकिन अपनी औकात से बाहर जाकर नहीं। साथ अपनी जिम्मेदारियाँ भी निभाई हैं। बड़े-बुजुर्गों की आख़िरी दिन तक सेवा की है। मगर इन लोगों की सेवा भी देख लीजिए। पेशाबघर के बाहर डाल रखा है मुझे। रोज़ मुझसे पूछ लीजिए कि कितनी बार फ्लश चला है दिन में। यही डायरी रखने के लिए लिटा रखा है मुझे यहाँ।"

बोलते-बोलते उनकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। लुंगी के सिरे से आँसू पोंछते हुए कई बार उन्हें ध्यान नहीं रहता कि कपड़ा कहाँ तक ऊँचा उठ गया है। तभी दहलीज़ के पास से शंकर की आवाज़ सुनाई दे जाती है, "क्या हो रहा है, पापा ?"

पापा जल्दी से लुंगी समेट लेते हैं, "आँखों में फिर से पानी आ रहा है। गुन्नू से कहना दवाई ला दे।"

शंकर कुछ पल ख़ामोश रहकर उन्हें देखता रहता है। फिर यह कहता सामने से हट जाता है, "दवाई तो आ जाएगी। मगर उसे डालने के लिए कौन राज़ी करेगा आपको?"

पापा के कमरे के सामने से दाईं तरफ़ को मुड़ते ही शंकर की स्टडी है।

पढ़ने की मेज़ के पास दीवान पर बैठे हुए शंकर की उँगली अनायास टेबल लैम्प के बटन को दबाने लगती है। बार-बार बत्ती के जलने-बुझने से जापानी घर की शक्ल का टेबल लैम्प बिल्कुल खिलौना-सा लगता है।

स्कूल से लौटकर वह अक्सर अपने को इस कमरे में बन्द कर लेता है। खिड़की समेत साढ़े तीन दीवारें और एक दरवाज़ा। तीलियों की भारी चिक से ढका। लाल पत्थर की पटियों का फ़र्श। ठंडा-ठंडा। एक चटाई, एक दीवान और एक संगमरमर टाप की मेज़। सिर्फ़ पैर से उतरी चप्पल किसी भी तरह कमरे की व्यवस्था में नहीं खप पाती। चमड़े पर पसीने से बने दो पैरों के निशान इतने अखरते हैं कि कई बार सोचते या बात करते हुए बीच में उठकर वह चप्पल की स्थिति बदल देता है।

डिंग-डांग-डिंग—काल-बेल की आवाज़ उसे अच्छी लगती है। मगर दरवाज़े की पुरानी कुंडी कड़िंग-कट् खुलती है, किवाड़ ईउंग-ईउंग करते अन्दर को घिसटते हैं, तो कौन आया है, यह जानने से पहले ही उसके माथे पर हलकी त्यौरी पड़ जाती है। क्योंकि तब तक पापा के कमरे में उनकी चारपाई चरमरा उठती है।

गुन्नू की आवाज़ सुनकर ही उसे पता चल जाता है कि आनेवाला कौन हो सकता है। "वे अभी आए नहीं स्कूल से। आप काम बता दीजिए," का मतलब होता है विद्याव्रत या यदुबीर सहाय जैसा कोई आदमी। "कुछ काम कर रहे हैं अन्दर। कहा था चार बजे तक डिस्टर्ब मत करना," के माने होते हैं विश्वेश्वर, नामदेव, राठी या रिशी में से कोई एक। "चले जाइए। बैठे हैं," का अभिप्राय होता है राजेश्वर, नीना या माधवराव। पर "सो रहे हैं शायद। आप नाम बता दीजिए। अभी देखकर बताता हूँ," का अर्थ निकलता है कि आनेवाला कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे गुन्नू पहले से नहीं जानता। तब गुन्नू के अन्दर आने तक धीरज न रखकर वह खुद ही आवाज़ दे देता है, "कौन आया है, गुन्नू?"

दिन-भर कोई-न-कोई उस कमरे में आया ही रहता है। राधा से जब उसने यह कमरा सेट कराया था, तो यही कहा था कि घर में कभी अकेला रह सकने के लिए उसे एक जगह चाहिए। मगर आध-पौन घंटा अकेला रह लेने के बाद उसे अपने अकेलेपन से उलझन होने लगती है। मन उन दिनों के वातावरण के लिए भटकने लगता है जब अपने कँवारेपन में एक अकेला कमरा उसके पास था। पता नहीं कितने लोग उस कमरे में सोते थे, कितने आते-जाते थे। अगर राधा आई होती थी, तो उन लोगों के लिए चाय बना दिया करती थी। उस कमरे में कभी वह अपने को इस तरह बन्द महसूस नहीं करता था। न ही इतना ख़ाली।

अगर और कोई उसके पास न बैठा हो, तो पड़ोस में चौदह नम्बर से रवि शर्मा आकर अन्दर झाँक लेते हैं, "भाई साहब बिज़ी तो नहीं हैं?"

रवि शर्मा उसकी ज़रूरत को समझते हैं। लोगों को खुद पास बिठाकर भी शंकर उनके बैठे रहने से ऊबता है, यह जानने के कारण वे बैठते कम हैं; ज़्यादातर खड़े-खड़े ही बात करते हैं। बात करते हुए दोनों हाथों को आपस में मलते रहते हैं। इकहरा शरीर थोड़ा आगे को झुका रहता है। अपने आने के ठोस कारण के रूप में वे स्कूल या पास-पड़ोस का कोई-न-कोई स्कैंडल सुनाने लगते हैं। स्कूल के स्वयंसेवक अध्यापक ने मार्केट के एक दुकानदार पर छुरा चला दिया क्योंकि वह अपने लड़के को सुबह संघ की शाखा पर जाने से रोकता था। राठी की नौकरी चली जाएगी क्योंकि आज फिर उसने अपनी बीवी को पीट दिया है—केस वाइस प्रिंसिपल मनचन्दा के पास है। शाम को इलेक्शन का रिजल्ट आने के साथ ही बाज़ार में नई कांग्रेस और पुरानी कांग्रेसवालों में मुठभेड़ हो गई—दोनों मिठाई की दुकानों पर पुलिस पहरा दे रही है।

रवि शर्मा को सबसे ज़्यादा स्कूल के भविष्य की चिन्ता रहती है। "क्या सोचते हैं भाई साहब, प्रिंसिपल मेहरा के रिटायर होने के बाद यह स्कूल चलता रहेगा? मैं तो समझता हूँ बड़ी सख़्त धाँय-धाँय होनेवाली है यहाँ। अभी से इतनी सख़्त गुटबन्दियाँ हो रही हैं। अगर मनचन्दा प्रिंसिपल बन गया, तब तो आधे स्टाफ की ख़ैर नहीं। मगर उसके भी ख़ैरख़्वाह कम नहीं हैं। कोशिश यही चल रही है कि मेहरा साहब के रिटायर होने से पहले ही उसे रिटायर कर दिया जाए। तीन साल की सर्विस बाक़ी है उसकी, सो तीन साल की तनखाह दी जा सकती है उसे।"

ज्योंही बातचीत की स्कैंडल-वेल्यू कम होने लगती है, वे वहाँ से चलने की बात सोचने लगते हैं। "जाकर कॉफी भिजवाऊँ आपके लिए।"

शंकर को 'हाँ' कहना ही अधिक सुविधाजनक लगता है। क्योंकि मना कर देने से दो मिनट बाद मिसेज़ शर्मा आकर पूछती हैं, "कॉफी नहीं ले रहे हैं? हमारे हाथ की अच्छी नहीं लगती?" मिसेज़ शर्मा का अनुरोध उससे टाला नहीं जाता, जिससे बाद में राधा की शिकायत सुननी पड़ती है। रवि शर्मा के सामने भी वह ओछा पड़ता है क्योंकि मिसेज़ शर्मा जाते-जाते कह जाती हैं, "हमने कहा था इनसे कि आपने ठीक से पूछा ही नहीं होगा। नहीं तो भाई साहब कॉफी के लिए मना कर ही नहीं सकते।" उनकी आँखों की चमक और चेहरे पर की मुस्कुराहट रवि शर्मा के अलावा खुद उसे भी काफ़ी छोटा कर जाती है।

मिसेज़ शर्मा जब भी वहाँ से होकर जाती हैं, शंकर को कमरे का ख़ालीपन और भी ख़ाली महसूस होता है। सिगरेट का धुआँ, हर कश के साथ एक कुकुरमुत्ता मुँह से बाहर निकलता, खिड़की के चौखट तक जाकर हवा में हवा हो जाता। खिड़की के उस तरफ़ सिर्फ़ दीवार—उखड़ी-उखड़ी स्याह पड़ी ईंटें, उनमें चींटियों के सूराख, जोड़ो से झड़ता चूरा-चूरा पलस्तर। ऐश ट्रे में आधी मुट्ठी राख—लथपथ सिगरेट के टुकड़े, मुँ बाए सिगरेट की ख़ाली डब्बी, एक बन्द पैकेट। मेज़ के संगमरमर से नीचे

को झूलता बिजली का तार—एक औंधी पड़ी किताब, खुला बाल पॉइंट, दो-तीन खुली चिट्ठियाँ। अकेला अपना-आप—बावजूद मलमल के कुरते के अपने पूरे वजन का एहसास। हाथ में माचिस—एक तीली का घिसकर जलना और बुझ जाना, फिर दूसरी तीली का जलना और बुझ जाना। पापा का लगातार अपने कमरे में खाँसना—आख़ हऊ आख़ हऊ आख़ हऊ हऊ हऊ हऊ...।

मिसेज़ शर्मा कॉफी लेकर आएँ, उनका लड़का बिन्नू पापा का सन्देश लेकर आ जाता है, "पापा कह रहे हैं उधर आ जाइए। साथ पिएँगे कॉफी।" मिसेज़ शर्मा पीछे से आकर उसकी बात काटती हैं, "कॉफी यहीं आ रही है आपकी। इसके पापा को तो लगता है कि हरएक के पास गप करने की उतनी ही फुर्सत है, जितनी उनके पास।"

मिसेज़ शर्मा पेस्ट को बहुत फेंटकर कॉफी बनाती हैं। "हमारे लिए भी अच्छी कॉफी तभी बनती है जब आपको पीनी होती है," रवि शर्मा का यह मज़ाक केवल मज़ाक ही नहीं होता। वे प्याली पर इस तरह हाथ की ओट किए आती हैं, जैसे उसे किसी की नज़र से बचाकर ला रही हों। राधा घर में जो चीज़ जिस तरह से बनाती है, उससे सवाई मेहनत से न बनाएँ, तो उन्हें अपना प्रयत्न सार्थक नहीं लगता। और वे आधी झुकी आँखों से इसकी स्वीकृति भी ले लेती हैं। "ठीक बनी है, भाई साहब?"

साड़ी से ढके ब्लाउज़ का उतार-चढ़ाव। सामने के व्यक्ति को अपनी ओर देखने के लिए विवश करती आँखों की चमक। दस साल के विवाहित जीवन के बाद भी चेहरे पर युवा होने का आत्मविश्वास। काफ़ी फासला रखकर खड़ी होने पर भी पूरे व्यक्तित्व से झलकता निकटता का आभास। शंकर को अपने अन्दर कहीं यह कहने की मजबूरी लगती है, "रवि भाई को भी कॉफी दे दी या नहीं आपने? वे इन्तज़ार ही तो नहीं कर रहे?"

मिसेज़ शर्मा मुस्कुराकर बाहर निकल जाती हैं, "उन्हें भी दे रही हूँ जाकर। वैसे उनके लिए तो यह बहाना ही होता है। उन्हें कॉफी पसन्द कहाँ आती है?"

और जब बिलकुल कोई नहीं होता, तो शंकर दीवान से उतरकर फ़र्श पर औंधा लेट रहता है। ठंडी-ठंडी सख़्त ज़मीन। जिस्म को ठंडक की इतनी ज़रूरत महसूस होती है कि कई बार वह कुर्ता भी उतार देता है। एक-एक रोएँ में ठंडक को भर लेने की कोशिश करता है। इसके लिए बार-बार करवट बदलनी पड़ती है। जो जगह सामान से भरी नज़र आती है, वह करवट लेने में रुकावट लगती है। अगर यह सारा सामान जमा न किया होता...।

एक तरफ़ से पापा के खाँसने की आवाज़ आती है, दूसरी तरफ़ से पुन्नू के ट्रांजिस्टर की। अगर खुद बिजनौर जाकर उसने पापा से न कहा होता कि वे उसके पास दिल्ली आ रहें...अगर चाचा की बात मानकर उसने हामी न भरी होती, कि गुन्नू और पुन्नू उसके पास रह जाएँ तो वह उनके लिए नौकरियाँ ढूँढ़ने की कोशिश

करेगा...पहले बड़े भाई नाथ को लेकर ही इतनी परेशानी थी, छोटे भाई मुकुन्द की ज़मानत का सवाल सामने था, फिर और ज़िम्मेदारी को खुद ही अगर बुलावा न दिया होता...यह सब एक बड़ा क्वार्टर मिलने की झोंक में वह कर गया था, अगर यह नौकरी ही उसने न की होती...और नौकरी की बात भी शादी के बाद ही उसने सोची थी, अगर राधा की ज़िद मानकर वह शादी के लिए राज़ी न हुआ होता, पाछी का कहा मानकर उसके साथ बाहर चला गया होता...।

खिड़की से दो चिड़ियाँ अन्दर कूद आती हैं। लाल पत्थर की पटियों पर एक-दूसरी का पीछा करती हैं। उसके कन्धों के पास आकर चुनौती के स्वर में चहकती हैं, पंख फड़फड़ाती हैं और बाहर उड़ जाती हैं। फुर्र एक। फुर्र दो।

वह बेबसी से उठकर बैठ जाता है। मेज़ से सिगरेट की डब्बी खींचकर सिगरेट सुलगा लेता है। पापा से पीछे के कमरे में टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है। पहली या दूसरी घंटी पर ही गुन्नू की मरियल आवाज़ सुनाई देती है, "गुन्नू राजवंशी।" गुन्नू इतना धीमा कि सुननेवाले को शंकर राजवंशी का भ्रम हो। उसके बाद उसके दो निश्चित वाक्य, "आप कौन बोल रहे हैं? अभी देखकर बताता हूँ।"

दालान के उस सिरे से इस सिरे तक गुन्नू की आवाज़ तीन बार सूचना को दोहराती है। "फ़ोन है। मिसेज़ लल्ला का फ़ोन है। शंकर भाई, आपके लिए मिसेज़ लल्ला का फ़ोन है।"

शंकर हड़बड़ी में कुरता पहनता है। चप्पल में पाँव डालते हुए एड़ियाँ बाहर को फिसल जाती हैं। चिक की एक तीली कुर्ते की ज़ेब में उलझकर उसे फाड़ने की कोशिश करती है। सामने पड़ने पर गुन्नू फिर एक बार फर्ज़ पूरा कर देता है, "शंकर भाई, जोड़ बाग़ से आपके लिए मिसेज़ लल्ला का फ़ोन है। मैंने बताया नहीं, आप घर पर हैं। इतना ही कहा है, देखकर बताता हूँ।" और कृतज्ञता-चाहती उसकी आधे होंठों की मुस्कुराहट देर तक उसके छोटे-छोटे दाँतों से चिपकी रहती है।

टेलीफ़ोनवाला कमरा हर माने में बीच का कमरा है। एक तख़्तपोश, कई एक मोढ़े और चौकियाँ, फ्रिज़, चारपाइयाँ और कपड़े टाँगने की खूँटियाँ। बड़ी दीदी और मुन्नी दीदी जब बिजनौर से आती हैं, तो उनका डेरा इसी कमरे में जमता है।

बड़ी दीदी से गर्मी बर्दाश्त नहीं होती। वे आते ही तख़्तपोश पर लेट जाती हैं। "हहाः ठंडा पानी।" मुन्नी दीदी भी, जिसका स्वभाव हर बात में बड़ी दीदी का अनुकरण करना है, धीरे से कह देती है, "हम भी लेंगे एक गिलास।"

बड़ी दीदी की आँखें कमरे के चारों दरवाज़ों को ताकती घर की एक-एक चीज़ का जायजा लेती हैं। तो मुकुन्द वाला कमरा अब बेड-रूम हो गया है? पापा की

ड्योढ़ी का दरवाज़ा फट्टी लगाकर बन्द कर दिया है? दालान के दरवाज़े के पास जो बेल थी, वह कटवा दी? ड्राइंग-रूम का रास्ता इधर से खोल दिया? ब्याह की तस्वीर सामने की दीवार से हटाकर इस दीवार पर लगा दी? रोमवाली ऐश ट्रे की जगह यह नई ऐश ट्रे आ गई?

बड़ी दीदी को चार महीने पहले और आज के बीच किए गए परिवर्तन पसन्द नहीं आते। फ्रिज़ इधर क्यों रख दिया? बड़ी चौकी उधर क्यों हटा दी? पर्दे बदलकर क्यों लगा दिए? ''पिछली बार कमरा कितना भरा-भरा लगता था। इस बार तो लग रहा है जैसे...।''

बड़ी दीदी का ध्यान इतनी चीज़ों की तरफ़ एकसाथ जाता है कि मुन्नी दीदी को मन में बहुत हीनता महसूस होती है। वह भी पिछली बार की स्थितियों के साथ इस बार की स्थितियों का मिलान करती अपनी तरफ़ से कहने की कोई बात ढूँढ़ती है ''टेलीफ़ोनवाली तिपाई भी हमें तो तख्तपोश के पास ही अच्छी लगती थी। उस कोने में पता नहीं कैसी लग रही है।''

बड़ी दीदी हलकी झिड़की के साथ उसे चुप करा देती हैं। ''तख्तपोश के पास कहाँ अच्छी लगती थी? उसके लिए तो मैं ही इनसे कहनेवाली थी कि कोने में हटा दो, तो अच्छा है।'' मुन्नी दीदी कुछ देर चुप रहकर वहाँ से उठ जाने का बहाना ढूँढ़ लेती है। ''हम चाय बनाने जा रहे हैं। जिस-जिसको पीना हो, हमें बता दो।''

बड़ी दीदी उन सब समस्याओं को एकसाथ उठा लेती हैं, जिनका निपटारा करने की बात वे बिजनौर से सोचकर चली होती हैं। मुकुन्द कितने दिन अपनी ससुराल में रहेगा? शादी से पहले उसके लिए यहाँ जगह थी, तो अब क्यों नहीं हो सकती? जब एक भाई के पास इतना बड़ा क्वार्टर है, तो दूसरे को अलग से जगह ढूँढ़कर किराया भरने की क्या ज़रूरत है? गुन्नू और पुन्नू की नौकरियों का कुछ हुआ या नहीं? अगर इतने बड़े शहर में भी उनके लिए कुछ नहीं हो सकता, तो चाचा को साफ़ क्यों नहीं लिख दिया जाता कि उन्हें वापस बुला लें! नाथ बिजनौर चिट्ठियाँ क्यों लिख रहा है कि वापस बम्बई चला जाना चाहता है? बारह साल के तजरुबे के बाद भी अगर उसे स्कूल में तीन सौ की ही जगह मिल सकती है, तो उसे बम्बई से उखाड़कर यहाँ बुलाना ही नहीं चाहिए था।

राधा तख्तपोश से नीचे फ़र्श पर बैठी चुपचाप उनकी बातें सुनती है। फिर कह देती है, ''यह सब तो यही बता सकते हैं, दीदी। इधर आएँगे, तो पूछ लेना।''

बड़ी दीदी भड़क जाती हैं। ''पहले तो ऐसा नहीं था यह। अब जाने क्या हो गया है इसे।''

राधा भी तुनुक जाती है, ''इसका मतलब है कि मैंने इन्हें ऐसा कर दिया है?''

बड़ी दीदी को अपना पक्ष जितना कमज़ोर लगता है, उतनी ही उनकी आवाज़ ऊँची उठती जाती है; जब और बस नहीं चलता, तो वे यह बात राधा के मुँह पर

दे मारती हैं, "जिस घर की हो, उस घर जैसी ही तो बात करोगी। मैंने अच्छा ही किया था जो तुम लोगों के ब्याह में शामिल होने नहीं आई थी।"

राधा तिलमिलाकर वहाँ से उठ जाती है और अपने को बेड-रूम में बन्द कर लेती है। बेबी चाहे कितना रोती रहे, उसके दूध के लिए भी वह निकलकर रसोईघर में नहीं जाती। तब गुन्नू या पुन्नू में से कोई जाकर बेबी को उठा लाता है। या मिसेज़ शर्मा अपने क्वार्टर से आकर 'राधा कहाँ है?' पूछती हुई अन्दर उसके पास चली जाती हैं और वहाँ से उसके लिए चाय और बेबी के लिए दूध मँगवा भेजती हैं। या फिर मुन्नी दीदी दरवाज़े पर दस्तक देने लगती हैं, "बेबी कब तक भूखी रहेगी, राधा? पहले ही बीमार रहती है, उसे कुछ हो जाएगा, तो किसके सिर पर बात आएगी? हमें तू कहे, तो हम रात की गाड़ी से वापस चली जाती हैं।"

बन्द दरवाज़े के उस तरफ़ से पापा का राग सुनाई देने लगता है :

चन्द इक
चन्द इक
चन्द इक
जो लाला-ओ-गुल में नुमायाँ हो गईं।
कि खाक में
खाक में
खाक में
क्या सूरतें होंगी कि पिनहा हो गईं।

साथ टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है।

शंकर बड़े-बड़े कदम रखता बीच के कमरे में दाखिल होता है। बिना किसी की ओर देखे सीधा टेलीफ़ोन के पास चला जाता है। "हलो। हाँ, मैं हूँ। बोल रहा हूँ। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। स्कूल से थका हुआ आया था, आकर ज़रा लेट गया था। सिरदर्द नहीं है, वस ऐसे ही कुछ। तुम कुल्लू से कब लौटीं? हाँ-हाँ, आओ जब भी मन हो। सिर्फ़ रिहर्सल है स्कूल में शाम को, वह मैं कल भी ले सकता हूँ। वह यहीं है। चार-पाँच दिन में आगरा जाएगी बच्ची को लेकर। उसकी माँ आएगी लेने। या शायद भाई आए उसका। मैं छोड़ आऊँगा तुम्हें। या हम दोनों छोड़ आएँगे चलकर। ऐसी बात बिलकुल नहीं। डू कम।"

रिसीवर रखने तक राधा बच्ची को बाँहों में लिये पास खड़ी नज़र आती है। "भाई को तार कर दोगे कि वह आज ही चल दे वहाँ से? सुबह तक भी पहुँच जाए, तो मैं कल की किसी गाड़ी से चली जाऊँगी उसके साथ।"

शंकर के कन्धे झुक जाते हैं और ठोड़ी ऊँची उठ जाती है, "क्या कहा तुमने?"

राधा वाक्यों का क्रम बदलकर बात फिर से दोहरा देती है।

शंकर झटके से खड़ा हो जाता है। ''कल क्या, आज ही चली जाओ तुम। मैं राठी नहीं हूँ। मेरे यहाँ यह तमाशा बिलकुल नहीं चल सकता। तुम्हारा भाई भी नहीं हूँ कि हर वक़्त बीवी का मुँह जोहता रहूँगा। जिसे यहाँ रहना रास नहीं आता, वह जब चाहे जा सकता है यहाँ से। मुझे अपनी खातिर किसी के यहाँ रहने की ज़रूरत नहीं। जिसे खुद की खातिर रहना हो रहे, न रहना हो चला जाए।''

और उसके भारी कदमों की आवाज़ दालान पार करके क्वार्टर के बाहर पहुँच जाती है। घंटे-भर बाद लौटकर आने तक वह एक चक्कर पनवाड़ी की दुकान का लगा लेता है, या राठी और नामदेव में से किसी के यहाँ दस्तक दे लेता है। राठी के यहाँ वही बात शुरू हो जाती है, ''भाई साहब, इतना पूछिए इससे कि इसका चचेरा भाई मिलने आया था इससे, तो इसने कुंडी अन्दर से क्यों बन्द कर रखी थी?'' नामदेव के यहाँ कँवारे दिनों के उत्साह के साथ उसका स्वागत किया जाता है, ''अह् हा! हियर कम्ज़ ग्रेट राजवंशी।''

शंकर के चिल्लाकर निकल जाने के बाद बीच के कमरे का तनाव सहसा कम होने लगता है। बड़ी दीदी कीमे की गोलियाँ बटती हुई कहती हैं, ''यह नहीं बदला बिलकुल भी। गुस्सा चढ़ जाता है, तो बिलकुल आगा-पीछा नहीं सूझता इसे।''

मुन्नी दीदी बात जोड़ती है। ''हमने सोचा था शादी के बाद गुस्सा कम हो जाएगा। मगर रत्ती-भर भी फ़र्क नहीं पड़ा।''

बड़ी दीदी उसे टोक देती हैं, ''काम कितना करना पड़ता है बेचारे को। अकेला इतने आदमियों का पेट भरता है। स्कूल से तो पाँच सौ ही मिलते हैं। ऊपर से कहाँ-कहाँ की दौड़धूप करता है, तो कहीं जाकर खर्चा पूरा हो पाता है।''

मुन्नी दीदी की आँखों में आँसू आ जाते हैं। ''एक ही भाई है जिसके यहाँ आकर रहने का ठौर-ठिकाना है। इसे कलपते देखकर कितना दुख होता है मेरे मन को।''

बाहर से लौटने पर शंकर को बेबी से खेलती मुन्नी दीदी की आवाज़ सुनाई देती है, ''छुक् छुक् हाः छुक् छुक् हाः छुक् छुक् हाः।'' साथ में पूरे वाल्यूम पर चलते मुन्ने के ट्रांजिस्टर की आवाज़।

उड़ती चिड़िया
कि उड़ती चिड़िया पिंजरे में बन्द कर ली
बन्द कर ली...।

और दहलीज़ लाँघने के साथ ही गुन्नू सूचनाएँ देने लगता है, ''तीन फ़ोन आए थे। राजेश्वरजी का, डॉक्टर मुकर्जी का और मिरांडा की किसी लड़की का, जिसने नाम नहीं बतलाया। ड्राइंग-रूम में विश्वेश्वरजी आए बैठे हैं। मैंने कहा भी कि शायद देर से लौटकर आएँ, मगर बोले कि कोई बात नहीं, हम इन्तज़ार करके ही जाएँगे...।''

नाथ भाई पूरी दोपहर और आधी शाम ड्राइंग-रूम में अकेले लेटे रहते हैं।

कुर्सियाँ, सोफासेट और दरी—इन पर घूमती हुई उनकी नज़र अपने पर आ पड़ती है। दुबला शरीर। मजबूत हड्डी। बाँहों पर सुनहले रोएँ। सबसे पतले और नरम रोयें कुहनियों पर नज़र आते हैं। वे उन्हें सहलाते हैं। फिर दरी के रोयों को सहलाते हैं। ज़िन्दगी में कितना कुछ मिलना चाहिए था उन्हें जो नहीं मिला। कितना कुछ कर सकते थे वे, जिसका कि मौका ही नहीं आया। आज भी अगर...।

बीच-बीच में वे किचन में जाकर अपने लिए चाय बना लाते हैं। ''आदमी जब अपने हाथ से काम कर सकता है, तो किसी दूसरे का मोहताज क्यों हो?'' खाने के लिए भी वे किसी को आवाज़ नहीं देते। कोई-न-कोई अपने-आप उनके पास पहुँच जाता है। कभी देर हो जाती है तो उनकी त्योरियाँ गहरी होने लगती हैं। ''फालतू आदमी समझते हैं मुझे। जब और सब खा चुकेंगे तो पहुँचा जाएँगे मेरा खाना। वितृष्णा बहुत बढ़ जाने पर वे कुर्सी के सहारे बैठ जाते हैं। ज़ेब से पनामा की मुचड़ी डब्बी निकालकर सिगरेट सुलगा लेते हैं। ''मुँह से मैं कभी नहीं कहूँगा कि मेरा खाना दे जाओ। भले ही दिन-भर भूखा क्यों न रहना पड़े।'' बार-बार बाक़ी सिगरेटों की वे गिनती कर लेते हैं। ''दो घंटे में पाँच सिगरेट पिए गए। अब अगले दो घंटे में तीन से ज़्यादा नहीं।''

घर के किसी भी आदमी की बातचीत उन्हें बर्दाश्त नहीं होती। ''दो तरह के लोग हैं इस घर में। कुछ बेवकूफ़। कुछ बदतमीज हैं।'' गुन्नू और पुन्नू से तो उनका हाँ-ना का रिश्ता भी नहीं बनता। ''बराबरवाले से तो बात कर भी ले आदमी, बच्चों से क्या बात करे?'' जब बीच के कमरे से लड़ाई-झगड़े की आवाज़ें आने लगती हैं, तो अपने को अलग रखने के लिए वे किताब खोल लेते हैं। ''जानवर हैं, सबके सब। सिवाय इसके इन्हें कोई काम ही नहीं है।''

स्कूल से होकर क्वार्टर में आनेवाले लोग ड्राइंग-रूम के दरवाज़े पर ही दस्तक देते हैं। नाथ भाई को मुश्किल से अपना गुस्सा दबाना पड़ता है। ''घर है यह? तबेला है! जिसे और कहीं जाने को नहीं होता, यहाँ चला आता है।'' लेकिन आनेवाले का सामना वे काफ़ी कोमलता के साथ करते हैं। ''किससे मिलना है आपको?''

शंकर को बुलाकर लाने के लिए कई बार उन्हें खुद जाना पड़ जाता है। ''तशरीफ रखिए, मैं अभी बुला देता हूँ उन्हें।'' लेकिन लहज़ा इस तरह एहसान करने का जैसे कि पड़ोस के घर से किसी को बुलाकर लाने की बात हो। जब तक शंकर नहीं आता, तब तक वे आनेवाले को अपना पूरा परिचय दे देते हैं। ''मैं बड़ा भाई हूँ शंकर का। फ़र्क सिर्फ़ तीन साल का है, पर मैं बिलकुल बेटे की तरह मानता हूँ इसे। यह भी मेरी बहुत इज़्जत करता है। दो महीने से मुझे यहाँ अपने पास रोक रखा है। मुझे कितने ही काम हैं बम्बई में, मैं बराबर वापस जाने की ज़िद कर रहा हूँ, लेकिन मुझे जाने ही नहीं देता।''

हर आनेवाले से वे उसके बारे में भी ज़्यादा-से-ज़्यादा जानकारी हासिल कर लेते हैं। "आप दिल्ली में रहते हैं? किस डिपार्टमेंट में हैं? शंकर को कब से जानते हैं?" महिलाओं से वे अतिरिक्त आत्मीयता से बात करते हैं। "आप शुरू से ही इतनी दुबली हैं, या 'फिगर' के ख़याल से डायटिंग-आयटिंग करती हैं? मैं पंखा तेज़ करता हूँ, आप इतनी धूप में चलकर आई हैं।"

शंकर को सूचना देने में उनका स्वर रहस्यपूर्ण ढंग से धीमा हो जाता है। "बेटे, काफ़ी स्मार्ट-सी लेडी हैं एक। मैंने पहले कभी नहीं देखा उन्हें। मिसेज़ लल्ला या ऐसा ही कुछ नाम बता रही हैं। तुम इत्मीनान से आओ। मैं तब तक बात कर रहा हूँ उनसे।"

शंकर को ड्राइंग-रूम में आकर कुछ देर उनकी उपस्थिति से जूझना पड़ता है। वह छोटे-छोटे सवालों से बात शुरू करता है। "तुम्हें दिक़्क़त तो नहीं हुई घर ढूँढ़ने में? पानी पियोगी? बच्चे कैसे हैं? कब तक रहोगी दिल्ली में?"

बीच में ख़ामोशी के लम्बे वकफे आ जाते हैं। शंकर इन्तज़ार करता है कि शायद नाथ भाई को खुद लग जाए कि अब उन्हें उठकर दूसरे कमरे में चले जाना चाहिए। लेकिन नाथ भाई अगर जाते भी हैं, तो सिर्फ़ दो-एक मिनट के लिए यह कहकर, "पानी मैं ही ले आता हूँ। लड़के पता नहीं कितनी देर लगाएँगे।"

आखिर नाथ भाई के सामने ही खुलकर बात होने लगती है। "मिस्टर लल्ला इस बार भी साथ नहीं गए पहाड़ पर? मेरा ख़याल था कि साल-भर में हालात पहले से कुछ बेहतर हो गए होंगे। देखने में तो वे काफ़ी पालिश्ड आदमी लगते हैं, फिर भी...।"

मिसेज़ लल्ला बटुए से सिगरेट निकालकर नाथ भाई की तरफ़ देखती हैं । नाथ भाई झट-से उन्हें अपनी उदारता का विश्वास दिला देते हैं, "शौक से पीजिए। मेरे सामने तो आपको बिलकुल ही संकोच नहीं करना चाहिए। बम्बई में जिस हलके में मेरा उठना-बैठना है, उसमें पचास फीसदी औरतें स्मोक करती हैं। मुझे तो बल्कि इसी वजह से चिढ़ है दिल्ली से, कि यहाँ के लोग बहुत ही दकियानूसी ख़यालात के हैं।"

बातचीत थोड़ा आगे बढ़ती है, फिर रुक जाती है। शंकर की आँखें मिसेज़ लल्ला के चेहरे को भाँपती हैं, उनकी साँसों का अर्थ ढूँढ़ती हैं, सिगरेट दबाए उनके होंठों के भाव को पढ़ती हैं। फिर वह सामने की दीवार के पुरानेपन को देखता है, खिड़की में लगे पर्दे की छोटी लम्बाई को, शेल्फ़ पर रखे टाइमपीस के जंग-खाए काँच को और मुँह में आई बात को रोककर कुर्सी पर थोड़ा फैल जाता है। "हूँ।"

मिसेज़ लल्ला विषय बदलकर अपने काम-काज की बातों पर आ जाती हैं। "इधर काफ़ी बिज़ी रहना पड़ता है मुझे। नया सैलून खोला है, अभी काम ज़्यादा आना शुरू नहीं हुआ, इसलिए काफ़ी दौड़धूप करनी पड़ती है। पब्लिसिटी, एकाउंट्स सब काम खुद देखने पड़ते हैं। इसलिए इतनी फुर्सत ही नहीं मिल पाती कि...।"

नाथ भाई सैलून के बारे में एक-एक बात पूछते हैं। इतने विस्तार से कि जैसे वैसा ही एक सैलून वे खुद भी खोलनेवाले हों। ''काम काफ़ी अच्छा है यह,'' वे ईर्ष्या के साथ कहते हैं, ''सिर्फ़ इन्वेस्टमेंट की बात है।''

मिसेज़ लल्ला अपनी मुस्कुराहट को रोकने के लिए होंठ सिकोड़ लेती हैं। शंकर को किसी भी स्थिति में बैठना असुविधाजनक लगता है। वह कुर्सी को थोड़ा आगे सरका लेता है। ''अभी रुकोगी दो-एक दिन दिल्ली में या...?''

''नहीं, कल चली जाऊँगी। पहले ही काम में पन्द्रह दिन का गैप पड़ गया है। इस वक़्त निकलकर आने का मौका ही नहीं था। लेकिन वहाँ रहकर दिमाग़ इस तरह ठस्स हो रहा था कि सोचा बिलकुल ही ब्रेकडाउन न कर जाऊँ, इसलिए...।''

नाथ भाई अपने सुझाव सामने रखते हैं। ''बहुत छोटे-छोटे उपायों से आदमी नर्वस ब्रेकडाउन से अपने को बचा सकता है। जैसे...।''

मिसेज़ लल्ला राधा के बारे में पूछती हैं, ''बिटिया किस पर है? उस पर या तुम पर?''

शंकर चाय के लिए कहने के बहाने उठ जाता है, "राधा को भी बता दूँ कि तुम आई हो। उसे पता नहीं चला होगा, नहीं तो अब तक खुद ही इधर आ जाती।''

नाथ भाई मिसेज़ लल्ला से उनका बम्बई का पता पूछते हैं। ''इस बार वहाँ पर ज़रूर मिलूँगा आपसे। अब तक तो जान-पहचान नहीं थी। अब जान-पहचान है, तो...।''

मिसेज़ लल्ला अपनी घड़ी देखती हैं, ''जाने से पहले मुझे अभी शापिंग करनी है।''

नाथ भाई जानने की कोशिश करते हैं कि क्या शापिंग करनी है, कहाँ करनी है। ''जो चीज़ कनाट प्लेस में दस रुपए में मिलती है, वही सदर बाज़ार में पाँच रुपए में मिल जाती है। मैं तो इन लोगों से भी कहता रहता हूँ कि...।''

मिसेज़ लल्ला फिर घड़ी देख लेती हैं। ''शापिंग के बाद एक जगह खाना खाने भी जाना है।''

शंकर हड़बड़ी के साथ दाखिल होता है। ''बस चाय आ रही है। राधा भी आ रही है अभी। बच्ची को फीड दे रही है, इसलिए...।''

चाय की ट्रे मिसेज़ शर्मा लेकर आती हैं। शंकर अटपटे ढंग से परिचय कराता है, "ये हमारी भाभी हैं। मिसेज़ शर्मा। मिस्टर शर्मा मेरे कोलीग हैं। बिलकुल साथ का क्वार्टर इनका है। वैसे हम लोग एक ही घर की तरह रहते हैं। राधा को तो आजकल ये कोई काम करने ही नहीं देतीं...।''

मिसेज़ शर्मा मुस्कुराकर ट्रे रख देती हैं और चाय बनाने लगती हैं। शंकर बात करता जाता है, ''ये मिसेज़ लल्ला हैं। मेरे साथ पढ़ती थीं। इसलिए मैं आज भी पुराने

नाम से ही बुलाता हूँ। सरोज। बहुत दिन विदेश में रही हैं। हस्बेंड डिप्लोमेटिक सर्विस में थे। आजकल बम्बई में...।''

मिसेज़ शर्मा फिर मुस्कुरा देती हैं। मिसेज़ लल्ला उदासीन बनी रहती हैं। चाय की प्यालियाँ देकर मिसेज़ शर्मा चल देती हैं, ''हम पकौड़ी निकालकर भेज रहे हैं उधर से।''

मिसेज़ लल्ला तकल्लुफ़ के साथ घूँट भरती हैं। नाथ भाई के साथ शंकर के चेहरे का मिलान करके देखती हैं कि दोनों में कहाँ और कितनी समानता है। शंकर के दस साल पहले के चेहरे के साथ भी उसके आज के चेहरे का मिलान करती हैं। उनकी आँखों में दूरी बढ़ने लगती है। चाय और सिगरेट दोनों चुप रहने में सहायता करते हैं।

शंकर हर दूसरे क्षण दरवाज़े की तरफ़ देख लेता है। राधा को अब तक आना ही चाहिए था। कहीं फिर से ऐसा तो नहीं होगा कि...?

अन्तराल नाथ भाई की बातों से भरता है। ''मैं इन्हें बता रहा था कि अगर कनाट प्लेस की जगह सदर बाज़ार जाया जाए, तो...।''

दरवाज़े पर राधा के दिखाई दे जाने से शंकर के अन्दर का कसाव ढीला पड़ जाता है। ''कहा था, बच्ची को लेकर आना।''

''वह सो गई है।'' राधा मिसेज़ लल्ला की तरफ़ मुस्कुराती है और अतिरिक्त शिष्टता के साथ उनके साथ की कुर्सी पर बैठ जाती है। उन दोनों में बातचीत शुरू हो जाने से थोड़ी देर के लिए शंकर परिस्थिति से बाहर हो जाता है। ''मुझे इन्होंने बताया ही नहीं कि टेलीफ़ोन आया था आपका और कि आप आज ही मिलने आनेवाली हैं। मैंने बल्कि शिकायत की थी इनसे कि कुल्लू जाते हुए मिलकर क्यों नहीं गईं। खत भी आपका बहुत दिनों में आया था इनके पास। मैं कहती रही इनसे कि जवाब लिख दो, लेकिन स्वभाव इनका तो जानती ही हैं आप। तीन-तीन महीने चिट्ठियाँ पड़ी रहती हैं और ये एक लफ्ज़ भी नहीं लिख पाते किसी को। कई बार तो इतनी-इतनी ज़रूरी चिट्ठियाँ लिखने से रह जाती हैं...।''

मिसेज़ लल्ला हैंड-बैग से चाँदी का झुनझुना निकालती हैं, ''और कोई चीज़ मुझे मिली ही नहीं जल्दी में। अगली बार आऊँगी, तो...।''

मिसेज़ शर्मा पकौड़ी की तश्तरी ले आती हैं, ''ठीक से सिकी ही नहीं जल्दी में!'' वे मिसेज़ लल्ला के अतिरिक्त राधा को भी अनुरोध से खिलाती हैं। ''अच्छी नहीं हैं, फिर भी दो-एक तो ले ही लो। गुन्नू से पान लाने के लिए कह दिया है मैंने।''

मिसेज़ लल्ला के सहसा चलने के लिए तैयार हो जाने पर शंकर उनसे पहले कमरे से बाहर निकल आता है। ''अन्दर तो इतना घुटा-घुटा लगता है मुझे कि...।'' मिसेज़ लल्ला और राधा साथ-साथ अहाते की तरफ़ मुड़कर अपनी-अपनी दिशा से

चली जाती हैं। नाथ भाई दहलीज़ तक आकर वहीं रुके रहते हैं। ''आपका पता नोट कर लिया है मैंने। हफ्ता-दस दिन में अब मैं भी बस चलने ही वाला हूँ यहाँ से।''

शंकर जानते हुए भी कि मिसेज़ लल्ला गाड़ी में आई होंगी और गाड़ी स्कूल के गेट के पास खड़ी होगी, एक बार पूछ लेता है, ''गाड़ी में आई हो, या...?''

मिसेज़ लल्ला जानते हुए भी कि वह गेट तक साथ चलेगा, कह देती हैं, "तुम बैठो अगर...।''

शंकर नाथ भाई को, और उनके माध्यम से जैसे घर के सभी कमरों को, सूचना देकर मिसेज़ लल्ला के साथ चल देता है, ''मैं अभी आ रहा हूँ इसे गेट तक पहुँचाकर।''

स्कूल के अन्दर की सड़क पर चलते हुए मिसेज़ लल्ला के और अपने कन्धे के फ़र्क को देखता है। राधा के और उसके क़द में कितना ज़्यादा फ़र्क है। अगर राधा कुछ और ऊँची होती और दोनों में लगभग इतना ही फ़र्क होता...। अगर राधा भी इसी तरह तनकर मेडनफार्म के उभार के साथ चल सकती...।

मिसेज़ लल्ला उसके देखने को महसूस करती कहती हैं, ''घर अच्छा है तुम्हारा।''

शंकर को बात ताने की तरह लगती है। दस साल पहले की बात याद आती है, जब बिजनौर में उसने कहा था, ''मैं अपने लिए इस तरह का घर चाहती हूँ जिसमें...।''

मिसेज़ लल्ला उसकी आँखों के अर्थ को भाँपती कहती हैं, ''सचमुच अच्छा है।''

शंकर उखड़े-उखड़े वाक्यों में बात करने लगता है। ''मैंने तुम्हें जान-बूझकर नहीं रोका। ऐसे ही कुछ हो जाता है किसी-किसी दिन। सोचा था आओगी, तो खाना खाकर ही जाओगी। मैं समझ गया था क्यों उठने की जल्दी हो रही है। कुछ बातें होती हैं जो आदमी कोशिश करके भी नहीं समझा पाता किसी को। पहले सोचा था तुमसे बाहर मिलने का ही तय करूँ, जिससे...।''

मिसेज़ लल्ला पूछ लेती हैं, ''राधा के डिलीवरी नार्मल हुई है? मुझे तो काफ़ी अनेमिक दिख रही थी वह।''

स्कूल के कुछ लड़के पास आकर पूछ लेते हैं, ''सर, कल तो आप रिहर्सल लेंगे न?''

लड़कों के पास से आगे निकलते ही विश्वेश्वरजी दिख जाते हैं। ''राठी के यहाँ चलोगे एक मिनट? हम तुम्हारे यहाँ से उठकर उसके यहाँ गए, तो देखा कि वहाँ...।'' और वहाँ से गेट तक विश्वेश्वरजी का साथ बना रहता है। ''तुम विदा कर लो इन्हें। बस लौटते हुए एक मिनट ज़रा...।''

राठी के यहाँ से लौटने में वह जान-बूझकर रात कर देता है। लौटकर दबे पैरों अपने कमरे की तरफ़ जाने लगता है, तो गुन्नू रास्ते में मिल जाता है। ''भाभी को

उलटियाँ हो रही है, मगर कह रही हैं, डाक्टर को नहीं बुलाना है। बड़ी दीदी कल सुबह की बस से जाना चाहती हैं, पूछ रही हैं कि सीटों का पता अड्डे पर जाकर करें या किसी को भेजकर पहले पुछवाया जा सकता है?''

बेड-रूम का दरवाज़ा बन्द कर लेने से बाहर की आवाजें रुक जाती हैं। उस दरवाज़े के सिवा कमरे में हवा या रोशनी का आने का कोई रास्ता नहीं है।

साथ-साथ लगे दो बिस्तर और एक बेबी-काट। इनके बाद मुश्किल से एकाध स्टूल के लिए ही जगह बचती है। अगर कभी कोई कुर्सी अन्दर ले आई जाए, तो उससे चलने-फिरने का रास्ता रुक जाता है।

उस कमरे में होने का मतलब होता है बिस्तर पर लेटे रहना। इसके अलावा वहाँ शरीर की कोई व्यवस्था बनती ही नहीं, जब तक कि चाय-आय के लिए उठकर बैठने का बहाना न हो।

राधा ज़्यादातर दरवाज़े की तरफ़ पीठ करके लेटती है। जिससे अचानक दरवाज़ा खुलने पर वह उस तरफ़ देखती न पाई जाए। बेबी-काट भी इसलिए उसने उस तरफ़ रख रखी है। बेबी कुनमुनाने लगती है, तो वह लेटे-लेटे हाथ बढ़ाकर काट को हिला देती है।

बाहर से पैरों की आहट का पता नहीं चलता, फिर भी दरवाज़ा खुलने के खटके से ही अन्दाज़ा हो जाता है कि आनेवाला कौन हो सकता है। मिसेज़ शर्मा आती हैं, तो दरवाज़ा आहिस्ता से बहुत हलकी महीन आवाज़ के साथ खुलता है। बात शुरू करने से पहले मिसेज़ शर्मा को थोड़ी देर रुकना पड़ता है। ''मैं कहने आई थी कि थोड़ी-सी खिचड़ी तो खा लेतीं।''

राधा करवट बदलकर उधर देखती है। ''अन्दर टिकेगी नहीं, क्या फायदा?''

''भूख से कमज़ोरी और बढ़ जाएगी।''

''क्या किया जा सकता है?''

''अगर डॉक्टर को नहीं बुलाना है, तो कम-से-कम पिछली बार वाली दवाई ही... ।''

''कुछ फायदा नहीं होगा उससे।''

''कम-से-कम कुछ तो ऐसा करो जिससे... ।''

''अपने-आप ठीक हो जाएगा सब।''

जैसे कि एक खेल चलता है दोनों के बीच। मिसेज़ शर्मा जिस बात से भी शुरुआत करें, राधा को उसे तुरन्त दबा देना होता है। उसे लगता है कि उसे ज़बरदस्ती की सहानुभूति दी जा रही है जिसे वह किसी भी तरह झेल नहीं सकती। क्यों यह स्त्री उसे अपनी ज़िन्दगी अपने ढंग से जीने के लिए अकेली नहीं रहने देती?

क्यों उसके घर के हर कोने में, हर कमरे में, यह अपनी उदारता लिये आ दाखिल होती है? क्यों यह अपने को अपने घर की ज़रूरतों तक सीमित नहीं रखती? इस घर में अगर एक बर्तन भी छनकता है, तो क्यों यह उसकी खबरदारी रखना अपना फर्ज़ समझती है?

मिसेज़ शर्मा उसकी बेरुखी को देखती हैं, सहती हैं और साथ-साथ क्षमा करती जाती हैं। भाई साहब की खातिर। वे कुछ देर आँखें झपकती चुप खड़ी रहती हैं। अगर भाई साहब की ज़िन्दगी इससे न जुड़ी होती, तो वे कभी इससे कुछ पूछने, कुछ कहने के लिए न आतीं। अगर इतना भी होता कि भाई साहब इन सब चीज़ों की परेशानी अपने मन से दूर रख सकते। भाई साहब की आँखों में कैसे अजीब-से डोरे नज़र आने लगते हैं आजकल...।

''कम-से-कम चाय तो मैं भिजवा ही देती हूँ एक प्याली।''

''भिजवा दीजिए चाहे। पर पी नहीं जाएगी मुझसे।''

बड़ी दीदी आती हैं, तो दरवाज़ा बड़े नाटकीय ढंग से सपाट खुल जाता है। ''हम लोग जा रही हैं कल सुबह यहाँ से। मैंने सोचा, तुम्हें बता तो दूँ ही।''

राधा फिर करवट बदल लेती है। ''मैं भी चली जाऊँगी, कल या परसों। बल्कि कल ही किसी वक़्त।''

''तुम्हारा जाना तुम पर है। बिजनौर में कुछ कहलवाना हो किसी से, तो बता देना।''

''नहीं, कहलवाना कुछ नहीं है किसी से।''

दरवाज़ा जिस तरह खुलता है, उसी तरह बन्द हो जाता है।

शंकर के अन्दर आने पर दरवाज़े से ज़्यादा दरवाज़े की कुंडी आवाज़ करती है और सिर्फ़ एक ही किवाड़ खुलता है। खुलने के साथ ही वह बन्द हो जाता है और आगे पर्दा खींच दिया जाता है।

राधा करवट नहीं बदलती। बेबी को ताकती चुपचाप पड़ी रहती है।

शंकर पंखा तेज़ करता है। ''इतनी गर्मी में भी पता नहीं कैसे अन्दर पड़ी रहती हो तुम। हवा से भी कुछ नाराज़गी है क्या?''

''बेबी ठंड खा जाएगी,'' राधा एकदम से शुरू करती है। ''पहले ही दिन-भर खाँसती रही है।''

शंकर पंखे की स्पीड एक नम्बर कम कर देता है। ''दिन-भर बन्द कमरे में रहेगी, तो बीमार पड़ेगी ही। कितने दिनों से तुमसे कह रहा हूँ कि अब चारपाइयाँ बाहर निकलवाकर सोना शुरू कर।''

राधा का सिर आहिस्ता से घूमता है। ''मैंने कभी तुम्हें मना नहीं किया। तुम्हारे लिए एक चारपाई कब से निकलवा रखी है।''

''तो तुम्हारा ख़याल है मैं अकेला सोऊँगा बाहर?''

"क्यों, अकेले सोने में क्या है? मैं कल चली जाऊँगी, तब भी क्या अन्दर सोते रहोगे?"

शंकर देर तक उसे एकटक देखता है। वह उससे आँख नहीं मिलाती। "तो तुम्हारा जाना बिलकुल तय समझूँ न मैं?"

"तय अब नए सिरे से होना है क्या?"

शंकर की आधी साँस मुँह से आने लगती है। "ठीक है। लेकिन तुम्हारे वहाँ से लौटकर आने का कोई दिन तय नहीं है। यहाँ से तुम अपनी मर्ज़ी से जा सकती हो, वहाँ से अपनी मर्ज़ी से नहीं आ सकतीं। यह कोई मुसाफिरखाना नहीं है कि जब चाहा सामान ले गए, जब चाहा ले आए।"

राधा उठकर बैठ जाती है। "जितने-जितने लोग आकर पड़े रहते हैं, उससे मुसाफिरखाने से कुछ कम भी नहीं लगता मुझे।"

शंकर का मन होता है कि एकदम चिल्लाकर कुछ कहे। लेकिन पीछे दरवाज़े की तरफ़ देखकर उसका स्वर उलटे काफ़ी धीमा हो जाता है। "सब लोग जा रहे हैं कल यहाँ से। तुम्हारी इन्हीं बातों के मारे।"

"सब लोग मान्नी?"

"सब लोग यानी सब लोग। बड़ी दीदी और मुन्नी दीदी तो जा रही हैं, मैं, गुन्नू और पुन्नू से भी कह दूँगा कि अपने बिस्तर बाँध लें। नाथ को भी जाना ही है। दो दिन बाद नहीं, दो दिन पहले सही। बाक़ी रह गए पापा...।"

"इतना सब किसकी खातिर कर रहे हो तुम?"

शंकर का स्वर थोड़ा हकला जाता है "मतलब?"

"मैं खुद जा रही हूँ, तो मेरी खातिर तो भेज नहीं रहे हो। अगर मेरे पीछे से तुम्हें ख़ाली घर चाहिए, तो अपने ही किसी मतलब से चाहिए होगा।"

शंकर बढ़कर उसे कन्धे से पकड़ लेता है। "यहाँ मुझे किसी के साथ वह सब करना है न?"

राधा झटके से कन्धा छुड़ा लेती है। "हाथ परे रखना। यह सब अब मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा।"

"तुम नाम लो उसका, जिसकी खातिर मैं घर ख़ाली करवा रहा हूँ।"

"नाम लेने की भी ज़रूरत है क्या? मेरे सामने बैठे हुए तुम्हारी आँखें ब्लाउज़ के अन्दर घुसी रहती हैं।"

"तुम्हें बिलकुल शर्म-हया नहीं है?"

"मुझे नहीं है या उन्हें नहीं है? मरदों के बीच बैठने का यह तरीका है उनका कि जाँघें आधी कुर्सी से बाहर निकालकर हौले-हौले हिलाती रहें, किसी की नज़र अपनी नाभि पर पड़ती देखें, तो मुस्कुरा दें, पिछवाड़े के पास हर वक़्त साड़ी के बल

ठीक करती रहें और पसीना पोंछने के बहाने बार-बार छातियों के बीच उँगली से...।''

शंकर आँखें मूँदकर स्टूल पर बैठ जाता है। ''तुम्हारा यहाँ से चली जाना ही बेहतर है। हो सकता है कुछ दिन यहाँ से दूर रहने से...''

''ठीक हो जाऊँगी या जो भी हो जाऊँगी, पर यहाँ पर आराम हो ही जाएगा सब लोगों को।''

शंकर की आँखें आहिस्ता से खुलती हैं। ''देखो राधा...''

राधा तकिए पर सिर गिरा लेती है। ''धीमे बोलो, बच्ची उठ जाएगी। राधा ने बहुत कुछ देख लिया है पहले ही। और क्या देखना बाक़ी रहा है अब?''

बेड-लैम्प की सिमटी हुई रोशनी में बिना पढ़े किताब के दो-एक पन्ने पलट लेने के बाद शंकर उकताकर किताब को स्टूल पर रख देता है। अलमारी में भरी हुई कितनी ही किताबें थीं जो जब-तब उत्साह से खरीदी थीं, मगर जिन्हें पढ़ पाने की नौबत ही नहीं आती थी कभी। इसी तरह कभी एक या दूसरी किताब को निकालना, पन्ने पलटना और रख देना।

अलमारी के सामने खड़े होकर उनके शीर्षकों को पढ़ना, बाहर निकालकर उनकी धूल झाड़ना और कल से पढ़ने का निश्चय करके आज के लिए ख़ाली हो रहना...।

राधा की साँस से लगता है कि वह सो गई है। पंखा एक छोटे-से घेरे में जैसे सिर्फ़ अपने लिए ही हवा बिखेरता है। बेबी गर्मी से बौखलाकर जाग जाती है, रोती है, हाथ-पैर पटकती है और फिर सो जाती है। शंकर लैम्प बुझाकर सोने की कोशिश करता है। बिलकुल अँधेरा हो जाने पर भी उसकी आँखें कमरे में सबकुछ देखती हैं। दोनों बिस्तरों की मुचड़ी चादरें, दरवाज़े की बन्द कुंडी, कोने की तिपाई पर दवाइयाँ और टाइमपीस। तकिया गरम लगता है, तो वह उसे उलटा लेता है। लेकिन चादर, पलंग और अपना-आप...?

वह लैम्प फिर जला लेता है। टाइमपीस में वक़्त देखता है। कमरे की दीवारें उसे बहुत पास-पास लगती हैं। आहिस्ता से दरवाज़े की कुंडी खोलकर वह बाहर निकल आता है।

तीन तरह के खर्राटे एकसाथ सुनाई देते हैं। बड़ी दीदी जैसे एक-एक साँस में हवा का एक-एक घूँट भरती हैं। पापा के गले में कोई लकड़ी अटक गई लगती है। नाथ भाई सबसे ऊँची और निश्चिन्त आवाज़ में अपनी धौंकनी चलाए जाते हैं।

फ्रिज़ से पानी की बोतल निकालकर वह एक ही बार में तीन-चौथाई ख़ाली कर देता है। बड़ी दीदी जाग जाती हैं। कौन है?''

''कोई नहीं।'' वह फ्रिज़ बन्द करके ड्राइंग-रूम की तरफ़ बढ़ जाता है। पर वहाँ नाथ भाई सोफे और कुर्सियों के बीच इस तरह लेटे नज़र आते हैं कि बिना उनसे टकराए पास से निकलना असम्भव लगता है। उधर से हटकर वह कुछ देर तक बीच के कमरे में रुका रहता है, इधर-उधर नज़र दौड़ाता है और निकलकर बाहर अहाते में आ जाता है। वहाँ भी सामने बिछी चारपाई रास्ता रोकती है। एक त्रिभुज में टाँगें फैलाए पुन्नू नींद में मुस्कुराता-सा लगता है। उसके पास से गुज़रने तक एक छाया स्टडी से बाहर निकल आती है। गुन्नू। ''शंकर भाई, आप अगर इधर सोएँगे, तो मैं आज शर्माजी के यहाँ...''

''क्यों, तूने अपनी चारपाई पापा के कमरे में नहीं बिछाई?''

''मेरी चारपाई वहीं है, लेकिन मुकुन्द भाई आ गए थे थोड़ी देर पहले। आपको पता न चले; इसलिए पीछे की तरफ़ से आए थे चुपचाप। मेरी चारपाई उन्होंने ले ली है। बोले सुबह तक बताना नहीं। कल शायद भाभी को भी ले आएँगे। ससुराल वालों से लड़ाई हो गई है उनकी।''

शंकर कुछ देर ख़ामोश खड़ा रहता है। गुन्नू आँखें झपकता उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता है। ''तो मैं अपना तकिया लेकर...?''

''तू सोया रह जहाँ सोया है।'' झिड़कने की तरह शंकर झटके-से दरवाज़े की कुंडी खोलता है, और क्वार्टर के बाहर पहुँच आता है। पुन्नू की तरह टाँगें फैलाकर सोई सड़क। हाई वॉल्टेज और लो वॉल्टेज के बीच लड़खड़ाती खम्भों की रोशनी। मार्केट की सड़क पर मरियल चाल से चलता एक आदमी। सामने की तरफ़ एक नई खड़ी होती इमारत के सींखचे। ढेरों ईंटें, गारा और सीमेंट। वह दरवाज़े से थोड़ा हटकर क्वार्टर की तरफ़ मुँह करके खड़ा हो जाता है और पाजामे का नाड़ा खोल लेता है।

पहचान

क्लास में रोल-काल ली जा रही थी—साधना मेहरा...किशोर सेठी...विक्रम शर्मा...केशव ठुकराल...विनीता त्यागी...।

शिवजीत के हाथ में उसकी पेंसिल काँप रही थी। फिर भी कापी के हाशिये पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खिंचती जा रही थीं...कई तरह के बेडौल चेहरे बनाती लकीरें। मिस मैथ्यू के मुँह से सुनाई देता हर नाम जैसे हवा में उड़ता आकर उसके कानों में धँस जाता था। अरुण अरोड़ा...मनोहर खन्ना...रोहिणी दासगुप्ता...विकास आनन्द...माधवी सक्सेना...। उसे लग रहा था जैसे उसके घुटने आपस में जुड़ गए हों और पैर ज़मीन से ऊपर उठे आ रहे हों। पैरों को जैसे कोशिश से ज़मीन पर टिकाए हुए उसने घुटनों को अलग-अलग करके थोड़ा हिला लिया।...विभूति श्रीवास्तव, मंगल तनेजा...इसके बाद ही वह नाम था जिससे वह बचना चाहता था...शिवजीत अबरोल।

उसकी पेंसिल अपनी जगह पर कस गई। पलकें भारी हो उठीं। हलके बुदबुदाने के स्वर में उसने कहा, "प्रेजेंट" और रोल-काल आगे बढ़ गई। लेकिन इस बीच मिस मैथ्यू की आँखें पल-भर उसके चेहरे पर रुकी रहीं। इससे उसके नाम और अगले नाम...नीलिमा भारद्वाज...के बीच हलका वकफा पड़ गया जिसे मैथ्यू ने अपने होंठों पर ज़बान फेरकर भर लिया। उस वकफे में आसपास से कई आँखें आधी-पौनी उसकी तरफ़ घूम गईं। कुछ आँखें सिर्फ़ एक-दूसरी की तरफ़ घूमकर हलकी मुस्कुराहटों के बाद फिर सीधी हो गईं। नीलिमा भारद्वाज को अपना नाम बुलाए जाने का एहसास तुरन्त नहीं हुआ। पर इससे पहले कि मिस मैथ्यू अगला नाम बुलाती, वह झटके के साथ बोल उठी, "प्रेजेंट, मिस!"

रजिस्टर बन्द करके मिस मैथ्यू ने किताब खोल ली। शिवजीत ने भी वह पन्ना खोलकर सामने रख लिया जहाँ से उन्हें पढ़ाई करनी थी। मिस मैथ्यू की चीख़ती हुई पतली आवाज़ कमरे में गूँजने लगी। शिवजीत ने कई बार कोशिश की कि सामने के शब्दों के साथ उस आवाज़ का सम्बन्ध जोड़ता चल सके। लेकिन छपे हुए शब्द उसे सिर्फ़ स्याही के छोटे-छोटे दाग नज़र आ रहे थे और मिस मैथ्यू की आवाज़ लग रही थी जैसे वह छत के पंखे की 'हिचकू-हिचकू' और बाहर लॉन में चिरती लकड़ी की

'सी-सा सी-सा' का ही एक हिस्सा हो। हाज़िरी का जवाब देने के बाद से उसके कान काफ़ी सुर्ख हो गए थे। उस सुर्खी की आँच उसे अपने गालों पर फैलती महसूस हो रही थी। पीठ और गर्दन की गाँठ पर जैसे छिपकली चिपक गई थी। उसने दो-एक बार गर्दन ऊँची करके उस छिपकली को झाड़ देने की कोशिश की। मगर इससे उसे लगा जैसे छिपकली गाँठ के अन्दर धँसती जा रही हो। वह आँखें झपकता हुआ कुछ देर मिस मैथ्यू की तरफ़ देखता रहा, फिर किताब कुहनियों के बीच रखकर चेहरा हाथों पर टिकाए सामने के उलझे हुए शब्दों को अलग-अलग करने की कोशिश करने लगा।

शिवजीत अबरोल...।

उसके दिमाग़ में रोल-काल अब तक चल रही थी। यह रोल-काल हर बार विभूति श्रीवास्तव से शुरू होती थी और नीलिमा भारद्वाज पर आकर समाप्त हो जाती थी। हर बार शिवजीत अबरोल पर आकर मिस मैथ्यू की आँखें पल-भर उसके चेहरे पर अटकी रहती थीं। हर बार नीलिमा भारद्वाज मुस्कुराहटों के हलके वकफे के बाद एक झटके के साथ कहती थी, "प्रेजेंट, मिस!" उसके बाद दो-तीन नाम और लेकर मिस मैथ्यू रजिस्टर बन्द कर देती थी, फिर खोल लेती थी, और रोल-काल नए सिरे से शुरू हो जाती थी–विभूति श्रीवास्तव...मंगल तनेजा...।

छह-सात दिन पहले तक मंगल तनेजा के बाद जो नाम आता था, वह था... शिवजीत सचदेव। मिस मैथ्यू बिना रुके सब नाम बोलती जाती थी। वह बिना सोचे जवाब दे देता था, "प्रेजेंट।" मगर उस दिन पहली बार मिस मैथ्यू ने शिवजीत सचदेव की जगह शिवजीत अबरोल का नाम लिया, तो सारी क्लास में एक भिनभिनाहट दौड़ गई थी। मिस मैथ्यू की ज़बान सचदेव बोलते-बोलते अटककर अबरोल कह पाई थी। वह जानता था उस दिन से उसे इस नाम से बुलाया जाएगा मगर उस वक़्त उसे कुछ ऐसे लगा था जैसे भरी क्लास में उसकी नेकर उतारकर उसे नंगा खड़ा कर दिया गया हो। मिस मैथ्यू ने उस दिन उसके 'प्रेजेंट' कहने का इन्तज़ार नहीं किया था। चुपचाप उसकी हाजिरी लगाकर आगे बढ़ गई थी।

उसकी पेंसिल अब किताब के शब्दों के गिर्द दायरे बना रही थी। सो, सिट, स्टिल, सेफ। उसकी आँखें और ऐसे शब्द ढूँढ़ रही थीं जो एस् से शुरू होते हों। सेम, सोर, साइड, साल्ट। जब भूरे पन्ने पर और ऐसा कोई शब्द नहीं रह गया तो वह हर एस् की गोलाइयों को अन्दर से भरने लगा।

शिवजीत सचदेव...ये शब्द पहले कभी उसके मन में अलग-अलग नहीं हुए थे। शिवजीत का मतलब था सचदेव, सचदेव का मतलब शिवजीत। साथ-साथ इन दोनों का मतलब वह सब जो कि वह था...एक लड़का, उम्र ग्यारह साल तीन महीने, रंग गोरा, क़द चार फुट चार इंच, चेहरा गोल, जिस्म भारी, हर वार्षिक परीक्षा में पहला, दूसरा या तीसरा, दाएँ हाथ पर एग्ज़ीमा, मसाना एक तरफ़ से भारी जिसके कारण

उसे हार्निया की पेटी बाँधनी पड़ती थी, खेल-कूद से माफ। घर में ममी, शिव, शिवी, जीत और जीती कहकर बुलाती थी। स्कूल में नाम चलता था सचदेव। शिवजीत सचदेव अर्थात् 'वह' अर्थात्' 'मैं'। लेकिन अब?

शब्द उसके सामने से गायब हो गए थे। जिस मैथ्यू की आवाज़ भी जैसे दूर से सुनाई दे रही थी। हिचकू-हिचकू-हिचकू। सी-सा सी-सा सी-सा। घर का बेडरूम। दो बिस्तर। एक पर वह! दूसरे पर ममी! वह सो गया है। सोया नहीं, सोने का बहाना कर रहा है। अभी ममी उसे सोया जानकर उठने लगेगी, तो वह गले से हलकी-सी आवाज़ पैदा करेगा। ममी उकताए स्वर में डाँटेगी, "तू अभी सोया नहीं न?" वह खिलखिलाकर हँसेगा और उठकर ममी के पेट से नाक रगड़ने लगेगा। "नहीं सोया, नहीं सोया, नहीं सोया।" ममी हताश-सी फिर उसके पास लेट जाएगी। वह ममी का हाथ पकड़े इस बार सचमुच सो जाएगा...

...बाहर के कमरे से कुछ लोगों की मिली-जुली आवाजें आ रही हैं। ममी के साथ उन लोगों का किसी बात पर झगड़ा हो रहा है। झगड़े में बार-बार उसका नाम आ जाता है। झगड़नेवालों में एक आदमी वह भी है...पापा। उस आदमी से वह दिल्ली जाने पर मिला करता है। वह उसे अपने साथ घुमाने ले जाता है। कभी चिड़ियाघर में, कभी शंकर के गुड़ियाघर में। उसे किताबें और खिलौने खरीद देता है। फिर उसे 'चाचाजी' के घर के बाहर छोड़ जाता है जहाँ वह ममी के साथ ठहरा होता है। पर आज वह आदमी पहली बार मसूरी में उनके यहाँ आया है। ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा है। कह रहा है वह शिवजीत को अपने साथ लेकर जाएगा। वह नहीं समझ पा रहा कि इसमें एतराज़ की कौन-सी बात है। पापा के साथ जाएँगे, तो शंकर का गुड़ियाघर देखेंगे। पनीर के सैंडविच खाएँगे। आंटी पूछेगी, "तू अब किस क्लास में पढ़ता है, शिवजीत?" फिर कहेगी, "देखो, यह लड़का किस तरह शरमाता है।!" वह पापा का हाथ कसकर और आंटी का हाथ हलके थामे हुए दोनों के बीच चलता रहेगा। फिर उसके जन्मदिन पर एक पार्सल आएगा। कैमरा या ट्रांज़िस्टर। ममी कहेगी, "रख दे अलमारी में। तेरे पास अपने वाला ट्रांज़िस्टर तो है ही।" वह ममी के सामने ममी वाला ट्रांजिस्टर चलाएगा। सोम मामा का लाया हुआ। ममी की ग़ैरहाज़िरी में कभी-कभी पापा वाला ट्रांजिस्टर भी चला लेगा...मगर ममी तो कह रही है, वह पापा के साथ जाने ही नहीं देगी। कभी नहीं जाने देगी। तो अब पापा के साथ जाकर शंकर का गुड़ियाघर कभी नहीं देखेंगे?

...ममी तमतमाई हुई बाहर से आती है। "तुझसे कहा था बाहर जाकर खेल, तू अब तक यहीं क्यों खड़ा है?" उसका खेलने को मन नहीं है। कहीं जाने को मन नहीं हे। लेकिन वह चुपचाप बाहर चला जाएगा। एक कबूतर पकड़कर उसके पैर में डोर बाँधने की कोशिश करेगा। फिर उस कबूतर को उड़ाएगा। घर लौटने तक

झगड़ा करनेवाले जा चुके होंगे। घर ख़ाली होगा। ममी भी नहीं होगी। चाँदराम दूध का गिलास लिये-लिये उसके पीछे-पीछे घूमेगा। "दूध पी ले, बाबा!" लेकिन वह दूध नहीं पिएगा। ट्रांजिस्टर बगल में लिये मुँह ढककर बिस्तर पर पड़ जाएगा...

...एक बन्द कमरा। अबरोल अंकल के घर का। अबरोल आंटी के मरने के बाद से ममी हर शाम वहीं बिताती है। बन्द दरवाज़े पर बाहर से खट्-खट्। "ममी, दरवाज़ा क्यों नहीं खोलतीं?" अन्दर से अबरोल अंकल की आवाज़, "अभी बाहर खेल शिवजीत, तेरी ममी सो गई है कुछ देर के लिए।" वह चुपचाप खेलता रहेगा, मगर दरवाज़े के पास से नहीं हटेगा। ममी सो रही है, तो भी दरवाज़ा बन्द क्यों है? वह तो रोज़ ममी के पास सोता है...रात को। फिर इस समय क्यों वह ममी के पास नहीं जा सकता? थोड़ी देर में दरवाज़ा खुलेगा। अबरोल अंकल मुस्कुराते हुए बाहर आकर ठंडे हाथों से उसके गाल सहलाएँगे। "आ रही है अभी तेरी ममी बाहर।" थोड़ी देर में ममी बाहर आएगी। पर ऐसे नहीं जैसे नींद से उठी हो। होंठों पर ताज़ा लिपस्टिक। बाल जैसे अभी-अभी बाँधे गए। अबरोल अंकल से कहेगी, "इसके लिए वे लाने हैं जाकर... बाइनाक्युलर्ज किसी दिन...कितने दिनों से माँग रहा है। इसके पास हैं पहले...वहाँ से आए हुए...पर पाँच-छह साल के बच्चों लायक हैं वे... ।" अबरोल अंकल खाँसेंगे। उसके गालों को फिर ठंडे हाथों से छुएँगे। कहेंगे, मैं लेता आऊँगा किसी दिन बाज़ार जाऊँगा तो... ।"

...मसाने पर पेशाब का दबाव। पर अभी पेशाब रोके रहेगा। घर आकर करेगा। यह घर अबरोल अंकल का है। उनके बच्चों में से कोई देख लेगा कि उसने हार्निया की पेटी बाँध रखी है, तो? ममी कब से कहती है, "तेरा आपरेशन कराना है।" पापा भी हर बार दिल्ली में कहते थे "तेरा आपरेशन बम्बई चलकर कराएँगे...तू लिखना मुझे किन दिनों बम्बई चल सकता है दस-पन्द्रह रोज़ के लिए।" वह कहता था, "आप ममी को लिखकर पूछ लें।" पर पापा ममी को नहीं लिखते थे। ममी पापा को नहीं लिखती थी। सिर्फ़ पेटी बाँधती हुई कह देती थी, "तेरा आपरेशन कराना है कभी चलकर।" स्कूल में भी इसी वजह से पेशाब रोके रहता था। अगर लड़कों ने उसकी पेटी देख ली, तो? घर आते ही दौड़ता हुआ बाथरूम जाता था। अब भी ममी जल्दी चले, तो किसी तरह घर पहुँचते ही बाथरूम की तरफ़ भागेंगे। कहीं ऐसा न हो कि बाथरूम के बाहर ही पेशाब निकल जाए जैसा कि उस दिन हुआ था।...कहीं यह भी न हो कि ममी यहाँ अबरोल अंकल को वह सब बताने लगे। "इसके पापा के ताया जी को भी थी यह बीमारी, चाचा को भी... खानदानी है इन लोगों में यह।" अगर ममी ने शुरू की कहनी यह बात, तो वह ज़बर्दस्ती उसका मुँह बन्द कर देगा। किसी के सामने यह बात नहीं कहने देगा...

...लदता सामान। चाँदराम चेहरा लटकाए कुलियों-मज़दूरों से धीमे स्वर में बात करता हुआ। "हम तो कब से देख रहे थे। अब खुलेआम हो गया है बस।" चाँदराम

की नौकरी छुड़ा दी गई है। वह कल-परसों अपने गाँव चला जाएगा। वे लोग भी अब स्कूल के क्वार्टर में नहीं रहेंगे। अबरोल अंकल के घर चले जाएँगे। ''अबरोल अंकल नहीं...अब से वे पापा हैं तुम्हारे।'' उसे पहले से अन्देशा है कि उससे ऐसा कहने को कहा जाएगा। अरुण कपूर दो-तीन दिन से स्कूल में उससे पूछ रहा था, सब लड़के-लड़कियों के सामने, ''क्यों शिवजीत, डॉक्टर अबरोल, एम.बी.बी.एस. क्या लगते हैं तुम्हारे?'' उस दिन से ही जिस दिन से ममी ने स्कूल से छुट्टी ले रखी थी। एक दिन उसने कहा था, ''अंकल लगते हैं वे मेरे।'' दूसरे दिन दाँत बिचकाए थे। तीसरे दिन रो दिया था। अब उनका सामान भी अबरोल अंकल के घर चला जाएगा, तो अरुण स्कूल में फिर पूछेगा। इस बार वह उसके बाल नोंच लेगा...

...दो बिस्तर। एक पर ममी। दूसरे पर अबरोल अंकल। ''अबरोल अंकल नहीं...'' उसके और अबरोल अंकल के बीच ममी एक बीमार की तरह लेटी है। उसे तेज़ पेशाब लग रहा है, पर उसका कहने का हौसला नहीं हो रहा। अबरोल अंकल अपनी तरफ़ से बहुत आहिस्ता बात कर रहे हैं, शब्दों को गड़मड़ाते हुए–''अब भी साथ सोया करेगा यह? इतना बड़ा हो गया है, इसे अकेले सोना चाहिए। और भी तो चारों बच्चे अलग कमरे में सोते हैं।'' ममी भी उतने ही आहिस्ता बात करती है। ''इसे नहीं सुला सकती अकेला। रात को सोए-सोए अब भी इसका पेशाब निकल जाता है।'' वह अपना पेशाब और भी कसकर रोक लेता है। अब चाहे जो भी हो जाए, वह रात को बिस्तर में पेशाब नहीं निकलने देगा। कल खुद ही ममी से कहकर दूसरे कमरे में सो जाएगा। अबरोल अंकल और उनके बच्चों के सामने कभी पेटी नहीं बदलेगा। ममी से कह देगा कि किसी को उसकी पेटी की बात न बतलाए...

...ज़ीना। उसे ऊपर से नीचे चले आने को कहा गया है। पर वह आधा ज़ीना उतरकर वहीं बैठ गया। ममी स्कूल से एक चिट्ठी लेकर आई है। ऐसे हो रही है जैसे चार मील की रिले-रेस दौड़कर आई हो। अबरोल अंकल ने चुपचाप चिट्ठी पढ़ ली है और उसे कमरे से भेज दिया है। चलते-चलते उसने ममी को सिर्फ़ इतना कहते सुना है, ''मैं उस आदमी को इसे किसी हालत में नहीं ले जाने दूँगी। कानून-आनून मैं कुछ नहीं जानती। ग्यारह साल मैंने इसे पाला है...।'' उसे पता है कि उसे ज़ीने में बैठे देख लिया गया, तो उसे ज़ोर की डाँट पड़ेगी। आजकल बहुत-सी बातें होती हैं जो उसे नहीं सुननी चाहिए। कितनी बार उसे कमरे में भेज दिया जाता है। फिर भी बहुत कुछ उसने सुन लिया है। पापा उसे अपने साथ दिल्ली ले जाना चाहते हैं। लिखते हैं वे मसूरी उसे लेने आएँगे। उन्हें अब तक पता ही नहीं है कि उसका नाम स्कूल के रजिस्टर में शिवजीत सचदेव से बदलकर शिवजीत अबरोल करा दिया गया है। तो अब वह असल में क्या है? सचदेव या अबरोल? या दोनों ही नहीं?...और पापा आएँगे, तो क्या आंटी भी उनके साथ आएगी? अगर पापा आएँ, और वह उनके साथ

चला जाए, तो आंटी को भी पेटी का पता चल जाएगा। इसीलिए तो पापा के यहाँ जाकर भी वह अपना पेशाब रोके रहता है। अगर वहाँ जाकर रहना पड़ा, तो रोज़ रात को चादर कैसे बदला करेगा?...

...सड़क। इतने दिनों में पहली बार ममी उसके साथ अकेली बाहर निकली है। अबरोल अंकल के साथ उसकी काफ़ी देर बात होती रही है। "तू उनके बच्चों के साथ घुलता-मिलता क्यों नहीं?...वे तुझे इतना प्यार करते हैं।" वह चुपचाप रहता है। सुखदेव अबरोल उससे तीन साल बड़ा है...जब भी उसे अकेला पाता है, उसे घूरकर देखता है। बाक़ी तीनों...नीना, मीना और बसन्त उससे अलग-थलग बड़े भाई से खुसर-पुसर बातें करते हैं। साथ खेलने के लिए बुलाते हैं जैसे किसी मेहमान को साथ खाना खाने के लिए कह रहे हों। वह चाहे भी तो उनके साथ नहीं घुल-मिल सकता। और वह चाहता भी नहीं। लेकिन वह ममी को यह सब नहीं बताएगा। यह भी नहीं कि वह अब स्कूल से भागता हुआ घर इसलिए नहीं आता कि स्कूल से पेशाब करके घर के लिए चलता है। अरुण और दूसरे लड़कों को पता चल गया है पेटी का...उसने खुद ही उन्हें बता दिया है। और भी जिस-जिसको पता चलना होगा, उसे वह खुद ही बता देगा। "मुझे हार्निया है, मेरा ऑपरेशन होनेवाला है।" पर ममी से न कुछ कहेगा, न किसी चीज़ के लिए ज़िद करेगा। "तेरे पापा इतना कहते रहते हैं कि यह इतना चुप्पा क्यों होता जा रहा है?" पापा?...कौन? महेन्द्र सचदेव...या डा. हरदेव अबरोल!

"शिवजीत।" मिस मैथ्यू उसके पास आ गई थी। सामने का पन्ना तब तक उसने पैंसिल से स्याह कर दिया था। लकीरों में उलझी लकीरें। अधिकांश अक्षरों की गोलाइयाँ और तिकोन अन्दर से भरे हुए। "यह क्या कर रहे हो तुम?"

उसने मिस मैथ्यू की तरफ़ देखा। सज़ा से डरती नज़र से मुँह से कुछ कहना चाहा, मगर कह नहीं सका। सिर्फ़ देखता रहा।

"तुम्हारी तबीयत ठीक है?"

"नहीं मिस।"

"तो तुमने कहा क्यों नहीं? अच्छा है आधे दिन की छुट्टी लेकर घर चले जाओ।"

सारी क्लास उसकी तरफ़ देख रही थी। वह किताबें समेटता उठ खड़ा हुआ। "जाऊँ मिस?"

"हाँ। कल तबीयत ठीक हो, तो आना। नहीं तो अर्ज़ी भेज देना।"

वह क्लास-रूम से बाहर निकल आया। बाहर बरामदे या लॉन में कोई नहीं था... सिवा उन मज़दूरों के जो नई इमारत के लिए लकड़ी चीर रहे थे। सी-सा सी-सा सी-सा। स्कूल इतना सुनसान और अकेला उसे कभी नहीं लगा था। वह बरामदे में उतरकर लॉन

में आ गया। लकड़ी का बुरादा चारों तरफ़ बिखर रहा था। वह उसमें पैरों के गाढ़े-गाढ़े निशान बनाता कुछ कदम चलता रहा। फिर स्कूल की घंटी के पास रुककर पीतल की चकली में अपना अक्स देखता रहा। जब स्कूल के लोहे के गेट की गोल नाली उसने पार की, तो सामने की सड़क उसे बहुत ठंडी महसूस हुई। घर वहाँ से दो फलाँग पर था, फिर भी उसे लगा कि अभी काफ़ी लम्बा रास्ता चलकर उसे जाना है। सात-आठ दिन से वह उस रास्ते से जा रहा था, पर अब तक उसे इसकी आदत नहीं हुई थी। पहले स्कूल के पिछले अहाते में ही उसका क्वार्टर था, स्कूल से निकलते ही वहाँ पहुँच जाता था। ममी उससे डेढ़ घंटा बाद स्कूल से आती थी, इसलिए सारा घर उसे अपना अकेले का लगता था। चाँदराम भी सिर्फ़ उसी के लिए वहाँ होता था। मगर इन दिनों ममी स्कूल आती ही नहीं थी और उसके घर पहुँचने से पहले ही नीना और मीना वहाँ आ चुकी होती थीं। सुखदेव और बसन्त एक घंटा बाद आते थे। घर काफ़ी खुला था...मगर वह वहाँ पहुँचते ही किताबें पटककर, ट्रांजिस्टर बजाना शुरू नहीं कर सकता था। ममी का कहना था, उसे स्कूल से आकर बच्चों के साथ 'खेलना' चाहिए और वह 'खेलने' की उदासी लिए हुए ही घर में दाखिल होता था। यूँ भी अबरोल अंकल की डिस्पेंसरी घर के साथ लगी होने से वहाँ किसी भी समय शोर नहीं मचाया जा सकता था।

अपने को घसीटकर सड़क के एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक ले जाते हुए उसे फिर अपने मसाने पर सख़्त दबाव महसूस होने लगा। स्कूल से निकलते हुए उसे याद नहीं रहा था कि वहाँ से पेशाब करके घर के लिए चलना है। घर में पेटी का पता सभी को था। सुखेदव दो-एक बार उसकी पेटी छूकर देख भी चुका था मगर अपने घर की तरह अधनंगा होकर पेटी उघाड़े वह एक दिन भी वहाँ बाथरूम की तरफ़ नहीं भागा था। जहाँ वह था, वहाँ से अगले खम्भे तक पहुँचते-पहुँचते उसके लिए चलना मुश्किल होने लगा। स्कूल चार-पाँच खम्भे पीछे रह गया था, घर चार-पाँच खम्भे आगे था। एक बार उसने सोचा कि जल्दी से घर की तरफ़ दौड़ने लगे। फिर सोचा कि दौड़कर वापस स्कूल चला जाए। मगर वह किसी भी तरफ़ न जाकर वहीं रुक गया। घर में ममी इस समय अकेली ही होगी, पर उससे पूछताछ करेगी कि वह स्कूल से इतनी जल्दी क्यों चला आया है। स्कूल में तब तक घंटी बज जाएगी और मिस मैथ्यू की नज़र उनके क्लास-रूम से निकलते हुए उस पर पड़ गई, तो वह पूछेगी कि वह अब तक वहीं क्यों घूम रहा है। उसने पहाड़ी की तरफ़ मुँह करके वहीं खड़े-खड़े नेकर के बटन खोल लिए। मसाने का दबाव हलका होने के साथ ही उसे फिर अपने आपरेशन का ध्यान हो आया। अगर पापा ने पहले ही आपरेशन करा दिया होता...उसने सोचा और अपनी टीस को दबाए बटन बन्द करने लगा।

परिशिष्ट

रूप रस गंध

टाइम पीस ने अलार्म दिया। राय की नींद टूट गई। चादर उसने टाँगों से उतार फेंकी और बैठकर टाइम पीस को चाबी देने लगा। बारह साल पहले तीन रुपए में लिया हुआ जापानी टाइम पीस आज बुढ़ापे में भी बारह घंटे का सफर चौदह घंटे में तय कर ही लेता था, और सवेरे पाँच बजे का अलार्म पाँच से सात के बीच किसी भी समय बजाकर उसे जगा दिया करता था।

अभी टाइम पीस में पाँच ही बजे थे, यद्यपि धूप खिड़की से हटकर मेज़ पर से होती हुई उसके बिस्तर की सीमाओं को छू रही थी। राय ने अंदाजे से घड़ी में पौने सात बजाए, और उसे खिड़की में कंघे-शीशे के पास रखकर उठ खड़ा हुआ।

खड़े होकर राय ने फिर एक अँगड़ाई ली। गद्दे को गोल किया, उठाया, और छज्जे पर टीन के ऊपर पटक दिया। फिर मेज़ को दीवार के पास से खींचकर उसने कमरे के बीच कर दिया, कुर्सियों को मेज़ के इधर-उधर लगाया और 'एशिया सर्जिकल कंपनी' का बोर्ड उठाकर बाहर लटका दिया। इस तरह शयनागार को कार्यालय में परिणत करके उसने सामने औषधालय के चौकीदार से माचिस लेकर सिगरेट सुलगाई और छज्जे पर आकर पिछली गली के चौथे घर की जालीदार खिड़की के पास हिलती हुई नारी मूर्ति को देखने लगा।

राय, अर्थात दामोदरदास चिंतामणि राय, उन व्यक्तियों में से था, जो ईश्वर की प्रयोगशाला में से एक ही बनकर आते हैं। उसके उभरे हुए दाँतों और बादाम जैसी आँखों की चर्चा की जा सकती है पर उसके एक-एक अवयव की त्रिभंगी का परिचय देना संभव नहीं। उसके अस्थिशेष कंधों से मिली हुई गर्दन की रेखाएँ उतनी ही विचित्र हैं, जितना वह स्वयं। ये रेखाएँ कानों तक जाती हैं। आगे राय का सिर है जिसका आकार कश्मीरी टोपी के आकार से मिलता-जुलता है। सिर के अंदर तरह-तरह के स्रोत हैं। कितने हैं—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। जो जहाँ तक ले, उसके लिए उतने ही।

राय ने सिगरेट का टुकड़ा फेंक दिया। वह उसे उस सीमा तक पी चुका था कि और कश खींचने से होंठ जल जाते। सिगरेट का टुकड़ा हवा में लकीर खींचता हुआ नीचे

अखबार वाले के अखबार पर गिरा, और वहाँ से धक्का खाकर गली में आम के छिलके के पास जा लेटा।

राय कमरे में आ गया। कुर्सी पर बैठकर वह निरुद्देश्य स्याहीदान पर पंचिंग मशीन, पंचिंग मशीन पर पेपरवेट रखने और हटाने लगा। इस व्यापार के पीछे मन की उद्विग्नता छिपी थी, जो उसके बार-बार बाहर की ओर देखने से प्रकट हो जाती थी।

बात यह थी कि कल से वह एक मनीऑर्डर की प्रतीक्षा कर रहा था। पोस्टमैन गया था, तो एक पोस्टकार्ड और रसीद लेकर चला गया। उसके बाद रात को पोस्टमैन कितनी ही बार सपने में आया था, पर केवल दूर से मुस्कुराकर सलाम करने के बाद चला गया था। राय ने सोते-सोते भी पोस्टमैन को मन में गालियाँ दी थीं, पर अब भी चाह रहा था कि एक मोटी सी गाली देकर मन का गुबार निकाल दे।

उसे बुरा लग रहा था कि बिना कारण ही उसे कई-कई व्यक्तियों पर एक या दूसरे रूप में निर्भर रहना पड़ता है। नहाने का पानी मिलता है, जब निचली मंजिल में नहा चुकें। होटल में रोटी मिलती है, जब वह बीस मिनट बैठ चुकने के बाद उठ जाने की धमकी दे। बस की पंक्ति में खड़े रहने के बाद भी भागकर आने वाले चढ़ जाते हैं और वह रह जाता है। यहाँ यह पोस्टमैन है कि किसी दिन आठ बजे आ जाता है और किसी दिन नौ बजे। उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है हर रोज़—कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी की। वश चले तो वह एक-एक को पकड़कर सजा दे।

राय ने उठकर जूता पहना या ठीक कहें, तो पैर जूतों में डाले, और बाहर आ गया। यह जूता उसने दो साल पहले लिया था। यद्यपि जूते के दाँत पिछले साल ही निकल गए थे, फिर भी राय उसे लटकाता चला आ रहा था। दो महीने पहले जूते के होंठ भी खुल गए थे, पर राय ने मोची को चार आने देकर उन्हें बन्द करवा लिया था। जूते की शिकायत इस पर भी बन्द नहीं हुई, तो राय को बैठकर सोचना पड़ा, और सोचने का परिणाम यह निकला कि उसे नकद तीस रुपए का पुरस्कार मिल गया।

घिसा हुआ जूता बंबई की पटरियों पर उतनी ही आसानी से फिसलता है, जितनी आसानी से जमे हुए बर्फ़ पर स्केट। और राय का जूता तो घिसटते समय शब्द भी किया करता था ; पर यह रोज़-रोज़ की बात उसके लिए उतनी ही स्वाभाविक हो चुकी थी, जितनी गुजराती होटल की रोटियाँ, पाउडर दूध की चाय, और पारसी लड़कियों की लटकेदार अंग्रेजी। पर उस दिन फिसलने के साथ जब एक लोहे की कील जूते के तले में सूराख करके उसके पाँव में आ घुसी, तो पाँव की पीड़ा स्नायुओं में से होती हुई मस्तिष्क में पहुँची, और मस्तिष्क के किसी कोने में सोई हुई चिंतनशक्ति झटका खाकर जाग उठी।

राय ने सोचा, और सोचकर निश्चय किया कि उसे जीना है तो ठीक तरह से जीना चाहिए। यह अंगों में ऊँघती हुई शिथिलता, यह खाना, सोना और बीतना—बरसों खेली हुई ताश की तरह घिसा हुआ जीवन। यह सब बदलना चाहिए।

निश्चय पर पहुँचकर राय ने उपाय सोचा। नई नौकरी मिलना असंभव था, क्योंकि मैट्रिक फेल होने के कारण 'एशिया सर्जिकल' की नौकरी भी बड़ी सिफारिश के बाद मिली थी। उसे दो ही काम नज़र आए, जो बड़ी आसानी से बिना किसी प्रमाण-पत्र के किए जा सकते थे। एक तो कहानियाँ लिखना, दूसरे पहेलियाँ भरना। उसने दोनों काम एक मुहूर्त में आरंभ कर दिए।

राय की कहानी तो जहाँ गई, वहीं की ही रही—न छपी ही, न लौटकर ही आई। पर पहेली में उसकी तकदीर ने साथ दिया, और जिस दिन उसने पुरस्कार विजेताओं में अपना नाम पढ़ा, उस दिन उसे विश्वास हो गया कि उसकी निहित योग्यता को अवसर मिल गया है। अब पहेलियाँ भरकर वह जीवन का स्तर ऊँचा उठा सकता है।

पुरस्कार चौबीस तारीख़ को भेज दिए गए थे, और आज छब्बीस तारीख़ थी। एक-एक क्षण अपना समय ले रहा था। राय उत्सुकतापूर्वक सड़क की ओर देख रहा था।

आखिर पोस्टमैन आ ही गया। राय ने आँखों से, कानों से और रोम-रोम से उसके आने का अनुभव किया।

"एक रजिस्ट्री है।" पोस्टमैन के शब्दों से राय के रक्त की उत्तेजना रुक गई।

"मनीऑर्डर नहीं है?" उसने बुझते से स्वर में पूछा।

"नहीं।"

जहाँ पोस्टमैन ने कहा। राय ने हस्ताक्षर कर दिए और लिफ़ाफ़ा हाथ में लिये कुर्सी पर आ बैठा। कुछ क्षणों के लिए जो हृदय में बोझ-सा लटक गया था, वह अचानक हट गया, क्योंकि लिफाफा उसी अखबार के दफ़्तर का था, जहाँ से उसका पुरस्कार आना था।

उसने लिफाफा खोला। एक छपा हुआ पत्र और एक हरे रंग का चेक।

राय ने पत्र पढ़ा, पर कई मोटे-मोटे शब्द उसकी समझ में नहीं आए, पत्र रखकर वह चेक देखने लगा। कितना नया, कितना सुंदर, कितना मनमोहक।

चेक की भव्यता और नवीनता में राय के लिए एक नए जीवन का संकेत था, एक ऐसी प्रेरणा थी जो उसे अपने घिसे हुए आवरण को उतार फेंकने के लिए उकसाने लगी। उसका अंतःकरण कहने लगा था : 'क्यों वह उस चेक का अधिकारी होते हुए भी उससे इतना भिन्न है? चेक का आकार नया है। उस पर उभरे हुए अक्षरों में ताजगी है। पर उसके ये हाथ, जिनमें वह चेक थामे हुए है, मुरझाए हुए हैं। बहुत बड़ा अंतर है। यह अंतर दूर होना चाहिए। उसके हाथों को उस चेक के अनुकूल बनना चाहिए।

जूता अभी पाँव में था। वह चमड़ा कभी किसी पशु के शरीर पर था। वहाँ से उतरकर भीगा, छिला, कटा, सिला और उसके पाँव में आया। पाँव में घिसा, फटा, सूखा और बेकार हो गया। पर उसका चमड़ा तो शरीर पर ही सूखता जा रहा है। क्यों?

राय के मन में असंतोष उठा—अपने प्रति, जीवन के प्रति, प्रकृति के प्रति, मालिक के प्रति, और अलमारियों में रखे चीरफाड़ के यंत्रों के प्रति। पर दुर्बल हृदय का बलहीन असंतोष अधिक देर नहीं रहता, इसलिए थोड़ी ही देर में वह ताजगी की चाह एक सामयिक उमंग को स्थान देकर परे हट गई। चेक का आकार पीछे चला गया, और मूल्य सामने आ गया। उस चेक का अर्थ हो गया, तीन नोट—नए या मैले, पर व्यवहार में समर्थ।

वह अब तीस रुपए का स्वामी है। ये तीस रुपए वेतन के साठ रुपयों जैसे नहीं, जो तीन तारीख़ को होटल और सिगरेट का बिल चुकाने में ही उठ जाते हैं। बिलकुल उसके अपने हैं, वह जो चाहे उनसे खरीद सकता है, जहाँ चाहे व्यय कर सकता है।

उसने फटे हुए जूते के स्थान पर पैरों में किड चमड़े के शू की कल्पना की, शरीर पर रेशमी बुशर्ट की कल्पना की, और उसके ऊपर बरसाती कोट की कल्पना की। जब ये कल्पनाएँ एक-दूसरे में उलझ गईं, तो वह पौष्टिक औषधियों, फलों और मक्खन के डब्बों की कल्पना करने लगा।

सायंकाल सात बजे के लगभग जब राय मेज-कुर्सियाँ हटाकर, पुनः बिस्तर बिछाकर और ताला लगाकर वहाँ से निकला, उस समय वह चेक तीस रुपए में बदल चुका था। राय के मन में अपनी सामर्थ्य का गर्व था। शहर भर के विक्रेता अब उसकी सेवा में हैं; वह जिसके पास चाहे रुक सकता है, जो जी चाहे देख सकता है, और कुछ भी नापसन्द हो तो अरुचि से सिर हिलाकर आगे चल सकता है। जब तक पैसे हैं, वह स्वामी है और स्वामित्व के सब अधिकार उसे प्राप्त हैं।

राय उस दुकान के बाहर रुका जिसके शो-केस में रखा सफ़ेद-ब्राउन जूता बरबस उसकी आँखों को खींच लिया करता था। मुख को गंभीर करके तथा पतलून को थोड़ा सँवारकर उसने दुकान में प्रवेश किया।

जिस जूते पर राय की आँखें थीं, उसका मूल्य दुकानदार ने पैंतीस रुपए बताया। सामने शीशे में राय ने देखा। सिर पर रूखे बाल, गले में फटे हुए कॉलर की कमीज़, नीचे बिना क्रीज की पतलून और पाँव में पैंतीस रुपए का जूता। यह योजना थी पुराने जीर्ण-शीर्ण मंदिर पर सोने का कलश चढ़ाने जैसी। राय ने मन-ही-मन समझौता किया। जूता पंद्रह रुपए वाला ले और पंद्रह रुपए कपड़े सिलाने पर व्यय करे।

"बाँध दूँ?" दुकानदार ने उसके अनिश्चय को भाँपते हुए थोड़ा रस लेकर कहा।

"किड लेदर में डबल सोल का है?"

"नहीं।"

"दूसरी जगह देख लूँ। शायद वहाँ मिल जाए।"

राय ने पुराने जूते के फीते बाँधे, तो लगा वह अपने तरुण सजातीयों में आकर लज्जा से कुंठित हो गया है। कह रहा है : 'तुम्हारा अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, पर दूसरे के मान-अपमान की चिंता किया करो।'

वहाँ से निकलकर राय चाकू, कैंची, चायदानी, सोप केस, पियर्स सोप, टेबल लैंप तथा नेकटाइयों के भाव पूछता हुआ एक कपड़े की दुकान के अंदर चला गया।

कपड़े की दुकान में भीड़ बहुत थी, पर जो चीज़ बिक रही थी, वह थी बरसाती कोट। स्त्रियाँ, पुरुष और बच्चे–सबके लिए रंग-बिरंगे बरसाती कोट ढेरों में रखे थे। राय ने दूर से दाम सुने : "बार्डिन का तीस रुपए; रबर का पंद्रह रुपए; प्लास्टिक का दाम दस रुपए।"

बाहर बरसात के लक्षण बन रहे थे। काले बादलों के वक्ष पर नाचती हुई बिजली चार महीने की मूसलाधार वृष्टि की पूर्व सूचना दे रही थी। एक रात कुछ छींटे पड़ भी चुके थे। पाँव में नया जूता हो और शरीर पर नई कमीज़–ऊपर से पानी गिरे रुमझुम...

राय ने नया समाधान किया। दस रुपए की चप्पल, दस रुपए का कपड़ा और दस रुपए का बरसाती कोट। उसे अपने लिए सुविधा ही चाहिए। सुविधा साधारण चीज़ों में भी उतनी ही होती है, जितनी महँगी चीज़ों में।

"क्या चाहिए?" सेल्समैन ने उसके पास आकर पूछा। उसके स्वर का रूखापन राय करो खटक गया; उसके स्वामित्व के गर्व को ठेस गली।

"कोई कमीज़ों का कपड़ा दिखाओ।" कहकर राय ने चेष्टापूर्वक दाँतों को होंठों से ढाँक लिया।

"कैसा चाहिए?"

"कोई हो।"

"सफ़ेद।"

राय ने अनुमोदन किया। कपड़े के तीन-चार थान खुल गए। एक कपड़े को हाथ से मसलकर राय ने उसके दाम पूछे।

"दस रुपए।"

"दस रुपए गज?" राय ने अनायास पूछ लिया।

सेल्समैन राय के असमंजस को पहले से देख रहा था। उसे विश्वास था कि यह व्यक्ति लेने वालों में से नहीं, दाम पूछने वालों में से है। उसका अनुभव था कि जो व्यक्ति चारों ओर दृष्टि घुमाए, और जो भी कपड़ा दिखाया जाए उसे देख ले, वह

ग्राहक नहीं होता। उसने थान लपेटते हुए दाँतों से दाँत मिलाकर राय को देखा, फिर शब्दों में तिरस्कार और उपेक्षा भरकर कहा, "जी, नहीं, दस रुपए फर्लांग।"

राय चाहता तो उसकी धृष्टता का उत्तर दे सकता था। पर उस समय उसके हृदय में विशालता थी। वह क्यों ओछे आदमी के मुँह लगे। उसके पास पैसे हैं, और जिसके पास पैसे हों उसे क्षमाशील होना चाहिए। जो बुरा है, वह अपने में बुरा है, उसके लिए दूसरा भी क्यों बुरा बने।

राय वहाँ से आगे चला। बिजली के आडंबर से जगमगाती हुई दुकानें, जिनमें मोजे, मफलर, बिस्कुट, टी-सेट, दरियाँ, सिगरेट का और अन्यान्य उपभोग के सामान थे। बारी-बारी से उसे अपनी ओर खींचती। वह रुककर कुछ विमर्श करता, और फिर आगे बढ़ जाता। जिस समय वह उस बड़े होटल के पास पहुँचा जिसके अंदर से रंग-बिरंगी कुर्सियाँ हर रोज़ उसे संकेत से बुलाया करती थीं, और जिनके संकेतों का उसने आज तक उत्तर नहीं दिया था, उस समय उसका व्यय का निर्णय था—दस रुपए का बरसाती कोट, पाँच रुपए की चप्पल, पाँच रुपए का कपड़ा, दो रुपए के मोजे, एक रुपए के रूमाल, एक रुपए की क्रीम, एक रुपए का पाउडर, और दस आने के ब्लेड। शेष दो रुपए छः आने उसने मनोविनोद के लिए डाल दिए थे, जिसका अर्थ उस बड़े होटल में बैठकर चाय पीना, और हो सके तो रात को सिनेमा देखना।

होटल के अंदर काफ़ी भीड़ थी, और एक उत्तेजक चहल-पहल। राय एक ख़ाली मेज़ के पास बैठकर उस रंगीन चकाचौंध को आँखों से पीने लगा। चारों ओर लोगों में उल्लास और स्फूर्ति थी। अधिकतर शीशे के गिलासों में लाल, सफ़ेद और भूरे—तरह-तरह के द्रव्य उँड़ेले जा रहे थे। सारे समुदाय में एक मिश्रित-सा स्पंदन था।

राय मेज़ पर रखा मेनू देखने लगा। शीतल तरह, उष्ण तरल, मध्य तरल, विशेष खाद्य, निरामिष खाद्य, फल सम्मिश्रण, आम्रचोकष्य...

"मैं यहाँ बैठ सकती हूँ?"

राय ने आँख उठाकर देखा। एक एंग्लो इंडियन लड़की बड़ी भ्रदता से उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर रही थी। पहले तो कारण उसकी समझ में नहीं आया कि क्यों वह उसी से आकर पूछ रही है, फिर यह देखकर कि आसपास और कहीं जगह ख़ाली नहीं, उसने कुछ नम्रता, कुछ घबराहट और कुछ अभिलाषा के साथ कहा, "बैठिए।"

"धन्यवाद," कहकर लड़की बैठ गई। राय को उसके बैठने के लहजे में आकर्षण लगा, उसके पर्स खोलने में आकर्षण लगा, उसके रूमाल निकालने में आकर्षण लगा। उसे उसकी लंबी और पतली उँगलियाँ बहुत ही भली लगीं।

लड़की ने सिगरेट केस खोला, एक सिगरेट अपने मुँह में लगाई, और सिगरेट केस उसकी ओर बढ़ाकर बोली, "आप पीते हैं?"

राय ने धन्यवाद देकर एक सिगरेट ले ली। अभ्यासवश उसका हाथ माचिस की डिबिया निकालने के लिए पतलून के अंदर गया, तब तक लड़की ने अपनी सिगरेट जलाकर लाइटर उसकी ओर बढ़ा दिया।

सिगरेट जलाकर राय यह नहीं सोच सका कि वह उस दयामयी से क्या कहे। पहले तो कोई ऐसा विषय नहीं था, जिसके संबंध में वह उससे बात चला सकता। दूसरे विचारों का अंग्रेजी में शुद्ध अनुवाद कर लेना, और उस अनुवाद को बोल देना, यह उसके लिए समस्या थी। वह व्यस्त रहने के लिए लगातार कश खींचता जा रहा था, जब लड़की ने नीली आँखें थोड़ी कुंचित करके उससे पूछा, "कैसी गंध है? यह तंबाकू फ्रांस का है।"

"गंध बहुत अच्छी है," अंग्रेजी में यह वाक्य इतनी आसानी से बन गया कि राय को स्वयं अपनी योग्यता पर आश्चर्य हुआ। कुछ पल दोनों चुपचाप सिगरेट पीते रहे। फिर और मेजों के पास से लोगों को नाचने के लिए उठते देखकर लड़की ने कोमलता से पूछा, "नाचना पसन्द करोगे?"

"नहीं, मैं नाचना नहीं जानता।" यह भी राय ने आसानी से कह दिया। पर खेद उसे अवश्य हुआ कि क्यों आज तक उसने अनुभव नहीं किया नाचना भी जीवन की एक आवश्यकता है।

वेटर पूछने के लिए आया तो राय ने कुछ कहने से पहले लड़की की ओर देखा। मन की हिचकिचाहट दबाकर पूछा, "आप क्या पिएँगी?"

"उदारता के लिए धन्यवाद," लड़की ने कहा, "मेरे लिए जिन के साथ जिंजर।"

"मेरे लिए चाय और केक," राय ने कहा। वेटर चला गया।

लड़की ने स्वयं दूसरी सिगरेट जलाई और राय से बोली, "एक और लीजिए।"

राय ने सिगरेट जला ली और यह चेष्टा करने लगा कि उसके मुँह से भी धुआँ उसी अंदाज में निकले जिस अंदाज से उस रूपसी के होंठों में से निकलता है।

"आप नौकरी करते हैं?" लड़की ने पूछा।

"नहीं, व्यापार करता हूँ।" राय ने कहा।

"क्या व्यापार?"

"सर्जिकल माल का।"

"अच्छा नफा होता है।"

राय ने कहना तो चाहा, 'हो ही जाता है,' पर इस वाक्य का ठीक अनुवाद जल्दी में बना नहीं। अतः उसने कहा, "बहुत।"

वेटर आया और सामान रख गया। राय ने अपनी चाय बनाई। लड़की जिन के घूँट भरने लगी।

"मैं आपका नाम जान सकता हूँ?" राय ने साहस करके पूछा।

"जेनी डिसूजा। आपका नाम?"

"राय।"

"केवल राय?"

"नहीं, दामोदरदास चिंतामणि राय।"

"डामोडरदास चिंतामोनी राय," जेनी ने दोहराया। राय की आत्मा भरपूर हो गई। उसे लगा वह आज पहली बार जी रहा है। चारों ओर आमोद सजीव रंगों में बिखर रहा है। उत्तेजना एक दायरे में रुककर उन्मत्त हो उठी है। वह रूप, रस, गंध के प्रवाह में ओत-प्रोत होता जा रहा है। रूप के परमाणु, रस के परमाणु और गंध के परमाणु उसके चारों ओर मँडरा रहे हैं।

जेनी ने वेटर को संकेत से बुलाया और एक गिमलेट जिन में मिलाकर लाने को कहा। राय के केक अभी बाक़ी थे। उसने ताज़ी गरम चाय का आदेश दिया।

जब मन का एक अभाव भर जाता है। चाहे कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, तब व्यक्ति को यह आभास ही नहीं होता कि इसके अतिरिक्त और भी अभाव है। वह जितना पा लेता है, उतने में ही अपने आपको कृतार्थ समझता है। राय के जितने मनोरथ थे, वे एक मनोरथ का पारितोष देखकर स्वयं उस समय के लिए अपने को भूल गए थे। राय की जीवन कामना अपने चरम पर थी। वह देख रहा था, चख रहा था, सूँघ रहा था।

राय केक का आखिरी टुकड़ा खा रहा था। एक युवक जेनी के पास आया और उससे नाचने का प्रस्ताव किया।

जेनी राय को धन्यवाद देकर–फिर कभी मिलने की आशा प्रकट कर उठी, और युवक के साथ चली गई। राय उसे नाचते हुए देखता रहा। वह बड़ी लचकीली और चुस्त थी। एक बार वह दूर से उसकी ओर मुस्कुराई भी। नाच रुका, तो वह युवक के साथ बात करती हुई होटल से बाहर चली गई। राय ने उसे उस समय तक देखा जब तक उसकी एड़ियाँ अदृश्य नहीं हो गईं।

वेटर बिल ले आया। राय ने देखा–अट्ठाईस रुपए कुछ आने। भरा हुआ प्याला झटककर छलका, और छलककर ख़ाली हो गया। राय ने तीनों नोट ज़ेब से निकालकर तश्तरी में रख दिए।

बाहर छोटी-छोटी बूंदें पड़ने लगी थीं। पैदल चलने की पटरी गीली होकर और भी चिकनी हो गई थी। बाहर आते ही राय का पाँव फिसल गया। जूते के होंठ खुल गए। वह बोलने लगा : "तपत्, तपत्।"

वे सब दुकानें, जिनके पास वह रुका था, एकएक करके पास से निकल गईं। कपड़े की दुकान में बरसाती कोट लटक रहे थे। जूतों के शो-केस में सफ़ेद-ब्राउन जूता चमक रहा था, पर राय बिना उनकी ओर देखे चला जा रहा था।

पहाड़ी रास्तों पर

घंटाघर की घड़ी ने अभी-अभी नौ बजाए हैं।

थोड़ी देर पहले तक रिज पर काफ़ी चहल-पहल थी। सैर करनेवालों के झुंड-के-झुंड नीचे मालरोड की ओर जा रहे थे और उधर से ऊपर की ओर आ रहे थे। अब यहाँ ख़ामोशी छा गई है। किनारे की बेंचों पर बैठकर इस लोक से उस लोक तक की चर्चा करनेवाली बूढ़ों की मंडली भी उठकर चली गई है। वह अफ़गानी टोपीवाला डॉक्टर, जो रेलिंग के सहारे खड़ा होकर सिगरेट के कश खींच रहा था, उस बड़े अस्पताल की गोरी नर्स के साथ बातें करता हुआ कैथू की दिशा में उतर गया है।

मालरोड सुनसान हो गई है। वैसे मालरोड इसका पुराना नाम है। कहते हैं स्वदेशी सरकार ने इसका नाम बदलकर लाला लाजपतराय रोड कर दिया है। यह स्वदेशी नाम पाकर भी मालरोड का नखरा वही पुराना है। वही नक़ली चेहरे, और वही बना-बनाकर कही जानेवाली बातें। यह सड़क समय के साथ बदलना नहीं चाहती। पर ख़ैर! मालरोड सुनसान हो गई है। रिज के ऊपर वीरानी छा गई है। घंटाघर की घड़ी, जो थोड़ी देर पहले तक समय को तेज़ी के साथ धकेल रही थी, अब बड़ी सुस्ती के साथ मिनटों का हिसाब कर रही है। ऊपर के सिनेमाघर से कुछ ऐसी आवाज़ें आ रही हैं, जैसे पहाड़ की चोटी पर कोई भटकती हुई रूह कराह रही हो।

हवाघर के बाहर इस समय और कोई नहीं है। बस मैं हूँ और मेरे तीन साथी हैं। आज सारा दिन हमें कोई भी सवारी नहीं मिली। ख़ाली रिक्शा खींचते-खींचते हमने छः-सात मील नापे हैं, पर ऐसा मनहूस दिन है कि किसी ने पास आकर पूछा भी नहीं। अब तो नौ बज गए हैं...सवारी मिलने की कोई आशा भी नहीं। फिर भी हम ग्यारह बजे से पहले नहीं लौटे थे। कहते हैं सवारी और मौत का कोई वक़्त नहीं। सवारी और मौत। मैं जानता हूँ इन दोनों में क्या समानता है। मेरा बाप फेफड़ों के बुख़ार से मरा था। ख़ैर, उसे तो मरे भी पाँच साल हो गए। पाँच साल से मैं सवारियाँ खींच रहा हूँ। यह हमारा ख़ानदानी पेशा है। मेरा बाप सत्रह साल का था, जब वह इस काम में लगा था। मैं जब लगा, उस सयम मैं पूरे चौदह का भी नहीं था। आख़िर पेट तो किसी तरह पालना ही होता है। पेट पालकर फिर...फिर क्या? यह एक बात

है जो कभी मेरी समझ में नहीं आती। पेट पालकर सवारियाँ ढोना और सवारियाँ ढोकर पेट पालना। फिर? उसके आगे?

हम चारों ने बीड़ियाँ सुलगा रखी हैं जब कोई बात समझ में नहीं आती तो मैं ज़ोर से बीड़ी के कश खींचता हूँ। बीड़ी के चार चमकते हुए दाग़ इस समय अँधेरे में बहुत भले लग रहे हैं। व्यर्थ की बातें सोचने का कोई लाभ नहीं। सवारी मिलती है तो सचमुच बहुत खुशी होती है। यह इतना बड़ा पहाड़ सवारियाँ ढोने के लिए ही तो है। ये चीड़ और देवदार से ढँकी हुई ऊँचाइयाँ, ये तरह-तरह की घासों से भरी घाटियाँ, ये सब सवारियाँ ढोने के रास्ते हैं। जब मेंह बरसता है, या ओले पड़ते हैं, या बर्फ़ गिरती है तो मेरे मन में हमेशा यही आता है कि अब सवारी मिलेगी और उसे लेकर किसी सुहाने और सुनसान रास्ते की ओर जाना होगा जिसे ईश्वर ने ख़ासतौर पर रिक्शों के पहियों के लिए काटा है।

हवाघर के अन्दर एक युवक एक युवती के साथ बैठा है। वे दोनों शायद पति-पत्नी है। वे जिस तरह हाथ में हाथ पकड़े बैठे हैं और जिस तरह उत्सुकता से मालरोड की ओर देख रहे हैं, उससे लगता है कि वे दोनों शिमला में नए ही आए हैं। दोनों का ब्याह भी शायद नया ही हुआ है, क्योंकि युवती के हाथों में लाल रंग की नई-नई चूड़ियाँ हैं। युवक के कंधे को सहलाते हुए युवती कह रही है, "याद है, कल मैं चलते-चलते कितना थक गई थी? पैदल चलने की तो मुझे ज़रा भी आदत नहीं।"

युवक होंठों से ऐसा स्वर निकाल रहा है, जैसे उसके मुँह की बात को चूम रहा हो।

"देखो न, मेरे दाएँ पैर के तलवे में कितना बड़ा छाला हो गया है।" और वह सैंडल उतारकर उसे अपने पैर का छाला दिखाने लगी है।

मेरा हाथ सहसा अपने पैरों के मांस को सहलाने लगा है जो अब दीमक खाई लकड़ी जैसे हो गए हैं। इधर के पैर में तेरह सूराख हैं जिन्हें मैंने और शिब्बी ने कई बार गिना है। शिब्बी बिल्कुल पतली हैं। कभी तो मेरे पैरों को चूमने लगती है और कभी इन्हें देखकर रोने लगती है। अब तो उसके अपने पैर भी कड़े हो गए हैं। बेचारी रोज़ गाँव से आती है और पहाड़ियों से घास काट-काटकर ऊपर बेच आती है। उसका बाप अब कमाने लायक रहा नहीं, और भाई जो था, वह जाने कहाँ भाग गया है। अब घर में वही अकेली है जो काम कर सकती है। मैं कहता हूँ मुझसे ब्याह कर ले तो वह अपने बाप की तरफ़ देखती और फिर आकाश की तरफ़ देखती है और फिर आँखों में आँसू भरकर सिर हिला देती है। उसके इनकार पर भी मुझे कितना प्यार आता है।

हमारा गाँव बहुत छोटा है। कुल मिलाकर ग्यारह घर हैं। वहाँ पर रिक्शा के लिए सवारियाँ नहीं मिलतीं। आधी रात को वहाँ पर थके हुए बेख़बर मज़दूर, बेख़बर पत्थरों पर पत्थरों की तरह लुढ़कते आते हैं। वहाँ वे वर्षा और घास और मिट्टी की जीवनमयी

गंध को सूँघते हैं और बिजलियों की छाया में चट्टानों और कन्दराओं के आसपास उमड़ते हुए संगीत को सुनते हैं। गहरी रात में जब घुप अँधेरी घाटियों में भटकते हुए कीड़ों के अनजान बोल बहती हुई हवा में डुबकियाँ लेते हैं तो हमारे लहू की बूँद-बूँद में संगीत सिहरने लगता है। उस समय पानी की ढलान के पास बैठकर हम कोई-न-कोई प्यार का गीत छेड़ देते हैं। और उन थोड़े से पलों के लिए हम अपनी तैरती हुई आवाज़ों को छोड़कर और सबकुछ भूल जाते हैं।

"यहाँ से मालरोड बड़ी अच्छी लगती है।" हवाघर में बैठी हुई युवती अपने पति से कह रही है। "वह सामने शो-केस में लगी हुई साड़ी देखो, इसका रंग कितना प्यारा है!"

पति को उसकी इस बात से प्यार हो गया है और वह उसके कोट का कॉलर ठीक कर रहा है जिससे उसके गले को ठंड न लग जाए।

सामने तारादेवी की पहाड़ी है। तारादेवी स्टेशन की दो बत्तियाँ शिमले की जगमगाहट से दूर उस धुँधली पहाड़ी ओट में सुनहरी कबूतरियों की तरह काँप रही है। पहाड़ी के पीछे से गहरे सुरमई रंग का बादल उठ रहा है। जब बिजली कौंधती है तो लगता है कि बादल आकाश में सुनहरे पंख फड़फड़ाता आ रहा है। बिजली की रोशनी में नीचे की तराई दिखाई दे जाती है। इस तराई में सैकड़ों छोटे-छोटे घर बिखरे हुए हैं। इन घरों तक जानेवाले पथरीले रास्ते चीड़ और देवदारों के झुरमुटों में से होकर जाते हैं। उन रास्तों पर रिक्शा खींचते हुए पैर फट जाते हैं, घुटने तन जाते हैं और जाँघें अकड़ जाती हैं। पर यह पहाड़ इतना टेढ़ा-मेढ़ा है इसीलिए तो सवारियों को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर खींचकर कुछ कमाई हो जाती है। पहाड़ जिस तरह से बना है उस तरह यह सारे का सारा रिक्शा खींचने की एक अनुकूल जगह है।

एक लंबे कानों वाला काला कुत्ता हवाघर की ओर मुँह करके भौंक रहा था। एक बार अन्दर जाकर, गुर्राता हुआ—ऐसे जैसे म्युनिसिपल कमेटी को वहाँ पर बेंच रखने के लिए गालियाँ दे रहा हो, वह खड्ड की ओर चला गया है। युवक देर से युवती के कोट के फ़र को सहला रहा है। युवती के कोट का फ़र मुलायम है। ऊपर आकाश में उड़ते हुए बादल उस फ़र से भी अधिक मुलायम हैं। उधर स्कैंडल प्वाइंट की नीली बत्ती धुँधली होती जा रही है। घंटाघर भी धुँधला होकर एक लम्बे- ऊँचे भूत का रूप ले रहा है। हलके और पतले-पतले बादल सामने होटल की चिमनी में से और खिड़कियों में से होकर हवाघर की ओर आ रहे हैं। बादल आते हैं और आसपास से और सिरों के ऊपर से तैरते हुए निकल जाते हैं। कई बादल इस ओर से हवाघर की छत के साथ लटक जाते हैं। बादलों में घिरकर बत्तियों की रोशनी भी सफ़ेद भाप की ही तरह जम गई है। हर चीज़ की केवल रेखाएँ ही रह गई हैं, और आँखों और उन रेखाओं के बीच हलका-हलका सुरमई शीशा फैल रहा है।

पानी की बूँदें टीनों से टकराने लगी हैं। नीचे आए हुए बादल ऊपर उठ रहे हैं। वर्षा की बूँदें धाराओं में बदल रही हैं।

रिज की ख़ामोशी टूट गई है।

रिवोली की खड्ड से एक अधेड़ पति-पत्नी घिसरते पैरों से ऊपर की ओर भागे आ रहे हैं। छोटे-से रेशमी छाते के नीचे पत्नी का भारी-भरकम शरीर, मुरझाए हुए चेहरे पर गीला चिकना रंग और उसके पीछे गोलमटोल लुढ़कता हुआ पति हैट, कोट, पतलून और टाई और अख़रोट की छड़ी का बना हुआ इंसान भागते-भागते पति-पत्नी से अंग्रेजी में कुछ कह रहा है। 'वन एट इज़ टू मच' इस अंग्रेजी का मतलब मैं जानता हूँ। इसका मतलब है एक रुपए आठ आने बहुत ज़्यादा है। एक रुपया आठ आने रिक्शा की सवारी का रेट है।

"रिक्शा सा'ब।"

"रिक्शा मेम सा'ब।"

परन्तु बिना उत्तर दिए वे घिसरते पैरों से बड़े डाकखाने की ओर चले गए हैं।

उसी दिशा से दो मतवाले नवयुवक बाँह में बाँह उलझाए चले आ रहे हैं। केवल कमीज़ें और पतलूने पहने भीगते हुए भी वे बादलों की तरफ़ देखकर शेरो-शायरी कहते चले आ रहे हैं। दोनों के बाल बड़े-बड़े और शरीर दुबले-पतले हैं। केवल एक का क़द छोटा और दूसरे का क़द लम्बा है। छोटे क़दवाला कोई चीज़ सुना रहा है और सुनाते-सुनाते उसका पूरा शरीर झूमता जा रहा है। "जब घटाओं में उभरती हो अबाबील कोई–" वह इस एक लाइन को दोहरा-दोहराकर सुना रहा है, "सुना लम्बू, 'जब घटाओं में उभरती हो अबाबील कोई–' उभरती हो अबाबील कोई–आय हाय, हाय–हुस्न, देखा–तैरती नहीं, उभरती हो अबाबील कोई–"

"क्या बात है! वाह क्या बात है, गींठे क्या बात है!"

लम्बू उसे दाद दे रहा है और उसके कान में कुछ फुसफुसाकर ज़ोर से कहकहा लगा रहा है। गींठा भी कहकहा लगाकर गम्भीर होने की कोशिश कर रहा है और कह रहा है, "तू लम्बू, तेरे पास क़द है, दिमाग़ नहीं–परमात्मा एक आदमी को एक ही चीज़ देता है।" और वह फिर से गुनगुनाने लगा है, "जब घटाओं में उभरती हो अबाबील कोई–"

"रिक्शा सा'ब!"

वे बिना रुके, बिना हमारी ओर देखे उसी तरह चले जा रहे हैं। गींठा कह रहा है, "इन बिचारों की भी क्या ज़िन्दगी है!"

"मज़दूर की ज़िन्दगी हो ही क्या सकती है।"

"हम भी तो मज़दूर हैं।"

"तो हमारी ही क्या ज़िन्दगी है।"

"मैं कभी रिक्शा में नहीं बैठता। चार इंसान एक इंसान को खींचे, यह हैवानियत है।"

"सिगरेट के लिए एक आना है।"

"मेरे पास तो नहीं। तेरे पास?"

"मेरे पास भी नहीं।"

और गींठा फिर से गुनगुनाने लगा है। लम्बू फिर दाद दे रहा है और वे उसी तरह झूमते हुए चले जा रहे हैं।

दो दुबती-पतली लड़कियाँ अंग्रेजी में चीख़ती हुई न जाने धरती के किस सूराख से निकल आई हैं। एक-एक हाथ से शलवार और एक एक हाथ से दुपट्टे को सँभाले वे भागकर लक्कड़ बाज़ार की ओर जा रही हैं।

अब रिज फिर सुनसान हो गया है। केवल वे मोटी-मोटी बूँदें ही रह गई हैं जो चारों ओर गिरकर और चटककर चूरा हो रही हैं। और नाख़ून भर की गहराई का सागर ताज़ा बूँदों की चोट से छलनी होता हुआ तेज़ी से खाइयों की तरफ़ बहता जा रहा है। पानी के पर्दे के उस ओर तारादेवी की पहाड़ी पर अब भी दो नन्ही-नन्ही कबूतरियाँ उसी तरह काँप रही हैं।

हवाघर में बैठी हुई युवती अपने पति से कह रही है "बारिश हो जाती है तो सैर का सारा मज़ा मारा जाता है। कपड़े न पहनो तो दिल नहीं मानता और पहन लो तो बस...मेरी लाल साड़ी का सारा बॉर्डर कल ख़राब हो गया है। आज भी यह बारिश जाने कब रुकेगी?"

"रिक्शा ले लें?"

युवती ने उत्तर नहीं दिया। दोनों एक-दूसरे की आँखों में देखकर फिर बाहर की ओर देखने लगे हैं।

"रिक्शा सा'ब?"

"नहीं।"

"अभी थोड़ी देर बाद।"

"नहीं।"

घड़ी दस बजा रही है। अब कोई सवारी नहीं मिलेगी। रिक्शा को शेड में छोड़कर मुझे अकेले गाँव तक जाना होगा। बाक़ी तीनों साथी शेड में ही सो रहे आध घंटे में मैं गाँव पहुँच जाऊँगा। तब तक शायद बारिश भी थम जाए। बारिश थम गई तो शिब्बी त्रिशूलवाले शिखर के नीचे मुझसे मिलने आएगी। उस समय मुझे अपने पैरों के सूराख भूल जाएँगे। पहाड़ का रूप बदल जाएगा। बादलों के रंग बदल जाएँगे। मिट्टी की ख़ुशबू प्यारी लगेगी। लगेगा कि यह पहाड़, यह हवा, और यह ख़ुशबू सब अपने और केवल अपने ही लिए हैं...

"रिक्शा!"

"लाया मेम सा'ब।"

वहाँ उस बूढ़ी मेम को रिक्शा चाहिए। वह मेम पहले भी कई बार हमारी रिक्शा में बैठ चुकी है। उसकी कोठी छोटा शिमला की एक खड्ड में है।

हवाघर पीछे छूट रहा है। युवक और युवती के चेहरे शायद ज़िन्दगी भर के लिए पीछे छूटे जा रहे हैं। वह लम्बे कानोंवाला कुत्ता भी फिर जाने कभी कहीं दिखाई देगा या नहीं?

रिक्शा फिसल रहा है। हमारे पैर पहाड़ी मिट्टी में दूर अन्दर तक धमक पैदा कर रहे हैं। नीचे एक पहाड़ी नाला छलछला रहा है। उससे भी नीचे–बहुत दूर नीचे किसी घाटी में से हलकी-हलकी बंसी की आवाज़ सुनाई दे रही है...

क्लार्क होटल, मरीना होटल, पटियाला हाउस! रिक्शा अपनी मंजिल की तरफ़ बढ़ रहा है। रिक्शा में बैठी हुई मेम शिमला के उन चेहरों में से है जो हर रोज़ कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी मोड़ पर दिखाई दे जाते हैं। मेरे मन में आया है कि मेम के मुँह पर इतने ज़ोर से फूँक मारूँ कि उसके चेहरे का सारा रंग हवा में उड़ जाए। मेम को मुस्कुराने की एक बुरी आदत है। रिक्शा में चढ़ते समय मुस्कुराती है और उतरती है तो फिर मुस्कुराती है। कभी शाम के समय रिक्शा में बैठ जाए तो रास्ते में पचासों की तरफ़ देखकर सिर हिलाती है और इसी तरह मुस्कुराती है। इसकी मुस्कुराहट जैसे होंठों में से ही पैदा हो जाती है। दिल और दिमाग़ के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। उस एक ही पल में उसका सिर भी हिलता है, मुस्कुराहट भी फैलती है और फिर विलीन भी हो जाती है। जब भी वह इस तरह मुस्कुराती है, मुझे लगता है कि वह होंठ बिचका रही है।

अब हमें कच्ची सड़क पर उतरना है। आगे बहुत बड़ी ढलान है। मेरा मन हो रहा कि हम लोग रिक्शा छोड़कर अलग हट जाएँ और रिक्शा को ढलान पर अपने आप लुढ़कने दिया जाए। लुढ़ककर वह सामने ही उभरी हुई चट्टान से जा टकरागी, चट्टान से टकराकर खड्ड में जा गिरेगी और खड्ड में गिरकर रिक्शा और मेम दोनों ही की हड्डी का चूरा हो जाएगा...

मेरे पैर के नीचे कोई जीव मसल गया है। अनजान पैर की एक चोट और धरती पर सरसराती हुई जान मलीदा हो गई। चलो, एक जीव का उद्धार हुआ। अब यह केंचुआ नया जन्म लेगा। नए जन्म में यह मनुष्य बनेगा। मनुष्य जन्म में यह तीन-तीन केंचुओं के साथ जुतकर मेम की रिक्शा खींचेगा। मेम इसकी ओर देखकर बिना वजह मुस्कुराती रहेगी। यह मेम को खींचता रहेगा। फिर जिस समय यह उसे लेकर ढलान के पास आएगा तो यह और उसके साथी केंचुए रिक्शा को लुढ़कने के लिए छोड़ देंगे। रिक्शा सामने की उभरी हुई चट्टान से जा टकराएगी और टकराकर फिर खड्ड में जा गिरेगी और...
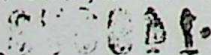
मेम की कोठी आ गई है। मेम का कुत्ता जीभ लपलपाता हुआ बाहर उसका स्वागत करने आया है। मेम उसकी ओर देखकर मुस्कुरा रही है। उसकी यह मुस्कुराहट पहले जैसी नहीं, पहले की मुस्कुराहटों से बिलकुल भिन्न और कई गुना लम्बी है। लगता है, यह मुस्कुराहट उसके दिल से निकलकर आई है। यह विश्वास की और प्यार की मुस्कुराहट है। क्या मेम कभी किसी इंसान की तरफ़ देखकर भी इस तरह मुस्कुराती होगी?

अब सामने वापसी की लम्बी चढ़ाई है। ऊपर और ऊपर! कच्ची सड़क के तीन मोड़ और पक्की सड़क। उसके ऊपर फिर पाँच छ्यां कच्चे मोड़ और फिर पक्की सड़क। उसके दूसरी तरफ़ दूर तक लम्बी निचान, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों, पानी के दो नाले और अन्त में अपना गाँव। बारिश थम गई है। शिब्बी त्रिशूलवाले शिखर के नीचे आ गई होगी। जब वह मेरे पैरों की आहट सुनेगी तो उत्सुकता से मोड़ की तरफ़ देखने लगेगी। हम दोनों साथ-साथ पानी की ढलान की तरफ़ जाएँगे। वहाँ चट्टान पर बैठकर शिब्बी मेरे पैरों को देखेगी और देखेगी कि कौन-सा सूराख अब पहले से बड़ा हो गया है...

"रिक्शा!"

"बैठिए सा'ब।"

इस साहब को बालूगंज जाना है। बालूगंज यहाँ से चार मील है। यह साहब ऊपरवाले बड़े होटल का मालिक है। जब कभी यह रिक्शा में बैठ जाता है तो लगता है कि जिस कारीगर ने रिक्शा बनाया है उसी ने साथ गद्दी पर बैठा हुआ यह बाबू भी बनाया है। यह कुछ ऐसा ही नाटा-नाटा, गोल-गोल और अकड़ा- अकड़ा सा है। बालूगंज में उसकी रखैल रहती है। अभी रास्ते में रुककर यह शराब पीएगा। घंटा भर रिक्शा वहाँ रुकी रहेगी। घंटा-डेढ़ घंटा रिक्शा बालूगंज में उसकी रखैल की कोठी के बाहर खड़ा रहेगा। रात के तीन बजे के बाद यह लौटकर अपने होटल आएगा।

रिक्शा बालूगंज की तरफ़ चल रहा है। मेरे दाएँ पैर की कोई नाड़ी शायद दोहरी हो गई है। परन्तु अभी हमें गहरी रात तक इसी तरह दौड़ते रहना है। वर्षा की मोटी बूँदें फिर से गिरने लगी हैं। ऊपर घटा गहरी होती जा रही है। छींटे तो दो दिन पहले भी पड़ चुके हैं परन्तु आज की वर्षा नई बरसात की पहली झड़ी है। मुझे आज शेड में ही सोना पड़ेगा। शिब्बी इन्तज़ार करके निराश लौट जाएगी। नई बरसात की पहली झड़ी। यह झड़ी न जाने क्यों दिल में एक तूफान पैदा कर देती है।

"तेज़ चलाओ।"

"अच्छा सा'ब।"

हमारे पैर ज़ोर से धमकने लगे हैं। साहब को शायद नशे की टोट आ गई है। वर्षा और भी तेज़ होती जा [illegible] या है।

●●●
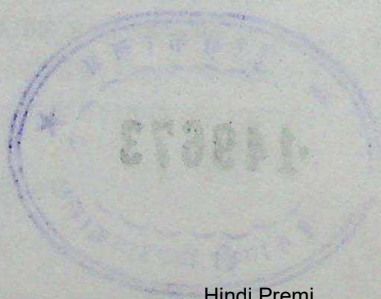
मोहन राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925; जंडीवाली गली, अमृतसर।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेजी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए.।

आजीविका : लाहौर, मुम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में अध्यापन, सम्पादन और स्वतंत्र-लेखन।

प्रकाशन : आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तान्त); इंसान के खँडहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी, फ़ौलाद का आकाश (कहानी); अँधेरे बन्द कमरे, न आनेवाला कल, अन्तराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); परिवेश (निबंध), मृच्छकटिक, शाकुंतल (नाट्यानुवाद)।

पुरस्कार/सम्मान : सर्वश्रेष्ठ नाटक और सर्वश्रेष्ठ नाटककार के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नेहरू फ़ैलोशिप, फ़िल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, फ़िल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य।

निधन : 3 दिसम्बर, 1972, नई दिल्ली।

जयदेव तनेजा

जन्म : 15 मार्च, 1943, ओकाड़ा (अविभाजित भारतवर्ष)।

शिक्षा : एम.लिट्. पी-एच.डी.।

आजीविका : अध्यापन एवं पत्रकारिता।

प्रकाशन : हिन्दी/भारतीय रंगकर्म पर 26 पुस्तकें प्रकाशित। मोहन राकेश पर—लहरों के राजहंस : विविध आयाम, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन (समीक्षा एवं शोध), राकेश और परिवेश : पत्रों में, पुनश्चः, एकत्र, नाट्य-विमर्श, मेरे साक्षात्कार, पूर्वाभ्यास (सम्पादन)।

पुरस्कार/सम्मान : दिल्ली नाट्य संघ, साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी एवं केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत/सम्मानित।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

मोहन राकेश
रचनावली

ISBN : 978-81-8361-427-6
₹ 10400 (तेरह खंड)

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद